विषय - सूची

विशेष जानने योग्य बातें

मुद्रक **श्री जवाहर प्रिंटिंग वर्क्स,** ८० रबिन्द्र सरणी, कलकत्ता-७

प्रमुख जैन तीर्थक्षेत्र

[विहार प्रान्त]

सम्मेद शिखर—इस क्षेत्र से २० तीर्थङ्कर एव असख्यात मुनि मोक्ष गये है। पारसनाथ स्टेशन से एव गिरिडीह से शिखरजी जाने के लिये मोटर मिलती है।

गुणावा—नवादा स्टेशन से डेढ़ मील। यहाँ से गौतम स्वामी मोक्ष गये हैं।

पावापुरी—नवादा से मोटर जाती है। यहाँ से महावीर स्वामी कार्तिक कृष्णा ३० को मोक्ष गये हैं। जल-मन्दिर दर्शनीय है।

राजगृही—विपुलाचल, सोनागिरि, रत्नागिरि, उदयगिरि, वैभारगिरि—ये पञ्च पहाड़ियाँ प्रसिद्ध हैं। इन पर २३ तीर्थङ्करो का समवशरण आया था।

कुण्डलपुर—नालन्दा स्टेशन से ३ मील दूर—भगवान महावीर का जन्मस्थान है।

चम्पापुरी—भागलपुर स्टेशन। यहाँ से वासुपूज्य स्वामी मोक्ष गये है।

गुलजार बाग—(पटना) यहाँ से सेठ सुदर्शन मुक्ति गये हैं।

[उडीसा प्रान्त]

खण्डगिरि-उदयगिरि—भुवनेश्वर स्टेशन से ४ मील पर दो पहाडियाँ है। यहाँ स कलिंग देश के ५०० मुनि मोक्ष गये है।

[उत्तर प्रदेश]

सिंहपुरी—बनारस से ७ मील। यहाँ श्रेयांसनाथ भगवान के गर्भ, जन्म, तप—ये तीन कल्याणक हुए थे। वर्तमान मे सारनाथ के नाम से प्रख्यात है।

चन्द्रपुरी—बनारस से १३ मील अथवा 'सारनाथ' से ६ मील गगा के किनारे पर है। यहाँ पर चन्द्रप्रभु भगवान का जन्म हुआ था।

अयोध्या—आदिनाथजी, अजितनाथजी, अभिनन्दननाथजी, सुमतिनाथजी, अनन्तनाथजी का जन्मस्थान।

अहिक्षेत्र—बरेली-अलीगढ़ लाइन पर आमला स्टेशन से ८ मील। यहाँ भगवान पार्श्वनाथ के ऊपर कमठ ने घोर उपसर्ग किया था और उन्हे केवलज्ञान प्राप्ति हुआ था।

हस्तिनापुर—शान्तिनाथ, कुन्थनाथ, और अरहनाथ तीर्थङ्करो के गर्भ, जन्म, तप और ज्ञान कल्याणक हुए थे।

चौरासी—मथुरा शहर से २॥ मील। यहाँ से जम्बु स्वामी मोक्ष गए थे।

शौरीपुर—शिकोहाबाद से १० मील पर बटेश्वर ग्राम है। यहाँ पर नेमिनाथ स्वामी के गर्भ और जन्म—ये दो कल्याणक हुए थे।

रामटेक—स्टेशन से तीन मील की दूरी पर धर्मशाला है। दस बड़े-बड़े मन्दिर हैं। इनमें १ मन्दिर में एक प्रतिमा १४ फुट की दर्शनीय है।

[मध्य भारत - मालवा]

मक्सी-पार्श्वनाथ—सेन्ट्रल रेलवे की भोपाल-उज्जैन शाखा में इस नाम का स्टेशन है। यहाँ से १ मील पर एक प्राचीन जैन मन्दिर है। उसमें पार्श्वनाथ की बड़ी मनोज्ञ प्रतिमा है।

सिद्धवरकूट—इन्दौर से खण्डवा लाईन पर ओंकारेश्वर स्टेशन से होते हुए अथवा सनावद से ६ मील पर है। यहाँ २ चक्रवर्ती, १० कामदेव एवं साढे तीन करोड़ मुनि मोक्ष गये हैं।

बड़वानी—बड़वानी स्टेशन से ५ मील पर चूलिगिरि पहाड है, जिसकी तलहटी में बावनगजा (कुम्भकर्ण) की प्रसिद्ध खड्गासन प्रतिमा है। पौष में यहाँ मेला लगता है। यहाँ से इन्द्रजीत और कुम्भकर्ण आदि मुनि मोक्ष गये हैं।

ऊन—यह प्राचीन क्षेत्र पावागिरि के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। यहाँ पर बहुत से मन्दिर और मूर्तियाँ जमीन से निकली हैं तथा दर्शन करने योग्य हैं।

[राजस्थान प्रान्त]

श्रीमहावीरजी—पश्चिम रेलवे की नागदा-मथुरा लाईन पर श्री महावीरजी स्टेशन है, यहाँ से ४ मील पर क्षेत्र है। भगवान महावीर स्वामी की अति मनोज्ञ प्रतिमा पास के ही एक टील के अन्दर से निकली थी।

पद्मपुरी—स्टेशन शिवदासपुरा। भगवान पद्मप्रभु की अतिशयपूर्ण, भव्य और मनोज्ञ प्रतिमा के अतिशय के कारण इस क्षेत्र का नाम पद्मपुरी पड़ा है।

केशरियानाथ—उदयपुर स्टेशन से ४० मील पर। यहाँ ऋषभदेव स्वामी का बहुत विशाल मन्दिर है। यहाँ भारत के सभी तीर्थों से अधिक केशर भगवान को चढ़ती है, इसी से इसका नाम केशरियानाथ पड़ा है।

तिजारा—अलवर एवं दिल्ली से बस द्वारा। चन्द्रप्रभु भगवान की अतिशय युक्त मूर्ति दर्शनीय है।

[बम्बई प्रदेश]

तारंगा—स्टेशन तारंगा-हिल से ३ मील दूर पहाड़ पर यह क्षेत्र है। यहाँ से वरदत्तादि साढ़े तीन करोड़ मुनि मोक्ष गये हैं।

गिरनार—काठियावाड मे जूनागढ़ स्टेशन से ४-५ मील की दूरी पर गिरनार पर्वत की तलहटी है। पहाड पर ७००० सीढ़ियो की चढ़ाई है। यहाँ स नेमिनाथ स्वामी तथा ७२ करोड सात सौ मुनि मोक्ष गये हैं।

शत्रुञ्जय—पालिताना स्टेशन से २ मील पर है। यहाँ न युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन तथा ८ करोड मुनि मोक्ष गये हैं।

पावागढ—बडोदा से २८ मील की दूरी पर यह क्षेत्र है। यहाँ स लव, कुश आदि पाँच करोड मुनि मोक्ष गये हैं।

मांगीतुंगी—मनमाड स्टेशन से ७० मील पर घन जगल मे पहाड पर यह क्षेत्र है। यहाँ से रामचन्द्र, सुग्रीव, गवय गवाक्ष, नील आदि ९९ करोड मुनि मोक्ष गये हैं।

गजपन्था—नासिक रोड स्टेशन से ६ मील नसरुन ग्राम के पास। यहाँ से बलभद्र आदि आठ करोड मुनि मोक्ष गये हैं।

कुन्थलगिरि—बार्सी टाऊन रेलवे स्टेशन से २१ मील दूरी पर। यहाँ से देशभूषण, कुलभूषण मुनि मोक्ष गये हैं।

[मैसूर प्रान्त]

मूडबद्री—कारकल से दस मील पर यह एक अच्छा कस्बा है। यहाँ १८ मन्दिर हैं। यहाँ के मन्दिरो मे हीरा, पन्ना, पुखराज, मूँगा, नीलम की मूर्तियाँ हैं।

जैनबद्री—(श्रवणबेलगोला) हसन जिले के अन्तर्गत यह क्षेत्र है। हसन से मोटर जाती है। श्रवणबेलगोला मे चन्द्रगिरि और विन्ध्यगिरि नाम की दो पहाडिया पास-पास हैं। पहाड पर ५७ फीट ऊँची बाहुबली की मनोज्ञ प्रतिमा है। १२ वर्ष बाद महामस्तकाभिषेक होता है।

वेणूर—गोम्मट स्वामी की ६० फीट ऊँची एक प्रतिमा है तथा अन्य हजारो मनोज्ञ मूर्तियाँ यहाँ पर हैं—मन्दिर दर्शनीय हैं।

हडबेरी—यहाँ एक मन्दिर पूरा कसौटी पत्थर का बना हुआ है।

कारकल—यहाँ प्राचीन और मनोज्ञ १२ मन्दिर लाखो रुपयो की लागत से बने हैं। पर्वत पर श्री बाहुबली स्वामी की विशाल मूर्ति कायोत्सर्ग अवस्था मे देखने योग्य है।

बारंग—यहाँ एक मन्दिर तालाब के मध्य भाग में है। किश्ती मे बैठ कर जाने से दर्शन होते हैं।

वन्दना

रचयिता — स्व० कवि भगवत् जैन, एतमादपुर (आगरा)

शिवपुर पथ परिचायक जय हे, सन्मति युग निर्माता।
गङ्गा कल-कल स्वर में गाती, तव गुण गौरव गाथा।
सुर नर किन्नर तव पद युग में, नित नत करते माथा॥
हम भी तव यश गाते, सादर शीश झुकाते।
हे सद् बुद्धि प्रदाता॥
दु:ख हारक सुख दायक जय हे, सन्मति युग निर्माता।
जय हे, जय हे, जय हे, जय जय जय जय हे॥
सन्मति युग निर्माता॥१॥

मंगल कारक दया प्रचारक, खग पशु नर उपकारी।
भविजन तारक कर्म विदारक, सब जग तव आभारी॥
जब तक रवि शशि तारे, तब तक गीत तुम्हारे।
विश्व रहेगा गाथा॥
चिर सुख शान्ति विधायक जय हे, सन्मति युग निर्माता।
जय हे, जय हे, जय हे, जय जय जय जय हे॥
सन्मति युग निर्माता॥२॥

भ्रातृ भावना भुला परस्पर, लड़ते हैं जो प्राणी।
उनके उर में विश्व प्रेम, फिर भरे तुम्हारी वाणी॥
सब में करुणा जागे, जग से हिंसा भागे।
पायें सब सुख साता॥
हे दुर्जय दुख दायक जय हे, सन्मति युग निर्माता।
जय हे, जय हे, जय हे, जय जय जय जय हे॥
सन्मति युग निर्माता॥३॥

आवश्यक नियम

इनके पालन से आत्म-कल्याण के साथ-साथ
जीवनचर्या मे भी उत्थान होता है।

(१) प्रतिदिन देव-पूजन, शास्त्र-स्वाध्याय व गुरु-भक्ति करें।
(२) रात्रि भोजन व अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण नही करें।
(३) २४ घण्टे मे कम से कम १५ मिनिट स्व-चिन्तन करें।
(४) चिन्तन द्वारा दिन भर मे हुई गलतियो का पश्चाताप करें।
(५) चमडे की वस्तुओ का प्रयोग न करें।
(६) अफीम, भाग, तम्बाखू आदि मादक द्रव्यो का प्रयोग न करें।
(७) अनैतिक कार्य न करे व हित-मित-प्रिय वचन बोले।
(८) नगदी, सोना, चाँदी, जायदाद आदि की मर्यादा निश्चित करें।
(९) विकथाओ (स्त्री, राज्य, चोरी, भोजन) मे अपना समय नष्ट नही करे।
(१०) अपनी आय का कम से कम १/१० हिस्सा दान के कार्यों मे लगाये।
(११) अष्टमी, चतुर्दशी या महीने मे कम से कम १ उपवास या एकाशन करें।
(१२) आहार के लिये हरी सब्जी, अनाज, फल आदि की गिनती कर नियम ले लें।

पदार्थों की मर्यादा

नाम	शीत	ग्रीष्म	वर्षा
बूरा (घर में बनाया)	१ माह	१५ दिन	७ दिन
दूध (दुहने के पश्चात्)	४८ मि०	४८ मि०	४८ मि०
दूध (उबालने के बाद)	२४ घण्टे	२४ घण्टे	२४ घण्टे
दही (गर्म दूध का)	२४ घण्टे	२४ घण्टे	२४ घण्टे
छाछ	४८ मि०	४८ मि०	४८ मि०
घी, तेल व गुड़ — जब तक स्वाद न बिगड़े			
आटा (सब तरह का)	७ दिन	५ दिन	३ दिन
(पिसे हुए) मसाले	७ दिन	५ दिन	३ दिन
नमक (पिसा हुआ)	४८ मि०	४८ मि०	४८ मि०
नमक (मसाला मिला देने पर)	६ घण्टे	६ घण्टे	६ घण्टे
खिचड़ी, रायता, कढ़ी, तरकारी	६ घण्टे	६ घण्टे	६ घण्टे
रोटी, पूड़ी, हलवा (जलवाले पदार्थ)	१२ घण्टे	१२ घण्टे	१२ घण्टे
मोन मिले पदार्थ	२४ घण्टे	२४ घण्टे	२४ घण्टे
पकवान (पानी रहित)	७ दिन	५ दिन	३ दिन
दही (मीठे पदार्थ सहित)	४८ मि०	४८ मि०	४८ मि०

गुड़ मिला दही या छाछ सर्वथा अभक्ष्य है।

बोधिदुर्लभ भावना— धनकनकञ्चन राज सुख, सबहि सुलभ करि जान।
दुर्लभ है संसार में, एक जथारथ ज्ञान ॥११॥

धर्म भावना —जाचे सुरतरु देय सुख, चिन्तन चिन्ता रैन।
बिन जाचे बिन चिन्तये, धर्म सकल सुख दैन ॥१२॥



संक्षिप्त सूतकविधि।

सूतकमें देव शास्त्र गुरुका पूजन प्रक्षालादिक करना, तथा मंदिरजीकी जाजम वस्त्रादिको स्पर्श नहीं करना चाहिये। सूतक का समय पूर्ण हुये बाद पूजनादि करके पात्रदानादि करना चाहिये।

१—जन्मका सूतक दश दिन तक माना जाता है।

२—यदि स्त्रीका गर्भपात (पाचवें छठे महीनेमें) हो तो जितने महीनेका गर्भपात हो उतने दिनका सूतक माना जाता है।

३—प्रसूति स्त्रीको ४५ दिनका सूतक होता है, कहीं कहीं चालीस दिनका भी माना जाता है। प्रसूतिस्थान एक मास तक अशुद्ध है

४—रजस्वला स्त्री चौथे दिन पतिके भोजनादिकके लिये शुद्ध होती है परन्तु देव पूजन, पात्रदानके लिये पाचवें दिन शुद्ध होती है। व्यभिचारिणी स्त्रीके सदा ही सूतक रहता है।

५ मृत्युका सूतक तीन पीढी तक १२ दिनका माना जाता है। चौथी पीढीमें छह दिनका, पाचवीं छठी पीढी तक चार दिनका, सातवीं पीढीमें तीन, आठवीं पीढीमें एक दिन रात, नवमी पीढी में स्नानमात्रमें शुद्धता हो जाती है।

६—जन्म तथा मृत्युका सूतक गोत्रके मनुष्यको पाच दिनका होता है। तीन दिनके बालककी मृत्युका एक दिनका आठ वर्षके बालककी मृत्युका तीन दिन तकका माना जाता है। इसके आगे बारह दिनका।

७—अपने कुलके किसी गृहत्यागीका सन्यास मरण, वा किसी कुटुम्बीका संग्राममें मरण हो जाय तो एकदिनका सूतक माना जाता है।

८—यदि अपने कुलका कोई देशांतरमें मरण करै और १२ दिन पहले खबर सुने तो शेष दिनोंका ही सूतक मानना चाहिये। यदि १२ दिन पूर्ण हो गये हों तो स्नानमात्र सूतक जानो।

९—गौ, भैंस, घोडी आदि पशु अपने घरमें जनै तो एक दिनका सूतक और घरके बाहर जनै तो सूतक नहीं होता। दासी सद तथा पुत्रीके घरमें प्रसूति होय तो एक दिन, मरण हो तो तीन दिनका सूतक होता है। यदि घरसे बाहर हो तो सूतक नहीं। जो कोई अपनेको अग्नि आदिकमें जलाकर वा विष, शस्त्रादिसे आत्महत्या करै तो छह महीनेतकका सूतक होता है। इसी प्रकार और भी विचार है सो आदिपुराणसे जानना।

१०—बच्चा हुये बाद भैंसका दूध १५ दिन तक, गायका दूध १० दिन तक, बकरीका ८ दिन तक अभक्ष्य (अशुद्ध) होता है। देशभेदसे सूतक विधानमें कुछ न्यूनाधिक भी होता है परन्तु आम्नायकी पद्धति मिलाकर ही सूतक मानना चाहिये। ॥समाप्त॥

---

* श्री जिनाय नम *



णमोकार मन्त्र

णमो अरिहन्ताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥ १ ॥

दर्शन पाठ

दर्शनं देव देवस्य, दर्शनं पापनाशनं।
दर्शनं स्वर्गसोपानं, दर्शनं मोक्षसाधनं ॥
दर्शनेन जिनेन्द्राणां, साधूनां वन्दनेन च।
न चिरं तिष्ठते पापं, छिद्रहस्ते यथोदकम् ॥
वीतरागमुखं दृष्ट्वा, पद्मरागसमप्रभं।
अनेक जन्मकृतं पापं, दर्शनेन विनश्यति ॥
दर्शनं जिन सूर्यस्य, संसारध्वान्तनाशनं।
बोधनं चित्तपद्मस्य, समस्तार्थप्रकाशनं ॥
दर्शनं जिन चन्द्रस्य, सद्धर्मामृतवर्षणं।
जन्मदाहविनाशाय, वर्धनं सुखवारिधेः ॥

जीवादितत्वप्रतिपादकाय. सम्यक्त्वमुख्याष्टगुणार्णवाय ।
प्रशान्तरूपाय दिगम्बराय. देवाधिदेवाय नमो जिनाय ॥
चिदानन्दैकरूपाय जिनाय परमात्मने ।
परमात्मप्रकाशाय, नित्यं सिद्धात्मने नमः ॥
अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम ।
तस्मात्कारुण्यभावेन रक्ष रक्ष जिनेश्वर ! ॥
नहि त्राता नहि त्राता नहि त्राता जगत्त्रये ।
वीतरागात्परो देवो. न भूतो न भविष्यति ॥
जिनेभक्तिर्जिनेभक्तिर्जिनेभक्तिर्दिनेदिने ।
सदामेऽस्तु सदामेऽस्तु सदामेऽस्तु भवे-भवे ॥
जिनधर्मविनिर्मुक्तो, मा भवच्चक्रवर्त्यपि ।
स्याच्चेटोऽपि दरिद्रोऽपि. जिनधर्मानुवासितः ॥
जन्मजन्मकृतपापं जन्मकोटिभिरर्जितं ।
जन्ममृत्युजरारोगं हन्यते जिनदर्शनात् ॥
अद्याभवत्सफलता नयनद्वयस्य,
देव ! त्वदीयचरणाम्बुजवीक्षणेन ।
अद्य त्रिलोकतिलक प्रतिभाषते मे,
संसारवारिधिरयं चुलुकप्रमाणम् ॥

भाषा दर्शन पाठ

प्रभु पतितपावन मैं अपावन, चरण आयो शरणजी ।
यो विरद आप निहार स्वामी, मेट जामन मरणजी ॥
तुम ना पिछान्यो आन मान्यो, देव विविध प्रकारजी ।
या बुद्धि सेती निज न जान्यो, भ्रमगिन्यो हितकारजी ॥
भव विकट वनमें करम वैरी, ज्ञान धन मेरो हर्यो ।
तब इष्ट भूल्यो भ्रष्ट होय, अनिष्ट गति धरतो फिर्यो ॥
धन घड़ी यो धन दिवस यो ही, धन जनम मेरो भयो ।
अब भाग मेरो उदय आयो, दरश प्रभुको लख लयो ॥
छवि वीतरागी नगन मुद्रा, दृष्टि नासापै धरैं ।
वसु प्रातिहार्य अनन्त गुण जुत, कोटि रवि छविको हरैं ॥
मिट गयो तिमिर-मिथ्यात मेरो, उदय रवि आतम भयो ।
मो उर हरष ऐसो भयो, मनु रङ्क चिंतामणि लयो ॥
हाथ जोड़ नवाय मस्तक, वीनऊँ तुव चरणजी ।
सर्वोत्कृष्ट त्रिलोकपति जिन, सुनहु तारण तरणजी ॥
जाचूँ नहीं सुरवास पुनि, नर राज परिजन साथजी ।
बुध जाचहूँ तुव भक्ति भव-भव, दीजिये शिवनाथजी ॥

पंच मंगल (अभिषेक) पाठ

पणविवि पञ्च परमगुरु गुरु जिन शासनो ।
सकलसिद्धिदातार सु विघनविनाशनो ॥
शारद् अरु गुरु गौतम सुमति प्रकाशनो ।
मङ्गल कर चउ-संघहि पापपणासनो ॥ १ ॥

पापहिपणासन गुणहि गरुवा, दोष अष्टादश रहिउ ।
धरिध्यान करमविनाश केवल, ज्ञान अविचल जिन लहिउ ।
प्रभु पञ्च कल्याणक विराजित, सकल सुर नर ध्यावहीं ।
त्रैलोकनाथ सु देव जिनवर जगत मङ्गल गावहीं ॥ १ ॥

१—गर्भ कल्याणक

जाके गर्भ कल्याणक धनपति आइयो ।
अवधिज्ञान—परवान सु इन्द्र पठाइयो ॥
रचि नव बारह जोजन, नयरि सुहावनी ।
कनकरयणमणिमण्डित, मन्दिर अति बनी ॥ २ ॥

अति बनी पौरि पगारि परिखा, सुवन उपवन सोहये ।
नर-नारि सुन्दर चतुर भेष सु देख जनमन मोहये ॥
तहं जनकगृह छ मास प्रथमहिं, रतनधारा बरसियो ।
पुनि रुचिकवासिनि जननि-सेवा करहि सब विधि हरषियो ॥ २ ॥

सुरकुञ्जरसम कुञ्जर धवल धुरन्धरो ।
केहरि-केशरशोभित, नख शिख सुन्दरो ॥

कमलाकलश-न्हवन, दुइ दाम सुहावनी।
रविशशि मण्डल मधुर, मीन जुग पावनी ॥३॥

पावनि कनक घट जुगमपूरण कमलकलित सरोवरो।
कल्लोलमाला कुलित सागर सिंहपीठ मनोहरो॥
रमणीक अमर विमान फणपति-भुवन रविछवि छाजहीं।
रुचि रतनराशि दिपन्त दहन सु तेजपुञ्ज विराजहीं॥ ३॥

ये सखि सोलह सुपने सूती शयनहीं।
देखे माय मनोहर, पश्चिम रयनहीं॥
उठि प्रभात पिय पूछियो, अवधि प्रकाशियो।
त्रिभुवनपति सुत होसी, फल तिहं भासियो ॥४॥

भासियो फल तिहि चिन्ति दम्पति, परम आनन्दित भये।
छ मास परि नव मास पुनि तहं रैन दिन सुखसों गये॥
गर्भावतार महन्त महिमा, सुनत सब सुख पावहीं।
भणि 'रूपचन्द' सुदेव जिनवर जगत मङ्गल गावहीं॥ ४॥

२-जन्म कल्याणक

मतिश्रुत अवधि विराजित, जिन जब जनमियो।
तिहुँ लोक भयो छोभित, सुरगन भरमियो॥
कल्पवासि-घर घण्ट, अनाहद वज्जियो।
ज्योतिष घर हरिनाद, सहज गल गज्जियो ॥५॥

गज्जियो सहजहि संख भावन, भवन शब्द सुहावने।
किन्नरनिलय पटु पटह वज्जहि, कहत महिमा क्यों बने॥
कम्पित सुरासन अवधिबल, जिन-जनम निहचै जानियो।
धनराज तब गजराज मायामयी निरमय आनियो॥ ५॥

जोजन लाख गयन्द, वदन सौ निरमये।
वदन वदन वसुदन्त, दन्त सर संठये॥
सर-सरसौ पनवीस, कमलिनी छाजहीं।
कमलिनि-कमलिनि, कमल पच्चीस विराजहीं॥६॥

राजही कमलिनी कमल्ऽठोतर सौ मनोहर दल बने।
दल दलहिं अपछर नटहिं नवरस, हाव भाव सुहावने॥
मणि कनक किंकणि वर विचित्र सु अमरमण्डप सोहये।
धन घण्ट चँवर धुजा पताका, देखि त्रिभुवन मोहये॥ ६॥

तिहिं करि हरि चढ़ि आयउ सुर परिवारियो।
पुरहि प्रदच्छिण दे त्रय, जिन जयकारियो॥
गुप्त जाय जिन-जननिहिं, सुखनिद्रा रची।
मायामयि शिशु राखि तौ, जिन आन्यो सची॥७॥

आन्यो सची जिनरूप निरखत, नयन तृपति न हूजिये।
तब परम हरषित हृदय हरि ने, सहस लोचन कीजिये॥
पुनि करि प्रणाम जु प्रथम इन्द्र, उछङ्ग धरि प्रभु लीनऊ।
ईशान इन्द्र सु चन्द्र छवि, शिर छत्र प्रभु के दीनऊ॥ ७॥

सनतकुमार माहेन्द्र चमर दुई ढारहीं।
शेष शक्र जयकार, शबद उच्चारहीं॥

उच्छवसहित चतुरविधि, सुर हरषित भये ।
जोजन सहस निन्यानवै, गगन उलंघि गये ॥८॥
लघि गये सुरगिरि जहा पाण्डुक, वन विचित्र विराजहीं ।
पाण्डुक-शिला तह अर्द्धचन्द्र समान, मणि छवि छाजहीं ॥
जोजन पचास विशाल दुगुणायाम, वसु ऊँचौं गनी ।
वर अष्ट-मङ्गल कनक कलशनि, सिंहपीठ सुहावनी ॥ ८ ॥
रचि मणिमण्डप शोभित, मध्य सिंहासनो ।
थाप्यो पूरव-मुख तहँ, प्रभु कमलासनो ॥
बाजहिं ताल मृदङ्ग, वेणु वीणा घने ।
दुन्दुभि प्रमुख मधुर धुनि, अवर जु बाजने ॥९॥
बाजने बाजहिं शची सब मिलि, धवल मङ्गल गावहीं ।
पुनि करहिं नृत्य सुराङ्गना सब, देव कौतुक धावहीं ॥
भरि क्षीर-सागर जल जु हाथहिं, हाथ सुरगिरि ल्यावहीं ।
सौधर्म अरु ईशान इन्द्र सु कलश ले प्रभु न्हावहीं ॥ ९ ॥
वदन उदर अवगाह, कलशगत जानिये ।
एक चार वसु योजन, मान प्रमानिये ॥
सहस-अठोतर कलशा, प्रभु के शिर ढरै ।
पुनि श्रृङ्गार प्रमुख, आचार सबै करै ॥१०॥
करि प्रगट प्रभु महिमा महोच्छव, आनि पुनि मातहिं दयो ।
धनपतिहिं सेवा राखि सुरपति, आप सुरलोकहि गयो ॥
जनमाभिषेक महन्त महिमा, सुनत सब सुख पावहीं ।
भणि 'रूपचन्द्र' सुदेव जिनवर, जगत मङ्गल गावहीं ॥१०॥

क्षीरार्णवस्य पयसा शुचिभिः प्रवाहैः
प्रक्षालितं सुरवरैर्यदनेकवारम् ।
अत्युद्धमुद्यतमहं जिनपादपीठं
प्रक्षालयामि भव-संभव-तापहारि ॥ ५ ॥

[इति पठित्वा पीठप्रक्षालनम्]

श्रीशारदा-सुमुख-निर्गत-बीजवर्णं
श्रीमङ्गलीक-वर-सर्वजनस्य नित्यम् ।
श्रीमत्स्वयं क्षयति तस्य विनाशविघ्नं
श्रीकार-वर्ण-लिखितं जिन-भद्रपीठे (?)॥६॥

[इति पठित्वा पीठे श्रीकारलेखनम्]

इन्द्राग्नि-दण्डधर-नैऋत-पाशपाणि-
वायूत्तरेश-शशिमौलि-फणीन्द्र-चन्द्राः ।
आगत्य यूयमिह सानुचराः सचिह्नाः
स्वं स्वं प्रतीच्छत बलि जिनपाभिषेके ॥७॥

[पुरोलिखितान्मन्त्रानुच्चार्य क्रमशो दशदिक्पालकेभ्योऽर्घ्यसमर्पणम्]

१ ॐ आं क्रौं ह्रीं इन्द्र आगच्छ आगच्छ इन्द्राय स्वाहा ।
२ ॐ आं क्रौं ह्रीं अग्ने आगच्छ आगच्छ अग्नये स्वाहा ।
३ ॐ आं क्रौं ह्रीं यम आगच्छ आगच्छ यमाय स्वाहा ।
४ ॐ आं क्रौं ह्रीं नैऋत आगच्छ आगच्छ नैऋताय स्वाहा ।
५ ॐ आं क्रौं ह्रीं वरुण आगच्छ आगच्छ वरुणाय स्वाहा ।
६ ॐ आं क्रौं ह्रीं पवन आगच्छ आगच्छ पवनाय स्वाहा ।

७ ॐ आं क्रौं ह्रीं कुबेर आगच्छ आगच्छ कुबेराय स्वाहा ।
८ ॐ आं क्रौं ह्रीं ऐशान आगच्छ आगच्छ ऐशानाय स्वाहा ।
९ ॐ आं क्रौं ह्रीं धरणीन्द्र आगच्छ आ० धरणीन्द्राय स्वाहा ।
१० ॐ आं क्रौं ह्रीं सोम आगच्छ आगच्छ सोमाय स्वाहा ।

इति दिक्पालमन्त्राः

दध्युज्ज्वलाक्षत-मनोहर-पुष्प-दीपैः
पात्रार्पितं प्रतिदिनं महतादरेण ।
त्रैलोक्य-मङ्गल-सुखालय-कामदाह-
मारार्तिकं तव विभोरवतारयामि ॥८॥

[पात्रार्पितैर्दधितण्डुलपुष्पदीपैर्जिनस्यारार्तिकावतरणम्]

यं पाण्डुकामल-शिलागतमादिदेव-
मस्नापयन्सुरवराः सुरशैलमूर्ध्नि ।
कल्याणमीप्सुरहमक्षत-तोय-पुष्पैः
संभावयामि पुर एव तदीय-बिम्बम् ॥९॥

[जलाक्षतपुष्पाणि निक्षिप्य श्रीवर्णे प्रतिमास्थापनम्]

सत्पल्लवार्चित-मुखान्कलधौतरौप्य-
ताम्रारकूट-घटितान्पयसा सुपूर्णान् ।
संवाह्यतामिव गतांश्चतुरः समुद्रान्
संस्थापयामि कलशाञ्जिनवेदिकान्ते ॥१०॥

[आम्रादिपल्लवशोभितमुखांश्चतुःकलशान् पीठचतुःकोणेषु स्थापयेत्]

आभिः पुण्याभिरद्भिः परिमल-बहुलेनामुना चन्दनेन
श्रीदृक्पेयैरमीभिः शुचि-सदकचयैरुद्गमैरेभिरुद्धैः ।
हृद्यैरेभिर्निवेद्यैर्मख-भवनमिमैर्दीपयद्भिः प्रदीपैः
धूपैः प्रायोभिरेभिः पृथुभिरपि फलैरेभिरीशं यजामि ॥११॥

[ॐ ह्रीं श्रीपरमदेवाय श्रीअर्हत्परमेष्ठिनेऽर्घं निर्वपामीति स्वाहा ।]

दूरावनम्र-सुरनाथ-किरीट-कोटी-
संलग्न-रत्न-किरण-च्छवि-धूसराङ्घ्रिम् ।
प्रस्वेद-ताप-मल-मुक्तमपि प्रकृष्टै-
र्भक्त्या जलैर्जिनपतिं बहुधाऽभिषिञ्चे ॥१२॥

[ॐ ह्रीं श्रीमन्तं भगवन्तं कृपालसन्तं वृषभादिमहावीर-पर्यन्तचतुर्विंशतितीर्थङ्करपरमदेवं आद्यानां आद्ये जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे आर्यखण्डे ... नाम्नि नगरे मासानामुत्तमे मासे ... ...मासे ... पक्षे ... शुभदिने मुन्यार्यिका-श्रावक-श्राविकाणां सकलकर्मक्षयार्थं जलेनाभिषिञ्चे नम ।]

[इति पठित्वा जिनस्य जलाभिषेक कृत्वा उदकचन्दनेति श्लोकं पठित्वा अर्घ्यं समर्पयेत्]

उत्कृष्ट-वर्ण-नव-हेम-रसाभिराम-
देह-प्रभा-वलय-संगम-लुप्त-दीप्तिम् ।
धारां घृतस्य शुभ-गन्ध-गुणानुमेयां
वन्देऽर्हतां सुरभि-संस्नपनोपयुक्ताम् ॥१३॥

[ॐ ह्रीं श्रीमन्तं भगवन्त इत्यादिमन्त्रं पठित्वा घृतेनाभिषिञ्चे इति पठित्वा घृताभिषेकं कुर्यात् ।]

संपूर्ण-शारद-शशाङ्क-मरीचि-जाल-
स्यन्दैरिवात्मयशसामिव सुप्रवाहैः ।
क्षीरैर्जिनाः शुचितरैरभिषिच्यमानाः
संपादयन्तु मम चिर-समीहितानि ॥१४॥

[उपरितन मन्त्र पठित्वा जलेनाभिषिञ्चे इत्यस्मिन्स्थाने क्षीरेणाभिषिञ्चे इत्युच्चार्य क्षीराभिषेक कुर्यात् ।]

दुग्धाब्धि-वीचि-पयसाञ्चित-फेनराशि-
पाण्डुत्व-कान्तिमवधीरयतामतीव ।
दध्नां गता जिनपतेः प्रतिमा सुधारा
संपद्यतां सपदि वाञ्छित-सिद्धये नः ॥१५॥

[उपरितन मन्त्र पठित्वा जलेनाभिषिञ्चे इत्यस्मिन्स्थाने दध्नाभिषिञ्चे इति पठित्वा दध्यभिषेक कुर्यात् ।]

भक्त्या ललाट-तटदेश-निवेशितोच्चै-
र्हस्तैश्च्युता सुरवरासुर-मर्त्यनाथैः ।
तत्काल-पीलित-महेक्षु-रसस्य धारा
सद्यः पुनातु जिन-बिम्ब-गतैव युष्मान् ॥१६॥

[उपरितन मन्त्र पठित्वा जलेनाभिषिञ्चे इत्यस्मिन्स्थाने इक्षुरसेनाभिषिञ्चे इति पठित्वा इक्षुरसाभिषेक कुर्यात् ।]

संस्नापितस्य घृत-दुग्ध-दधीक्षुवाहैः
सर्वाभिरौषधिभिरर्हत उज्ज्वलाभिः ।
उद्वर्तितस्य विदधाम्यभिषेकमेला-
कालेय-कुंकुम-रसोत्कट-वारि-पूरैः ॥१७॥

[उपरितनमन्त्रमुच्चार्य जलेनाभिषिञ्चे इत्यस्मिन्स्थाने सर्वौषधिभि-
रभिषिञ्चे इति पठित्वा सर्वौषधिभिरभिषेकं कुर्यात् ।]

द्रव्यैरनल्प-घनसार-चतुःसमाद्यै-
रामोद-वासित-समस्त-दिगन्तरालैः ।
मिश्रीकृतेन पयसा जिनपुङ्गवानां
त्रैलोक्य-पावनमहं स्नपनं करोमि ॥१८॥

[जलेनाभिषिञ्चे इति स्थाने सुगन्धजलेनेति पठित्वा स्नपन कुर्यात्]

इष्टैर्मनोरथ-शतैरिव भव्यपुंसां
पूर्णैः सुवर्ण-कलशैर्निखिलैर्वसानैः ।
संसार-सागर-विलंघन-हेतु-सेतु-
माप्लावये त्रिभुवनैकपतिं जिनेन्द्रम् ॥१९॥

[उपरितनमन्त्रेणैव समस्तकलशैरभिषेक कुर्यात्]

मुक्ति-श्री-वनिता-करोदकमिदं पुण्याङ्कुरोत्पादकं
नागेन्द्र-त्रिदशेन्द्र-चक्र-पदवी-राज्याभिषेकोदकम् ।
सम्यग्ज्ञान-चरित्र-दर्शनलता-संवृद्धि-संपादकं
कीर्ति-श्री-जय-साधकं तव जिन स्नानस्य गन्धोदकम् ॥२०॥

[श्लोकमिमं पठित्वा गन्धोदक गृह्णीयात्]

इति श्रीलघ्वभिषेकविधि समाप्तः ।

विनय पाठ दोहावली

इह विधि ठाड़ो होयके, प्रथम पढ़ै जो पाठ।
धन्य जिनेश्वर देव तुम, नाशे कर्म जु आठ ॥ १ ॥
अनन्त चतुष्टयके धनी, तुम ही हो सिरताज।
मुक्ति वधूके कन्त तुम, तीन भुवन के राज ॥ २ ॥
तिहुँ जगकी पीड़ा हरण, भवदधि शोषणहार।
ज्ञायक हो तुम विश्वके, शिव सुखके करतार ॥ ३ ॥
हरता अघ अधियार के, करता धर्म प्रकाश।
थिरतापद दातार हो, धरता निजगुण राश ॥ ४ ॥
धर्मामृत उर जलधिसों, ज्ञानभानु तुम रूप।
तुमरे चरण सरोज को, नावत तिहुँजग भूप ॥ ५ ॥
मैं वन्दौं जिनदेव को, कर अति निर्मल भाव।
कर्मबन्ध के छेदने, और न कछू उपाव ॥ ६ ॥
भविजनकों भवकूपतैं, तुमही काढनहार।
दीनदयाल अनाथपति, आतम गुण भण्डार ॥ ७ ॥
चिदानन्द निर्मल कियो, धोय कर्मरज मैल।
सरल करी या जगत में, भविजनको शिवगैल ॥ ८ ॥

तुम पदपङ्कज पूजतैं, विघ्न रोग टर जाय।
शत्रु मित्रता को धरें, विष निरविषता थाय ॥ ९ ॥
चक्री खगधर इन्द्र पद, मिलें आपतैं आप।
अनुक्रम तें शिवपद लहैं, नेम सकलहनि पाप ॥१०॥
तुम विन मैं व्याकुल भयो, जैसे जल विन मीन।
जन्म जरा मेरी हरो, करो मोहि स्वाधीन ॥११॥
पतित बहुत पावन किये, गिनती कौन करेव।
अञ्जन से तारे प्रभू, जय जय जय जिनदेव ॥१२॥
थकी नाव भवदधि विषै, तुम प्रभु पार करेव।
खेवटिया तुम हो प्रभु, जय जय जय जिनदेव ॥१३॥
रागसहित जगमें रुल्यो, मिले सरागी देव।
वीतराग भेट्यो अबै, मेटो राग कुटेव ॥१४॥
कित निगोद कित नारकी, कित तिर्यंञ्च अज्ञान।
आज धन्य मानुष भयो, पायो जिनवर थान ॥१५॥
तुमको पूजें सुरपति, अहिपति नरपति देव।
धन्य भाग्य मेरो भयो, करन लग्यो तुम सेव ॥१६॥
अशरणके तुम शरण हो, निराधार आधार।
मैं डूबत भवसिन्धु में, खेय लगाओ पार ॥१७॥

इन्द्रादिक गणपति थके, कर विनती भगवान ।
अपनो विरद निहारिकैं, कीजै आप समान ॥१८॥
तुमरी नेक सुदृष्टितें, जग उतरत है पार ।
हाहा डूब्यो जात हौं, नेक निहार निकार ॥१९॥
जो मैं कहहूँ औरसों, तो न मिटै उरझार ।
मेरी तो तोसों बनी, तातैं करौं पुकार ॥२०॥
वन्दौं पांचो परमगुरु, सुर गुरु वन्दत जास ।
विघन हरण मङ्गल करण, पूरण परम प्रकाश ॥२१॥
चौबीसों जिनपद नमों, नमों शारदा माय ।
शिवमग साधक साधु नमि, रच्यो पाठ सुखदाय ॥२२॥

पुष्पाञ्जलि क्षिपेत् ।

श्री शान्तिनाथ स्तुति

मत्तगयन्द (सवैया)

शांतिजिनेश जयौ जगतेश, हरै अघताप निशेशकी नाई ।
सेवत पाय सुरासुरराय, नमै शिरनाय महीतलताई ॥
मौलि लगे मनिनील दिपे, प्रभुके चरणों झलके वह झांई ।
सूघन पाय-सरोज-सुगन्धिकिधौं चलि ये अलिपङ्कति आई ॥

पूजा प्रारम्भ

ॐ जय जय जय। नमोऽस्तु नमोऽस्तु नमोऽस्तु।
णमो अरिहन्ताणं. णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं,
णमो उवज्झायाणं. णमो लोए सव्वसाहूणं ॥ १ ॥

ॐ ह्रीं अनादिमूलमन्त्रेभ्यो नमः (पुष्पांजलिं क्षिपेत्)

चत्तारि मङ्गलं—अरिहन्ता मङ्गलं, सिद्धा मङ्गलं,
साहू मङ्गलं केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं।
चत्तारि लोगुत्तमा—अरिहन्तालोगुत्तमा, सिद्धालोगुत्तमा,
साहूलोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मोलोगुत्तमा।
चत्तारिसरणं पवज्जामि—अरिहन्ते सरणं पवज्जामि,
सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहूसरणं पवज्जामि।
केवलि पण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि॥ ॐ नमोऽर्हते स्वाहा

इत्याशीर्वादः पुष्पांजलिं क्षिपेत्।

अपवित्रः पवित्रो वा सुस्थितो दुःस्थितोऽपि वा।
ध्यायेत्पंचनमस्कारं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १ ॥
अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत्परमात्मानं स बाह्याभ्यन्तरे शुचिः ॥ २ ॥
अपराजित मन्त्रोऽयं सर्वविघ्न विनाशनः।
मंगलेषु च सर्वेषु प्रथमं मंगलं मतः ॥ ३ ॥
एसो पञ्च णमोयारो सव्वपावप्पणासणो।

२

मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं होइ मंगलं ॥ ४ ॥
अर्हमित्यक्षरं ब्रह्मवाचकं परमेष्ठिनः ।
सिद्धचक्रस्य सद्बीजं सर्वतः प्रणमाम्यहं ॥ ५ ॥
कर्माष्टकविनिर्मुक्तं मोक्षलक्ष्मीनिकेतनं ।
सम्यक्त्वादिगुणोपेतं सिद्धचक्रं नमाम्यहं ॥ ६ ॥
विघ्नौघाः प्रलयं यान्ति शाकिनी-भूत-पन्नगाः ।
विषो निर्विषतां याति स्तूयमाने जिनेश्वरे ॥ ७ ॥

इत्याशीर्वाद पुष्पांजलि क्षिपेत ।

पंच कल्याणक अर्घ

उदकचन्दनतन्दुल पुष्पकैश्चरुसुदीपसुधूप फलार्घकैः ।
धवलमंगलगानरवाकुले जिनगृहे जिननाथमहं यजे ॥

ॐ ह्रीं भगवान के गर्भजन्मतपज्ञाननिर्वाण पंच कल्याणकेभ्यो अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

पंच परमेष्ठी का अर्घ

उदकचन्दनतन्दुल पुष्पकैश्चरुसुदीपसुधूप फलार्घकैः ।
धवलमंगलगानरवाकुले जिनगृहे जिन इष्टमहं यजे ॥

ॐ ह्रीं श्री अरहन्तसिद्धाचार्योपाध्याय सर्वसाधुभ्यो अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

सहस्रनाम का अर्घ

उदकचन्दनतन्दुल पुष्पकैश्चरुसुदीपसुधूप फलार्घकैः ।
धवलमंगलगानरवाकुले जिनगृहे जिननाम अहं यजे ॥

ॐ ह्रीं श्री भगवज्जिनसहस्रनामेभ्यो अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा

स्वस्ति मंगल

श्रीमज्जिनेन्द्रमभिवन्द्य जगत्त्रयेशं, स्याद्वादनाय-
कमनन्तचतुष्टयार्हं । श्रीमूलसंघ सुदृशां सुकृ-
तैक हेतुर्जैनेन्द्रयज्ञविधिरेष मयाऽभ्यधायि ॥१॥

स्वस्तित्रिलोकगुरवे जिन पुंगवाय.स्वस्ति स्वभाव-
महिमोदयसुस्थिताय । स्वस्ति प्रकाशसहजोर्जित-
दृङ्मयाय. स्वस्ति प्रसन्नललिताद्भुतवैभवाय ॥२॥

स्वस्त्युच्छलद्विमलबोधसुधाप्लवाय, स्वस्ति स्व-
भावपरभावविभासकाय । स्वस्ति त्रिलोकविततैक-
चिदुद्गमाय,स्वस्ति त्रिकालसकलायतविस्तृताय ॥३॥

द्रव्यस्य शुद्धिमधिगम्य यथानुरूपं, भावस्य शुद्धि-
मधिकामधिगन्तुकामः । आलम्बनानि विविधान्य-
वलंब्यवल्गन्, भूतार्थयज्ञपुरुषस्य करोमि यज्ञं ॥४॥

अर्हत्पुराण पुरुषोत्तमपावनानि. वस्तून्यनून-
मखिलान्ययमेक एव । अस्मिन् ज्वलद्विमलकेवल-
बोध वह्नौ, पुण्यं समग्रमहमेकमना जुहोमि ॥५॥

ॐ ह्रीं विधियज्ञप्रतिज्ञानाय जिनप्रतिमाग्रे पुष्पांजलिं क्षिपेत ।

श्रीवृषभो नः स्वस्ति, स्वस्ति श्रीअजितः ।
श्रीसम्भवः स्वस्ति, स्वस्ति श्रीअभिनन्दनः ॥
श्रीसुमतिः स्वस्ति, स्वस्ति श्रीपद्मप्रभः ।
श्रीसुपार्श्वः स्वस्ति, स्वस्ति श्रीचन्द्रप्रभः ॥
श्रीपुष्पदन्तः स्वस्ति, स्वस्ति श्रीशीतलः ।
श्रीश्रेयांसः स्वस्ति, स्वस्ति श्रीवासुपूज्यः ॥
श्रीविमलः स्वस्ति, स्वस्ति श्रीअनन्तः ।
श्रीधर्मः स्वस्ति, स्वस्ति श्रीशान्तिः ॥
श्रीकुन्थुः स्वस्ति, स्वस्ति श्रीअरहनाथः ।
श्रीमल्लिः स्वस्ति, स्वस्ति श्रीमुनिसुव्रतः ॥
श्रीनमिः स्वस्ति, स्वस्ति श्रीनेमिनाथः ।
श्रीपार्श्वः स्वस्ति, स्वस्ति श्रीवर्द्धमानः ॥

इति जिनेन्द्र स्वस्तिमङ्गलविधानम् । (पुष्पाजलि क्षेपण)

नित्याप्रकंपाद्भुतकेवलौघाः स्फुरन्मनःपर्ययशुद्धबोधाः ।
दिव्यावधिज्ञानबलप्रबोधाः स्वस्तिक्रियासुःपरमर्षयोनः ॥

यहा से प्रत्येक श्लोक के अन्त में पुष्पाजलि क्षेपण करना चाहिये ।

कोष्ठस्थधान्योपममेकबीजं सम्भिन्नसंश्रोतृपदानुसारि ।
चतुर्विधं बुद्धिबलं दधानाः स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः ॥

संस्पर्शनं संश्रवणं च दूरादास्वादनघ्राणविलोकनानि ।
दिव्यान्मतिज्ञानबलाद्वहन्तःस्वस्तिक्रियासुःपरमर्षयो नः ॥

प्रज्ञाप्रधानाः श्रमणासमृद्धाः प्रत्येकबुद्धा दशसर्वपूर्वैः ।
प्रवादिनोऽष्टांगनिमित्तविज्ञाःस्वस्ति क्रियासु.परमर्षयो नः॥

जङ्घावलिश्रेणिफलांबुतन्तु प्रसूनबीजांकुरचारणाह्वाः ।
नभोऽङ्गणस्वैरविहारिणश्च स्वस्तिक्रियासुःपरमर्षयो नः ॥

अणिम्निदक्षाःकुशला महिम्नि लघिम्निशक्ताःकृतिनोगरिम्णि
मनोवपुर्वाग्बलिनश्च नित्यं,स्वस्ति क्रियासुःपरमर्षयो नः ॥

सकामरूपित्ववशित्वमैश्यं प्राकाम्य मन्तर्द्धिमथाप्तिमाप्ताः ।
तथाऽप्रतीघातगुणप्रधानाःस्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः ॥

दीप्तं च तप्तं च तथा महोग्रं घोरं तपो घोरपराक्रमस्थाः।
ब्रह्मापरं घोरगुणाश्चरन्तःस्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः ॥

आमर्ष सर्वौषधयस्तथाशीविषं विषादृष्टि विषंविषाश्च ।
सखिल्ल विड्जल्लमलौषधीशाः स्वस्ति क्रियासुःपरमर्षयो नः

क्षीरंस्रवन्तोऽत्र घृतं स्रवन्तो मधुस्रवन्तोऽप्यमृतंस्रवन्तः ।
अक्षीणसंवासमहानसाश्च स्वस्ति क्रियासुः परमर्षयो नः ॥

इति स्वस्ति मङ्गल विधान ।

देव-शास्त्र-गुरु पूजा भाषा

अडिल्ल छन्द ।

प्रथम देव अरहन्त सुश्रुत सिद्धान्त जू ।
गुरु निरग्रन्थ महन्त मुकतिपुरपंथ जू ॥
तीन रतन जग माहिं सो ये भवि ध्याइये ।
तिनकी भक्तिप्रसाद परमपद पाइये ॥

दोहा—पूजों पद अरहन्त के, पूजों गुरुपद सार ।
पूजों देवी सरस्वती, नितप्रति अष्ट प्रकार ॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुसमूह ! अत्र अवतर अवतर संवौषट आह्वानन ।
ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुसमूह ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठ ठ स्थापन ।
ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुसमूह ! अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् ।

गीता छन्द ।

सुरपति उरगनरनाथ तिनकर, बंदनीक सुपदप्रभा ।
अति शोभनीक सुवरण उज्ज्वल, देखि छवि मोहित सभा ॥
वर नीर क्षीरसमुद्रघट भरि अग्र तसु बहुविधि नचूं ।
अरहंत श्रुतसिद्धांत गुरु निरग्रन्थ नित पूजा रचूं ॥

दोहा—मलिन वस्तु हरलेत सब, जल स्वभाव मलछीन ।
जासों पूजों परमपद, देवशास्त्र गुरु तीन ॥१॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुसमूह जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ॥ १ ॥

जे त्रिजग उदर मंझार प्राणी तपत अतिदुद्धर खरे।
तिन अहितहरन सुवचन जिनके, परम शीतलता भरे॥
तसु भ्रमर लोभित घ्राणपावन सरसचंदन घसि सचूँ।
अरहंत श्रुत-सिद्धांत गुरु-निरग्रन्थ नित पूजा रचूँ॥

दोहा—चन्दन शीतलता करे, तपत वस्तु परवीन।
जासों पूजौं परमपद, देव शास्त्र गुरु तीन ॥२॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो संसारतापविनाशनाय चन्दन निर्वपामीति स्वाहा ॥ २ ॥

यह भवसमुद्र अपार तारण, के निमित्त सुविधि ठई।
अति दृढ़ परमपावन जथारथ भक्ति वर नौका सही॥
उज्जल अखंडित सालि तंदुल पुञ्ज धरि त्रयगुण जचूँ।
अरहंत श्रुत-सिद्धांत गुरु-निरग्रन्थ नित पूजा रचूँ॥

दोहा—तंदुल सालि सुगन्ध अति, परम अखंडित वीन।
जासों पूजौं परमपद देवशास्त्र गुरु तीन ॥३॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्योऽक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा ॥ ३ ॥

जे विनयवंत सुभव्य-उर-अम्बुजप्रकाशन भान हैं।
जे एक मुख चारित्र भाषत त्रिजगमाहिं प्रधान हैं॥
लहि कुंदकमलादिक पहुप, भव भव कुवेदनसों बचूँ।
अरहन्त श्रुत-सिद्धांत गुरु-निरग्रन्थ नित पूजा रचूँ॥

दोहा—विविध भाँति परिमलसुमन, भ्रमर जास आधीन ।
जासों पूजौं परमपद, देव शास्त्र गुरु तीन ॥४॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्य: कामवाणविध्वंसनाय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ४ ॥

अति सबल मदकंदर्प जाको क्षुधा-उरग अमान है ।
दुस्सह भयानक तासु नाशनको सुगरुड़समान है ॥
उत्तम छहों रसयुक्त नित, नैवेद्य करि घृतमें पचूँ ।
अरहन्त श्रुत-सिद्धांत गुरु-निरग्रन्थ नित पूजा रचूँ ॥
दोहा—नानाविधि संयुक्तरस, व्यञ्जन सरस नवीन ।
जासों पूजौं परमपद, देव शास्त्र गुरु तीन ॥५॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्य: क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ५ ॥

जे त्रिजग-उद्यम नाश कीने, मोह-तिमिर महाबली ।
तिहि कर्मघाती ज्ञानदीपप्रकाशजोति प्रभावली ॥
इह भाँति दीप प्रजाल कंचन के सुभाजनमें खचूँ ।
अरहंत श्रुत-सिद्धांत गुरु-निरग्रन्थ नित पूजा रचूँ ॥
दोहा—स्वपर प्रकाशक जोति अति, दीपक तमकर हीन ।
जासों पूजौं परमपद, देव शास्त्र गुरु तीन ॥६॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो मोहान्धकारविनाशनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ६ ॥

जो कर्म-ईंधन दहन अग्निसमूह सम उद्धत लसै।
वर धूप तासु सुगन्धताकरि, सकलपरिमलता हँसै॥
इह भाँति धूप चढ़ाय नित भव-ज्वलनमांहि नहीं पचूँ।
अरहंत श्रुत-सिद्धांत गुरु-निरग्रन्थ नित पूजा रचूँ॥
दोहा—अग्निमाँहिं परिमलदहन, चंदनादि गुणलीन।
जासों पूजौं परमपद देव शास्त्र गुरु तीन।७॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्योऽष्टकर्मदहनाय धूप निर्वपामीति स्वाहा॥ ७॥

लोचन सुरसना घ्रान उर उत्साह के करतार हैं।
मोपै न उपमा जाय वरणी, सकल फलगुणसार हैं।
सो फल चढ़ावत अर्थपूरन, परम अमृतरस सचूँ।
अरहंत श्रुत-सिद्धांत गुरु-निरग्रन्थ नित पूजा रचूँ॥
दोहा—जे प्रधान फल फलविषैं पंचकरण रस लीन।
जासों पूजौं परमपद, देव शास्त्र गुरु तीन॥८॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो मोक्षफलप्राप्तये फल निर्वपामीति स्वाहा॥ ८॥

जल परम उज्ज्वल गंध अक्षत, पुष्प चरु दीपक धरूँ।
वर धूप निरमल फल विविध, बहु जनमके पातक हरूँ।
इह भाँति अर्घ चढ़ाय नित भवि करत शिव-पंकति मचूँ।
अरहंत श्रुत-सिद्धांत गुरु-निरग्रन्थ नित पूजा रचूँ॥

दोहा—वसुविधि अर्घ संजोयकै, अति उछाह मन कीन।
जासों पूजौं परमपद, देव शास्त्र गुरु तीन ॥९॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्योऽनर्घपदप्राप्तये अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ९ ॥

जयमाला, दोहा

देव शास्त्र गुरु रतन शुभ, तीन रतन करतार।
भिन्न भिन्न कहुँ आरती, अल्प सुगुणविस्तार ॥

पद्धरी छन्द।

चउ कर्मसु त्रेसठ प्रकृति नाशि, जीते अष्टादश दोषराशि।
जे परम सुगुण हैं अनन्त धीर, कहवतके छ्यालिस गुण गंभीर ॥
शुभ समवशरण शोभा अपार, शतइन्द्र नमत कर शीस धार।
देवाधिदेव अरहंत देव, वन्दौं मन वच तन करि सु सेव ॥
जिनकी ध्वनि ह्वै ओंकाररूप, निरअक्षरमय महिमा अनूप।
दश-अष्ट महाभाषा समेत, लघुभाषा सात शतक सुचेत ॥
सो स्याद्वादमय सप्तभंग, गणधर गूंथे बारह सुअंग।
रवि शशि न हरै सो तम हराय, सो शास्त्र नमौं बहु प्रीति ल्याय ॥
गुरु आचारज उवझाय साधु, तन नगन रतनत्रयनिधि अगाध।
संसार-देह वैराग धार, निरवांछि तपैं शिवपद निहार ॥
गुण छत्तिस पच्चिस आठवीस, भवतारन तरन जिहाज ईश।
गुरु की महिमा वरनी न जाय, गुरु नाम जपौं मन वचन काय ॥

सोरठा—कीजै शक्ति प्रमान, शक्ति बिना सरधा धरै।
'द्यानत' सरधावान, अजर अमरपद भोगवै॥

ओं ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो महार्घं निर्वपामीति स्वाहा।

दोहा—श्री जिनके परसाद तैं, सुखी रहैं सब जीव।
यातैं तन मन वचन तैं, सेवो भव्य सदीव॥

इत्याशीर्वाद पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्।

श्रीपार्श्वनाथ स्तुति

छप्पय (सिंहावलोकन)

जनम-जलधि-जलजान, जान जनहंस-मान सर।
सरब इन्द्र मिलि आन, आन जिस धरहिं शीसपर॥
परउपकारी बान, बान उत्थपइ कुनय गन।
घनसरोजवर भान, भान मम मोह तिमिर घन॥
घनवरन देह दुख-दाह हर, हरखत हेरि मयूर-मन।
मनमथ-मतङ्ग-हरि पासजिन, जिन विसरहु छिन जगत जन॥

श्री देव शास्त्र गुरु,
विदेह क्षेत्र विद्यमान बीस तीर्थङ्कर तथा
अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठी पूजा

दोहा—देवशास्त्र गुरु नमनकरि, बीस तीर्थङ्कर ध्याय।
सिद्ध शुद्ध राजत सदा, नमूं चित्त हुलसाय॥

ॐ ह्री श्री देवशास्त्रगुरु समूह। श्री विद्यमान विंशति तीर्थङ्कर समूह। श्री अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठि समूह। अत्रावतरावतर सवौषट्। अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठ ठ स्थापनम्। अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् सन्निधीकरणम्।

अष्टक

चाल—करले-करले तू नित प्राणी श्री जिन पूजन करले रे।

अनादिकाल से जग मे स्वामिन् जलसे शुचिता को माना।
शुद्धनिजातम सम्यक् रत्नत्रयनिधि को नहि पहिचाना॥
अब निर्मल रत्नत्रय जल ले देव शास्त्र गुरु को ध्याऊँ।
विद्यमान श्री बीस तीर्थङ्कर सिद्ध प्रभु के गुण गाऊँ॥

ॐ ह्री श्रीदवशास्त्रगुरुभ्य, श्री विद्यमान विशति तीर्थङ्करेभ्य, श्री अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठिभ्यो, जन्ममृत्युविनाशनाय जल निर्वपामीति स्वाहा॥ १॥

भव आताप मिटावन की निज मे ही क्षमता समता है।
अनजाने अबतक मैंने पर में की झूठी ममता है॥
चन्दन सम शीतलता पाने श्री देव शास्त्र गुरु को ध्याऊँ।
विद्यमान श्री बीस तीर्थङ्कर सिद्ध प्रभु के गुण गाऊँ॥

ॐ ह्री श्रीदेवशास्त्रगुरुभ्य , श्री विद्यमान विशति तीर्थङ्करेभ्य , श्री अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठिभ्यो, ससारतापविनाशनाय चन्दन निर्वपामीति स्वाहा ॥ २ ॥

अक्षय पदके बिना फिरा जगत की लख चौरासी योनि में ।
अष्ट कर्म के नाश करन को अक्षत तुम ढिग लाया मैं ॥
अक्षयनिधि निज की पाने अब देव शास्त्र गुरु को ध्याऊँ ।
विद्यमान श्री बीस तीर्थङ्कर सिद्ध प्रभु के गुण गाऊँ ॥

ॐ ह्री श्रीदेवशास्त्रगुरुभ्य , श्री विद्यमान विशति तीर्थङ्करेभ्य , श्री अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठिभ्यो अक्षयपद प्राप्तये अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा ॥ ३ ॥

पुष्प सुगन्धी से आतम ने शील स्वभाव नशाया है ।
मन्मथ बाणों से विध करके चहुँ गति दुःख उपजाया है ॥
स्थिरता निजमे पाने को श्री देव शास्त्र गुरु को ध्याऊँ ।
विद्यमान श्री बीस तीर्थङ्कर सिद्ध प्रभु के गुण गाऊँ ॥

ॐ ह्री श्रीदेवशास्त्रगुरुभ्य , श्री विद्यमान विशति तीर्थङ्करेभ्य , श्री अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठिभ्यो कामबाणविध्वसनाय पुष्प निर्वपामीति स्वाहा ॥ ४ ॥

षट्रस मिश्रित भोजन से ये भूख न मेरी शान्त हुई ।
आतम रस अनुपम चखने से इन्द्रिय मन इच्छा शमन हुई ॥
सर्वथा भूख के मेटन को श्री देव शास्त्र गुरु को ध्याऊँ ।
विद्यमान श्री बीस तीर्थङ्कर सिद्ध प्रभु के गुण गाऊँ ॥

ॐ ह्री श्रीदेवशास्त्रगुरुभ्य , श्री विद्यमान विंशति तीर्थङ्करेभ्य , श्री अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठिभ्यो, क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्य निर्वपामीति स्वाहा ॥ ५ ॥

जड दीप विनश्वर को अबतक समझा था मैने उजियारा ।
निज गुण दरशायक ज्ञान दीपसे मिटा मोह का अंधियारा ॥
ये दीप समर्पित करके मै श्री देव शास्त्र गुरु को ध्याऊँ ।
विद्यमान श्री बीस तीर्थङ्कर सिद्ध प्रभु के गुण गाऊँ ॥

ॐ ह्री श्रीदेवशास्त्रगुरुभ्य, श्री विद्यमान विशति तीर्थङ्करेभ्य, श्री अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठिभ्यो, मोहान्धकारविनाशनाय दीप निर्वपामीति स्वाहा ॥ ६ ॥

ये धूप अनल मे खेने से कर्मो को नहीं जलायेगी ।
निज मे निज की शक्ती ज्वाला जो राग द्वेष नशायेगी ॥
उस शक्ति दहन प्रगटानेको श्री देव शास्त्र गुरुको ध्याऊँ ।
विद्यमान श्री बीस तीर्थङ्कर सिद्ध प्रभु के गुण गाऊँ ॥

ॐ ह्री श्रीदेवशास्त्रगुरुभ्य, श्री विद्यमान विशति तीर्थङ्करेभ्य, श्री अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठिभ्यो, अष्टकर्मदहनाय धूप निर्वपामीति स्वाहा ॥ ७ ॥

पिस्ता बदाम श्री फल लवग चरणन तुम ढिग मै ले आया ।
आतमरस भीने निजगुण फल मम मन अब उनमे ललचाया ॥
अब मोक्ष महा फल पानेको श्री देव शास्त्र गुरुको ध्याऊँ ।
विद्यमान श्री बीस तीर्थङ्कर सिद्ध प्रभु के गुण गाऊँ ॥

ॐ ह्री श्रीदेवशास्त्रगुरुभ्य, श्री विद्यमान विशति तीर्थङ्करेभ्य, श्री अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठिभ्यो, मोक्षफलप्राप्तये फल निर्वपामीति स्वाहा ॥ ८ ॥

अष्टम वसुधा पाने को कर में ये आठों द्रव्य लिये।
सहज शुद्ध स्वाभाविकतासे निजमे निज गुण प्रकट किये॥
ये अर्घ समर्पण करके मैं श्री देव शास्त्र गुरु को ध्याऊँ।
विद्यमान श्री बीस तीर्थंकर सिद्ध प्रभु के गुण गाऊँ॥

ॐ ह्रीं श्रीदेवशास्त्रगुरुभ्य:, श्री विद्यमान विंशति तीर्थंकरेभ्य:, श्री अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठिभ्यो, अनर्घपदप्राप्तये अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ६ ॥

जयमाला

नसे घातिया कर्म अर्हन्त देवा, करें सुर असुर नर मुनि नित्य सेवा।
दरश ज्ञान सुख बल अनन्तके स्वामी, छियालीस गुण युक्त महा ईश नामी॥
तेरी दिव्य वाणी सदा भव्य मानी, महा मोह विध्वंसिनी मोक्ष दानी।
अनेकान्तमय द्वादशांगी बखानी, नमो लोक माता श्री जैन वाणी॥
विरागी अचारज उवज्झाय साधू, दरश ज्ञान भण्डार समता अराधू।
नगन वेषधारी सुएका विहारी, निजानन्द मंडित मुकति पथ प्रचारी॥
विदेह क्षेत्र मे तीर्थङ्कर बीस राजे, विहरमान वन्दु सभी पाप भाजें।
नमू सिद्ध निर्भय निरामय सुधामी, अनाकुल समाधान सहजाभिरामी॥

छन्द

देव शास्त्र गुरु बीस तीर्थंकर सिद्ध हृदय बिच धरले रे।
पूजन ध्यान गान गुण कर के भवसागर जिय तरले रे॥

ॐ ह्रीं श्रीदेवशास्त्रगुरुभ्य, श्री विद्यमान विंशति तीर्थंकरेभ्य, श्री अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठिभ्यो अनर्घपदप्राप्तये अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

भूत भविष्यत् वर्तमान की, तीस चौबीसी मैं ध्याऊँ।
चैत्य चैत्यालय कृत्रिमाकृत्रिम, तीन लोक के मन लाऊँ॥

ॐ ह्रीं त्रिकाल सम्बन्धी तीस चौबीसी त्रिलोक सम्बन्धी कृत्रिमाकृत्रिम चैत्यालयेभ्यो अर्घं०

चैत्य भक्ति आलोचना चाहूँ कायोत्सर्ग अघनाशन हेत।
कृतिमाकृत्रिम तीन लोक मे राजत है जिनबिम्ब अनेक॥
चतुर निकाय के देव जजें ले अष्ट द्रव्य निज भक्ति समेत।
निज शक्ति अनुसार जजूं मैं कर समाधि पाऊँ शिव खेत॥

पुष्पांजलि क्षिपेत्।

पूर्व मध्य अपराह्न की वेला पूर्वाचार्यो के अनुसार।
देव बन्दना करूँ भाव से सकल कर्म की नाशन हार॥
पञ्च महा गुरु सुमिरन करके कायोत्सर्ग करूँ सुखकार।
सहज स्वभाव शुद्ध लख, अपना जाऊँगा अब मै भव पार॥

(कायोत्सर्ग पूर्वक ९ बार णमोकार मन्त्र जपें)

शोडष कारण भावना भाऊँ, दशलक्षण हिरदय धारूँ।
सम्यक् रत्नत्रय गहि करके अष्ट कर्म बन को जारूँ॥

ॐ ह्रीं षोडश कारण भावना दशलक्षण धर्म सम्यक् रत्नत्रयेभ्यो अर्घं०।

श्री कैलाशपुरी पावा चम्पा गिरिनार सम्मेद जजूँ।
तीरथ सिद्ध क्षेत्र अतिशय श्री चौबीसों जिनराज भजूँ॥

ॐ ह्रीं श्रीचतुर्विंशति तीर्थंकरेभ्य तथा सिद्धक्षेत्रातिशयक्षेत्रेभ्यो अर्घं०।

देव-शास्त्र-गुरु-पूजा

युगलकिशोर जैन 'युगल' विरचित

* स्थापना *

केवल रवि-किरणोंसे जिसका सम्पूर्ण प्रकाशित है अन्तर।
उस श्री जिनवाणी में होता, तत्वों का सुन्दरतम दर्शन ॥
सद्दर्शन-बोध-चरण-पथ पर, अविरल जो बढ़ते हैं मुनिगण।
उन देव परम आगम गुरुको, शत-शत वन्दन शत-शत वंदन ॥

इन्द्रिय के भोग मधुर विष सम, लावण्यमयी कञ्चन काया।
यह सब कुछ जड़की क्रीड़ा है, मैं अब तक जान नहीं पाया ॥
मैं भूल स्वयं के वैभव को, पर ममता में अटकाया हूं।
अब निर्मल सम्यक-नीर लिये, मिथ्या मल धोने आया हूं ॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ॥ १ ॥

जड़ चेतनकी सब परिणति प्रभु! अपने अपनेसें होती है।
अनुकूल कहें प्रतिकूल कहें, यह झूठी मन की वृत्ति है ॥
प्रतिकूल संयोगों में क्रोधित, होकर संसार बढ़ाया है।
सन्तप्त हृदय प्रभु! चंदन सम, शीतलता पाने आया है ॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो संसारतापविनाशनाय चन्दनं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २ ॥

उज्ज्वल हूं कुन्द धवल हूँ प्रभु! पर से न लगा हूं किंचित् भी।
फिर भी अनुकूल लगे उनपर, करता अभियान निरंतर ही॥
जड़ पर झुक झुक जाता चेतन, की मार्दवकी खंडित काया।
निज शाश्वतअक्षत-निधिपाने, अब दासचरणरजमें आया॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्योऽक्षयपदप्राप्तये अक्षतान निर्वपामीति स्वाहा ॥ ३ ॥

यह पुष्प सुकोमल कितना है, तन में माया कुछ शेष नहीं।
निज अन्तरका प्रभु! भेद कहूं, उसमें ऋजुता का लेश नहीं॥
चिंतन कुछ, फिर सम्भाषण कुछ, वृत्ति कुछ की कुछ होती है।
स्थिरता निज में प्रभु पाऊं जो, अन्तर का कालुष धोती है॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्य. कामबाणविध्वंसनाय पुष्प निर्वपामीति स्वाहा ॥ ४ ॥

अबतक अगणित जड़ द्रव्योंसे, प्रभु! भूख न मेरी शांत हुई।
तृष्णा की खाई खूब भरी, पर रिक्त रही वह रिक्त रही॥
युग युग से इच्छा सागर में, प्रभु! गोते खाता आया हूं।
पंचेन्द्रिय मन के षट्-रस तज, अनुपम रस पीने आया हूं॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्य क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्य निर्वपामीति स्वाहा ॥ ५ ॥

जग के जड़ दीपक को अब तक, समझा था मैंने उजियारा।
झंझा के एक झकोरे में जो बनता घोर तिमिर कारा॥
अतएव प्रभो यह नश्वर दीप, समर्पण करने आया हूं।
तेरी अन्तर लौ, से निज अन्तर, दीप जलाने आया हूँ॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो मोहान्धकारविनाशनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ६ ॥

जड़ कर्म घुमाता है मुझको यह मिथ्या भ्रांति रही मेरी ।
मैं रागीद्वेषी हो लेता, जब परिणति होती है जड़ की ॥
यों भाव-करम या भाव-मरण, सदियों से करता आया हूँ।
निज अनुपम गंध अनल से प्रभु, पर-गंध जलाने आया हूँ ॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्योऽष्टकर्मदहनाय धूप निर्वपामीति स्वाहा ॥ ७ ॥

जग में जिसको निज कहता मैं, वह छोड़ मुझे चल देता है।
मैं आकुल व्याकुल हो लेता, व्याकुलका फल व्याकुलता है ॥
मैं शान्त निराकुल चेतन हूँ, है मुक्तिरमा सहचर मेरी ।
यह मोह तड़प कर टूट पड़ें, प्रभु सार्थक फल पूजा तेरी ॥८॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्यो मोक्ष फलप्राप्तये फल निर्वपामीति स्वाहा ॥ ८ ॥

क्षण भर निजरसको पी चेतन, मिथ्या मलको धो देता है ।
क्षायिक भाव विनष्ट किये, निज आनंद अमृत पीता है ॥
अनुपम सुख तब विलसित होता, केवल रवि जगमग करता है
दर्शन बल पूर्ण प्रगट होता, येही अर्हन्त अवस्था है ॥
यह अर्घ समर्पण करके प्रभु, निजगुनका अर्घ बनाऊंगा ।
और निश्चित तेरे सदृश प्रभु ! अर्हन्त अवस्था पाऊंगा ॥९॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्योऽनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ९ ॥

जयमाला

भववनमें जीभर घूमचुका, कण-कणको जीभर-भर देखा।
मृग-सम-मृग-तृष्णाके पीछे, मुझको न मिली सुखकी रेखा॥
झूठे जग के सपने सारे, झूठी मन की सब आशायें।
तन-जीवन-यौवन अस्थिर है, क्षण भंगुर पल में मुरझाए॥
सम्राट महाबल सेनानी, उस क्षण को टाल सकेगा क्या ?
अशरण मृत कायामें हर्षित, निज जीवन डाल सकेगा क्या॥
संसार महा दुख सागरके प्रभु दुख मय सुख-आभासों में।
मुझको न मिला सुख क्षणभर भी, कंचनकामिनि-प्रासादों में॥
मैं एकाकी एकत्व लिये, एकत्व लिये सब ही आते।
तन धन को साथी समझा था, पर ये भी छोड़ चले जाते॥
मेरे न हुये ये मैं इनसे, अति भिन्न अखंड निराला हूँ।
निज में पर से अन्यत्व लिये, निज सम रस पीनेवाला हूँ॥
जिसके शृंगारों में मेरा, यह महंगा जीवन घुल जाता।
अत्यन्त अशुचि जड़ काया से, इस चेतन का कैसा नाता॥
दिन रात शुभाशुभ भावों से, मेरा व्यापार चला करता।
मानव वाणी और काया से, आस्रव का द्वार खुला रहता॥
शुभ और अशुभ की ज्वाला से, झुलसा है मेरा अन्तःस्थल।

शीतल समकित किरणें फूटें, संवर से जागे अन्त-र्बल ॥
फिर तप की शोधक वह्नि जगे, कर्मों की कड़ियाँ टूट पड़े,
सर्वाङ्ग निजात्म प्रदेशों से, अमृत के निर्झर फूट पड़ें ॥
हम छोड़ चलें यह लोक तभी, लौकान्त विराजें क्षणमें जा।
निज लोक हमारा वासा हो, शोकांत बनें फिर हमको क्या ॥
जागे मम दुर्लभ बोधि प्रभो, दुर्नय तम सत्वर टल जावे।
बस ज्ञाता दृष्टा रह जाऊं, मद-मत्सर-मोह विनश जावे ॥
चिर रक्षक धर्म हमारा हो, हो धर्म हमारा चिर साथी।
जग में न हमारा कोई था, हम भी न रहें जग के साथी ॥
चरणों में आया हूँ प्रभुवर! शीतलता मुझको मिल जावे।
मुर्झाई ज्ञान-लता मेरी, निज अन्तर्बल से खिल जावे ॥
सोचा करता हूँ भोगों से, बुझ जावेगी इच्छा ज्वाला।
परिणाम निकलता है लेकिन, मानों पावक में घी डाला ॥
तेरे चरणों की पूजा से, इन्द्रिय सुख की ही अभिलाषा।
अबतक ही समझ न पाया प्रभु! सच्चे सुखकी भी परिभाषा ॥
तुम तो अविकारी हो प्रभुवर! जग में रहते जग से न्यारे;
अतएव झुके तव चरणों में, जगके माणिक मोती सारे ॥
स्याद्वाद मयी तेरी वाणी, शुभनय के झरने झरते हैं।

उस पावन नौका पर लाखों, प्राणी भव-वारिधि तिरते हैं ॥
हे गुरुवर ! शाश्वत सुख-दर्शक यह नग्न स्वरूप तुम्हारा है,
जग की नश्वरता का सच्चा, दिग्दर्शन करने वाला है ॥
जब जग विषयोंमें रच पचकर, गाफिल निद्रामें सोता हो।
अथवा वह शिव के निष्कंटक, पथ में विष-कंटक बोता हो ॥
हो अर्द्ध निशा का सन्नाटा, वन में वनचारी चरते हों।
तब शान्त निराकुल मानस, तत्वों का चिन्तन करते हों ॥
करते तप शैल नदी तट पर, तरु तल वर्षा की झड़ियों में।
समता रसपान किया करते, सुख-दुख दोनों की घड़ियोंमें ॥
अन्तर ज्वाला हरती वाणी, मानों झड़ती हों फुलझड़ियाँ।
भव बन्धन तड़-तड़ टूट पड़े, खिल जावें अन्तर की कलियाँ।
तुमसा दानी क्या कोई हो, जगको दे दी जगकी निधियाँ ॥
दिन रात लुटाया करते हो, सम-शम की अविनश्वर मणियाँ॥
हे निर्मल देव ! तुम्हें प्रणाम, हे ज्ञान दीप आगम ! प्रणाम !
हे शान्ति त्यागके मूर्तिमान, शिव पथ-पंथी गुरुवर ! प्रणाम ॥

ॐ ह्रीं देवशास्त्रगुरुभ्योऽनर्घपदप्राप्तये अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

बीस तीर्थंकर पूजा-भाषा

दीप अढ़ाई मेरु पन, अब तीर्थंकर बीस।
तिन सबकी पूजा करूँ, मन वच तन धरि शीस॥

ॐ ह्रीं विद्यमानविंशतितीर्थंकरा ! अत्र अवतर अवतर सवौषट् आह्वाननम्।
ॐ ह्रीं विद्यमानविंशतितीर्थंकरा ! अत्र तिष्ठत तिष्ठत ठ ठ स्थापन।
ॐ ह्रीं विद्यमानविंशतितीर्थंकरा ! अत्र मम सन्निहितो भवत भवत वषट् सन्निधिकरणम्।

इन्द्र-फणींद्र-नरेन्द्र-वंद्य, पद निर्मल धारी।
शोभनीक संसार, सारगुण हैं अविकारी॥
क्षीरोदधि सम नीरसों (हो), पूजों तृषा निवार।
सीमंधर जिन आदि दे, बीस विदेह मंझार॥
श्रीजिनराज हो, भवतारण तरण जिहाज॥ १॥

ॐ ह्रीं विद्यमानविंशतितीर्थंकरेभ्यो जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं॰ ॥ १ ॥

तीन लोकके जीव, पाप आताप सताये।
तिनकों साता दाता, शीतल वचन सुहाये॥
बावन चंदन सौं जजूं (हो) भ्रमन तपन निरवार॥सी॰

ॐ ह्रीं विद्यमानविंशतितीर्थंकरेभ्यो ससारतापविनाशनाय चन्दनं॰ ॥ २ ॥

यह संसार अपार महासागर जिनस्वामी।
तातैं तारे बड़ी भक्ति-नौका जगनामी॥
तंदुल अमल सुगंधसों (हो) पूजों तुम गुणसार॥ सी॰

ॐ ह्रीं विद्यमानविंशतितीर्थंकरेभ्योऽक्षयपदप्राप्तये अक्षतान्॰ ॥ ३ ॥

भविक-सरोज-विकाश. निंद्य-तमहर रविसे हो।
जति-श्रावक आचार. कथनको, तुम ही वड़े हो॥
फूल-सुवास अनेकसों (हो) पूजों मदन प्रहार॥ सी०
ॐ ह्रीं विद्यमानविंशतितीर्थंकरेभ्य कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं० ॥ ४ ॥
काम-नाग विषधाम. नाशको गरुड़ कहे हो।
क्षुधा महादवज्वाल. तासुको मेघ लहे हो॥
नेवज बहु घृत मिष्टसों (हो) पूजों भूखविडार॥ सी०
ॐ ह्रीं विद्यमानविंशतितीर्थंकरेभ्य क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं० ॥ ५ ॥
उद्यम होन न देत सर्व जगमांहि भर्‍यो है।
मोह-महातम घोर, नाश परकाश कर्‍यो है॥
पूजों दीप प्रकाशसों (हो) ज्ञानज्योति करतार॥ सी०
ॐ ह्रीं विद्यमानविंशतितीर्थंकरेभ्य. मोहान्धकारविनाशनाय दीपं० ॥ ६ ॥
कर्म आठ सब काठ, भार विस्तार निहारा।
ध्यान अगनिकर प्रकट, सरब कीनों निरवारा॥
धूप अनूपम खेवतै (हो) दुःख जलै निरधार॥ सी०
ॐ ह्रीं विद्यमानविंशतितीर्थंकरेभ्योऽष्टकर्मदहनाय धूपं० ॥ ७ ॥
मिथ्यावादी दुष्ट, लोभऽहंकार भरे है।
सबको छिनमें जीत जैनके मेरु खड़े हैं॥
फल अति उत्तमसों जजों (हो) वांछितफलदातार॥ सी०
ॐ ह्रीं विद्यमानविंशतितीर्थंकरेभ्यो मोक्षफल प्राप्तये फलं० ॥ ८ ॥

जल फल आठों दर्व, अरघ कर प्रीति धरी है।
गणधर इन्द्रनहूतैं, थुति पूरी न करी है॥
'द्यानत' सेवक जानके (हो) जगतैं लेहु निकार॥ सी०

ॐ ह्रीं विद्यमानविंशतितीर्थंकरेभ्योऽनर्घपदप्राप्तये अर्घं०॥ ९॥

जयमाला

सोरठा—ज्ञान-सुधा-कर चंद, भविक-खेतहित मेघ हो।
भ्रम-तम भान अमंद, तीर्थंकर वीसों नमों॥

चौपाई १६ मात्रा।

सीमंधर सीमंधर स्वामी, जुगमन्धर जुगमन्धर नामी।
बाहुबाहु जिन जगजन तारे, करम सुबाहु बाहुबल दारे॥ १॥
जात सुजातं केवलज्ञानं, स्वयंप्रभू प्रभु स्वयं प्रधानं।
ऋषभानन ऋषभानन दोषं, अनन्त वीरज वीरज कोषं॥ २॥
सौरीप्रभ सौरीगुणमालं, सुगुण विशाल विशाल दयालं।
वज्रधार भव गिरिवज्जर है, चन्द्रानन चन्द्रानन वर हैं॥ ३॥
भद्रबाहु भद्रनिके करता, श्रीभुजंग भुजंगम भरता।
ईश्वर सबके ईश्वर छाजैं, नेमिप्रभु जस नेमि विराजै॥ ४॥
वीरसेन वीरं जगजानैं, महाभद्र महाभद्र बखानैं।
नमों जसोधर जसधरकारी, नमों अजितवीरज बलधारी॥ ५॥
धनुष पांचसै काय विराजै, आयु कोडि पूरब सब छाजै।
समवशरण शोभित जिनराजा, भवजल तारन तरन जहाजा॥ ६॥

सम्यक रत्न-त्रयनिधि दानी, लोकालोक प्रकाशक ज्ञानी।
शतइन्द्रनिकरि वंदित सोहैं, सुरनर पशु सबके मन मोहैं॥ ७॥

दोहा—तुमको पूजैं वंदना, करैं धन्य नर सोय।
'द्यानत' सरधा मन धरैं सो भी धरमी होय॥

ॐ ह्रीं विद्यमानविंशतितीर्थंकरेभ्यो महार्घं निर्वपामीति स्वाहा।

विद्यमान बीस तीर्थंकरोंका अर्घ

उदकचंदनतंदुलपुष्पकै-श्चरुसुदीपसुधूपफलार्घकैः।
धवलमङ्गलगानरवाकुले जिनगृहे जिनराजमहं यजे॥

ॐ ह्रीं श्रीसीमधर-युगमधर-बाहु-सुबाहु-संजात-स्वयंप्रभ-ऋषभानन-अनन्तवीर्य-सूर्यप्रभ विशालकीर्ति-वज्रधर-चन्द्रानन चन्द्रबाहु-भुजंगम-ईश्वर-नेमिप्रभ-वीरषेण-महाभद्र-देवयशोऽजित-वीर्येति विंशतिविद्यमानतीर्थंकरेभ्योऽर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

अकृत्रिम चैत्यालयोंका अर्घ

कृत्याकृत्रिम-चारु-चैत्यनिलयान् नित्यं त्रिलोकीगतान्।
वंदे भावन-व्यंतरान् द्युतिवरान् स्वर्गामरावासगान्।
सद्गन्धाक्षत-पुष्प-दाम-चरुकैः सद्दीपधूपैः फलै-
र्द्रव्यैर्नीरमुखैर्यजामि सततं दुष्कर्मणां शांतये॥ १॥

सवैया

सात किरोड़ बहत्तर लाख पताल विषैं जिन मन्दिर जानो।
मध्यहि लोकमें चारसौ ठावन, व्यंतर ज्योतिष के अधिकानो॥

लाख चौरासी हजार सत्यानवैं तेइस ऊरध लोक बखानो।
एकेकमें प्रतिमा शत आठ नमौं तिहु जोग त्रिकाल सयानो ॥

ॐ ह्रीं कृत्रिमाकृत्रिमचैत्यालयसंबंधिजिनबिम्बेभ्योऽर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

वर्षेषु वर्षान्तर-पर्वतेषु। नन्दीश्वरे यानि च मन्दरेषु। यावंति चैत्यायतनानि लोके सर्वाणि वंदे जिन पुंगवानां ॥२॥ अवनि-तल-गतानां कृत्रिमाकृत्रिमाणां वन-भवन-गतानां दिव्य-वैमानिकानां ॥ इह मनुज-कृतानां देवराजार्चितानां। जिनवर-निलयानां भावतोऽहं स्मरामि ॥ ३ ॥ जंबू-धातकि-पुष्करार्ध-वसुधा-क्षेत्र-त्रये ये भवाश्चन्द्रांभोज-शिखंडिकण्ठ-कनक प्रावृड्घनाभा जिनाः ॥ सम्यग्ज्ञान-चरित्रलक्षण-धरा दग्धाष्टकर्मेन्धनाः। भूतानागत-वर्तमान-समये तेभ्यो जिनेभ्यो नमः ॥ ४ ॥ श्रीमन्मेरौ कुलाद्रौ रजतगिरिवरे शाल्मलौ जंबुवृक्षे। वक्षारे चैत्यवृक्षे रतिकर-रुचिके कुण्डले मानुषांके। इष्वाकारेऽञ्जनाद्रौ दधिमुख-शिखरे व्यंतरे स्वर्गलोके ज्योतिर्लोकेऽभिवंदे भवन-महितले यानि चैत्यालयानि ॥ ५ ॥ द्वौ कुंदेंदु-तुषार-हार-धवलौ द्वाविंद्रनील-प्रभौ द्वौ बंधूक-समप्रभौ जिनवृषौ द्वौ च प्रियंगुप्रभौ। शेषाः षोड़श जन्म-मृत्यु-रहिताः संतप्त-हेम-प्रभा-स्ते संज्ञान-दिवाकराः सुर-नुताः सिद्धिं प्रयच्छंतु नः ॥ ६ ॥

ॐ ह्रीं त्रिलोकसंबंधि कृत्याकृत्रिमचैत्यालयेभ्योऽर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

इच्छामि-भंते।चेइयभत्ति-काउसग्गो कओ तस्सालोचेउं। अहलोय-तिरियलोय-उड्ढलोयम्मि किट्टिमाकिट्टिमाणि जाणि जिणचेइयाणि ताणि सव्वाणि, तीसु वि लोएसु भवणवासिय

वाणविंतरजोइसियकप्पवासियत्ति चउविहा देवाः सपरिवारा दिव्वेण-गंधेण दिव्वेण पुप्फेण दिव्वेण धुव्वेण दिव्वेण चुण्णेण दिव्वेण वासेण दिव्वेण ह्वाणेण णिच्चकालं अच्चंति पुज्जंति वंदंति णमस्संति। अहमवि इह सन्तो तत्थसंताइ णिच्चकालं अच्चेमि पुज्जेमि वन्दामि णमस्सामि। दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुणसम्पत्ती होउ मज्झं॥ अथ पौर्वाह्निक-माध्याह्निक-आपराह्निक देववंदनायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावंदनास्तवसमेतं श्रीपंचमहागुरुभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहम्।

इत्याशीर्वाद पुष्पांजलि क्षिपेत्।

तावकायं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि।

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं,
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।

(यहाँ पर नौ बार णमोकार मन्त्र जपना चाहिये)

आत्मशक्ति

- जो कुछ है सो आत्मा में, यदि वहां नहीं तो कहीं नहीं।
- आत्मा अनन्त ज्ञान का पात्र है और अनन्त सुख का धारी है परन्तु हम अपनी अज्ञानतावश दुर्दशा के पात्र बन रहे हैं।
- आत्मा ही आत्मा का गुरु है और आत्मा ही उसका शत्रु है।
- अन्तरंग की बलवता ही श्रेयोमार्ग की जननी है।

—'वर्णी वाणी' से

मुक्ताफल की उनहार, अक्षत धोय धरे।
अक्षय पद प्रापति जान, पुण्य भण्डार भरे॥
जग में सु पदारथ सार, ते सब दरसावै।
सो सम्यग्दर्शन सार, यह गुण मन भावै॥ ३ ॥

ॐ ह्री णमो सिद्धाण सिद्धपरमेष्ठिभ्यो अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा ॥३॥

सुन्दर सु गुलाब अनूप, फूल अनेक कहे।
श्री सिद्धन पूजत भूप, बहुविधि पुण्य लहे॥
तहां वीर्य अनन्तो सार, यह गुण मनमानो।
ससार समुद्रतै पार, तारक प्रभु जानो॥ ४ ॥

ॐ ह्री णमो सिद्धाण सिद्धपरमेष्ठिभ्यो कामवाणविध्वसनाय पुष्प निर्वपामीति स्वाहा ॥४॥

फेनी गोजा पकवान, मोदक सरस बने।
पूजौ श्री सिद्ध महान्, भूखविथा जु हने॥
झलके सब एकहिवार, ज्ञेय कहे जितने।
यह सूक्षमता गुण सार, सिद्धन के सु तने॥ ५ ॥

ॐ ह्री णमो सिद्धाण सिद्धपरमेष्ठिभ्यो क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्य निर्वपामीति स्वाहा ॥५॥

दीपक की ज्योति जगाय, सिद्धन को पूजो।
करि आरति सनमुख जाय, निरमल पद हूजो॥
कुछ घाटि न वाढि प्रमाण, अगुरुलघु गुण राख्यो।
हम शीस नवावत आय, तुम गुण मुख भाखो॥ ६ ॥

ॐ ह्री णमो सिद्धाण सिद्धपरमेष्ठिभ्यो मोहान्धकारविनाशनाय दीप निर्वपामीति स्वाहा ॥६॥

वरधूप सु दशविधि ल्याय, दश विधि गन्ध धरै।
वसु कर्म जलावत जाय, मानों नृत्य करै॥
इक सिद्ध में सिद्ध अनन्त, सत्ता पद पावै।
यह अवगाहन गुण सन्त, सिद्धन के गावै॥ ७ ॥
ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिने धूपं निर्वपामीति स्वाहा॥ ७ ॥

ले फल उत्कृष्ट महान, सिद्धन को पूजों।
लहि मोक्ष परम गुण धाम, प्रभुसम नहिं दूजों॥
यह गुण बाधाकरि हीन, बाधा नाश भई।
सुख अव्याबाध सु चीन, शिव सुन्दरी सु लई॥ ८ ॥
ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिने फलं निर्वपामीति स्वाहा॥ ८ ॥

जल फल भरि कञ्चन थाल, अरचन कर जोरी।
प्रभु सुनियो दीनदयाल, विनती है मोरी॥
कामादिक दुष्ट महान, इनको दूर करो।
तुम सिद्धसदा सुखदान, मद भव दुःख हरो॥ ९ ॥
ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिने अर्घं निर्वपामीति स्वाहा॥ ९ ॥

जयमाला, दोहा।

नमों सिद्ध परमात्मा, अद्भुत परम रसाल।
तिन गुण महिमा अगम है, सरस रचौ जयमाल।

पद्धरि छन्द।

जय जय श्री सिद्धन कू प्रणाम, जय शिव सुख सागर के सुथान।
जय वन्दि वन्दि जात मुनीश जान, जय पूजत तन मन हर्ष ठान॥

जय क्षायिक गुण सम्यक्त्व लीन, जय केवलज्ञान सुगुण नवीन।
जय लोकालोक प्रकाशवान, यह केवल अतिशय हिये जान॥
जय सर्व तत्त्व दरसे महान, सो दर्शन गुण तीजो महान।
जय वीर्य अनन्तो है अपार, जाकी पटतर दूजो न सार॥
जय सूक्ष्मता गुण हिये धार, सब ज्ञेय लख्यो एकहि सुवार।
इक सिद्ध में सिद्ध अनन्त जान, अपनी-अपनी सत्ता प्रमाण॥
अवगाहन गुण अतिशय विशाल, तिनके पद वन्दे नमित भाल।
कछु घाटि न वाधि कहे प्रमाण, गुण अगुरु लघु धारे महान॥
जय बाधा रहित विराजमान, सो अव्याबाध कह्यो बखान।
ये वसुगुण है व्यवहार सन्त, निश्चय जिनवर भाषे अनन्त॥
सब सिद्धनि के गुण कहे गाय, इन गुणकरि शोभित है जिनाय।
तिनको भविजन मनवचन काय, पूजत वसु विधि अति हर्ष लाय॥
सुरपति फणपति चक्री महान, बलि हरि प्रतिहरि मनमथ सुजान।
गणपति मुनिपति मिल धरत ध्यान, जय सिद्ध शिरोमणि जग प्रधान॥

सोरठा।

ऐसे सिद्ध महान, तुम गुण महिमा अगम है।
वरणन करयो बखान, तुच्छ बुद्धि भवि लालजू॥

ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिभ्यो महार्घं निर्वपामीति स्वाहा।

दोहा।

करता की यह विनती, सुनो सिद्ध भगवान।
मोहि बुलाओ आप ढिग, यही अरज उर आन॥

इत्याशीर्वाद।

सिद्ध पूजा

ऊर्ध्वाधोरयुतं सबिंदु सपरं ब्रह्मस्वरावेष्टितं
वर्गापूरित-दिग्गतांबुज-दलं तत्संधि-तत्त्वान्वितं।
अन्तःपत्र - तटेष्वनाहतयुतं ह्रींकार - संवेष्टितं
देवं ध्यायति यः स मुक्ति-सुभगो वैरीभ-कंठीरवः।

ॐ ह्रीं श्रीसिद्धचक्राधिपते ! सिद्धपरमेष्ठिन् ! अत्र अवतर अवतर संवौषट्।
ॐ ह्रीं श्रीसिद्धचक्राधिपते ! सिद्धपरमेष्ठिन् ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः।
ॐ ह्रीं श्रीसिद्धचक्राधिपते ! सिद्धपरमेष्ठिन् ! अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट्।

निरस्त-कर्म-संबंधं, सूक्ष्मं नित्यं निरामयम्।
वन्देऽहं परमात्मानममूर्तमनुपद्रवम् ॥ १ ॥

(सिद्ध यन्त्र स्थापनम्)

द्रव्याष्टक।

सिद्धौ निवासमनुगं परमात्मगम्यं हान्यादि-भाव-रहितं भव-वीत-कायं।
रेवापगा-वर-सरो-यमुनोद्भवानां, नीरैर्यजे कलशगैर्वर-सिद्ध-चक्रं॥१॥

ॐ ह्रीं सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं०।

आनंद-कंद-जनकं घन-कर्म-मुक्तं, सम्यक्त्व-शर्म-गरिमं जननार्ति-वीतं।
सौरभ्य-वासित-भुवं हरि-चंदनानां, गंधैर्यजे परिमलैर्वर-सिद्धचक्रम्॥२॥

ॐ ह्रीं सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने संसारतापविनाशनाय चन्दनम्।

सर्वावगाहन-गुणं सुसमाधि-निष्ठं, सिद्धं स्वरूप-निपुणं कमलं विशालं।
सौगंध्य-शालि-वनशालि-वराक्षतानां, पुंजैर्यजे शशिनिभैर्वरसिद्धचक्रम्॥३

ॐ ह्रीं सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान्०।

नित्य स्वदेह-परिमाणमनादिसंज्ञं, द्रव्यानपेक्षममृतं मरणाद्यतीतम्।
मन्दारकुन्दकमलादिवनस्पतीनां, पुष्पैर्यजे शुभतमैर्वरसिद्धचक्रम् ॥४॥

ॐ ह्रीं सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने कामबाणविध्वंसनाय पुष्प० ।

ऊर्ध्वस्वभावगमनं सुमनोव्यपेतं । ब्रह्मादिबीजसहितं गगनावभासम् ॥
क्षीरान्नसाज्यवटकै रसपूर्णगर्भैर्नित्यं यजे चरुवरैर्वर सिद्धचक्रम् ॥५॥

ॐ ह्रीं सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्य० ।

आतंक-शोक-भय-रोग-मद-प्रशांतं - निर्द्वंद्वभावधरणं महिमानिवेशं ।
कर्पूरवर्तिबहुभिः कनकावदातैर्दीपैर्यजे रुचिवरैर्वरसिद्धचक्रम् ॥६॥

ॐ ह्रीं सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने मोहान्धकारविनाशनाय दीप ।

पश्यन्समस्तभुवनं युगपन्नितांतं । त्रैकाल्यवस्तुविषये निविड़-प्रदीपम् ।
सद्द्रव्यगंधघनसारविमिश्रितानां । धूपैर्यजे परिमलैर्वरसिद्धचक्रम् ॥७॥

ॐ ह्रीं सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिनेऽष्टकर्मदहनाय धूप०।

सिद्धासुराधिपतियक्षनरेंद्रचक्रै र्ध्येयं शिवं सकलभव्यजनैः सुवंद्यं ।
नारङ्गिपूंगकदलीफलनारिकेलैः सोऽहं यजे वरफलैर्वरसिद्धचक्रम् ॥८॥

ॐ ह्रीं सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने मोक्षफलप्राप्तये फल० ।

गन्धाढ्यं सुपयो मधुव्रतगणैः संगं वरं चन्दनं ।
पुष्पौघं विमलं सदक्षतचयं रम्यं चरुं दीपकं ॥
धूपं गंधयुतं ददामि विविधं श्रेष्ठं फलं लब्धये ।
सिद्धानां युगपत्क्रमाय विमलं सेनोत्तरं वांछितं ॥९॥

ॐ ह्रीं सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिनेऽर्घं निर्वपामीति स्वाहा ।

ज्ञानोपयोगविमलं विशदात्मरूपं। सूक्ष्मस्वभावपरमं यदनंतवीर्यं।
कर्मौघकक्षदहनं सुखशस्यबीजं। वन्दे सदा निरुपमं वरसिद्धचक्रम् ॥१०॥

कर्माष्टक विनिर्मुक्तं मोक्षलक्ष्मी-निकेतनम्।
सम्यक्त्वादि-गुणोपेतं सिद्धचक्रं नमाम्यहम्॥

ॐ ह्रीं सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने महार्घं निर्वपामीति स्वाहा।

त्रैलोक्येश्वर-वन्दनीय-चरणाः प्रापुः श्रियं शाश्वतीं
यानाराध्य निरुद्ध-चण्ड-मनसः संतोऽपि तीर्थंकराः।
सत्सम्यक्त्व-विबोध-वीर्य-विशदाऽव्याबाधताद्यै र्गुणै-
र्युक्तां स्तानिह तोष्टवीमि सततं सिद्धान्विशुद्धोदयान्॥

पुष्पांजलिं क्षिपेत।

जयमाला।

विराग सनातन शांतनिरंश निरामय निर्भय निर्मल हंस।
सुधाम विबोध-निधान विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्धसमूह ॥१॥
विदूरित-संसृति-भाव निरंग, समामृत पूरित देव विसंग।
अबंध कषाय-विहीन विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्धसमूह ॥२॥
निवारित दुष्कृत कर्म विपाश, सदामल-केवल-केलि-निवास।
भवोदधिपारग शांत विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्ध समूह ॥३॥
अनन्तसुखामृतसागर धीर, कलंकरजोमलभूरिसमीर।
विखंडितकाम विराम विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्धसमूह ॥४॥
विकार विवर्जित तर्जित शोक, विबोध सुनेत्रविलोकित लोक।
विहार विराव विरंग विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्धसमूह ॥५॥
रजोमलखेदविमुक्त विगात्र, निरन्तर नित्य सुखामृतपात्र।
सुदर्शनराजित नाथ विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्धसमूह ॥६॥

नरामरवंदित निर्मल भाव, अनन्तमुनीश्वरपूज्य विहाव।
सदोदय विश्वमहेश विमोह, प्रसीद, विशुद्ध सुसिद्धसमूह ॥७॥
चिदंभ वितृष्ण विदोष विनिद्र, परापर शंकरसार वितंद्र।
विकोप विरूप विशंक विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्धसमूह ॥८॥
जरामरणोज्झित वीतविहार विचिंतित निर्मल निरहंकार।
अचिंत्यचरित्र विदर्प विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्धसमूह ॥९॥
विवर्ण विगंध विमान विलोभ, विमाय विकाय विशब्द विशोभ।
अनाकुल केवल सर्व विमोह, प्रसीद विशुद्ध सुसिद्धसमूह ॥१०॥

घत्ता— असमयसमयसारं चारुचैतन्यचिन्हं,
परपरणतिमुक्तं पद्मनंदीन्द्रवंद्यं।
निखिलगुणनिकेतं सिद्धचक्रं विशुद्धं,
स्मरति नमति यो वा स्तौति सोऽभ्येति मुक्ति॥

ॐ ह्रीं सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने महार्घं निर्वपामीति स्वाहा।

अडिल्ल छन्द।

अविनाशी अविकार परमरसधाम हो।
समाधान सर्वज्ञ सहज अभिराम हो॥
शुद्धबुद्ध अविरुद्ध अनादि अनंत हो।
जगत शिरोमणि सिद्ध सदा जयवंत हो ॥१॥
ध्यान अगनिकर कर्म कलंक सबै दहे,
नित्य निरञ्जनदेव सरूपी ह्वैरहे।

ज्ञायकके आकार ममत्व निवारिकै,

सो परमातम सिद्ध नमूं शिरनायकैं ॥२॥

सवैया

ध्यान हुताशनमें अरि ईंधन झोंक दियो रिपु रोक निवारी।
शोक हर्यो भविलोकनको वर केवलज्ञान मयूख उघारी॥
लोक अलोक विलोक भये शिव जन्म जरामृत पङ्क पखारी।
सिद्धन थोक बसै शिव लोक तिन्हैं पग धोक त्रिकाल हमारी॥
तीरथ नाथ प्रनाम करैं तिनके गुण वर्णन मैं बुधि हारी।
मोम गयो गलि मूसमझार रह्यो तहं व्योम तदाकृति धारी॥
लोक गहीर नदीपति नीर गये तरि तीर भये अविकारी।
सिद्धन थोक बसैं शिव लोक तिन्हैं पगधोक त्रिकाल हमारी॥

दोहा—अविचलज्ञान प्रकाशतैं, गुण अनन्तकी खान।
ध्यान धरैं सो पाइये, परमसिद्ध भगवान॥
अविनाशी आनन्दमय, गुण पूरण भगवान।
शक्ति हिये परमातमा, सकल पदारथ ज्ञान॥
चारों करम विनाशिके, उपज्यो केवल ज्ञान।
इन्द्र आय स्तुति करी, पहुँचे शिवपुर थान॥

इत्याशीर्वाद पुष्पांजलिं क्षिपेत्।

सिद्ध पूजा का भावाष्टक

निजमनोमणिभाजनभारया, समरसैकसुधारसधारया।
सकल बोधकलारमणीयकं सहजसिद्धमहं परिपूजये॥

मोय तृषा दुःख देत, सो तुमने जीती प्रभू।
जलसे पूजूं मैं तोय, मेरो रोग निवारियो॥

ॐ ह्री णमो सिद्धाण सिद्धपरमेष्ठिने (सम्यक्त, णाण दसण वीर्यत्व, सुक्ष्मत्त्व अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व, अव्याबाधत्व अष्टगुण सहिताय) जन्मजरामृत्यु विनाशनाय जल निर्वपामीति स्वाहा।

सहजकर्मकलंकविनाशनै रमलभावसुवासितचन्दनैः।
अनुपमानगुणावलिनायकं, सहजसिद्धमह परिपूजये॥

हम भव आतप मांहिं, तुम न्यारे संसारसूं।
कीज्यो शीतल छांह, चन्दनसे पूजा करूं॥ चन्दनं॥

सहजभावसुनिर्मलतंदुलैः सकल दोषविशालविशोधनैः।
अनुपरोध सुबोध निधानकं, सहजसिद्धमह परिपूजये॥

हम अवगुण समुदाय, तुम अक्षय गुणके भरे।
पूजूं अक्षत लाय, दोष नाश गुण कीजिये॥ अक्षतं॥

समयसारसुपुष्पसुमालया, सहजकर्मकरेण विशोधया।
परमयोगबलेन वशीकृतं, सहजसिद्धमहं परिपूजये॥

काम अग्नि है मोहि, निश्चय शील स्वभाव तुम ।
फूल चढ़ाऊँ तोहि, मेरो रोग निवारियो ॥ पुष्पं० ॥
अकृतबोधसुदिव्यनैवेद्यकैर्विहितजातिजरामरणांतकैः ।
निरवधिप्रचुरात्मगुणालय, सहजसिद्धमह परिपूजये ॥
मोहि क्षुधा दुख भूरि, ध्यान खड्ग करि तुम हती ।
मेरी बाधा चूर, नेवज से पूजा करूं ॥ नैवेद्यं० ॥
सहजरत्नरुचिप्रतिदीपकैः, रुचिविभूतितमःप्रविनाशनैः ।
निरवधिस्वविकाशप्रकाशनैः, सहजसिद्धमहं परिपूजये ॥
मोह तिमिर हम पास, तुम पै चेतन ज्योति है ।
पूजों दीप प्रकाश, मेरो तम निरवारियो ॥ दीपं० ॥
निजगुणाक्षयरूपसुधूपनैः, स्वगुणघातिमलप्रविनाशनैः ।
विशदबोधसुदीर्घसुखात्मक, सहजसिद्धमह परिपूजये ॥
अष्टकर्मवन जार, मुक्ति मांहि तुम सुख करो ।
खेऊँ धूप रसाल, अष्ट कर्म निरवारियो ॥ धूपं० ॥
परमभावफलावलिसम्पदा, सहजभावकुभावविशोधया ।
निजगुणास्फुरणात्मनिरजन, सहजसिद्धमह परिपूजये ॥
अन्तराय दुःख टाल, तुम अनन्त थिरता लही ।
पूजूं फल दरशाय, विघ्न टाल शिवफल करो ॥ फलं० ॥

नेत्रोन्मीलिविकाशभावनिवहैरत्यन्तबोधाय वै ।
वार्गंधाक्षतपुष्पदामचरुकैः सद्दीपधूपैः फलैः ॥
यश्चिंतामणिशुद्धभावपरमज्ञानात्मकैरर्चयेत् ।
सिद्ध स्वादुमगाधबोधमचल सञ्चर्चयामो वयम् ॥६॥

हममें आठों दोष, जजहुं अर्घ ले सिद्धजी ।
दीज्यो वसु गुण मोय, कर जोड़े सेवक खड़ो ॥ अर्घं० ॥

तीस चौबीसका अर्घ

द्रव्य आठों जु लीना है, अर्घ करमें नवीना है ।
पूजतें पाप छीना है, भानुमल जोर कीना है ॥
दीप अढ़ाई सरस राजै, क्षेत्र दश ता विषै छाजै ।
सात शत बीस जिन राजै, पूजतां पाप सब भाजै ॥

ॐ ह्रीं पाच भरत पांच ऐरावत दश क्षेत्रके विषैं तीस चौवीसीके सातसौ वीस जिन विम्वेभ्योऽर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ १ ॥

सोलह कारण का अर्घ

जल फल आठों द्रव्य चढ़ाय,'द्यानत' बरत करो मनलाय ।
परम गुरु हो, जय जय नाथ परम गुरु हो ॥
दरश विशुद्धि भावना भाय, सोलह तीर्थंकर पद पाय ।
परम गुरु हो, जय जय नाथ परम गुरु हो ॥ १ ॥

ॐ ह्रीं दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शीलव्रतेष्वनतीचार, अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, संवेग, शक्तितस्त्याग, शक्तितस्तप, साधुसमाधि, वैयावृत्यकरण, अरहतभक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यकापरिहाणि, मार्गप्रभावना, प्रवचन वात्सल्य षोडसकारणेभ्यो अनर्घपदप्राप्तये अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ।

पंचमेरु का अर्घ

आठ दरवमय अर्घ बनाय. द्यानत पूजों श्रीजिनराय।
महा सुख होय, देखे नाथ परम सुख होय॥
पांचों मेरु असी जिन धाम, सब प्रतिमाको करों प्रणाम।
महासुख होय. देखे नाथ परम सुख होय॥

ॐ ह्रीं पंचमेरु सम्बन्धि अस्सी जिन चैत्यालयस्थ-जिनबिम्बेभ्यो अर्घं०।

नन्दीश्वरद्वीप का अर्घ

यह अरघ कियो निज हेतु तुमको अरपतु हों।
द्यानत कीनों शिव खेत भूमि समरपतु हों॥
नन्दीश्वर श्रीजिनधाम बावन पुंज करों।
वसु दिन प्रतिमा अभिराम आनन्दभाव धरों॥ ३॥

ॐ ह्रीं श्री नन्दीश्वरद्वीपे पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरे द्विपञ्चाशज्जिनालयस्थजिनप्रतिमाभ्यो अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

दशलक्षण धर्म का अर्घ

आठों द्रव्य संवार, द्यानत अधिक उछाह सों।
भव आताप निवार, दशलक्षण पूजों सदा॥ ४॥

ॐ ह्रीं उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन, ब्रह्मचर्य दशलक्षणधर्मेभ्योऽर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

रत्नत्रय का अर्घ

आठ दरव निरधार, उत्तमसों उत्तम लिये।
जन्म रोग निरवार, सम्यकरतनत्रय भजों॥ ५॥

ॐ ह्रीं अष्टांग सम्यग्दर्शनाय अष्टविधसम्यग्ज्ञानाय, त्रयोदशप्रकारसम्यक् चारित्रायऽर्घं।

पंचमेरु पूजा

तीर्थंकरोंके न्हवन-जलतैं, भये तीरथ शर्मदा।
तातैं प्रदच्छन देत सुरगन, पंचमेरुन की सदा॥
दो जलधि ढाई द्वीपमें, सब गनत-मूल विराजहीं।
पूजौं असी जिनधाम-प्रतिमा, होहिं सुखदुख भाजहीं॥

ॐ ह्रीं पचमेरुसम्वन्धिजिनचैत्यालयस्थजिनप्रतिमासमूह ! अत्र अवतर अवतर सवौषट्।

ॐ ह्रीं पचमेरुसम्वन्धिजिनचैत्यालयस्थजिनप्रतिमासमूह ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठ ठ।

ॐ ह्रीं पचमेरुसम्वन्धिजिनचैत्यालयस्थजिनप्रतिमासमूह ! अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट्।

अथाष्टक। चौपाई आंचलीवद्ध (१५ मात्रा)

शीतलमिष्ट सुवास मिलाय, जलसौं पूजौं श्रीजिनराय।
महासुख होय, देखे नाथ परमसुख होय॥
पांचों मेरु असी जिनधाम, सब प्रतिमाको करों प्रणाम।
महासुख होय, देखे नाथ परम सुख होय॥ १॥

ॐ ह्रीं पचमेरुसम्वन्धिजिनचैत्यालयस्थजिनविम्वेभ्यो जल निर्वपामीति स्वाहा॥।

जल केशर करपूर मिलाय, गंधसौं पूजौं श्रीजिनराय।
महासुख होय, देखे नाथ परमसुख होय॥ पांचों०॥२॥

ॐ ह्रीं पचमेरुसम्वन्धिजिनचैत्यालयस्थजिनविम्वेभ्यो चन्दन निर्वपामीति स्वाहा।

अमल अखंड सुगंध सुहाय, अच्छतसौं पूजौं जिनराय।
महासुख होय, देखे नाथ परमसुख होय॥ पांचों०॥३॥

ॐ ह्रीं पचमेरुसम्वन्धिजिनचैत्यालयस्थजिनविम्वेभ्यो अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा।

वरन अनेक रहे महकाय, फूलनसौं पूजौं जिनराय।
महासुख होय, देखे नाथ परमसुख होय ॥ पांचों०॥४॥

ॐ ह्रीं पंचमेरुसम्बन्धिजिनचैत्यालयस्थजिनबिम्बेभ्यो पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा।

मनवांछित बहु तुरत बनाय, चरुसौं पूजौं श्रीजिनराय।
महासुख होय, देखे नाथ परमसुख होय ॥ पांचों० ॥५॥

ॐ ह्रीं पंचमेरुसम्बन्धिजिनचैत्यालयस्थजिनबिम्बेभ्यो नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा।

तमहर उज्ज्वल ज्योति जगाय, दीपसौं पूजौं श्रीजिनराय।
महासुख होय, देखे नाथ परमसुख होय ॥ पांचों० ॥६॥

ॐ ह्रीं पंचमेरुसम्बन्धिजिनचैत्यालयस्थजिनबिम्बेभ्यो दीपं निर्वपामीति स्वाहा।

खेऊं अगर अमल अधिकाय, धूपसौं पूजौं श्रीजिनराय।
महासुख होय, देखे नाथ परमसुख होय ॥ पांचों० ॥७॥

ॐ ह्रीं पंचमेरुसम्बन्धिजिनचैत्यालयस्थजिनबिम्बेभ्यो धूपं निर्वपामीति स्वाहा।

सुरस सुवर्ण सुगंध सुभाय, फलसौं पूजौं श्रीजिनराय।
महासुख होय, देखे नाथ परमसुख होय ॥ पांचों० ॥८॥

ॐ ह्रीं पंचमेरुसम्बन्धिजिनचैत्यालयस्थजिनबिम्बेभ्यो फलं निर्वपामीति स्वाहा।

आठ दरबमय अरघ बनाय, 'द्यानत' पूजौं श्रीजिनराय।
महासुख होय, देखे नाथ परमसुख होय ॥ पांचों० ॥ ९ ॥

ॐ ह्रीं पंचमेरुसम्बन्धिजिनचैत्यालयस्थजिनबिम्बेभ्यो अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

प्रथम सुदर्शन-स्वामि, विजय अचल मंदर कहा।
विद्युन्माली नाम, पंचमेरु जगमें प्रगट ॥१॥

वेसरी छन्द।

प्रथम सुदर्शन मेरु विराजै, भद्रशालवन भूपर छाजै
चैत्यालय चारों सुखकारी, मन वच तन वन्दना हमारी ॥२॥
ऊपर पांच शतक पर सोहै, नंदनवन देखत मन मोहै॥ चैत्या०॥३॥
साढे बासठ सहस ऊंचाई, वनसुमनस शोभै अधिकाई॥ चैत्या०॥४॥
ऊँचा जोजन सहस छत्तीसं, पांडुकवन सोहै गिरिसीसं॥ चैत्या०॥५॥
चारों मेरु समान वखानो, भूपर भद्रसाल चहुं जानो।
चैत्यालय सोलह सुखकारी, मन वच तन वंदना हमारी ॥६॥
ऊंचे पांच शतक पर भाखे, चारों नन्दनवन अभिलाखे।
चैत्यालय सोलह सुखकारी, मनवचतन वदना हमारी ॥७॥
साढे पचपन सहस उतंगा, वन सौमनस चार बहुरंगा।
चैत्यालय सोलह सुखकारी, मन वच तन वन्दना हमारी ॥८॥
उच्च अट्ठाइस सहस बताये, पांडुक चारों वन शुभ गाये।
चैत्यालय सोलह सुखकारी, मन वच तन बन्दना हमारी ॥९॥
सुर नर चारन वन्दन आवैं, सो शोभा हम किह मुख गावैं।
चैत्यालय अस्सी सुखकारी, मन वच तन वन्दना हमारी ॥१०॥

दोहा—पञ्चमेरुकी आरती पढ़ै सुनै जो कोय।
'द्यानत' फल जानैं प्रभू, तुरत महासुख होय ॥ ११ ॥

ॐ ह्रीं पचमेरुसम्बन्धिजिनचैत्यालयस्थजिनबिम्बेभ्यो अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

नन्दीश्वरद्वीप पूजा

अडिल्ल—सरव पर्वमें बड़ो अठाई परव है।
नन्दीश्वर सुर जांहिं लिये वसु दरव है॥
हमैं सकति सो नाहि इहां करि थापना।
पूजों जिन गृह प्रतिमा है हित आपना ॥१॥

ॐ ह्रीं श्रीं नन्दीश्वरद्वीपे द्विपंचाशज्जिनालयस्थजिनप्रतिमा समूह ! अत्र अवतर अवतर संवौषट्। अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः। अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट्।

कंचन-मणि-मय-भृङ्गार, तीरथ नीर भरा।
तिहुँ धार दई निरवार, जामन मरन जरा॥
नन्दीश्वर-श्रीजिन-धाम, बावन पुंज करों।
वसुदिन प्रतिमा अभिराम, आनँद-भाव धरों॥

ॐ ह्रीं श्रीं नन्दीश्वरद्वीपे पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरे द्विपंचाशज्जिनालयस्थजिनप्रतिमाभ्यो जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।॥ १ ॥

भव तप हर शीतल वास, सो चन्दन नाहीं।
प्रभु यह गुन कीजे सांच, आयो तुम ठाहीं ॥ नंदी०॥२॥

ॐ ह्रीं श्रीं नन्दीश्वर द्वीपे पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरे द्विपंचाशज्जिनालयस्थजिनप्रतिमाभ्यो संसारतापविनाशनाय चन्दनं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २ ॥

उत्तम अक्षत जिनराज, पुंज धरे सोहै।
सब जीते अक्ष-समाज, तुम सम अरुको है॥ नंदी०॥३॥

ॐ ह्रीं श्री नन्दीश्वरद्वीपे पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरे द्विपचाशज्जिनालयस्थजिनप्रतिमाभ्यो-अक्षय पदप्राप्तये अक्षत निर्वपामीति स्वाहा ॥ ३ ॥

तुम काम विनाशक देव, ध्याऊं फूलन सौं।
लहि शील लक्ष्मी एव, छूटूं सूलन सौं॥ नंदी०॥४॥

ॐ ह्रीं श्री नन्दीश्वरद्वीपे पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरे द्विपचाशज्जिनालयस्थजिनप्रतिमाभ्यो-कामवाणविध्वंसनाय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ४ ॥

नेवज इन्द्रिय-बलकार, सो तुमने चूरा।
चरु तुम ढिग सोहै सार, अचरज है पूरा॥ नंदी०॥५॥

ॐ ह्रीं श्री नन्दीश्वरद्वीपे पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरे द्विपचाशज्जिनालयस्थजिनप्रतिमाभ्यो क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्य निर्वपामीति स्वाहा ॥ ५ ॥

दीपक की ज्योति-प्रकाश, तुम तन मांहिं लसै।
टूटै करमनकी राश, ज्ञानकणी दरसै॥ नंदी०॥६॥

ॐ ह्रीं श्री नन्दीश्वरद्वीपे पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरे द्विपचाशज्जिनालयस्थजिनप्रतिमाभ्यो मोहान्धकारविनाशनाय दीप निर्वपामीति स्वाहा ॥ ६ ॥

कृष्णागरु-धूप-सुवास, दश-दिशि नारि वरै।
अति हरष-भाव परकाश, मानो नृत्य करै॥ नंदी०॥७॥

ॐ ह्रीं श्री नन्दीश्वरद्वीपे पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरे द्विपचाशज्जिनालयस्थजिनप्रतिमाभ्यो अष्टकर्मदहनाय धूप निर्वपामीति स्वाहा ॥ ७ ॥

वहुविधिफल ले तिहुँकाल. आनन्द राचत हैं।
तुम शिवफल देहु दयाल,तुहि हम जाचत हैं॥ नंदी० ॥८॥

ॐ ह्रीं श्री नन्दीश्वरद्वीपे पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरे द्विपञ्चाशज्जिनालयस्थजिनप्रतिमाभ्यो मोक्षफलप्राप्तये फलं निर्वपामीति स्वाहा॥ ९॥

यह अर्घ कियो निज-हेत, तुमको अरपतु हों।
'द्यानत' कीजो शिवखेत, भूमि समरपतु हों ॥ नंदी०॥९॥

ॐ ह्रीं श्री नन्दीश्वरद्वीपे पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरे द्विपञ्चाशज्जिनालयस्थजिनप्रतिमाभ्यो अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

जयमाला.

दोहा—कार्तिक फागुन साढ़के, अन्त आठ दिनमाहिं।
नन्दीश्वर सुर जात हैं, हम पूजैं इह ठाहिं ॥१॥

छन्द

एक सौ त्रेसठ कोडि जोजन महा। लाख चौरासिया एक दिशमे लहा॥
आठमों द्वीप नन्दीश्वरं भास्वरं। भौन बावन्न प्रतिमा नमों सुखकरं॥
चारदिशि चारअञ्जनगिरि राजहीं। सहस चौरासिया एक दिश छाजहीं॥
ढोलसम गोल ऊपर तले सुन्दरं। भौन बावन्न प्रतिमा नमों सुखकरं॥
एक इक चारदिशि चार शुभ बावरी। एक इक लाख जोजन अमल जल भरी॥
चहुँ दिशा चार वन लाख जोजन वरं। भौन बावन्न प्रतिमा नमों सुखकरं॥
सोल वापीन मधि सोलगिरि दधिमुख। सहस दश महा जोजन लखत ही सुख॥
बावरी कौन दोमाहिं दो रतिकरं। भौन बावन्न प्रतिमा नमों सुखकरं॥
शैल बत्तीस इक सहस जोजन कहे। चार सोलै मिलैं सर्व बावन लहे॥
एक इक सीस पर एक जिनमंदिरं। भौन बावन्न प्रतिमा नमों सुखकरं॥

बिंब अठ एक सौ रतनमयि सोहही। देव देवी सरव नयन मन मोहही ॥
पाचसै धनुष तन पद्मआसन परं। भौन बावन्न प्रतिमा नमों सुखकरं ॥
लालनख मुख नयन श्याम अरु श्वेत हैं। श्याम रंग भौंह सिर केश छवि देत हैं ॥
बचन बोलत मनो हसत कालुष हरं। भौन बावन्न प्रतिमा नमो सुखकरं ॥
कोटिशशि भानुदुति तेज छिप जात है। महावैराग परिणाम ठहरात है ॥
वयन नहिं कहै लखि होत सम्यक् धरं। भौन बावन्न प्रतिमा नमों सुखकरं ॥

सोरठा — नंदीश्वर जिनधाम, प्रतिमा महिमाको कहै।
'द्यानत' लीनो नाम, यहै भगति शिव सुखकरै ॥१०॥

ॐ ह्रीं श्री नन्दीश्वरद्वीपे पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरे द्विपंचाशज्जिनालयस्थजिनप्रतिमाभ्यो पूर्णार्घं निर्वपामीति स्वाहा।

आत्म - विश्वास

- "मुझ से क्या हो सकता है ? मैं क्या कर सकता हूँ ? मैं असमर्थ हूँ, दीन-हीन हूँ ऐसे कुत्सित विचारवाले मनुष्य आत्म-विश्वास के अभाव में कदापि सफल नहीं हो सकते।
- जिस मनुष्य में आत्म-विश्वास नहीं, वह 'मनुष्य' कहलाने का अधिकारी नहीं।
- जिन्हें अपने आत्मबल पर विश्वास नहीं, उन्हें संसार सागर की तो बात जाने दो, गाँव की मेंढ़क तरण-तलैया भी भारी है।

—'वर्णी वाणी' से

सोलहकारण पूजा

अडिल्ल—सोलहकारण भाय तीर्थंकर जे भये।
हरषे इन्द्र अपार मेरुपै ले गये॥
पूजा करि निज धन्य लख्यो बहु चावसौं।
हम हू षोड़श कारण भावें भावसौं॥१॥

ॐ ह्रीं दर्शनविशुद्ध्यादिषोडशकारणानि ! अत्र अवतर अवतर संवौषट्।
ॐ ह्रीं दर्शनविशुद्ध्यादिषोडशकारणानि ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः स्थापनं।
ॐ ह्रीं दर्शनविशुद्ध्यादिषोडशकारणानि ! अत्र मम सन्निहितो भवत भवत वषट्।

कंचन-झारी निरमल नीर. पूजों जिनवर गुण गंभीर।
परम गुरु हो. जय जय नाथ परम गुरु हो॥
दरश विशुद्धि भावना भाय. सोलह तीर्थंकर पददाय।
परम गुरु हो, जय जय नाथ परम गुरु हो॥१॥

ॐ ह्रीं दर्शनविशुद्ध्यादिषोडशकारणेभ्यो जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं० ॥ १ ॥

चंदन घसौं कपूर मिलाय, पूजों श्रीजिनवरके पाय।
परम गुरु हो, जय जय नाथ परम गुरु हो ॥दरश०॥२॥

ॐ ह्रीं दर्शनविशुद्ध्यादिषोडशकारणेभ्यो संसारतापविनाशनाय चन्दनं० ॥ २ ॥

तंदुल धवल सुगंध अनूप, पूजों जिनवर तिहुँ जगभूप।
परम गुरु हो. जय जय नाथ परम गुरु हो ॥दरश०॥३॥

ॐ ह्रीं दर्शनविशुद्ध्यादिषोडशकारणेभ्यो अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान्० ॥ ३ ॥

फूल सुगंध मधुप-गुंजार, पूजौं जिनवर जग-आधार।
परम गुरु हो, जय जय नाथ परम गुरु हो ॥दरश०॥४॥
ॐ ह्रीं दर्शनविशुद्धयादिषोडशकारणेभ्यो कामवाणविध्वंसनाय पुष्पं० ॥ ४ ॥

सद नेवज बहुविधि पकवान, पूजौं श्रीजिनवर गुणखान।
परम गुरु हो, जय जय नाथ परम गुरु हो ॥दरश०॥५॥
ॐ ह्रीं दर्शनविशुद्धयादिषोडशकारणेभ्यो क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं० ॥ ५ ॥

दीपक-ज्योति तिमिर क्षयकार, पूजूं श्रीजिन केवलधार।
परम गुरु हो, जय जय नाथ परम गुरु हो ॥दरश०॥६॥
ॐ ह्रीं दर्शनविशुद्धयादिषोडशकारणेभ्यो मोहान्धकारविनाशनाय दीपं० ॥ ६ ॥

अगर कपूर गंध शुभ खेय, श्रीजिनवर आगे महकेय।
परम गुरु हो, जय जय नाथ परम गुरु हो ॥दरश०॥७॥
ॐ ह्रीं दर्शनविशुद्धयादिषोडशकारणेभ्यो अष्टकर्म दहनाय धूपं० ॥ ७ ॥

श्रीफल आदि बहुत फलसार, पूजौं जिन वाँछित-दातार।
परम गुरु हो, जय जय नाथ परम गुरु हो ॥दरश०॥८॥
ॐ ह्रीं दर्शनविशुद्धयादिषोडशकारणेभ्यो मोक्ष फलप्राप्तये फलं० ॥ ८ ॥

जलफल आठों दरब चढ़ाय, 'द्यानत' वरत करौं मनलाय।
परम गुरु हो, जय जय नाथ परम गुरु हो ॥दरश०॥९॥
ॐ ह्रीं दर्शनविशुद्धयादिषोडशकारणेभ्यो अनर्घपदप्राप्तये अर्घं० ॥ ९ ॥

जयमाला

षोड़श कारण गुण करै, हरै चतुरगति-वास।
पाप पुण्य सब नासकै, ज्ञान-भान परकाश ॥१॥

चौपाई १६ मात्रा ।

दरश विशुद्ध धरे जो कोई। ताको आवागमन न होई।
विनय महा धारै जो प्रानी। शिव-वनिता की सखी बखानी ॥२॥
शील सदा दिढ़ जो नर पालै। सो औरनकी आपद टालै ॥
ज्ञानाभ्यास करैं मनमाहीं। ताके मोह-महातम नाहीं ॥३॥
जो संवेग-भाव विस्तारै। सुरग-मुकति-पद आप निहारै।
दान देय मन हरष विशेखै। इह भव जस परभव सुख देखै ॥४॥
जो तप तपै खपै अभिलाषा। चूरै करम-शिखर गुरु भाषा ॥
साधु-समाधि सदा मन लावै। तिहुँ जग भोग भोगि शिव जावै ॥५॥
निशि-दिन वैयावृत्य करैया। सो निहचै भव-नीर तिरैया ॥
जो अरहंत-भगति मन आनै। सो जन विषय कषाय न जानै ॥६॥
जो आचारज-भगति करै है। सो निर्मल आचार धरै है ॥
बहुश्रुतवंत-भगति जो करई। सो नर संपूरन श्रुत धरई ॥७॥
प्रवचन-भगति करै जो ज्ञाता। लहै ज्ञान परमानन्द-दाता ॥
षट आवश्य काल जो साधै। सो ही रत-त्रय आराधै ॥८॥
धरम-प्रभाव करैं जो ज्ञानी। तिन शिव-मारग रीति पिछानी ॥
वत्सल अङ्ग सदा जो ध्यावै। सो तिर्थंकर पदवी पावै ॥९॥

ॐ ह्रीं दर्शनविशुद्धयादिषोडशकारणेभ्य: पूर्णार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

दोहा—एही सोहल भावना, सहित धरै व्रत जोय।
देव-इन्द्र-नर-वंद्य-पद, 'द्यानत' शिवपद होय ॥ १० ॥

[आशीर्वाद]

दशलक्षण धर्म पूजा

अडिल्ल—उत्तम छिमा मारदव आरजव भाव हैं।
सत्य शौच संजम तप त्याग उपाव हैं॥
आकिंचन ब्रह्मचर्य धरम दश सार हैं।
चहुँगति-दुखतैं काढ़ि मुकति करतार हैं॥१॥

ॐ ह्रीं उत्तमक्षमादिदशलक्षणधर्म ! अत्र अवतर अवतर सवौषट्।

ॐ ह्रीं उत्तमक्षमादिदशलक्षणधर्म ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठ ठ।

ॐ ह्रीं उत्तमक्षमादिदशलक्षणधर्म ! अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट्।

सोरठा।

हेमाचलकी धार, मुनि-चित सम शीतल सुरभि।
भव-आताप निवार, दस-लक्षण पूजौं सदा॥ १॥

ॐ ह्रीं उत्तमक्षमादिदशलक्षण धर्माय जल निर्वपामीति स्वाहा॥ १॥

चन्दन केशर गार, होय सुवास दशोंदिशा॥ भव०

ॐ ह्रीं उत्तमक्षमादिदशलक्षण धर्माय चन्दन निर्वपामीति स्वाहा॥ २॥

अमल अखंडित सार, तंदुल चन्द्रसमान शुभ॥ भव०

ॐ ह्रीं उत्तमक्षमादिदशलक्षण धर्माय अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा॥ ३॥

फूल अनेक प्रकार, महकैं ऊरधलोकलों॥ भव०

ॐ ह्रीं उत्तमक्षमादिदशलक्षण धर्माय पुष्प निर्वपामीति स्वाहा॥ ४॥

नेवज विविध निहार, उत्तम षट-रस-संयुगत ॥ भव०

ॐ ह्रीं उत्तमक्षमादिदशलक्षण धर्माय नैवेद्य निर्वपामीति स्वाहा। ॥ ५ ॥

बाति कपूर सुधार, दीपक जोति-सुहावनी ॥ भव०

ॐ ह्रीं उत्तमक्षमादिदशलक्षण धर्माय दीपं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ६ ॥

अगर धूप विस्तार, फैले सर्व सुगन्धता ॥ भव०

ॐ ह्रीं उत्तमक्षमादिदशलक्षण धर्माय धूप निर्वपामीति स्वाहा ॥ ७ ॥

फलकी जाति अपार, घ्राण नयन मनमोहने ॥ भव०

ॐ ह्रीं उत्तमक्षमादिदशलक्षण धर्माय फल निर्वपामीति स्वाहा ॥ ८ ॥

आठों दरब संवार, 'द्यानत' अधिक उछाहसों ॥ भव०

ॐ ह्रीं उत्तमक्षमादिदशलक्षण धर्माय अर्घ निर्वपामीति स्वाहा ॥ ९ ॥

अंग पूजा

सोरठा।

पीडैं दुष्ट अनेक, बांध मार बहुविधि करैं।
धरिये छिमा विवेक, कोप न कीजै पीतमा ॥१॥

चौपाई मिश्रित गीता छन्द।

उत्तम छिमा गहो रे भाई, इह भव जस, पर-भव सुखदाई।
गाली सुनि मन खेद न आनो, गुनको औगुन कहै अयानो ॥
कहि है अयानो वस्तु छीनैं, बांध मार बहुविधि करै।
घरतैं निकारै तन विदारै, बैर जो न तहां धरै ॥

तैं करम पूरब किये खोटे, सहै क्यों नहिं जीयरा।
अति क्रोध-अगनि बुझाय प्रानी, साम्यजल ले सीयरा ॥१॥

ॐ ह्रीं उत्तमक्षमाधर्मांङ्गायअर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

मान महाविषरूप, करहिं नीच-गति जगतमें।
कोमल सुधा अनूप, सुख पावै प्रानी सदा ॥२॥
उत्तम मार्दव-गुन मनमाना, मान करनको कौन ठिकाना।
बस्यो निगोदमाहितैं आया, दमरी रूकन भाग विकाया॥
रूकन विकाया भागवशतैं, देव इकइन्द्री भया।
उत्तम मुआ चांडाल हूवा, भूप कीड़ोंमें गया॥
जीतव्य - जोवन - धन - गुमान, कहा करे जल - बुदबुदा।
करि विनय बहु-गुन, बड़े जनकी, ज्ञानका पावै उदा ॥२॥

ॐ ह्रीं उत्तममार्दवधर्मांङ्गाय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

कपट न कीजै कोय, चोरनके पुर ना बसे।
सरल सुभावी होय, ताके घर बहु संपदा ॥३॥
उत्तम आर्जव-रीति वखानी, रंचक दगा बहुत दुखदानी।
मनमें होय सो वचन उचरिये, वचन होय सो तनसौं करिये॥
करिये सरल तिहुँजोग अपने, देख निरमल आरसी।
मुख करै जैसा लखै तैसा, कपट - प्रीति अंगारसी॥
नहिं लहै लक्ष्मी अधिक छल करि, करम-बन्ध-विशेषता।
भय त्यागि दूध बिलाव पीवै, आपदा नहिं देखता ॥ ३ ॥

ॐ ह्रीं उत्तमआर्जवधर्मांङ्गाय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

कठिन बचन मति बोल, पर-निन्दा अरु झूठ तज।
सांच जवाहर खोल, सतवादी जगमें सुखी ॥४॥

उत्तम सत्य-वरत पालीजै, पर-विश्वासघात नहिं कीजै।
सांचे झूठे मानुष देखो, आपन पूत स्वपास न पेखो॥
पेखो तिहायत पुरुष सांचेको, दरब सब दीजिये।
मुनिराज - श्रावककी प्रतिष्ठा, सांचगुन लख लीजिये॥
ऊंचे सिंहासन बैठ वसु नृप, धरमका भूपति भया।
वसु झूठ सेती नरक पहुँचा, सुरगमें नारद गया॥ ४॥

ॐ ह्रीं उत्तम सत्य धर्माङ्गाय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

धरि हिरदै सन्तोष, करहु तपस्या देहसों।
शौच सदा निरदोष, धरम बड़ो संसार में ॥५॥

उत्तम शौच सर्व जग जानो, लोभ पापको बाप बखानो।
आशा-पाश महा दुखदानी, सुख पावै सन्तोषी प्रानी॥
प्रानी सदा शुचि शील जप तप, ज्ञानध्यान प्रभावतैं।
नित गंग-जमुन समुद्र न्हाये, अशुचि-दोष सुभावतैं॥
ऊपर अमल मल भर्यो भीतर, कौन विधि घट शुचि कहै॥
बहु देह मैली सुगुन - थैली, शौच-गुन साधु लहै॥५॥

ॐ ह्रीं उत्तम शौच धर्माङ्गाय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

काय छहों प्रतिपाल, पंचेन्द्री मन वश करो।
संजम-रतन संभाल, विषय चोर बहु फिरत हैं ॥६॥

उत्तम संजम गहु मन मेरे, भव-भवके भाजैं अघ तेरे।
सुरग-नरक-पशुगतिमें नाहीं, आलस-हरन करन सुख ठाहीं॥
ठाहीं पृथ्वी जल आग मारुत, रूख त्रस करुना धरो।
सपरसन रसना घ्राण नैना, कान मन सब वश करो॥
जिस बिना नहिं जिनराज सीझे, तू रुलो जग - कीचमें।
इक घरी मत विसरो करो नित, आयु जम-मुख बीचमें॥६॥

ॐ ह्रीं उत्तम संयम धर्मांगाय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

तप चाहैं सुरराय, करम-शिखरको वज्र है।
द्वादश विधि सुखदाय, क्यों न करै निज शक्तिसम॥७॥

उत्तम तप सब माहिं बखाना, करम-शैल को वज्र-समाना।
बस्यो अनादि-निगोद-मझारा, भू-विकलत्रय-पशु-तन धारा॥
धारा मनुष तन महादुर्लभ, सुकुल आव निरोगता।
श्रीजैनवानी तत्वज्ञानी, भई विषय - पयोगता॥
अति महादुरलभ त्याग विषय, कषाय जो तप आदरै।
नर-भव अनूपम कनक घरपर, मणिमयी कलसा धरै॥ ७॥

ॐ ह्री उत्तम तपो दशलक्षण धर्मांगाय पूर्णार्घं निर्वपामीति स्वाहा।

दान चार परकार, चार संघको दीजिये।
धन बिजुली उनहार, नर-भव लाहो लीजिये॥८॥

उत्तम त्याग कह्यो जग सारा, औषधि शास्त्र अभय आहारा।
निहचै राग-द्वेष निरवारै, ज्ञाता दोनों दान सम्भारै॥

दोनों संभारै कूप-जलसम, दरब घरमें परिनया।
निज हाथ दीजे साथ लीजे, खाय खोया वह गया ॥
धनि साधु शास्त्र अभय-दिवैया, त्याग राग विरोधकों।
बिन दान श्रावक साधु दोनों, लहैं नाहीं बोधकों ॥८॥

ॐ ह्रीं उत्तम त्याग धर्माङ्गाय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

परिग्रह चौबिस भेद, त्याग करैं मुनिराजजी।
तिसनाभाव उछेद, घटती जान घटाइए ॥९॥

उत्तम आकिंचन गुण जानो, परिग्रह-चिन्ता दुख ही मानो।
फांस तनकसी तनमें सालै, चाह लंगोटी की दुख भालै ॥
भालै न समता सुख कभी नर, बिना मुनि-मुद्रा धरैं।
धनि नगनपर तन-नगन ठाड़े, सुर असुर पायनि परैं ॥
घरमांहि तिसना जो घटावे, रुचि नहीं संसारसौं।
बहु धन बुरा हू भला कहिये, लीन पर-उपगारसौं ॥९॥

ॐ ह्रीं उत्तम आकिंचन्य धर्माङ्गाय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

शील-बाड़ि नौ राख ब्रह्म-भाव अन्तर लखो।
करि दोनों अभिलाख, करहु सफल नर-भव सदा ॥१०॥

उत्तम ब्रह्मचर्य मन आनौ, माता बहिन सुता पहिचानौ।
सहैं बान-वर्षा बहु सूरै, टिकैं न नैन-बान लखि कूरे ॥
कूरे तिया के अशुचितनमें, कामरोगी रति करै।
बहु मृतक सड़हिं मसान मांहीं, काक ज्यों चोंचैं भरै ॥

संसार में विषवेल नारी, तजि गये जोगीश्वरा।
'द्यानत' धरम दशपैंड़ि चढिके, शिव-महलमें पग धरा ॥१०॥

ॐ ह्रीं उत्तम ब्रह्मचर्य धर्माङ्गाय अनर्घपद प्राप्ताय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

जयमाला

दोहा — दश लच्छन वंदौं सदा, मन-वांछित फलदाय।
कहौं आरती भारती, हमपर होहु सहाय ॥१॥

उत्तम छिमा जहाँ मन होई, अन्तर-बाहर शत्रु न कोई।
उत्तम मार्दव विनय प्रकासै, नाना भेद ज्ञान सब भासै ॥ २ ॥
उत्तम आर्जव कपट मिटावै दुरगति त्यागि सुगति उपजावै।
उत्तम सत्य-वचन मुख बोलै, सो प्रानो संसार न डोलै ॥ ३ ॥
उत्तम शौच लोभ-परिहारी, संतोषी गुण-रतन-भण्डारी।
उत्तम संयम पालै ज्ञाता, नर-भव सफल करै ले साता ॥ ४ ॥
उत्तम तप निरवांछित पालै, सो नर करम-शत्रुको टालै।
उत्तम त्याग करै जो कोई, भोगभूमि-सुर-शिवसुख होई ॥ ५ ॥
उत्तम आकिंचन व्रत धारै, परम समाधि दशा विसतारै।
उत्तम ब्रह्मचर्य मन लावै, नरसुर सहित मुकति-फल पावै ॥ ६ ॥

दोहा—करै करमकी निरजरा, भवपींजरा विनाशि।
अजर अमर पदको लहै, 'द्यानत' सुखकी राशि ॥

ॐ ह्रीं उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य ब्रह्मचर्यधर्मेभ्य पूर्णार्घं निर्वपामीति स्वाहा।

रत्नत्रय पूजा

दोहा।

चहुँगति-फणि-विष-हरन-मणि, दुख-पावक-जल-धार।
शिव-सुख-सुधा-सरोवरी, सम्यक-त्रयी निहार ॥ १ ॥

ॐ ह्रीं सम्यक्रत्नत्रय धर्म ! अत्र अवतर अवतर संवौषट्।
ॐ ह्रीं सम्यक्रत्नत्रय धर्म ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठ ठ ।
ॐ ह्रीं सम्यक्रत्नत्रय धर्म ! अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट्।

सोरठा।

क्षीरोदधि उनहार, उज्ज्वल जल अति सोहना।
जनम-रोग निरवार, सम्यक-रत्न-त्रय भजूं ॥ १ ॥

ॐ ह्रीं सम्यक्रत्नत्रयाय जन्मरोगविनाशनाय जलं० ॥ १ ॥

चंदन-केशर गारि, परिमल-महा-सुगंध-मय ॥ जन्म०

ॐ ह्रीं सम्यक्रत्नत्रयाय भवातापविनाशनाय चन्दनं० ॥ २ ॥

तंदुल अमल चितार, वासमती-सुखदासके ॥ जन्म०

ॐ ह्रीं सम्यक्रत्नत्रयाय अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान्० ॥ ३ ॥

महकैं फूल अपार, अलि गुंजैं ज्यों थुति करैं ॥ जन्म०

ॐ ह्रीं सम्यक्रत्नत्रयाय कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं० ॥ ४ ॥

लाडू बहु विस्तार, चीकन मिष्ट सुगंधयुत ॥ जन्म०

ॐ ह्रीं सम्यक्रत्नत्रयाय क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं ॥ ५ ॥

दीप रतनमय सार, जोत प्रकाशै जगतमें ॥ जन्म०

ॐ ह्रीं सम्यक्रत्नत्रयाय मोहान्धकार विनाशनाय दीपं० ॥ ६ ॥

धूप सुवास विथार, चंदन अगर कपूर की ॥ जन्म०

ॐ ह्रीं सम्यग्रत्नत्रयाय मोहान्धकार विनाशनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ७ ॥

फल शोभा अधिकार, लोंग छुहारे जायफल ॥ जन्म०

ॐ ह्रीं सम्यग्रत्नत्रयाय मोक्षपद प्राप्तये फलं ॥ ८ ॥

आठ दरब निरधार, उत्तमसों उत्तम लिये ॥ जन्म०

ॐ ह्रीं सम्यग्रत्नत्रयाय अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घं० ॥ ९ ॥

सम्यक दरशन ज्ञान, व्रत शिव-मग-तीनों मयी ।

पार उतारन यान, 'द्यानत' पूजों व्रतसहित ॥१०॥

ॐ ह्रीं सम्यग्रत्नत्रयाय पूर्णार्घं निर्वपामीति स्वाहा ।

सम्यग्दर्शन पूजा

दोहा — सिद्ध अष्ट-गुनमय प्रगट, मुक्त-जीव-सोपान ।

ज्ञान चरित जिहँ बिन अफल, सम्यक्दर्श प्रधान ॥१॥

ॐ ह्रीं अष्टांगसम्यग्दर्शन ! अत्र अवतर अवतर संवौषट् ।

ॐ ह्रीं अष्टांगसम्यग्दर्शन ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठ ठ ।

ॐ ह्रीं अष्टांगसम्यग्दर्शन ! अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् ।

सोरठा-नीर सुगन्ध अपार, त्रिषा हरै मल छय करै ।

सम्यकदर्शन सार, आठ अङ्ग पूजौं सदा ॥ २ ॥

ॐ ह्रीं अष्टांगसम्यग्दर्शनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ॥ १ ॥

जल केशर घनसार, ताप हरै शीतल करै ॥ सम्य०

ॐ ह्रीं अष्टांगसम्यग्दर्शनाय चन्दनं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २ ॥

अछत अनूप निहार, दारिद नाशै सुख भरै ॥ सम्य०
ॐ ह्रीं अष्टांगसम्यग्दर्शनाय अक्षत निर्वपामीति स्वाहा ॥ ३ ॥
पुहुप सुवास उदार, खेद हरै मन शुचि करै ॥ सम्य०
ॐ ह्रीं अष्टांगसम्यग्दर्शनाय पुष्प निर्वपामीति स्वाहा ॥ ४ ॥
नेवज विविध प्रकार, क्षुधा हरै थिरता करै ॥ सम्य०
ॐ ह्रीं अष्टांगसम्यग्दर्शनाय नैवेद्य निर्वपामीति स्वाहा ॥ ५ ॥
दीप-ज्योति तम-हार, घट पट परकाशै महा ॥ सम्य०
ॐ ह्री अष्टांगसम्यग्दर्शनाय दीप निर्वपामीति स्वाहा ॥ ६ ॥
धूप घ्रान-सुखकार, रोग विघन जड़ता हरै ॥ सम्य०
ॐ ह्री अष्टांगसम्यग्दर्शनाय धूप निर्वपामीसि स्वाहा ॥ ७ ॥
श्रीफल आदि विथार, निहचै सुर-शिव-फल करै ॥ सम्य०
ॐ ह्री अष्टांगसम्यग्दर्शनाय फल निर्वंपामीति स्वाहा ॥ ८ ॥
जल गंधाक्षत चारु, दीप धूप फल-फूल चरु ॥ सम्य०
ॐ ह्री अष्टांगसम्यग्दर्शनाय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ९ ॥

जयमाला दोहा।

आप आप निहचै लखै तत्व-प्रीति व्योहार।
रहित दोष पच्चीस हैं, सहित अष्ट गुनसार ॥ १ ॥

चौपाई मिश्रित गीता छन्द।

सम्यकदरशन-रतन गहीजै। जिन-वचमें सन्देह न कीजै।
इह भव विभव-चाह दुखदानी। पर-भव भोग चहै मत प्रानी ॥

ग्लानि गिलान न करि अशुचि लखि, धरम गुरु प्रभु परखिये।
पर-दोष ढकिये धरम डिगते को, सुथिर कर हरखिये॥
चउ संघको वात्सल्य कीजै, धरम की परभावना।
गुण आठसों गुन आठ लहिकैं, इहां फेर न आवना॥ २॥

ॐ ह्रीं अष्टांगसहितपंचविंशतिदोषरहितसम्यग्दर्शनाय पूर्णार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

सम्यग्ज्ञान पूजा

दोहा—पंचभेद जाके प्रगट, ज्ञेय-प्रकाशन-भान।
मोह-तपन-हर-चंद्रमा, सोई, सम्यक्ज्ञान॥१॥

ॐ ह्रीं अष्टविध सम्यग्ज्ञान! अत्र अवतर अवतर संवौषट्।

ॐ ह्रीं अष्टविध सम्यग्ज्ञान! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः।

ॐ ह्रीं अष्टविध सम्यग्ज्ञान! अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट्।

सोरठा—नीर सुगंध अपार, त्रिषा हरै मल क्षय करै।
सम्यक्ज्ञान विचार, आठ-भेद पूजौं सदा॥१॥

ॐ ह्रीं अष्टविध सम्यग्ज्ञानाय जलं निर्वपामीति स्वाहा॥ १॥

जलकेशर घनसार, ताप हरै शीतल करै॥ स०॥२॥

ॐ ह्रीं अष्टविध सम्यग्ज्ञानाय चन्दनं निर्वपामीति स्वाहा॥ २॥

अक्षत अनूप निहार, दारिद नाशै सुख भरै॥ स०॥३॥

ॐ ह्रीं अष्टविध सम्यग्ज्ञानाय अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा॥ ३॥

पुहुप सुवास उदार, खेद हरै मन शुचि करै॥ स०॥४॥

ॐ ह्रीं अष्टविध सम्यग्ज्ञानाय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा॥ ४॥

नेवज विविध प्रकार, क्षुधा हरै थिरता करै ॥ स० ॥५॥

ॐ ह्रीं अष्टविध सम्यग्ज्ञानाय नैवेद्य निर्वपामीति स्वाहा ॥ ५ ॥

दीप-जोति तम-हार, घटपट परकाशै महा ॥ स० ॥६॥

ॐ ह्री अष्टविध सम्यग्ज्ञानाय दीप निर्वपामीति स्वाहा ॥ ६ ॥

धूप घ्रान-सुखकार, रोग विघन जड़ता हरै ॥ स० ॥७॥

ॐ ह्री अष्टविध सम्यग्ज्ञानाय धूप निर्वपामीति स्वाहा ॥ ७ ॥

श्रीफलआदि विथार, निहचै सुर-शिव-फल करै ॥स०॥८॥

ॐ ह्रीं अष्टविध सम्यग्ज्ञानाय फल निर्वपामीति स्वाहा ॥ ८ ॥

जल गंधाक्षत चारु, दीप धूप फलफूल चरु ॥स०॥९॥

ॐ ह्रीं अष्टविधसम्यग्ज्ञानाय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ९ ॥

जयमाला दोहा

आप आप जानै नियत; ग्रन्थपठन व्योहार।
संशय विभ्रम मोह बिन, अष्ट अङ्ग गुनकार ॥ १ ॥

सम्यकज्ञान-रतन मन भाया, आगम तीजा नैन बताया।
अच्छर शुद्ध अरथ पहिचानौ, अच्छर अरथ उभय सँग जानौ ॥
जानौ सुकाल-पठन जिनागम, नाम गुरु न छिपाइये।
तप-रीति गहि बहु मौन देकैं, विनयगुन चित लाइये ॥
ये आठ भेद करम उछेदक, ज्ञान दर्पन देखना।
इस ज्ञानहीसों भरत सीझा, और सब पट पेखना ॥११॥

ॐ ह्री अष्टविधसम्यग्ज्ञानाय पूर्णार्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ११ ॥

सम्यक्चारित्र पूजा

दोहा—विषय रोग औषधि महा, दवकषाय जलधार।
तीर्थंकर जाकों धरैं, सम्यकचारितसार ॥ १ ॥

ॐ ह्री त्रयोदशविधसम्यक्चारित्र ! अत्र अवतर अवतर संवौषट्।
ॐ ह्री त्रयोदशविधसम्यक्चारित्र ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठ ठ।
ॐ ह्रीं त्रयोदशविधसम्यक्चारित्र ! अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट।

सोरठा।

नीर सुगन्ध अपार, त्रिषा हरै मल छय करै।
सम्यकचारित सार, तेरह विध पूजौं सदा ॥ १ ॥

ॐ ह्रीं त्रयोदशविधसम्यक्चारित्राय जन्ममृत्युविनाशनाय जल० ॥ १ ॥

जलकेशर घनसार, ताप हरै शीतल करै। स० ॥२॥

ॐ ह्री त्रयोदशविधसम्यक्चारित्राय संसारतापविनाशनाय चन्दनम्० ॥ २ ॥

अछत अनूप निहार, दारिद नाशै सुख भरै। स० ॥३॥

ॐ ह्रीं त्रयोदशविधसम्यक्चारित्राय अक्षयपद प्राप्तये अक्षतान्० ॥ ३ ॥

पुहुप सुवास उदार, खेद हरै मन शुचि करै। स० ॥४॥

ॐ ह्री त्रयोदशविधसम्यक्चारित्राय कामवाणविध्वंसनाय पुष्प० ॥ ४ ॥

नेवज विविध प्रकार, क्षुधा हरै थिरता करै। स०॥५॥

ॐ ह्री त्रयोदशविधसम्यक्चारित्राय क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्य ० ॥ ५ ॥

दीप-जोति तम-हार, घट पट परकाशै महा। स०॥६॥

ॐ ह्री त्रयोदशविधसम्यक्चारित्राय मोहान्धकारविनाशनाय दीप ॥ ६ ॥

धूप घ्रान-सुखकार, रोग विघन जड़ता हरै । स०॥७॥

ॐ ह्रीं त्रयोदशविधसम्यक्चारित्राय अष्टकर्मदहनाय धूप० ॥ ७ ॥

श्रीफल आदि विथार, निहचै सुर-शिव-फल करै । स०॥८॥

ॐ ह्रीं त्रयोदशविधसम्यक्चारित्राय मोक्षफलप्राप्तये फल० ॥ ८ ॥

जल गंधाक्षत चारु, दीप धूप फल फूल चरु । स०॥९॥

ॐ ह्रीं त्रयोदशविधसम्यक्चारित्राय अनर्घ्यपद प्राप्तये अर्घ्यं० ॥ ९ ॥

जयमाला दोहा ।

आप आप थिर नियत नय, तप संयम व्योहार ।
स्वपर-दया-दोनों लिये, तेरहविध दुख-हार ॥ १० ॥

चौपाई मिश्रित गीता छन्द ।

सम्यकचारित रतन सम्भालो, पंच पाप तजिके व्रत पालौ ।
पंचसमिति त्रय गुपति गहीजै, नर-भव सफल करहु तन छीजै ॥
छीजै सदा तन को जतन यह, एक संयम पालिये ।
बहु रुल्यो नरक-निगोद-माहीं, कषाय-विषयनि टालिये ॥
शुभ-करम-जोग सुघाट आयो, पार हो दिन जात है ।
'द्यानत' धरमकी नाव बैठो, शिव-पुरी कुशलात है ॥ २ ॥

ॐ ह्रीं त्रयोदशविधसम्यक्चारित्राय महार्घं निर्वपामीति स्वाहा ।

समुच्चय जयमाला दोहा

सम्यकदरशन-ज्ञान-व्रत, इन बिन मुकति न होय ।
अन्ध पंगु अरु आलसी, जुदे जलैं दव-लोय ॥ १ ॥

चौपाई १६ मात्रा

जापै ध्यान सुथिर बन आवै, ताके करम-बन्ध कट जावै।
तासौं शिव-तिय प्रीति बढ़ावै, जो सम्यक् रतन-त्रय ध्यावै ॥२॥
ताकौ चहुँगतिके दुख नाहीं, सो न परै भव-सागर माहीं।
जनम-जरा-मृत दोष मिटावै, जो सम्यक् रतन-त्रय ध्यावै ॥३॥
सोई दशलच्छनको साधै, सो सोलह कारण आराधै।
सो परमातम पद उपजावै, जो सम्यक् रतन-त्रय ध्यावै ॥४॥
सोई शक्र-चक्रिपद लेई, तीन लोकके सुख विलसेई।
सो रागादिक भाव वहावै, जो सम्यक् रतन-त्रय ध्यावै ॥५॥
सोई लोकालोक निहारै, परमानन्द दशा विस्तारै।
आप तिरै औरन तिरवावै, जो सम्यक् रतन-त्रय ध्यावै ॥६॥
एक स्वरूप-प्रकाश निज, वचन कह्यो नहिं जाय।
तीन भेद व्योहार सब, 'द्यानत' को सुखदाय ॥७॥

ॐ ह्रीं सम्यक्रत्नत्राय महार्घं निर्वपामीति स्वाहा।

आत्म निर्मलता

केवल शास्त्र का अध्ययन संसार बन्धन से मुक्त होने का मार्ग नहीं। तोता राम-राम रटता है परन्तु उसके मर्म से अनभिज्ञ ही रहता है। इसी तरह बहुत से शास्त्रों का बोध होने पर भी जिसने अपने हृदय को निर्मल नहीं बनाया उससे जगत का कोई कल्याण नहीं हो सकता।

—'वर्णी वाणी' से

स्वयंभू स्तोत्र भाषा

राजविषै जुगलनि सुख कियो, राज त्याग भवि शिव पद लियो।
स्वयंबोध स्वयंभू भगवान, वंदौं आदिनाथ गुणखान ॥ १ ॥
इन्द्र क्षीरसागर जल लाय, मेरु न्हवाये गाय बजाय।
मदन-विनाशक सुख करतार, वंदौं अजित अजित पदकार ॥ २ ॥
शुक्लध्यान करि करम विनाशि, घाति अघाति सकल दुखराशि।
लह्यो मुकतिपद सुख अविकार, वंदौं सम्भव भव दुखटार ॥ ३ ॥
माता पच्छिम रयन मंझार, सुपने सोलह देखे सार।
भूप पूछि फल सुनि हरषाय, वंदौं अभिनन्दन मनलाय ॥ ४ ॥
सब कुवाद वादी सरदार, जीते स्याद्वाद-धुनि धार।
जैन-धरम-परकाशक स्वाम, सुमतिदेव-पद करहु प्रणाम ॥ ५ ॥
गर्भ अगाऊ धनपति आय, करी नगर-शोभा अधिकाय।
बरसे रतन पंचदश मास, नमौं पदमप्रभु सुखकी रास ॥ ६ ॥
इन्द्र फनिन्द्र नरिंद्र त्रिकाल, वाणी सुनि सुनि होहिं खुस्याल।
द्वादश सभा ज्ञान-दातार, नमौं सुपारसनाथ निहार ॥ ७ ॥
सुगुन छियालिस हैं तुम माहिं, दोष अठारह कोऊ नाहिं।
मोह-महातम-नाशक दीप, नमौं चन्द्रप्रभ राख समीप ॥ ८ ॥
द्वादश विधि तप करम विनाश, तेरह भेद चरित परकाश।
निज अनिच्छ भवि इच्छक दान, वंदौं पुहुपदंत मन आन ॥ ९ ॥
भवि-सुखदाय सुरगतैं आय, दश विधि धरम कह्यो जिनराय।

आप समान सबनि सुखदेह, वन्दौं शीतल धर्म-सनेह ॥१०॥
समता-सुधा कोप-विष - नाश, द्वादशांगवानी परकाश ।
चार सघ-आनन्द-दातार, नमों श्रेयास जिनेश्वर सार ॥११॥
रतनत्रय शिर मुकुट विशाल, शोभै कण्ठ सुगुण मणिमाल ।
मुक्ति-नार-भरता भगवान, वासुपूज्य वन्दौं धर ध्यान ॥१२॥
परम समाधि स्वरूप जिनेश, ज्ञानी ध्यानी हित-उपदेश ।
कर्मनाशि शिव-सुख-विलसन्त, वन्दौं विमलनाथ भगवंत ॥१३॥
अन्तर बाहिर परिग्रह डारि, परम दिगम्बर-व्रतको धारि ।
सर्व जीव-हित-राह दिखाय. नमों अनन्त वचन मन लाय ॥१४॥
सात तत्त्व पचासतिकाय, अरथ नवों छ दरव बहु भाय ।
लोक अलोक सकल परकाश, वन्दौं धर्मनाथ अविनाश ॥१५॥
पंचम चक्रवर्ति निधिभोग, कामदेव द्वादशम मनोग ।
शांतिकरन सोलम जिनराय, शांति नाथ वन्दौं हरषाय ॥१६॥
बहु थुति करै हरष नहि होय, निंदे दोष गहै नहिं कोय ।
शीलवान परब्रह्मस्वरूप, वन्दौं कुन्थुनाथ शिव - भूप ॥१७॥
द्वादशगण पूजै सुखदाय, थुति वन्दना करैं अधिकाय ।
जाकी निज-थुति कबहुँ न होय, वदौं अर-जिनवर-पद दोय ॥१८॥
पर-भव रतनत्रय-अनुराग, इह-भव व्याह-समय वैराग ।
बाल-ब्रह्म - पूरन - व्रतधार, वन्दौं मल्लिनाथ जिनसार ॥१९॥
बिन उपदेश स्वयं वैराग, थुति लौकान्त करैं पगलाग ।
नमःसिद्ध कहि सब व्रत लेहिं, वन्दौं मुनिसुव्रत व्रत देहिं ॥२०॥

श्रावक विद्यावंत निहार, भगति-भावसों दियो अहार।
बरसी रतन-राशि तत्काल, वन्दौं नमिप्रभु दीन-दयाल ॥२१॥
सब जीवनकी बन्दी छोर, राग-द्वेष द्वय बन्धन तोर।
रजमति तजि शिव-तियसों मिले, नेमिनाथ बंदौ सुख निले ॥२२॥
दैत्य कियो उपसर्ग अपार, ध्यान देखि आयो फनिधार।
गयो कमठ शठ मुखकर श्याम, नमों मेरुसम पारसस्वाम ॥२३॥
भव-सागरतैं जीव अपार, धरम-पोतमें धरे निहार।
डूबत काढे दया विचार, वर्द्धमान वन्दौं बहुबार ॥२४॥

दोहा—चौबीसों पद कमल जुग, बंदौं मन वच काय।
'द्यानत' पढ़ै सुनै सदा, सो प्रभु क्यों न सहाय ॥

मोक्षमार्ग

- ज्ञानी बन कर व्यापार और मोक्ष पाने दो में देखो, यही तत्वज्ञान तुम्हें सिद्ध-पद तक पहुँचा देगा।
- मोक्ष-मार्ग मन्दिर में नहीं, मसजिद में नहीं, गिरजाघर में नहीं, पर्वत-पहाड़ और तीर्थराज में नहीं — इसका उदय तो आत्मा में है।

—'वर्णी वाणी' से

समुच्चय चौबीसी पूजा

वृषभ अजितसंभवअभिनन्दन, सुमतिपदमसुपासजिनराय
चंद्र पुहुप शीतल श्रेयांस नमि, वासुपूज्य पूजित सुरराय ॥
विमल अनंत धर्मजस उज्ज्वल, शांति कुंथु अर मल्लि मनाय
मुनिसुव्रत नमि नेमि पार्श्वप्रभु, वर्द्धमान पद पुष्प चढ़ाय ॥

ॐ ह्रीं श्रीवृषभादिमहावीरांतचतुर्विंशतिजिनसमूह ! अत्र अवतर अवतर संवौषट् ।
ॐ ह्रीं श्रीवृषभादिमहावीरांतचतुर्विंशतिजिनसमूह ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः ।
ॐ ह्रीं श्रीवृषभादिमहावीरांतचतुर्विंशतिजिनसमूह ! अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् ।

मुनि-मन-सम उज्ज्वल नीर, प्रासुक गंध भरा ।
भरि कनक-कटोरी धीर दीनी धार धरा ॥
चौबीसों श्रीजिनचन्द, आनन्द-कन्द सही ।
पद जजत हरत भवफंद, पावत मोक्ष-मही ॥

ॐ ह्रीं श्रीवृषभादिवीरांतेभ्यो जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ॥ १ ॥

गोशीर कपूर मिलाय, केशर-रंग भरी ।
जिन-चरनन देत चढ़ाय, भव-आताप हरी ॥ चौबीसों० ॥

ॐ ह्रीं श्रीवृषभादिवीरांतेभ्यो भवतापविनाशनाय चन्दनं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २ ॥

तन्दुल सित सोम-समान, सुन्दर अनियारे ।
मुक्ताफलकी उनहार, पुञ्ज धरों प्यारे ॥ चौबीसों० ॥

ॐ ह्रीं श्रीवृषभादिवीरांतेभ्यो अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा ॥ ३ ॥

वर-कञ्ज कदंब कुरंड सुमन सुगन्ध भरे ।
जिन अग्रधरों गुन-मंड, काम-कलंक हरे ॥ चौबीसों० ॥

ॐ ह्रीं श्रीवृषभादिवीरांतेभ्यः कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ४ ॥

मन-मोहन-मोदक आदि, सुन्दर सद्य बने ।
रस-पूरित प्रासुक स्वाद, जजत छुधादि हने ॥चौबीसों०॥

ॐ ह्रीं श्रीवृषभादिवीरांतेभ्यः क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ५ ॥

तम-खंडन दीप जगाय, धारों तुम आगै ।
सब तिमिर मोह क्षय जाय, ज्ञान-कला जागै ॥चौबीसों०॥

ॐ ह्रीं श्रीवृषभादिवीरांतेभ्यो मोहान्धकारविनाशनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ६ ॥

दश गन्ध हुताशन-मांहि, हे प्रभु खेवत हों ।
मिस धूम करम जरिजाहिं, तुम पद सेवतहों ॥ चौबीसों०

ॐ ह्रीं श्रीवृषभादिवीरांतेभ्यो अष्टकर्मदहनाय धूपं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ७ ॥

शुचि पक्क सुरस फल सार, सब ऋतुके ल्यायो ।
देखत दृग-मनको प्यार, पूजत सुख पायो ॥ चौबीसों०

ॐ ह्रीं श्रीवृषभादिवीरांतेभ्यो मोक्षफलप्राप्तये फलं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ८ ॥

जल-फल आठों शुचि-सार, ताको अर्घ करों ।
तुमको अरपों भवतार, भवतरि मोच्छ वरों ॥ चौबीसों०

ॐ ह्रीं श्रीवृषभादिवीरांतेभ्यो अनर्घपदप्राप्तये अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ९ ॥

जयमाला दोहा ।

श्रीमत तीरथनाथ-पद, माथ नाय हित हेत ।
गाऊं गुणमाला अबै, अजर अमर पद देत ॥ १ ॥

घत्ता।

जय भवतमभञ्जन जनमनकञ्जन, रञ्जन दिनमनि स्वच्छकरा।
शिवमगपरकाशक अरिगननाशक, चौबीसों जिनराज वरा॥

पद्धरी छन्द।

जय ऋषभदेव ऋषिगण नमन्त, जय अजित जीत वसुअरि तुरन्त।
जय सम्भव भव-भय करत चूर, जय अभिनन्दन आनन्द-पूर॥१॥
जय सुमति सुमति-दायक दयाल, जय पद्मपद्मदुतितन-रसाल।
जय जय सुपास भवपासनाश, जय चंद चंद तन दुति प्रकाश॥२॥
जय पुष्पदन्त दुतिदन्त-सेत, जय शीतल शीतल-गुण-निकेत।
जय श्रेयनाथ नुत-सहसभुञ्ज, जय वासव-पूजित वासुपुज्य॥३॥
जय विमल विमल-पद-देनहार, जय जय अनन्त गुणगण अपार।
जय धर्म-धर्म शिव-शर्म देत, जय शान्ति शान्ति-पुष्टी करेत॥४॥
जय कुंथु कुंथु-आदिक रखेय, जय अर जिन वसु अरि-क्षय करेय।
जय मल्लि मल्ल हतमोह-मल्ल, जय मुनिसुव्रत व्रत-शल्ल-दल्ल॥५॥
जय नमि नित वासव-नुत सपेम, जय नेमिनाथ वृष-चक्र-नेम।
जय पारसनाथ अनाथ-नाथ, जय वर्द्धमान शिव-नगर साथ॥६॥

घत्ता।

चौबीस जिनन्दा आनन्द-कन्दा, पाप-निकन्दा सुखकारी।
तिनपद-जुग-चन्दा उदय अमन्दा, वासव-वन्दा हितकारी॥

ॐ ह्रीं श्रीवृषभादिचतुर्विंशति जिनेभ्यो महार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

सोरठा—भुक्ति-मुक्ति-दातार, चौबीसों जिनराज वर।
तिन पद मन वच धार, जो पूजै सो शिव लहै॥

सप्तऋषि का अर्घ

जल गन्ध अक्षत पुष्प चरुवर, दीप धूप सु लावना।
फल ललित आठों द्रव्य मिश्रित अर्घ कीजे पावना॥
मन्वादिचारणऋद्धिधारक, मुनिन की पूजा करूँ।
ताकरें पातक हरें सारे, सकल आनन्द विस्तरूँ॥

ॐ ह्रीं श्रीमन्वादिचारण ऋद्धिधारि सप्तर्षिभ्यो अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा॥ १॥

व्रतों का अर्घ

उदक चन्दन तन्दुल पुष्पकैश्चरुसुदीपसुधूपफलार्घकैः।
धवल मंगल गानरवाकुले जिनगृहे जिनव्रतमहंयजे॥

ॐ ह्रीं [illegible] अनर्घपदप्राप्तये निर्वपामीति स्वाहा।

समुच्चय अर्घ

प्रभुजी अष्ट द्रव्यजु ल्यायो भावसों।
प्रभु थांका हर्ष-हर्ष गुण गाऊँ महाराज॥
यो मन हरग्यो प्रभु थांकी पूजाजी रे कारणे।
प्रभुजी थांकी तो पूजा भविजन नित करे॥
जाका अशुभ कर्म कट जाय महाराज यो मन०॥
प्रभुजी थांकी तो पूजा भवि जीव जो करें।
सो तो सुरग मुकतिपद पावे महाराज॥ यो मन०॥

प्रभुजी इन्द्र धरणेन्द्रजी सब मिल गाय ।
प्रभु का गुणां को पार न पाइया ॥
प्रभुजी थे छो जी अनन्ताजी गुणवान ।
थाने तो सुमर्‌यां संकट परिहरे ॥
प्रभुजी थे छो जी साहिब तीनों लोकका ।
जिनराय मैं छू जी निपट अज्ञानी महाराज ॥ यो मन० ॥
प्रभुजी थांका तो रूपजु निरखन कारणे ।
सुरपति रचिया छै नयन हजार महाराज ॥ यो मन० ॥
प्रभुजी नरक निगोदमें भव-भव मैं रुल्यो ।
जिनराज सहिया छै दुःख अपार महाराज ॥ यो मन० ॥
प्रभुजी अब तो शरणोजी थारो मैं लियो ।
किस विधि कर पार लगावो महाराज ॥ यो मन० ॥
प्रभुजी म्हारो तो मनड़ो थांमे घुल रह्यो ।
ज्यों चकरी बिच रेशम डोरी महाराज ॥ यो मन० ॥
प्रभुजी तीन लोक में है जिन बिम्ब ।
कृत्रिम अकृत्रिम चैत्यालय पूजस्यां ॥
प्रभुजी जल चन्दन अक्षत पुष्प नैवेद ।
दीप धूप फल अर्घ चढ़ाऊँ महाराज ॥

जिन चैत्यालय महाराज, सब चैत्या० जिनराज ॥ यो०
प्रभुजी अष्ट द्रव्य जु ल्यायो बनाय ।
पूजा रचाऊँ श्री भगवान की ॥

शान्ति पाठ भाषा

चौपाई।

शांतिनाथ मुख शशि उनहारी, शील-गुणव्रत-संयमधारी।
लखन एक सौ आठ विराजैं, निरखत नयन कमलदल लाजैं॥
पञ्चम चक्रवर्तिपद धारी, सोलम तीर्थंकर सुखकारी।
इन्द्र नरेन्द्र पूज्य जिन नायक, नमो शांतिहित शांति विधायक॥
दिव्य विटप पहुपनकी वरषा, दुन्दुभि आसन वाणी सरसा।
छत्र चमर भामण्डल भारी, ये तुव प्रातिहार्य मनहारी॥
शांति जिनेश शांति सुखदाई, जगतपूज्य पूजौं शिर नाई।
परम शांति दीजै हम सबको, पढ़ैं तिन्हें पुनि चार संघको॥

वसन्ततिलका।

पूजैं जिन्हें मुकुट हार किरीट लाके।
इन्द्रादि देव अरु पूज्य पदाब्ज जाके॥
सो शान्तिनाथ वरवंश जगत्प्रदीप।
मेरे लिये करहिं शान्ति सदा अनूप॥

इन्द्रवज्रा।

संपूजकोंको प्रतिपालकोंको यतीनको औ यतिनायकोंको।
राजा प्रजा राष्ट्र सुदेशको ले, कीजै सुखी हे जिन शांतिको दे॥

स्रग्धरा छन्द ।

होवै सारी प्रजाको सुख बलयुत हो धर्मधारी नरेशा ।
होवै वर्षा समैपै तिल भर न रहै व्याधियोंका अन्देशा ॥
होवै चौरी न जारी सुसमय वरतै हो न दुष्काल भारी ।
सारे ही देश धारैं जिनवर-वृषको जो सदा सौख्यकारी ॥

दोहा — घातिकर्म जिन नाश करि, पायो केवलराज ।
शांति करो सब जगतमें, वृषभादिक जिनराज ॥

मन्दाक्रान्ता ।

शास्त्रों का हो पठन सुखदा लाभ सत्संगती का ।
सद्वृत्तों का सुजस कहके, दोष ढांकूं सभी का ॥
बोलूं प्यारे वचन हितके, आप का रूप ध्याऊँ ।
तौलों सेऊँ चरण जिनके मोक्ष जौलौं न पाऊँ ॥

आर्या ।

तव पद मेरे हिय में, मम हिय तेरे पुनीत चरणों में ।
तबलों लीन रहौं प्रभु, जबलों पाया न मुक्ति पद मैंने ॥
अक्षर पद मात्रासे दूषित जो कुछ कहा गया मुझसे ।
क्षमा करो प्रभु सो सब, करुणाकरि पुनि छुड़ाहु भव दुखसे ॥
हे जगबन्धु जिनेश्वर ! पाऊँ, तव चरण शरण बलिहारी ।
मरण समाधि सुदुर्लभ, कर्मोंका क्षय सुबोध सुखकारी ॥

पुष्पांजलि क्षेपण ।

भजन

नाथ ! तोरी पूजाको फल पायो, मेरे यो निश्चय अब आयो ।।टेक।।
मेंढ़क कमल पांखडी मुखमें, वीर जिनेश्वर धायो ।
श्रेणिक गजके पगतल मूवो, तुरत स्वर्गपद पायो ।। नाथ० ।। १ ।।
मैना सुन्दरी शुभ मन सेती, सिद्धचक्र गुण गायो ।
अपने पतिको कोढ गमायो, गंधोदक फल पायो ।। नाथ० ।। २ ।।
अष्टापद में भरत नरेश्वर, आदिनाथ मन लायो ।
अष्टद्रव्य से पूजा प्रभुजी, अवधिज्ञान दरशायो ।। नाथ० ।। ३ ।।
अञ्जनसे सब पापी तारे, मेरो मन हुलसायो ।
महिमा मोटी नाथ तुमारी, मुक्तिपुरी सुख पायो ।। नाथ० ।। ४ ।।
थकी थकी हारे सुर नर पति, आगम सीख जितायो ।
'देवकीर्ति' गुरु ज्ञान मनोहर, पूजा ज्ञान बतायो ।। नाथ० ।। ५ ।।

भाषा स्तुति

तुम तरण-तारण भव-निवारण, भविकमन आनन्दनो ।
श्रीनाभिनन्दन जगतवन्दन, आदिनाथ निरञ्जनो ।। १ ।।
तुम आदिनाथ अनादि सेऊं, सेय पद पूजा करूँ ।
कैलाश गिरिपर ऋषभ जिनवर, पद कमल हिरदै धरूं ।। २ ।।
तुम अजितनाथ अजीत जीते, अष्ट कर्म महाबली ।

यह विरद सुन कर शरण आयो, कृपा कीज्यो नाथजी ॥ ३ ॥
तुम चन्द्रवदन सु चन्द्रलच्छन, चन्द्रपुरि परमेश्वरो।
महासेननन्दन जगतवन्दन, चन्द्रनाथ जिनेश्वरो ॥ ४ ॥
तुम शान्ति पांच कल्याण पूजौं, शुद्ध मन वच काय जू।
दुर्भिक्ष चोरी पापनाशन, विघन जाय पलाय जू ॥ ५ ॥
तुम बालब्रह्म विवेकसागर, भव्य-कमल विकाशनो।
श्रीनेमिनाथ पवित्र दिनकर, पाप-तिमिर विनाशनो ॥ ६ ॥
जिन तजी राजुल राजकन्या, कामसेन्या वश करी।
चारित्ररथ चढ़ि भये दूलह, जाय शिव-रमणी वरी ॥ ७ ॥
कन्दर्प दर्प सुसर्पलच्छन, कमठ शठ निर्मद कियो।
अश्वसेननन्दन जगतवन्दन, सकल संघ मंगल कियो ॥ ८ ॥
जिनधरी बालकपणे दीक्षा, कमठ-मान विदारकैं।
श्रीपार्श्वनाथ जिनेन्द्रके पद, मैं नमों शिर धारकैं ॥ ९ ॥
तुम कर्मघाता मोक्षदाता, दीन जानि दया करो।
सिद्धार्थनन्दन जगतवन्दन महावीर जिनेश्वरो ॥ १० ॥
छत्र तीन सोहैं सुरनर मोहैं, वीनती अब धारिये।
कर-जोड़ सेवक वीनवै, प्रभु आवागमन निवारिये ॥ ११ ॥
अब होउ भव भव स्वामि मेरे, मैं सदा सेवक रहौं।
कर-जोड़ यो वरदान मांगू, मोक्षफल जावत लहौं ॥ १२ ॥
जो एक मांहीं एक राजै, एक मांहि अनेकनो।
इक अनेक की नहिं संख्या नमूं सिद्ध निरञ्जनो ॥ १३ ॥

मैं तुम चरण-कमल गुणगाय, बहुविधि भक्ति करी मनलाय।
जनम जनम प्रभु पाऊ तोहि, यह सेवा-फल दीजै मोहि ॥ १४ ॥
कृपा तिहारी ऐसी होय, जामन मरण मिटावो मोय।
बार-बार मैं विनती करूं, तुम सेवा भवसागर तरूं ॥ १५ ॥
नाम लेत सब दुःख मिट जाय, तुम दर्शन देख्यो प्रभु आय।
तुम हो प्रभु देवन के देव, मैं तो करूं चरण तव सेव ॥ १६ ॥
जिन पूजा तैं सब सुख होय, जिन पूजा सम अवर न कोय।
जिन पूजा तैं स्वर्ग विमान, अनुक्रम तैं पावै निर्वाण ॥ १७ ॥
मैं आयो पूजन के काज, मेरो जन्म सफल भयो आज।
पूजा करके नवाऊं शीश, मुझ अपराध क्षमहु जगदीश ॥ १८ ॥
दोहा—सुख देना दुःख मेटना, यही तुम्हारी बान।
मो गरीब की बीनती, सुन लीज्यो भगवान ॥ १९ ॥
पूजन करते देव की, आदि मध्य अवसान।
सुरगनके सुख भोग कर, पावै मोक्ष निदान ॥ २० ॥
जैसी महिमा तुम विषैं, और धरै नहि कोय।
जो सूरज मे जोति है, नहिं तारागण सोय ॥ २१ ॥
नाथ तिहारे नामतैं, अघ छिनमांहि पलाय।
ज्यों दिनकर परकाशतैं, अन्धकार विनशाय ॥ २२ ॥
बहुत प्रशंसा क्या करू, मैं प्रभु बहुत अजान।
पूजाविधि जानू नही, शरण राखि भगवान ॥ २३ ॥

निर्वाणक्षेत्र पूजा

परमपूज्य चौवीस, जिहँ जिहँ थानक शिव गये।
सिद्धभूमि निशदीस, मन वच तन पूजा करौं ॥

ॐ ह्रीं श्रीचतुर्विंशतितीर्थंकरनिर्वाणक्षेत्राणि ! अत्र अवतरत अवतरत संवौषट् ।
ॐ ह्रीं श्रीचतुर्विंशतितीर्थंकरनिर्वाणक्षेत्राणि ! अत्र तिष्ठत तिष्ठत ठः ठः
ॐ ह्रीं श्रीचतुर्विंशतितीर्थंकरनिर्वाणक्षेत्राणि ! अत्र मम सन्निहितानि भवत भवत वषट् ।

गीता छन्द ।

शुचि छीर-दधि-सम नीर निरमल, कनक-झारीमें भरौं ।
संसार पार उतार स्वामी, जोर कर विनती करौं ॥
सम्मेदगढ़ गिरनार चम्पा, पावापुरि कैलाशकों ।
पूजौं सदा चौवीस जिन, निर्वाणभूमि-निवासकों ॥

ॐ ह्रीं श्रीचतुर्विंशतितीर्थंकर निर्वाणक्षेत्रेभ्यो जलं निर्वपामीति स्वाहा ॥ १ ॥

केशर कपूर सुगन्ध चन्दन, सलिल शीतल विस्तरौं ।
भव-तापको सन्ताप मेटो, जोर कर विनती करौं ॥स०

ॐ ह्रीं श्रीचतुर्विंशतितीर्थंकर निर्वाणक्षेत्रेभ्यो चन्दनं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २ ॥

मोती-समान अखण्ड तन्दुल, अमल आनन्द धरि तरौं ।
औगुन हरौ गुण करौ हमको, जोर कर विनती करौं ॥ स०

ॐ ह्रीं श्रीचतुर्विंशतितीर्थंकर निर्वाणक्षेत्रेभ्यो अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा ॥ ३ ॥

शुभ फूल-रास सुवास-वासित, खेद सब मन की हरौं ।

दुख-धाम-काम विनाश मेरो, जोर कर विनती करौं ॥स०

ॐ ह्रीं श्रीचतुर्विंशतितीर्थंकर निर्वाणक्षेत्रेभ्यो पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ४ ॥

नेवज अनेकप्रकार जोग, मनोग धरि भय परिहरौं।
यह भूख-दुखन टार प्रभुजी, जोर कर विनती करौं ॥स०

ॐ ह्रीं श्रीचतुर्विंशतितीर्थंकर निर्वाणक्षेत्रेभ्यो नैवेद्य निर्वपामीति स्वाहा॥ ५ ॥

दीपक-प्रकाश उजास उज्ज्वल, तिमिरसेती नहिं डरौं।
संशय-विमोह-विभरम-तम-हर, जोर कर विनती करौं ॥स०

ॐ ह्रीं श्रीचतुर्विंशतितीर्थंकर निर्वाक्षेत्रेभ्यो दीप निर्वपामीति स्वाहा ॥ ६ ॥

शुभ-धूप परम-अनूप पावन, भाव पावन आचरौं।
सब करम-पुञ्ज जलाय दीज्यो, जोर कर विनती करौं ॥स०

ॐ ह्रीं श्रीचतुर्विंशतितीर्थंकर निर्वाणक्षेत्रेभ्यो धूप निर्वपामीति स्वाहा ॥ ७ ॥

बहु फल मंगाय चढ़ाय उत्तम, चार गतिसों निरवरौं।
निहचै मुकति-फल देहु मोको, जोर कर विनती करौं ॥स०

ॐ ह्रीं श्रीचतुर्विंशतितीर्थंकर निर्वाणक्षेत्रेभ्यो फल निर्वपामीति स्वाहा ॥ ८ ॥

जल गन्ध अक्षत पुष्प चरु फल, दीप धूपायन धरौं।
'द्यानत' करो निरभय जगतसों, जोर कर विनती करौं ॥स०

ॐ ह्रीं श्रीचतुर्विंशतितीर्थंकर निर्वाणक्षेत्रेभ्यो अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ९ ॥

जयमाला दोहा

श्रीचौबीस जिनेश, गिरि कैलाशादिक नमों।
तीरथ महाप्रदेश, महापुरुष निरवाणतैं ॥

चौपाई १६ मात्रा

नमों ऋषभ कैलाशपहारं. नेमिनाथ गिरनार निहारं।
वासुपूज्य चम्पापुर वन्दौं, सन्मति पावापुर अभिनन्दौं ॥१॥
वन्दौं अजित अजित-पद-दाता. वन्दौं सम्भव भव-दुःख-घाता।
वन्दौं अभिनन्दन गण-नायक, वन्दौं सुमति सुमतिके दायक ॥२॥
वन्दौं पदम मुकति-पद्माकर, वन्दौं सुपास आश-पासाहर।
वन्दौं चन्द्रप्रभु प्रभुचन्दा, वन्दौं सुविधि सुविधि-निधि-कन्दा ॥३॥
वन्दौं शीतल अघ-तप-शीतल, वन्दौं श्रेयांस श्रेयांस महीतल।
वन्दौं विमल विमल उपयोगी, वन्दौं अनंत अनंत-सुखभोगी ॥४॥
वन्दौं धर्म धर्म-विस्तारा, वन्दौं शान्ति शान्ति-मन-धारा।
वन्दौं कुंथु कुंथु-रखवालं. वन्दौं अर अरि-हर गुणमालं ॥५॥
वन्दौं मल्लि काम-मल-चूरन. वन्दौं मुनिसुव्रत व्रत-पूरन।
वन्दौं नमि-जिन नमित-सुरासुर. वदौं पार्श्व पार्श्व भ्रम-जग-हर ॥६॥
वीसों सिद्धभूमि जा ऊपर. शिखरसम्मेद-महागिरि भूपर।
एकबार वंदै जो कोई, ताहि नरक-पशु-गति नहिं होई ॥७॥
नरपतिनृप सुर शक्र कहावे. तिहुं जग-भोग भोगि शिव पावे।
विघन-विनाशन मंगलकारी, गुण-विलास वन्दौं भवतारी ॥८॥
घत्ता—जो तीरथ जावै पाप मिटावै, ध्यावै गावै भगति करै।
ताको जस कहिये संपति लहिये, गिरिके गुण को बुध उचरै॥

ॐ ह्रीं श्रीचतुर्विंशतितीर्थंकर निर्वाणक्षेत्रेभ्यो पूर्णार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

श्री आदिनाथजिन पूजा

नाभिराय मरुदेविके नन्दन, आदिनाथ स्वामी महाराज।
सर्वार्थसिद्धिते आप पधारे, मध्यलोकमांही जिनराज॥
इन्द्रदेव सब मिलकर आये, जन्म महोत्सव करने काज।
आह्वानन सब विधि मिल करके, अपने कर पूजे प्रभु आज॥

ॐ ह्रीं श्रीआदिनाथ जिनेन्द्र! अत्र अवतर अवतर संवौषट आह्वानन।
ॐ ह्रीं श्रीआदिनाथ जिनेन्द्र! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः स्थापन।
ॐ ह्रीं श्रीआदिनाथ जिनेन्द्र! अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट सन्निधिकरणम्।

अष्टक।

क्षीरोदधिका उज्ज्वल जल ले, श्रीजिनवरपद पूजन जाय।
जन्म-जरा दुःख मेटन कारन, ल्याय चढ़ाऊं प्रभुके पाय॥
श्रीआदिनाथके चरण-कमलपर, बलि-बलि जाऊँ मन वच काय।
हो करुणानिधि भव दुःख मेटो. यातै मैं पूजों प्रभु पाय॥

ॐ ह्रीं श्रीआदिनाथ जिनेन्द्राय जन्ममृत्युविनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा॥ १॥

मलयागिरि चंदन दाह निकंदन, कञ्चन झारीमें भर ल्याय।
श्रीजीकेचरण चढ़ावो भविजन भवआताप तुरत मिटि जाय॥श्री०

ॐ ह्रीं श्रीआदिनाथ जिनेन्द्राय भवातापविनाशनाय चन्दनं निर्वपामीति स्वाहा॥ २॥

शुभशालिअखंडित सौरभिमंडित, प्रासुक जलसों धोकर ल्याय।
श्रीजीकेचरण चढावो भविजन अक्षयपदको तुरत उपाय॥श्री०

ॐ ह्रीं श्रीआदिनाथ जिनेन्द्राय अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा ॥ ३ ॥

कमल केतकी वेल चमेली, श्रीगुलावके पुष्प मंगाय ।
श्रीजीकेचरणचढावोभविजन,कामवाणतुरत नसिजाय॥श्री०

ॐ ह्रीं श्रीआदिनाथ जिनेन्द्राय कामवाणविध्वंसनाय पुष्प निर्वपामीति स्वाहा ॥ ४ ॥

नेवज लीना षट् रस भीना, श्रीजिनवर आगे धरवाय ।
थाल भराऊँ क्षुधा नशाऊँ, ल्याऊँ प्रभुके मंगल गाय ॥श्री०

ॐ ह्रीं श्रीआदिनाथ जिनेन्द्राय क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्य निर्वपामीनि स्वाहा ॥ ५ ॥

जगमग-जगमग होत दशोंदिशि,ज्योति रही मन्दिरमें छाय।
श्रीजीकेसन्मुखकरत आरती, मोहतिमिरनासै दुखदाय ॥श्री०

ॐ ह्रीं श्रीआदिनाथ जिनेन्द्राय मोहान्धकारविनाशनाय दीप निर्वपामीति स्वाहा । ॥ ६ ॥

अगर कपूर सुगन्ध मनोहर, तगर कपूर सुद्रव्य मिलाय।
श्रीजीकेसन्मुखखेय धुपायन,कर्मजरेचहुँगतिमिटिजाय॥श्री०

ॐ ह्रीं श्रीआदिनाथ जिनेन्द्राय अष्टकर्मदहनाय धूप निर्वपामीति स्वाहा ॥ ७ ॥

श्रीफल और बदाम सुपारी, केला आदि छुहारा ल्याय ।
महामोक्षफल पावन कारण, ल्याय चढ़ाऊँ प्रभुके पाय ॥ श्री०

ॐ ह्रीं श्रीआदिनाथ जिनेन्द्राय मोक्षफलप्राप्तये फल निर्वपामीति स्वाहा ॥ ८ ॥

शुचि निरमल नीरं गंध सुअक्षत, पुष्प चरू ले मन हर्षाय ।
दीप धूप फल अर्घ सु लेकर, नाचत ताल मृदङ्ग बजाय ॥ श्री०

ॐ ह्रीं श्रीआदिनाथ जिनेन्द्राय अनर्घपदप्राप्तये अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ९ ॥

पञ्चकल्याणक।

सर्वार्थसिद्धितैं चये, मरुदेवी उर आय।
दोज असित आषाढ़की, जजूं तिहारे पाय॥

ॐ ह्रीं [illegible] श्रीआदिनाथजिनेन्द्राय अर्घ्यं निर्वपामीति०

चैत वदी नौमी दिना, जन्म्या श्रीभगवान।
सुरपति उत्सव अति कर्‌या, मैं पूजौं धर ध्यान॥

ॐ ह्रीं [illegible] श्रीआदिनाथजिनेन्द्राय अर्घ्यं निर्वपामीति०।

तृणवत ऋद्धि सब छोड़िके, तप धार्‌यो वन जाय।
नौमी चैत्र असेत की, जजूं तिहारे पाय॥

ॐ ह्रीं [illegible] श्रीआदिनाथजिनेन्द्राय अर्घ्यं निर्व०।

फाल्गुण वदि एकादशी, उपज्यो केवलज्ञान।
इन्द्र आय पूजा करी, मैं पूजौं इह थान॥

ॐ ह्रीं [illegible] श्रीआदिनाथजिनेन्द्राय अर्घ्यं०।

माघ चतुर्दशि कृष्णकी, मोक्ष गये भगवान।
भवि जीवोंको बोधिके, पहुँचे शिवपुर थान॥

ॐ ह्रीं [illegible] श्रीआदिनाथजिनेन्द्राय अर्घ्यं०।

जयमाला।

आदीश्वर महाराज मैं विनती तुमसों करूं।
चारों गतिके मांहि मैं दुःख पायो सो सुनो॥

अष्टकरम में एकलौ, ये दुष्ट महादुःख देत हो।

कबहूं इतर निगोदमें मोकूं पटकत करत अचेत हो॥

म्हारी दीनतनी सुन वीनती॥

प्रभु कबहुंक पटक्या नरकमें, जठै जीव महादुःख पाय हो।
नित उठि निरदई नारकी, जठै करत परस्पर घात हो॥ म्हारी०॥
प्रभु नरकतणा दुःख अब कहूं, जठै करें परस्पर घात हो।
कोइयक बांध्यो खंभसौं, पापी दे मुद्गरकी मार हो॥ म्हारी०॥
कोइयक काटें करोंतसौं, पापी अङ्गतणी दोय फाड़ हो।
प्रभु इह विधि दुःख भुगतया घणा, फिर गति पाई तिर्यञ्च हो। म्हारी०॥
हिरणा बकरा बाछड़ा पशु दीन गरीब अनाथ हो।
प्रभु मैं ऊंट बलद भैंसा भयो, ज्यांपै लदियो भार अपार हो॥ म्हारी०॥
नहिं चाल्यो जठै गिर पर्‌यो, पापी दे सोटन की मार हो।
प्रभु कोइयक पुण्य संजोगसूं, मैं पायो स्वर्ग निवास हो॥ म्हारी०॥
देवांगना संग रमि रह्यो, जठै भोगनिको परिताप हो।
प्रभु संग अप्सरा रमि रह्यो, कर कर अति अनुराग हो॥ म्हारी०॥
कबहुंक नन्दन-वन विषै प्रभु, कबहुंक वन-गृह मांहि हो।
प्रभु इह विधि काल गमायकै, फिर माला गई मुरझाय हो॥ म्हारी०
देव तिथी सब घट गई, फिर उपज्यो सोच अपार हो।
सोच करत तन खिर पड्यो, फिर उपज्योगर्भमें जाय हो॥ म्हारी०॥
प्रभु गर्भतणा दुःख अब कहूं, जाठै सकडाई की ठौर हो।
हलन-चलन नहि कर सक्यो, जठै सघन कीच घनघोर हो॥ म्हारी०॥

माता खावै चरपरौ, फिर लागै तन सन्ताप हो।
प्रभु ज्यों जननी तातो भखै, फिर उपजै तन सन्ताप हो ॥ म्हारी०॥
औंधे मुख झूल्यो रह्यो, फेर निकसन कौन उपाय हो।
कठिन कठिन कर नीसर्यो, जैसे निसरै जंती में तार हो ॥ म्हारी०
प्रभु फिर निकसत धरत्यां पड्यो, फिर लागी भूख अपार हो।
रोय रोय विलख्यो घणो, दुख वेदनको नहिं पार हो ॥ म्हारी०
प्रभु दुख मेटन समरथ धनी, यातैं लागू तिहारे पांय हो।
सेवक अरज करै प्रभु! मोकू भवोदधि पार उतार हो ॥ म्हारी०

दोहा—श्रीजीकी महिमा अगम है, कोई न पावै पार।
मैं मति अल्प अज्ञान हो, कौन करै विस्तार ॥

ॐ ह्रीं श्रीआदिनाथजिनेन्द्राय महार्घं निर्वपामीति स्वाहा।

दोहा—विनती ऋषभ जिनेशकी, जो पढ़सी मनलाय।
स्वर्गोंमें संशय नहीं, निश्चय शिवपुर जाय ॥

इत्याशीर्वाद ।

श्रीचन्द्रप्रभके पूर्वभव गीत।

श्रीवर्मा भूपति पालि पुहमी, स्वर्ग पहले सुरभयौ।
पुनि अजितसैन छखन्डनायक, इन्द्र अच्युत में थयौ ॥
वर परम नाभिनरेश निर्जर, वैजयंति विमानमें।
चन्द्राभस्वामी सातवैं भव, भये पुरुप पुरानमें ॥

श्री चन्द्रप्रभु पूजा

चारित चंद्र चतुष्टय मंडित चारि प्रचंड अरी चकचूरे।
चन्द्र विराजित चर्णविषै यह चंद्रप्रभा सम है अनुपूरे।
चारु चरित चकोरनके चित चोरन चंद्रकला वहु सूरे।
सो प्रभुचंद्र समंतगुरुचित चिंतत ही सुख होय हुजूरे॥

ॐ ही श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्र! अत्र अवतर अवतर संवौषट्।
ॐ ही श्रीचन्द्रप्रभजिनेंद्र! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठ ठ।
ॐ ही श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्र! अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट्।

पद्म द्रह सम उज्जल जल ले शीतलता अधिकाई।
जन्म जरा दुःख दूर करनको जिनवर पूज रचाई॥
चञ्चल चितको रोकि चतुर्गति चक्रभ्रमण निरवारो।
चारु चरण आचरण चतुर नर चंद्रप्रभू चित धारो॥

ॐ ही श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्राय जन्मजरामृत्युविनाशनाय जल निर्वपामीति स्वाहा॥ १॥

मलिया-गिरवर बावन चंदन केशरि संग घसाओ।
भव आताप निवारन कारण श्रीजिन चरणचढ़ाओ॥चं०

ॐ ही श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्राय भवातापविनाशनाय चन्दन निर्वपामीति स्वाहा॥ २॥

चन्द्र किरण सम श्वेत मनोहर खंड विवर्जित सोहै।
ऐसे अक्षतसों प्रभु पूजौं जग जीवन मन मोहै॥ चं०

ॐ ह्रीं श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्राय अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा॥ ३॥

सुरतरुके शुचि पुष्प मनोहर वरन २ के लावो।
काम दाह निरवारन कारण श्रीजिनचरण चढ़ावो ॥चं०॥

ॐ ह्रीं श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्राय कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ४ ॥

नाना विधिके व्यञ्जन ताजे स्वच्छ अदोष बनावो।
रोग क्षुधा दुःख दूर करनको श्रीजिनचरण चढ़ावो ॥ चं०॥

ॐ ह्रीं श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्राय क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ५ ॥

कनक रतनमय दीप मनोहर उज्ज्वल ज्योति जगावो।
मोहमहातम नाश करनको जिनवर चरण चढ़ावो ॥ चं०॥

ॐ ह्रीं श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्राय मोहान्धकारविनाशनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ६ ॥

दशविधि धूप हुताशन माहीं खेय सुगंध बढ़ावो।
अष्ट करमके नाश करनको श्रीजिनचरण चढ़ावो ॥ चं०॥

ॐ ह्रीं श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्राय अष्टकर्मदहनाय धूपं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ७ ॥

नाना विधिके उत्तम फल लै तनमनको सुखदाई।
दुःख निवारण शिवफल कारण पूजों श्रीजिनराई ॥ चं०॥

ॐ ह्रीं श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्राय मोक्षपदप्राप्तये फलं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ८ ॥

वसुविधि अर्घ बनाय मनोहर श्रीजिनमंदिर जावो।
अष्टकर्मके नाश करनको श्रीजिनचरण चढ़ावो ॥ चं०॥

ॐ ह्रीं श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्राय अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ९ ॥

पंचकल्याणक, कुसुमलता छन्द ।

चैत्र प्रथम पंचम दिन जानों, गर्भागम मंगल गुणखान ।
मात लक्ष्मणाके उर आए, तजि दिवलोक चन्द्र भगवान ॥
षट नवमास रतन बरषाए, इन्द्र-हुकुमतें धनद महान ।
तिनके चरण कमल मैं पूजूं, अर्घ चढ़ाय करूं नित ध्यान ॥

ॐ ह्रीं चैत्रकृष्णपंचम्यां गर्भमंगलप्राप्ताय श्री चन्द्रप्रभजिनेन्द्राय अर्घं ।

पौष वदी ग्यारसको जन्मे, चंद्रपुरी जिनचन्द्र महान ।
महासेन राजाके प्यारे, सकल सुरासुर मानें आन ॥
सुरगिरिपर अभिषेककियो हरि, चतुरनिकायदेव सबआन
सो जिनचंद्र जयो जगमांही, अर्घ चढ़ाय करूँ नित ध्यान ॥

ॐ ह्रीं पौषकृष्णैकादश्यां जन्ममंगलप्राप्ताय श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्राय अर्घं ।

पौष बदी ग्यारस तप लीनों, जानों जगत अथिर दुखदान ।
राजत्यागि वैराग धरो, वन जाय कियो आतम कल्यान ॥
सुरनर खग मिलि पूज रचाई, मनमें अतिही आनंद मान ।
ऐसे चंद्रनाथ जिनवरको अर्घ चढ़ाय करूँ नित ध्यान ॥

ॐ ह्रीं पौषकृष्णैकादश्यां तपोमंगलप्राप्ताय श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्राय अर्घं ।

फाल्गुन वदी सप्तमी जानों, चार घातिया घाति महान ।
सकल सुरासुर पूजि जगतपति, पायो तिहि दिन केवलज्ञान ॥

समवशरन महिमा हरि कीनी दीनी दृष्टि चरण निजआन।
ऐसे चंद्रनाथ जिनवरको, अर्घ चढ़ाय करूँ नित ध्यान ॥

ॐ ह्रीं फाल्गुनकृष्णसप्तम्यां केवलज्ञानप्राप्ताय श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्राय अर्घ ।

सातें वदि फाल्गुनके महिना, संमेदाचल शृङ्ग महान ।
ललितकूट ऊपर जगपतिने, पायो आतम शिव कल्यान ॥
सुरसुरेश मिलि पूज रचाई, गायो गुण हर्षित जिय ठान ।
सुगुरु समन्त भद्रके स्वामी. देहु जिनेश्वर को सतज्ञान ॥

ॐ ह्रीं फाल्गुनकृष्णसप्तम्यां मोक्षकल्याणकप्राप्ताय श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्राय अर्घं ।

जयमाला

दोहा—अष्टम क्षितिपति तुम धनी, अष्टम तीरथराय ।
अष्टम पृथ्वी कारने, नमूं अङ्ग वसु नाय ॥ १ ॥

चाल— अहो जगतगुरु' की ।

अहो चन्द्र जिनदेव तुम जगनायक स्वामी ।
अष्टम तीरथराज, हो तुम अन्तरयामी ॥ १ ॥
लोकालोक मझार, जड चेतन गुणधारी ।
द्रव्य छह अनिवार पर्यय शक्ति अपारी ॥ २ ॥
तिहिं सबको इकबार जानें ज्ञान अनन्ता ।
ऐसो ही सुखकार दर्शन है भगवन्ता ॥ ३ ॥
तीनलोक तिहुँकाल ज्ञायक देव कहावो ।
निरबाधा सुखसार तिहिं शिवथान रहावो ॥ ४ ॥

हे प्रभु ! या जगमांहि मैं वहुते दुःख पायौ।
कहन जरूर ते नाहिं तुम सबही लखि पायौ ॥ ५ ॥
कबहूँ नित्य निगोद कबहूं नर्क मंझारी।
सुरनर पशुगति मांहि दुक्ख सहे अति भारी ॥ ६ ॥
पशुगतिके दुःख देव ! कहत बढ़ै दुःख भारी।
छेदन भेदन त्रास शीत उष्ण अधिकारी ॥ ७ ॥
भूख प्यासके जोर सबल पशु हनि मारै।
तहां वेदना घोर हे प्रभु कौन सम्हारै ॥ ८ ॥
मानुष गतिके मांहि यद्यपि है कछु साता।
तोहू दुःख अधिकाय क्षणक्षण होत असाता ॥ ९ ॥
धन जोवन सुत नारि सम्पति ओर घनेरी।
मिलत हरष अनिवार विछुरत विपत घनेरी ॥१०॥
सुरगति इष्ट वियोग पर सम्पति लखि झूरै।
मरण चिन्ह संयोग उर विकलप बहु पूरै ॥११॥
यों चारों गति मांहि दुःख भरपूर भरौ है।
ध्यान धरौ मनमांहि यातैं काज सरौ है ॥१२॥
कर्म महादुःख साज याको नाश करौ जी।
बड़े गरीव निवाज मेरी आश भरौजी ॥१३॥
समन्तभद्र गुरुदेव ध्यान तुम्हारो कीनों !
प्रगट भयौ जिनवीर जिनवर दर्शन कीनों ॥१४॥

जब तक जगमें वास तबतक हिरदे मेरे।
कहत जिनेश्वरदास शरण गहों मैं तेरे ॥१५॥

दोहा—जग जयवन्ते होहु जिन, भरौ हमारी आस।
जय लक्ष्मी जिन दीजिये, कहत जिनेश्वर दास ॥

ॐ ह्रीं श्रीचन्द्रप्रभ जिनेन्द्राय पूर्णार्घं निर्वपामीति स्वाहा।

अडिल्ल छन्द।

वर्तमान जिनराय भरत के जानिये।
पञ्चकल्याणक मानि गये शिवथानिये ॥
जो नर मन वच काय प्रभू पूजै सही।
सो नर दिव सुख पाय लहै अष्टम मही ॥

इत्याशीर्वाद पुष्पांजलिं क्षिपेत्।

श्रद्धा

- जो मनुष्य बुद्धिपूर्वक श्रद्धागुण को अपनायेगा, उसे कोई भी शक्ति संसार में नहीं रोक सकती।
- कुछ भी करो श्रद्धा न छोड़ो। श्रद्धा ही संसारातीत अवस्था की प्राप्ति में सहायक होती है। श्रद्धा बिना आत्मतत्त्व की उपलब्धि नहीं होती।
- जिन जीवों को सम्यग्दर्शन हो गया है, उन्हें साता-असाता कर्म का उदय चचल नहीं करता।

—'वर्णी वाणी' से

श्रीशान्तिनाथजिन-पूजा

मत्तगयद छद । (यमकालकार)

या भव-काननमें चतुरानन, पाप-पनानन घेरि हमेरी ।
आतम-जान न मान न ठान न, बान न होन दई सठ मेरी ॥
ता मद्-भानन आपहि हो यह, छान न आन न आनन टेरी ।
आन गही शरनागतको, अब श्रीपतजी पत राखहु मेरी ॥ १ ॥

ॐ ह्रीं श्रीशान्तिनाथजिनेन्द्राय ! अत्र अवतर अवतर सवौषट् ।
ॐ ह्रीं श्रीशान्तिनाथजिनेन्द्राय ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठ ठ ।
ॐ ह्रीं श्रीशान्तिनाथजिनेन्द्राय ! अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् ।

छद त्रिभगी । अनुप्रयासक । (मात्रा ३२ जगणवर्जित) ।

हिमगिरि-गत-गंगा धार अभंगा, प्रासुक संगा भरि भृङ्गा ।
जर-मरन - मृतंगा नाशि अघंगा, पूजि पदंगा मृदुहिगा ॥
श्रीशान्ति - जिनेशं, नुत - शक्रेशं वृपचक्रेशं, चक्रेशं ।
हनि अरि - चक्रेशं, हे गुनधेशं, दयामृतेशं, मक्रेशं ॥ १ ॥

ॐ ह्रीं श्रीशान्तिनाथजिनेन्द्राय जन्मजरामृत्युविनाशनाय जल निर्वपामीति स्वाहा ।

वर बावन-चंदन, कदली-नंदन, घन-आनदन, सहित घसों ।
भव-ताप-निकंदन, ऐरा-नंदन, वंदि अमंदन, चरन वसों ॥ श्री०

ॐ ह्री श्रीशान्तिनाथजिनेन्द्राय भवतापविनाशनाय चन्दन निर्वपामीति स्वाहा ।

हिमकर करि लज्जत, मलय सुसज्जत, अच्छत जज्जत, भरिथारी ।
दुख-दारिद्-गज्जत, सद-पद-सज्जत, भव-भय-भज्जत, अतिभारी ॥ श्री०

ॐ ह्रीं श्रीशान्तिनाथजिनेन्द्राय अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा ।

मंदार सरोजं, कदली जोजं, पुञ्ज भरोजं, मलयभरं।
भरि कंचन-थारी, तुम ढिग धारी, मदन-विदारी, धीर-धरं॥ श्री०

ॐ ह्रीं श्रीशान्तिनाथजिनेन्द्राय कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा।

पकवान नवीने, पावन कीने, षट रस भीने, सुखदाई।
मन-मोदन-हारे, छुधा विदारे, आगे धारे, गुन गाई॥ श्री०

ॐ ह्रीं श्रीशान्तिनाथजिनेन्द्राय क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा।

तुम ज्ञान प्रकाशे, भ्रम-तम नाशे, ज्ञेय विकाशे, सुखरासे।
दीपक उजियारा, यातैं धारा, मोह निवारा, निज भासे॥ श्री०

ॐ ह्रीं श्रीशान्तिनाथजिनेन्द्राय मोहान्धकारविनाशनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा।

चन्दन करपूरं, करि वर चूरं, पावक भूरं, माहि जुरं।
तसु धूम उड़ावै, नाचत आवै, अलि गुंजावै, मधुर सुरं॥ श्री०

ॐ ह्रीं श्रीशान्तिनाथजिनेन्द्राय अष्टकर्मदहनाय धूपं निर्वपामीति स्वाहा।

बादाम खजूरं, दाड़िम पूरं, निंबुक भूरं, लै आयो।
तासों पद जज्जों, शिवफल सज्जों, निज-रस-रज्जों, उमगायो॥ श्री०

ॐ ह्रीं श्रीशान्तिनाथजिनेन्द्राय मोक्षफलप्राप्तये फलं निर्वपामीति स्वाहा।

वसु द्रव्य संवारी, तुम ढिग धारी, आनंदकारी, दृग-प्यारी।
तुम हो भवतारी, करुना-धारी, यातैं थारी, शरनारी॥ श्री०

ॐ ह्रीं श्रीशान्तिनाथजिनेन्द्राय अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

पंचकल्याणक

सुन्दरी तथा द्रुतविलम्बित छंद।

असित सातय भादव जानिये, गरभ-मंगल ता दिन मानिये।
सचि कियो जननी-पद चर्चनं, हम करैं इत ये पद अर्चनं॥

ॐ ह्रीं भाद्रपदकृष्णसप्तम्यां गर्भमंगलमण्डिताय श्रीशान्तिनाथजिनेन्द्राय अर्घं०।

जनम जेठ चतुर्दशि श्याम है, सकल इन्द्र सु आगत धाम है।
गजपुरै गज साजि सबै तबै, गिरि जजे इत मैं जजि हों अबै।

ॐ ह्रीं ज्येष्ठकृष्णचतुर्दश्यां जन्ममंगलप्राप्ताय श्रीशान्तिनाथजिनेन्द्राय अर्घं०।

भव शरीर सुभोग असार हैं, इमि विचार तबै तप धार हैं।
भ्रमर चौदश जेठ सुहावनी, धरम-हेत जजों गुन-पावनी।

ॐ ह्रीं ज्येष्ठकृष्णचतुर्दश्यां निष्क्रमणमहोत्सवमण्डिताय श्रीशान्तिजिनेन्द्राय अर्घं०।

शुकल पौष दशैं सुख-राश है, परम केवल-ज्ञान प्रकाश है।
भव-समुद्र-उधारन देवकी, हम करैं नित मंगल सेवकी॥

ॐ ह्रीं पौषशुक्लदशम्यां केवलज्ञानप्राप्ताय श्रीशान्तिनाथजिनेन्द्राय अर्घं०।

असित चौदश जेठ हने अरी, गिरि समेद थकी शिव-ती वरी।
सकल-इन्द्र जजैं तित आइकैं, हम जजैं इत मस्तक नाइकैं॥

ॐ ह्रीं ज्येष्ठकृष्णचतुर्दश्यां मोक्षमंगलप्राप्ताय श्रीशान्तिनाथजिनेन्द्राय अर्घं०।

जयमाला

शान्ति शान्ति-गुन-मंडिते सदा, जाहि ध्यावतें सुपंडिते सदा।
मैं तिन्हें भगत-मंडिते सदा, पूजि हों कलुष-हंडिते सदा॥
मोक्ष-हेत तुम ही दयाल हो, हे जिनेश गुन-रत्न-माल हो।
मैं अबै सुगुन-दाम ही धरों, ध्यावते तुरित मुक्ति-ती वरों॥

पद्धरि छन्द।

जय शान्तिनाथ चिद्रूपराज, भव-सागरमें अद्भुत जहाज।
तुम तजि सरवारथसिद्ध थान, सरवारथ-जुत गजपुर महान।
तित जनम लियो आनंद धार, हरि ततछिन आयो राज-द्वार।
इन्द्रानी जाय प्रसूत-थान, तुमको करमें लै हरष मान॥

हरि गोद देय सो मोद धार, सिर चमर अमर ढारत अपार।
गिरिराज जाय तित शिला पांड, तापै थाप्यौ अभिषेक मांड ॥
तित पंचम उदधितनों सु वार, सुरकर कर करि ल्याये उदार।
तब इन्द्र सहस-कर करि अनंद, तुम सिर-धारा ढारी सुनंद ॥
अघ घघ घघघघ धुनि होत घोर, भभभभभभ धधधध कलश शोर।
दम दम दम दम बाजत मृदंग, झन ननननन नननन नूपुरंग ॥
तन नन नन नन नन तनन तान, घन नन नन घटा करत ध्वान।
ताथेइ थेइ थेइ थेइ थेइ सुचाल, जुत नाचत नावत तुमहिं भाल ॥
चट चट चट अटपट नटत नाट, झट झट झट हट नट शट विराट।
इमि नाचत राचत भगत रंग, सुर लेत तहाँ आनंद संग ॥
इत्यादि अतुल मंगल सुठाट, तित बन्यो जहाँ सुरगिरि विराट।
पुनि करि नियोग पितु, सदन आय, हरि सौंप्यौ तुम तित वृद्ध थाय ॥
पुनि राजमाहिं लहि चक्र-रत्न, भोग्यौ छखंड करि धरम जत्न।
पुनि तप धरि केवल-ऋद्धि पाय, भवि जीवनकों शिव-मग बताय ॥
शिवपुर पहुँच तुम हे जिनेश, गुन-मंडित अतुल अनन्त भेष।
मैं ध्यावतु हों नित शीश नाय, हमरी भव-बाधा हरि जिनाय ॥
सेवक अपनों निज जान जान, करुना करि भौ-भय भान भान।
यह विघन-मूल-तरु खंड खंड, चित-चिन्तित-आनंद मंड मंड ॥

घत्तानन्द छन्द (मात्रा ३१)

श्रीशांतिमहंता, शिवतियकंता, सुगुनअनंता भगवंता।
भवभ्रमन हनंता, सौख्य अनंता दातारं तारनवंता ॥

ॐ ह्रीं श्रीशान्तिनाथजिनेन्द्राय पूर्णार्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ १ ॥

छन्द रूपक सवैया

शान्तिनाथ-जिनके पद-पंकज, जो भवि पूजै मन वच काय।
जनम जनमके पातक ताके, ततछिन तजिकैं जाय पलाय॥
मनवांछित सुख पावै सो नर, वांचै भगति-भाव अति लाय।
तातैं 'वृन्दावन' नित वंदै, जातैं शिवपुर-राज कराय॥ १॥

इत्याशीर्वाद. पुष्पाञ्जलि क्षिपामि।

रत्नत्रय

- यदि रत्नत्रय की कुशलता हो जावे तब यह सब व्यवहार अनायास छूट जावे।
- जो जीव दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थित हो रहा है उसी को तुम 'स्व - समय' जानो और इसकेविपरीत जो पुद्गल कर्म प्रदेशों में स्थित है उसे 'पर - समय' जानो। जिसके ये अवस्थायें हैं उसे अनादि, अनन्त, सामान्य जीव समझो। केवल राग - द्वेष की निवृत्ति के अर्थ चारित्र की उपयोगिता है।
- सम्यक्दृष्टि जीव का अभिप्राय इतना निर्मल है कि वह अपराधी जीव का अभिप्राय से बुरा नहीं चाहता। उसके उपभोग क्रिया होती है। इसका कारण यह है कि चारित्र मोह के उदय से बलात् उसे उपभोग क्रिया करनी पड़ती है। एतावता उसके विरागता नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते।

—'वर्णी वाणी' से

श्री नेमिनाथ जिन पूजा

[illegible]

श्रीहरिवंश उजागर नागर, नेमीश्वर जिनराई ।
बालब्रह्मचारी जगतारी, श्याम शरीर सुहाई ॥
यादववंश महानभ पूरण, चन्द्रकला सुखदाई ।
अब विराज हरो दुःख हमरो, शिवसुख द्यो जिनराई ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

पद्मद्रह को नीर मनोहर, कंचन झारी माहि भरो ।
जनमजरा दुःख दूर करनको, श्रीजिन सन्मुख धार करो ॥
बालब्रह्मचारी जगतारी, नेमीश्वर जिनराज महान ।
मैं नित ध्यान धरूं प्रभु तेरा, मोकूं दीजो अविचल थान ॥

[illegible]

मलयागिरि करपूर मिलाया, केशर रंग अनोपम जान ।
भव आताप हरित जिनवरके, चरणकमलको पूजूं आन ॥बा

[illegible]

चन्द्र किरण सम उज्ज्वल लीजै, अक्षत स्वच्छ सरल गुणखान ।
अक्षयपदके नायक प्रभुको, पूजूं हर्षसहित हितमान ॥बाल

[illegible]

भांति-भांतिके कुसुम मंगावे, कुसुमायुध अरि जीतन काज ।
कुसुमायुध विजयी जिनवरके, चरण कमलको पूजूं आज ॥बा

[illegible]

मनमोहन पकवान बनावो, हर्षसहित प्रभुके गुण गाय ।
क्षुधारोगके नाश करनको श्रीजिन चरणन [illegible] चढ़ाय । बाल

मणिमय दीप अमोलक लेके, रतन रकेबी में धर लाय।
मोहमहातम नाशक प्रभुके, चरणाम्बुजमें देत चढ़ाय॥ चाल
ॐ ह्रीं श्रीनेमिनाथजिनेन्द्राय मोहांधकारविनाशनाय दीप निर्वपामीति स्वाहा॥ ६॥
कृष्णागरु कपूर मिलाकर, धूप सुगन्ध मनोहर आन।
कर्मकलंक निवारक प्रभुके, चरणकमलको पूजों आन॥ चाल
ॐ ह्रीं श्रीनेमिनाथजिनेन्द्राय अष्टकर्मदहनाय धूप निर्वपामीति स्वाहा॥ ७॥
श्रीफल लौंग सुपारी पिस्ता, एला केला आदि महान।
मुक्ति श्रीफलदायक प्रभुके, चरणाम्बुज पूजैं गुणखान॥ चाल
ॐ ह्रीं श्रीनेमिनाथजिनेन्द्राय मोक्षफलप्राप्तये फल निर्वपामीति स्वाहा॥ ८॥
जलफल द्रव्य मिलाय गाय गुण, रत्नथार भरिये सुखदान।
अष्टकर्मके नाशक प्रभुको पूजों निजगुण दायक जान॥ चाल
ॐ ह्रीं श्रीनेमिनाथजिनेन्द्राय अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा॥ ९॥

पंचकल्याणक, चाल छन्द।

छठि कार्तिक सित सुखदाई, गर्भागम मंगल गाई।
इन्द्रादिक पूज रचाई, हम पूजैं अर्घ चढ़ाई॥
ॐ ह्रीं कार्तिशुक्लषष्ठ्यां गर्भमङ्गलप्राप्ताय श्रीनेमिनाथजिनेन्द्राय अर्घ्यं।
सित श्रावण छठि शुभ जानों, जन्मे जिनराज महानो।
पितु समुदविजय सुख पायो, जिनको हम शीश नवायो॥
ॐ ह्रीं श्रावणशुक्लषष्ठ्यां जन्ममङ्गलप्राप्ताय श्रीनेमिनाथजिनेन्द्राय अर्घ्यं।
श्रावण सुदि छठि शुभ जानों, तजि राज महाव्रत ठानों।
शिव नारि हर्ष बहु कीनों, हम तिनके पद चित दीनों॥
ॐ ह्रीं श्रावणशुक्लषष्ठ्यां तपोमङ्गलप्राप्ताय श्रीनेमिनाथजिनेन्द्राय अर्घ्यं।
सित एके आश्विन भाई, चउघाति हने दुःखदाई।
वर केवलज्ञान सुलीनों, जिनके पद में चित दीनों॥
ॐ ह्रीं आश्विनशुक्लप्रतिपदायां ज्ञानकल्याणप्राप्ताय श्रीनेमिनाथजिनेन्द्राय अर्घ्यं

छप्पन दिन छद्मस्थ रहे जिन चार घातिया चूर।
ज्ञान लहि सर्व लखायोजी जिनके ॥गुण०॥
समवशरण की महिमा राजे श्रीमण्डप सुखकार।
रतन सिंहासन ऊपर प्रभुजी पद्मासन निरधार।
तीन छत्र सिर ऊपर राजे चौसठि चामर सार॥
जिनके सन्मुख ठाढ इन्द्र नरेन्द्रजी।
नभ में दुन्दुभि की धुनि भारी, वर्षे फूल सुगन्ध अपारी।
जिनके सम्मुख ठाडे इन्द्र नरेन्द्रजी।
वृक्ष अशोक शोक मद्य नाशे वाणी दिव्य प्रकाश।
स्वहित वृष निज निधि पावेजी ॥ जिनके० ॥
श्रीगिरिनार शिखरते स्वामी, पायो पद, निर्वाण।
कर्मकलङ्क रहित अविनाशी सिद्ध भये भगवान।
पञ्चकल्याणक पूजा कीनी सकल सुरासुर आन॥
अपनो विरद निवाहो दीन दयालजी।
मोको दीजे निजकी माया, कारज कीजे मन ललचाया।
अपनो विरद निवाहो दीन दयालजी॥
विनय जिनेश्वर की सुन स्वामी, नेमीश्वर महाराज।
हृदय मे तुम पद ध्याऊजी जिनके गुण गावें सुरनर शेषजी॥

दोहा—चरणन शीश नवाय के, पूजा कर गुन गाय।
अरज करूँ यह एक मैं, भव-भव होहु सहाय॥

ॐ ह्रीं श्रीनेमिनाथ जिनन्द्राय पूर्णार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

अडिल्ल छन्द।

वर्तमान जिनराय भरतके जानिये,
पञ्चकल्याणक मानि गये शिवथानिये।
जो नर मनवचकाय प्रभु पूजैं सही,
सो नर दिवसुख पाय लहै अष्टम मही॥

इत्याशीर्वाद, परिपुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्।

श्रीपार्श्वनाथ जिन पूजा

गीता छन्द ।

वर स्वर्ग प्राणतको विहाय, सुमात वामा-सुत भये ।
अश्वसेनके पारस जिनेश्वर, चरण तिनके सुर नये ॥
नवहाथ उन्नत तन विराजे, उरग-लच्छन अति लसैं ।
थापूं तुम्हें जिन आय तिष्ठो, करम मेरे सब नसैं ॥

ॐ ह्रीं श्रीपार्श्वनाथ जिनेन्द्र ! अत्र अवतर अवतर संवौषट् ।
ॐ ह्रीं श्रीपार्श्वनाथ जिनेन्द्र ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः ।
ॐ ह्रीं श्रीपार्श्वनाथ जिनेन्द्र ! अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् ।

चामर छन्द ।

क्षीर सोम के समान अम्बु-सार लाइये ।
हेम-पात्र धारिकैं सु आपको चढ़ाइये ॥
पार्श्वनाथ देव सेव आपकी करूं सदा ।
दीजिये निवास मोक्ष भूलिये नहीं कदा ॥ १ ॥

ॐ ह्रीं श्रीपार्श्वनाथ जिनेन्द्राय जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ॥ १ ॥

चन्दनादि केशरादि स्वच्छ गन्ध लीजिये ।
आप चर्ण चर्च मोह-ताप को हनीजिये ॥ पार्श्व० ॥२॥

ॐ ह्रीं श्रीपार्श्वनाथ जिनेन्द्राय संसारतापविनाशनाय चन्दनं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २ ॥

फेन चन्दके समान अक्षतं मंगायके।
चरणके समीप सार पूज को रचायके ॥ पार्श्व० ॥३॥
ॐ ह्रीं श्रीपार्श्वनाथ जिनेन्द्राय अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा ॥ ३ ॥
केवड़ा गुलाब और केतकी चुनाइये।
धार चर्णके समीप काम को नसाइये ॥ पार्श्व० ॥४॥
ॐ ह्रीं श्रीपार्श्वनाथ जिनेन्द्राय कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ४ ॥
घेवरादि बावरादि मिष्ट सर्पिमें सने।
आप चर्ण अर्च ते क्षुधादि रोग को हने ॥ पार्श्व० ॥५॥
ॐ ह्रीं श्रीपार्श्वनाथ जिनेन्द्राय क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ५ ॥
लाय रत्न-दीप को सनेह-पूर के भरूं।
वातिका कपूर वार मोह ध्वांतकूं हरूं ॥ पार्श्व० ॥६॥
ॐ ह्रीं श्रीपार्श्वनाथ जिनेन्द्राय मोहान्धकार विनाशनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ६ ॥
धूप गन्ध लेयकें सु अग्निसंग जारिये।
तास धूप के सुसंग अष्टकर्म वारिये ॥ पार्श्व० ॥७॥
ॐ ह्रीं श्रीपार्श्वनाथ जिनेन्द्राय अष्टकर्मदहनाय धूपं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ७ ॥
खारकादि चिरभटादि रत्न-थालमें भरूं।
हर्ष धारिकें जजूं सुमोक्ष सौख्य को वरूँ ॥ पार्श्व० ॥८॥
ॐ ह्रीं श्रीपार्श्वनाथ जिनेन्द्राय मोक्षफलप्राप्तये फलं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ८ ॥
नीरगन्ध अक्षतान पुष्प चारु लीजिये।
दीप धूप श्रीफलादि अर्घतें जजीजिये ॥ पार्श्व० ॥९॥
ॐ ह्रीं श्रीपार्श्वनाथ जिनेन्द्राय अनर्घपद प्राप्तये अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ९ ॥

पञ्चकल्याण छन्द चाल।

शुभप्राणत स्वर्ग विहाये, वामा माता उर आये।
वैशाखतनी दुतिकारी, हम पूजें विघ्न निवारी॥
ॐ ह्रीं वैशाखकृष्णद्वितीयायां गर्भमंगलमंडिताय श्रीपार्श्वनाथ जिनेन्द्राय अर्घं०।
जनमे त्रिभुवन सुखदाता, एकादशी पौष विख्याता।
श्यामा तन अद्‌भुत राजे, रवि-कोटिक-तेज सुलाजे॥
ॐ ह्रीं पौषकृष्णैकादश्यां जन्ममंगलमंडिताय श्रीपार्श्वनाथ जिनेन्द्राय अर्घं०।
कलि पौष इकादशी आई, तब बारह भावना भाई।
अपने कर लौंच सु कीना, हम पूजें चरण जजीना॥
ॐ ह्रीं पौषकृष्णैकादश्यां तपोमंगलमंडिताय श्रीपार्श्वनाथ जिनेन्द्राय अर्घं०।
कलि चैत चतुर्थी आई, प्रभु केवलज्ञान उपाई।
तब प्रभु उपदेश जु कीना, भवि जीवनको सुख दीना॥
ॐ ह्रीं चैत्रकृष्णचतुर्थ्यां दिने केवलज्ञानप्राप्ताय श्रीपार्श्वनाथजिनेन्द्राय अर्घं०।
सित सातें सावन आई, शिवनारि वरी जिनराई।
सम्मेदाचल हरि माना, हम पूजें मोक्ष कल्याणा॥
ॐ ह्रीं श्रावणशुक्लसप्तम्यां मोक्षमंगलमंडिताय श्रीपार्श्वनाथ जिनेन्द्राय अर्घं०।

जयमाला, छन्द।

पारसनाथ जिनेन्द्र तने वच, पौनभखी जरते सुन पाये।
करयो सरधान लह्यो पद आन भये पद्मावति शेष कहाये॥
नाम प्रताप टरें सन्ताप सु भव्यन को शिव-शर्म दिखाये।

हो विश्वसेनके नन्द भले गुणगावत हैं तुमरे हरषाये ॥ १ ॥

दोहा — केकी-कंठ समान छवि, वपु उतंग नव हाथ।
लक्षण उरग निहारपग, वन्दौं पारसनाथ ॥२॥

पद्धरि छन्द ।

रची नगरी छः मास अगार, वने चहुँगोपुर शोभ अपार।
सुकोटतनी रचना छवि देत, कंगूरनपैं लहकैं बहुकेत ॥३॥
बनारसकी रचना जु अपार, करी बहुभांति धनेश तयार।
तहां विश्वसेन नरेन्द्र उदार, करैं सुख वाम सु दे पटनार ॥४॥
तज्यो तुम प्राणत नाम विमान, भये तिनके वर नन्दन आन।
तबैं सुरइन्द्र नियोगन आय, गिरिन्द करी विधिन्हौन सुजाय ॥५॥
पिता-घर सौंपि गये निज धाम, कुवेर करैं वसु जाम सुकाम।
बढैं जिन दोज मयंक समान, रमैं बहु बालक निर्जर आन ॥६॥
भये जब अष्टम वर्ष कुमार, धरे अणुव्रत्त महासुखकार।
पिता जब आन करी अरदास, करौ तुम ब्याह वरैं मम आस ॥७॥
करी तब नाहिं कहे जगचन्द, किये तुम काम कषाय जु मन्द।
चढ़े गज राजकुमारन संग, सु देखत गंगतनी सु तरंग ॥८॥
लख्यो इक रंक करै तप घोर, चहूंदिशि अगनि बलै अति जोर।
कहै जिननाथ अरे सुन भ्रात, करे बहु जीवनकी मत घात। ९॥
भयो तब कोप कहै कित जीव, जले तब नाग दिखाय सजीव।
लख्यो यह कारन भावन भाय, नये दिव ब्रह्म ऋषीसव आय ॥१०॥

तबै सुर चार प्रकार नियोग, धरी शिविका निज कन्ध मनोग।
कियो वनमांहि निवास जिनन्द, धरे व्रत चारित आनन्द कन्द ॥११॥
गहे तहं अष्टम के उपवास, गये धनदत्त तने जु अवास।
दियो पयदान महासुखकार, भयी पनवृष्टि तहां तिहिंवार ॥१२॥
गये तब काननमांहि दयाल, धरो तुम योग सबै अघटाल।
तबै वह धूम सुकेत अयान, भयो कमठाचर को सुर आन ॥१३॥
करै नभ गौन लखे तुम धीर, जु पूरव वैर विचार गहीर।
कियो उपसर्ग भयानक घोर, चली बहु तीक्षण पवन झकोर ॥१४॥
रह्यो दसहूं दिशिमें तम छाय, लगी बहु अग्नि लखी नहिं जाय।
सुरुण्डनके विन मुण्ड दिखाय, पडै जल मूसलधार अथाय ॥१५॥
तबै पदमावति-कन्त धनिन्द, नये जुग आय तहां जिनचन्द।
भग्यो तब रंकसु देखत हाल, लह्यो तब केवलज्ञान विशाल ॥१६॥
दियो उपदेश महा हितकार, सुभव्यन बोधि समेद पधार।
सुवर्णभद्र जह कूट प्रसिद्ध, वरी शिव नारि लही वसुऋद्ध ॥१७॥
जजूं तुम चरण दुहूं कर जोर, प्रभू लखिये अब ही मम ओर।
कहै 'वखतावर रत्न' बनाय, जिनेश हमें भवपार लगाय ॥१८॥
जय पारस देवं सुरकृत सेवं वन्दत चरण सुनागपती।
करुणाके धारी पर उपकारी, शिवसुखकारी कर्महती ॥
ॐ ह्रीं श्रीपार्श्वनाथजिनेन्द्राय पूर्णार्घं निर्वपामीति स्वाहा।

अडिल्ल—जो पूजै मनलाय भव्य पारस प्रभु नितही।
ताके दुःख सब जांय भीति व्यापै नहिं कितही।
सुख सम्पत्ति अधिकाय पुत्र मित्रादिक सारे।
अनुक्रमसों शिव लहै, 'रतन' इम कहै पुकारे ॥
इत्याशीर्वादः पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्।

श्री महावीर स्वामी पूजा

मत्तगयन्द।

श्रीमतवीर हरें भवपीर, भरें सुख-सीर अनाकुलताई।
केहरि-अङ्क अरी करदङ्क, नये हरि-पङ्कति-मौलि सु आई॥
मैं तुमको इत थापतु हौं प्रभु, भक्ति-समेत हिये हरखाई।
हे करुणा धन धारक देव, इहां अब तिष्ठहु शीघ्रहि आई॥

क्षीरोदधिसम शुचि नीर, कञ्चनभृङ्ग भरों।
प्रभु वेग हरो भव-पीर, यातैं धार करों॥
श्रीवीर महा अतिवीर, सन्मतिनायक हो।
जय वर्द्धमान गुण-धीर, सन्मति-दायक हो॥ १॥

ॐ ह्रीं श्रीमहावीर जिनेन्द्राय जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा॥

मलयागिरि - चन्दनसार, केशर-संग घसौं।
प्रभु भव-आताप निवार, पूजत हिय हुलसौं॥श्रीवीर०॥

तन्दुलसित शशि-सम शुद्ध, लीनों थार भरी।
तसुपुञ्जधरों अविरुद्ध, पावों शिव-नगरी ॥ श्रीवीर० ॥
ॐ ह्रीं श्रीमहावीर जिनेन्द्राय अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा ॥
सुरतरुके सुमन समेत, सुमन सुमन प्यारे।
सो मनमथ-भञ्जन-हेत, पूजों पद थारे ॥ श्रीवीर० ॥
ॐ ह्रीं श्रीमहावीर जिनेन्द्राय कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा ॥
रस-रज्जत सज्जत सद्य, मज्जत थार भरी।
पद जज्जत रज्जत अद्य, भज्जत भूख-अरी ॥ श्रीवीर०॥
ॐ ह्रीं श्रीमहावीर जिनेन्द्राय क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥
तम-खण्डित मण्डित-नेह, दीपक जोवत हों।
तुम पदतर हे सुख-गेह, भ्रम-तम खोवत हों ॥श्रीवीर०॥
ॐ ह्रीं श्रीमहावीर जिनेन्द्राय मोहान्धकार विनाशनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा ॥
हरिचन्दन अगर कपूर, चूर सुगन्ध करा।
तुम पदतर खेवत भूरि, आठों कर्म जरा ॥ श्रीवीर० ॥
ॐ ह्रीं श्रीमहावीर जिनेन्द्राय अष्टकर्म दहनाय धूपं निर्वपामीति स्वाहा ॥
ऋतु-फल कल-वर्जित लाय, कंचन-थार भरों।
शिव-फल-हित हे जिनराय, तुम ढिग भेंट धरों ॥ श्रीवीर०
ॐ ह्रीं श्रीमहावीर जिनेन्द्राय मोक्षफलप्राप्तये फलं निर्वपामीति स्वाहा ॥
जल-फल वसु सजि हिम-थार, तन-मन-मोद धरों।
गुण गाऊँ भव-दधितार, पूजत पाप हरों ॥ श्रीवीर० ॥
ॐ ह्रीं श्रीमहावीर जिनेन्द्राय अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥

पञ्चकल्याणक । राग-टप्पाचाल

मोहि राखो हो शरना श्रीवर्द्धमान जिनरायजी । मो०
गरभ साढ सित छट्ठ लियो तिथि, त्रिशलाउर अघहरना ।
सुर सुरपति तितसेव करी नित, मैं पूजों भव-तरना ।
मोहि राखो हो शरना, श्रीवर्द्धमान जिनरायजी ॥

ॐ ह्रीं आषाढशुक्लषष्ठ्यां गर्भमंगलमंडिताय श्रीमहावीर जिनेन्द्राय अर्घ्यं०

जनम चैतसित तेरसके दिन, कुण्डलपुर कन-वरना ।
सुरगिरि सुरगुरु पूज रचायो मैं पूजों भव-हरना ॥ मो०

ॐ ह्रीं चैत्रशुक्लत्रयोदश्यां जन्ममंगलप्राप्ताय श्रीमहावीर जिनेन्द्राय अर्घ्यं० ।

मगसिर असित मनोहर दशमी, ता दिन तप आचरना ।
नृप-कुमार घर पारन कीनों मैं पूजों तुम चरना ॥ मो०

ओं ह्रीं मार्गशीर्ष कृष्णदशम्यां तपोमंगलमंडिताय श्रीमहावीर जिनेन्द्राय अर्घ्यं० ।

शुकल दशैं वैशाख दिवस अरि, घाति-चतुक छय करना ।
केवल लहि भवि भवसर तारे, जजौं चरन सुखभरना ॥ मो०

ओं ह्रीं वैशाखशुक्लदशम्यां ज्ञानमंगलमंडिताय श्रीमहावीर जिनेन्द्राय अर्घ्यं० ।

कातिक श्याम अमावस शिव-तिय, पावापुरतें परना ।
गन-फनि-वृन्द जजैं तित बहुविधि, मैं पूजों भयहरना ॥ मो०

ओं ह्रीं कार्तिक कृष्णअमावस्यायां मोक्षमंगलमंडिताय श्रीमहावीर जिनेन्द्राय अर्घ्यं० ।

जयमाला, छन्द हरिगीता २८ मात्रा ।

गणधर असनिधर, चक्रधर हलधर गदाधर वरवदा ।

अरु चापधर विद्यासुधर, तिरसूलधर सेवहिं सदा ॥
दुखहरन आनन्द-भरन तारन,तरन चरन रसाल हैं।
सुकुमाल गुनमनिमाल, उन्नत भालकी जयमाल हैं ॥

छन्द घत्तानन्द।

जय त्रिशलानंदन, हरिकृतवंदन, जगदानंदन चंदवरं।
भवताप निकंदन, तनकनमंदन रहित सपंदन नयनधरं॥

छन्द त्रोटक।

जय केवल-भानु कलासदनं, भविकोक-विकाशन-कंजवनं।
जगजीत-महा-रिपु-मोहहरं, रज ज्ञानदृगांवर चूरकरं ॥ १ ॥
गर्भादिक मंगल मण्डित हो, दुःखदारिदको नित खण्डित हो।
जगमांहि तुमी सतपंडित हो, तुमही भवभाव विहंडित हो ॥ २ ॥
हरिवंश सरोजनको रवि हो, बलवन्त महन्त तुमी कवि हो।
लहि केवल धर्म प्रकाश कियो अवलों सोई मारगराजतियो ॥ ३ ॥
पुनि आपतने गुणमांहि सही, सुरमग्न रहैं जितने सबही।
तिनकी वनिता गुनगावत हैं, लयमाननिसों मन भावत हैं ॥ ४ ॥
पुनि नाचत रंग उमंग भरी तुव भक्ति विषै पग एम धरी।
झननं झननं झननं झननं, सुरलेत तहां तननं तननं ॥ ५ ॥
घननं घननं घन घण्ट बजै, दृमदं दृमदं मिरदंग सजै।
गगनांगन-गर्भगता-सुगता, ततता ततता अतता वितता ॥ ६ ॥
धृगतां धृगतां गति बाजत है, सुरताल रसाल जु छाजत है।

सनन सननं सननं नभमें, इक रूप अनेक जु धारि भ्रमें ॥ ७ ॥
कई नारि सु बीन बजावति हैं, तुमरो जस उज्ज्वल गावति हैं।
करतालविषै करताल धरैं, सुरताल विशाल जु नाद करैं ॥ ८ ॥
इन आदि अनेक उछाह भरी, सुरभक्ति करैं प्रभुजी तुमरी।
तुमही जगजीवनके पितु हो, तुमही बिन कारणके हितु हो ॥ ९ ॥
तुमही सब विघ्न-विनाशन हो, तुमही निज आनंद भासन हो।
तुमही चित चिंतित दायक हो, जगमांहि तुम्ही सब लायक हो ॥१०॥
तुमरे पन मंगल मांहि सही, जिय उत्तम पुण्य लियो सबही।
हमको तुमरी शरनागत है, तुमरे गुनमें मन पागत है ॥ ११ ॥
प्रभु मो हिय आप सदा बसिये, जब लौं बसु कर्म नहीं नसिये।
तब लौं तुम ध्यान हिये वरतो, तब लौं श्रुत चिंतन चित्तरतो ॥ १२ ॥
तबलौं व्रत चारित चाहतु हों, तबलौं शुभ भाव सुहागतु हों।
तबलौं सतसंगति नित्त रहै, तबलौं मम संजम चित्त गहै ॥ १३ ॥
जबलौं नहिं नाश करौं अरिको, शिव नारिवरौं समता धरिको।
यह द्यो तबलौं हमको जिन जी, हम जाचतु हैं इतनी सुनजी ॥ १४ ॥

घत्ता।

श्रीवीर जिनेशा नमित सुरेशा नाग नरेशा भगतिभरा।
'वृन्दावन' ध्यावै विघन नशावै, वांछित पावै शर्मवरा ॥

ॐ ह्रीं श्रीमहावीर जिनेन्द्राय महार्घं निर्वपामीति स्वाहा।

दोहा—श्री सनमतिके जुगलपद, जो पूजै धरि प्रीत।
'वृन्दावन' सो चतुर नर, लहै मुक्ति नवनीत ॥

तीर्थक्षेत्र पूजा-संग्रह

श्री सम्मेदशिखर पूजा

दोहा—सिद्धक्षेत्र तीरथ परम, है उत्कृष्ट सुथान।
शिखर सम्मेद सदा नमू, होय पाप की हान ॥ १ ॥
अगनित मुनि जहतैं गये, लोक शिखरके तीर।
तिनके पद पङ्कज नमू, नाशैं भव को पीर ॥ २ ॥

अडिल्ल छन्द।

है उज्ज्वल यह क्षेत्र सु अति निरमल सही।
परम पुनीत सुठौर महागुण की मही ॥
सकल सिद्ध दातार, महा रमणीक है।
बन्दू निज सुख हेत, अचल पद देत है ॥ ३ ॥

सोरठा।

शिखर सम्मेद महान, जग में तीर्थ प्रधान है।
महिमा अद्भुत जान, अल्पमती मैं किम कहूं ॥ ४ ॥

चाल, सुन्दरी छन्द।

सरस उन्नत क्षेत्र प्रधान है, अति सु उज्ज्वल तीर्थ महान है।
करहिं भक्तिसु जे गुण गायकै, लहहि सुर शिवके सुख जायकै ॥

अडिल्ल छन्द ।

सुर नर हरि इन आदि और वन्दन करै ।
भव सागर से तिरै नही भव में परै ॥
जन्म जन्म के पाप सकल छिन मे टरै ।
सुफल होय तिन जन्म शिखर दरशन करै ॥ ६ ॥

स्थापना, अडिल्ल छन्द ।

गिरि सम्मेद तै बीस जिनेश्वर शिव गये ।
और असंख्ये मुनी तहां ते सिध भये ॥
बन्दूं मन वच काय नमूं शिर नायकै ।
तिष्ठो श्रीमहाराज सबै इत आयकै ॥ १ ॥

दोहा—श्रीसम्मेद शिखर सदा पूजू मन वच काय ।
हरत चतुरगति दुःखको मन वांछित फलदाय ॥ २ ॥

ॐ ह्री श्री सम्मेद शिखर सिद्धक्षेत्र परवत सेती श्री बीस तीर्थङ्कर और असंख्यात मुनि मुक्ति पधारे, तिनके चरणारविन्द की पूजा अत्रावतरावतर संवौषट् आह्वाननं । अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठ ठ स्थापन । अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् सन्निधापन ।

अथाष्टक, गीता छन्द ।

सोहन झारी रतन जड़िये मांहि गंगा जल भरो ।
जिनराज चरण चढ़ाय भविजन जन्म मृत्यु जरा हरो ॥
संसार उदधि उबारने को लीजिये सुध आवसो ।
सम्मेद गिरपर बीस जिन मुनि पूज हरष उछावसो ॥ १ ॥

ॐ ह्री श्री सम्मेद शिखर सिद्धक्षेत्र परवत सेती बीस तीर्थङ्करादि असंख्यात मुनि मुक्ति पधारे, जन्ममृत्युरोगविनाशनाय जलं० ॥ १ ॥

जाकी सुगन्ध थकी अहो अलि गुंजते आवे घने।
सो मलय संग घसाय केसर पूज पद जिनवर तने॥
भव आताप निवारने को लीजिये सुध भावसों॥ स०॥

ॐ ह्री श्री सम्मेद शिखर सिद्धक्षेत्र परवत सेती बीस तीर्थङ्करादि असंख्यात मुनि मुक्ति पधारे, भवआतापविनाशनाय चन्दनं० ॥ २ ॥

अक्षत अखंडित अतिहि सुन्दर जोति शशि सम लीजिये।
शुभ शालि उज्ज्वल तोय धोय सु पूज प्रभु पद कीजिये॥
पद अक्षय कारण लेय भविजन शुद्ध निरमल भावसों॥ स०

ॐ ह्री श्री सम्मेद शिखर सिद्धक्षेत्र परवत सेती बीस तीर्थङ्करादि असंख्यात मुनि मुक्ति पधारे, अक्षयपदप्राप्तये अक्षतं० ॥ ३ ॥

है मदन दुष्ट अत्यन्त दुर्जय हते सबके प्रान ही।
ताके निवारण हेत कुसुम मंगाय रंजन घ्रान हो॥
जाकी सुवास निहार षट्पद दौरि आवै चावसों॥ स०॥

ॐ ह्री श्री सम्मेद शिखर सिद्धक्षेत्र परवत सेती बीस तीर्थङ्करादि असंख्यात मुनि मुक्ति पधारे, कामवाणविध्वसनाय पुष्पं० ॥ ४ ॥

रस पूर रसना घ्रान रंजन चक्षु प्रिय अति मिष्ट हो।
जिनराज चरण चढ़ाय उत्तम क्षुधा होवै नष्ट हो॥
भरि थाल कञ्चन विविध व्यञ्जन लीजिये सुध भावसों॥ स०॥

ॐ ह्री श्री सम्मेद शिखर सिद्धक्षेत्र परवत सेती बीस तीर्थङ्करादि असंख्यात मुनि मुक्ति पधारे, क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं० ॥ ५ ॥

त्रैलोक्यगर्भित ज्ञान जाको मोह निजवश कर लियो।
अज्ञान तममें पड्यो चेतन चतुरगति भरमन कियो॥

छिनमाहि मोह विध्वंस होवै आरती कर चावसों ॥ स०॥

ॐ ह्रीं श्री सम्मेद शिखर सिद्धक्षेत्र परवत सेती बीस तीर्थङ्करादि असंख्यात मुनि मुक्ति पधारे, मोहान्धकारविनाशनाय दीपं० ॥ ६ ॥

शुभ अगरु अम्बर वास सुन्दर धूप प्रभु ढिग खेवही ।
ए दुष्टकर्म प्रचण्ड तिनको होय तत छिन छेवही ॥
सो धूप वसु विधि जरत कारण लीजिये सुध भावसो ॥ स०॥

ॐ ह्रीं श्री सम्मेद शिखर सिद्धक्षेत्र परवत सेती बीस तीर्थङ्करादि असख्यात मुनि मुक्ति पधारे, अष्टकर्मदहनाय धूपं० ॥ ७ ॥

बादाम श्रीफल लोग पिस्ता लेय शुद्ध सम्हालही ।
सैकार दाख अनार केला तुरत टूटे डालही ॥
भवि लेय उत्तम हेत शिव के छूट विधि के दावसों ॥ स०॥

ॐ ह्रीं श्री सम्मेद शिखर सिद्धक्षेत्र परवत सेती बीस तीर्थङ्करादि असख्यात मुनि मुक्ति पधारे, मोक्षफलप्राप्तये फलं० ॥ ८ ॥

छप्पय चाल ।

जन्म मृत्यु जल हरे, गन्ध आताप निवारै ।
तन्दुल पदके अक्षय मदन कू सुमन विदारै ॥
क्षुधा हरण नैवेद्य दीप ते ध्वान्त नसावै ।
धूप दहै वसु कर्म मोक्ष सुख फल दरसावै ॥
ए वसु द्रव्य मिलायकै अर्घ रामचन्द्र कीजिये ।
कर पूजा गिरि शिखर की नरभव का फल लीजिये ॥

ॐ ह्री श्री सम्मेद शिखर सिद्धक्षेत्र परवत सेती बीस तीर्थकरादि असख्यात मुनि मुक्ति पधार, अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं० ॥ ९ ॥

प्रत्येक अर्घ

सोरठा।

सकल कर्म हनि मोक्ष, परिवा सित बैशाख ही।
जजौं चरण गुण धोख, गये सम्मेदाचल थकी ॥ १ ॥

ॐ ह्री श्री सम्मेद शिखर सिद्धक्षेत्र परवत सेती ज्ञानधर कूट के दरशन फल एक कोड़ उपवास और श्री कुंथुनाथ तीर्थंकरादि छानवें कोडा कोडी छानवे कोड बत्तीस लाख छानवे हजार सात सैं वैयालिस मुनि मुक्ति पधारे, अर्घ० ॥ १ ॥

दोहा—जेठ शुकल चउदस दिवस मोक्ष गये भगवान।
जजौं मोक्ष जिनके चरण कर करि बहु गुणगान॥

ॐ ह्री श्री सम्मेद शिखर सिद्धक्षेत्र परवत सेती सुदत्तवर कूट के दरशन फल एक कोड़ उपवास श्री धरमनाथ तीर्थंकरादि गुणतीस कोडा कोडी उन्नीस कोड नौ लाख नौ हजार सात सैं पचानवे मुनि मुक्ति पधारे, अर्घ० ॥ २ ॥

चैत शुकल एकादशी शिवपुर मे प्रभु जाय।
लहि अनन्त सुख थिर भये आतमसूं लवलाय ॥ ३ ॥

ॐ ह्री श्री सम्मेद शिखर सिद्धक्षेत्र परवत सेती अविचल कूट के दरशन फल एक कोड़ि उपवास और श्री सुमतनाथ तीर्थंकरादि एक कोडाकोडी चौरासी कोड़ बहत्तर लाख इक्यासी हजार सातसैं मुनि मुक्ति पधारे, अर्घ० ॥ ३ ॥

जेठ शुकल चउदस दिना सकल कर्म क्षय कीन।
सिद्ध भये सुखमय रहै हुए अष्टगुण लीन ॥ ४ ॥

ॐ ह्री श्री सम्मेद शिखर सिद्धक्षेत्र परवत सेती शान्तिप्रभ कूट के दरशन फल एक कोड उपवास और श्री शान्तिनाथ तीर्थंकरादि नौ कोडाकोडी नौ लाख नौ हजार नौ सौ निन्यानवे मुनि मुक्ति पधारे, अर्घ० ॥ ४ ॥

बदि अषाढ़ अष्टमि दिवस मोक्ष गये मुनि ईश।
जजू भक्तिते विमल प्रभु अर्घ लेय नमि शीश॥ ५॥

ॐ ह्री श्री सम्मेद शिखर सिद्धक्षेत्र परवत सेती सुवीर कुल कूट के दरशन फल एक कोड उपवास और विमलनाथ तीर्थंकरादि सत्तर कोडाकोडी साठ लाख छ हजार सात से बयालिस मुनि मुक्ति पधारे, अर्घ०॥ ५॥

फागुन शुकल सप्तमि दिना हनि अघातियाराय।
जगत फास कू काटकै मोक्ष गये जिनराय॥ ६॥

ॐ ह्री श्री सम्मेद शिखर सिद्धक्षेत्र परवत सेती प्रभास कूट के दरशन फल एक कोड उपवास और श्री सुपार्श्वनाथ तीर्थंकरादि उनचास कोडाकोडी चौरासी कोड़ बहत्तर लाख सात हजार सातसै बयालिस मुनि मुक्ति पधारे, अर्घ०॥ ६॥

चैत शुकल पंचमि दिना हनि अघातिया राय।
मोक्ष भये सुरपति जजै मैं जजहूं गुण गाय॥ ७॥

ॐ ह्रीं श्री सम्मेद शिखर सिद्धक्षेत्र परवत सेती सिद्धवर कूट के दरशन फल बत्तीस कोड उपवास और श्री अजितनाथ तीर्थंकरादि एक अरब अस्सी कोड चौपन लाख मुनि मुक्ति पधारे, अर्घ०॥ ७॥

जुगल नाग तारे प्रभु पार्श्वनाथ जिनराय।
सावन शुकल सातें दिवस लहे मुक्ति शिव जाय॥ ८॥

ॐ ह्री श्री सम्मेद शिखर सिद्धक्षेत्र परवत सेती सुवरनभद्र कूट के दरशन फल सोलह कोड उपवास और श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकरादि बयासी करोड़ चौरासी लाख पैंतालिस हजार सातसै बयालिस मुनि मुक्ति पधारे, अर्घ०॥ ८॥

सोरठा।

हनि अघाति शिव थान, चतुर्दशी वैशाख बदि।
जजु मोक्ष कल्यान, गये सम्मेदाचल थकी॥ ९॥

हनि अघाति जिनराय, चौथ कृष्ण फागुन विषै।
जजू चरण गुणगाय, मोक्ष सम्मेदाचल थकी ॥ २४ ॥

ॐ ह्री श्री सम्मेद शिखर सिद्धक्षेत्र परवत सेती मोहन कूट के दरशन फल एक कोड उपवास और श्री पद्मप्रभ तीर्थंकरादि निन्यानवे कोडि सत्यासी लाख तितालिस हजार सात सै सताइस मुनि मुक्ति पधारे, अर्घ० ॥ २४ ॥

हनि अघाति निरवान, फागुन द्वादशि कृष्ण हो।
जजू मोक्ष कल्यान, गए सुरासुर पद जजो ॥ २५ ॥

ॐ ह्री श्री सम्मेद शिखर सिद्धक्षेत्र परवत सेती निर्जर नामा कूट के दरशन फल एक कोड उपवास और श्री मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकरादि निन्यानवे कोडा कोड सत्यानवे कोडि नौ लाख नौ सौ निन्यानवे मुनि मुक्ति पधारे, अर्घ० ॥ २५ ॥

शेषकर्म हनि मोक्ष, फागुन शुकल जु सप्तमी।
जजू गुणनि के धोक, गये सम्मेदाचल थकी ॥ २६ ॥

ॐ ह्री श्री सम्मेद शिखर सिद्धक्षेत्र परवत सेती ललित कूट के दरशन फल सोलह लाख उपवास और श्री चन्द्रप्रभु तीर्थंकरादि नौ सौ चौरासी अरब बहत्तर कोडि अस्सी लाख चौरासी हजार पाच सौ पचानवे मुनि मुक्ति पधारे, अर्घ० ॥ २६ ॥

गये मोक्ष भगवान, अष्टमि सित आसौज की।
देहु देहु शिवथान, वसुविधि पदपङ्कज जजू ॥ २७ ॥

ॐ ह्री श्री सम्मेद शिखर सिद्धक्षेत्र परवत सेती विद्युतवर कूट के दरशन फल एक कोड उपवास और श्री शीतलनाथ तीर्थंकरादि अठारह कोडा कोडि बयालिस कोड बत्तीस लाख बेयालिस हजार नौ सौ पांच मुनि मुक्ति पधारे, अर्घ० ॥ २७ ॥

दोहा—चैत कृष्ण पूनम दिवस, निज आतम को चीन।
मुक्ति स्थानक जायकै, हुए अष्ट गुण लीन ॥२८॥

ॐ ह्री श्री सम्मेद शिखर सिद्धक्षेत्र परवत सेती स्वयभू कूट के दरशन फल एक कोड उपवास और श्री अनन्तनाथ तीर्थंकरादि छानवे कोडा कोड सत्तर कोड सत्तर लाख सत्तर हजार सात सै मुनि मुक्ति पधारे, अर्घ० ॥ २८ ॥

सोरठा।

शेष कर्म निरवान चैत शुकल षष्ठमि विषै।
जजो गुणौघ उचार मोक्ष वरांगना पति भये ॥ १९ ॥

ॐ ह्री श्री सम्मेद शिखर सिद्धक्षेत्र परवत सेती धवल कूट के दर्शन फल बयालीस लाख उपवास और श्री सम्भवनाथ तीर्थङ्करादि नौ कोड़ा कोड बहत्तर लाख बयालीस हजार पाच सौ मुनि मुक्ति पधारे, अर्घं० ॥ १९ ॥

दोहा—अष्टमि सित बैशाख को गए मोक्ष हनि कर्म।
जजू चरण उर भक्ति कर देहु देहु निज धर्म ॥२०॥

ॐ ह्री श्री सम्मेद शिखर सिद्धक्षेत्र परवत सेती आनन्द कूट के दर्शन फल एक लाख उपवास और अभिनन्दन तीर्थङ्करादि वहत्तर कोडा कोडि सत्तर कोड सत्तर लाख बयालीस हजार सात सै मुनि मुक्ति पधारे, अर्घं० ॥ २० ॥

चौपाई छन्द।

माघ असित चउदश विधि सैन, हनि अघाति पाई शिव दैन।
सुर नर खग कैलाश सुथान, पूजै मैं पूजू धर ध्यान ॥

दोहा—ऋषभ देव जिन सिध भये, गिर कैलाश से जोय।
मन वच तन कर पूजहूँ शिखर नमू पद सोय ॥

ॐ ह्री श्री कैलाश सिद्धक्षेत्र परवत सेती माघ सुदी १४ को श्री आदिनाथ तीर्थङ्करादि असख्य मुनि मुक्ति पधारे, अर्घं०।

दोहा—वासु पूज्य जिनकी छबी अरुन वरन अविकार।
देहु सुमति विनती करू ध्याऊं भवदधितार ॥
वासु पूज्य जिन सिध भये चम्पापुर से जेह।
मनवचतन कर पूज हूँ शिखर सम्मेद यजेह ॥

ॐ ह्री श्री चम्पापुर सिद्धक्षेत्र परवत सेती भादवा सुदी १४ श्री वासुपूज्य तीर्थङ्करादि असंख्य मुनि मुक्ति पधारे, अर्घं०।

शुक्ल षाढ़ सप्तमि दिवस शेष कर्म हनि मोक्ष।
शिव कल्याण सुरपति कियो जजूं चरण गुण धोख॥
नेमनाथ जिन सिद्ध भये सिद्ध क्षेत्र गिरनार।
मन वच तन कर पूज हूँ भवदधि पार उतार॥

ॐ ह्रो श्री गिरनार सिद्धक्षेत्र परवत सेती आषाढ़ सुदी सातें को श्री नेमिनाथ तीर्थङ्करादि बहत्तर कोड़ सात सै मुनि मुक्ति पधारे, अर्घं०।

दोहा—कार्तिक वदि मावस गये शेष कर्म हनि मोक्ष।
पावापुरते वीर जिन जजूं चरण गुण धोक॥
महावीर जिन सिद्ध भये पावापुर से जोय।
मन वच तन कर पूजहूं शिखर नमूं पद दोय॥

ॐ ह्रो श्री पावापुर सिद्धक्षेत्र परवत सेती कार्तिक वदी अमावस को श्री वर्द्धमान तीर्थङ्करादि असंख्य मुनि मुक्ति पधारे, अर्घं०।

दोहा—सुधर्मादि गणेश गुरु अन्तिम गौतम नाम।
तिन सबकूं लै अर्घ तै पूजूँ सब गुण धाम॥

ॐ ह्रो श्री सुधर्मादि गौतम गणधर देव गुणावा ग्राम के उद्यान आदि भिन्न-भिन्न स्थानो से निरवाण पधारे, अर्घं०।

दोहा—या विधि तीर्थ जिनेश के बन्दू शिखर महान।
और असंख्य मुनीश जे पहुँचे शिवपद थान॥
सिद्ध क्षेत्र जे और हैं भरत क्षेत्र के मांहि।
और जे अतिशय क्षेत्र हैं कहे जिनागम मांहि॥

तिनके नाम सु लेत ही पाप दूर हो जाय।
ते सब पूजूँ अर्घ ले भव भव को सुखदाय॥

ॐ ह्रीं श्री भरत क्षेत्र सम्बन्धी सिद्धक्षेत्र और अतिशय क्षेत्रेभ्यो अर्घं ०।

सोरठा।

दीप अढ़ाई मांहि सिद्धक्षेत्र जे और हैं।
पूजूँ अर्घ चढ़ाय भव भव के अघ नाश हैं॥

अडिल्ल छन्द।

पूजूँ तीस चौबीसी महासुख दाय जू।
भूत भविष्यत् वर्तमान गुण गाय जू॥
कहे विदेह के बीस नमू सिरनाय जू।
और जु अर्घ बनाय सु विघन पलाय जू॥

ॐ ह्रीं श्री तीस चौबीसी और भूत भविष्यत् वर्तमान और विदेह क्षेत्र के बीस जिनेश्वर अर्घं ०।

दोहा—कृत्याकृत्यम जे कहे तीन लोक के मांहि।
ते सब पूजु अर्घ ले हाथ जोर सिरनाय॥

ॐ ह्रीं श्री ऊर्ध्वलोक मध्यलोक पाताललोक सम्बन्धी जिन मन्दिर जिन चैत्यालयेभ्यो नम अर्घं ०।

दोहा—तीरथ परम सुहावनो शिखर सम्मेद विशाल।
कहत अल्प बुधि युक्ति सैं सुखदाई जयमाल॥

अथ जयमाला, छन्द पद्धडी।

जय प्रथम नमूँ जिन कुन्थ देव, जय धर्म तनी नित करत सेव।
जय सुमति सुमति सुधबुद्धि देत, जय शान्ति नमूँ नित शान्ति हेत॥

जय विमल नमूं आनन्द कन्द जय सुपार्स नमूं हनि पास फन्द ।
जय अजित गये शिव हानि कर्म, जय पार्श्व करी जुग उरग सर्म ॥
पश्चिम दिस जानू टोक एव, वन्दे चहुँगति को होय छेव ।
नर सुर पद की तो कौन बात, पूजे अनुक्रमतै मुक्ति जात ॥
जय नेमि तनू नित धरू ध्यान, जय अरि हर लीनो मुक्ति थान ।
जय मल्लि मदन जय शील धार, श्रेयास गये भव उदधि पार ॥
जय सुमति सुमति दाता महेश, जय पद्म नमूं तम हर दिनेश ।
जय मुनि सुव्रत गुण गण गरिष्ट, जय चन्द्र करै आताप नष्ट ॥
जय शीतल जय भव के आताप, जय अनन्त नमू नशि जात पाप ।
जय सम्भव भव की हरो पीर, जय अभय करो अभिनन्दन वीर ॥
पूरव दिश द्वादश कूट जान, पूजत होवत है अशुभ हान ।
फिर मूल मन्दिरकू करू प्रणाम, पावै शिव रमनी वेग धाम ।

घत्ता छन्द ।

श्री सिद्ध सु क्षेत्र अति सुख देतं तुरतं भव दधि पार करं ।
अरि कर्म बिनासन शिव सुख कारन जय गिरवर जगता तारं ॥

चाल छप्पय ।

प्रथम कुथ जिन धर्म सुमति अरु शान्ति जिनन्दा ।
विमल सुपारस अजित पार्श्व मेटै भव फन्दा ॥
श्री नमि अरह जु मल्लि श्रेयांस सुविधि निधि कन्दा ।
पद्म प्रभु महाराज और मुनि सुव्रत चन्दा ॥

शीतलनाथ अनन्त जिन सम्भव जिन अभिनन्दजी।
बीस टोंक पर बीस जिनेश्वर भाव सहित नित बन्दजी॥

ॐ ह्रीं श्री सम्मेद शिखर सिद्धक्षेत्र परवत सेती बीस तीर्थंकरादि असंख्यात मुनि मुक्ति पधारे, अर्घ्यम्०।

कवित्त।

शिखर सम्मेदजी के बीस टोंक सब जान।
तासों मोक्ष गये ताकी संख्या सब जानिये॥
चउदासै कोड़ा कोड़ि पैंसठ ता ऊपर।
जोड़ि छियालिस अरब ताको ध्यान हिये आनिये॥
बारा सै तिहत्तर कोड़ि लाख ग्यारा सै बैंधालीस।
और सात सै चौंतीस सहस बखानिये॥
सैकडा है सातसै सत्तर एते हुए सिद्ध।
तिनकूं सु नित्य पूज पाप कर्म हानिये॥

दोहा—बीस टोंक के दरश फल, प्रोषध सख्या जान।
एकसौ तेहत्तर मुनो, गुण सठ लाख महान॥

घत्ता छन्द।

ए बीस जिनेश्वर नमत सुरेसुर मघवा पूजन कू आवैं।
नरनारी ध्यावैं सब सुख पावैं रामचन्द्र नित सिर नावैं॥

इति पुष्पांजलि क्षिपेत्।

श्री चम्पापुर सिद्धक्षेत्र पूजा

दोहा

उत्सव किय पनवार जहँ, सुरगणयुत हरि आय।
जजों सुथल वसुपूज्य तसु, चम्पापुर हर्षाय ॥

ॐ ह्रीं श्री चम्पापुर सिद्धक्षेत्र ! अत्रावतरावतर संवौषट्।
ॐ ह्रीं श्री चम्पापुर सिद्धक्षेत्र ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठ ठः स्थापनम्।
ॐ ह्रीं श्री चम्पापुर सिद्धक्षेत्र ! अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट्।

अष्टक, चाल नन्दीश्वर पूजन की

सम अमिय विगतत्रस वारि, लै हिम कुम्भ भरा।
लख सुखद त्रिगदहरतार, दे त्रय धार धरा ॥
श्रीवासुपूज्य जिनराय, निर्वृतिथान प्रिया।
चम्पापुर थल सुखदाय, पूजों हर्ष हिया ॥ १ ॥

ॐ ह्रीं श्री चम्पापुर सिद्धक्षेत्रेभ्यो जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ॥१॥

कश्मीरी केशर सार, अति ही पवित्र खरी।
शीतल चन्दन संग सार लै भव तापहरी ॥ श्री० ॥

ॐ ह्रीं श्री चम्पापुर सिद्धक्षेत्रेभ्यो संसारतापविनाशनाय चन्दनं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २ ॥

मणिद्युतिसम खण्ड विहीन, तन्दुल लै नीके।
सौरभ युत नव वर बीन, शालि महा नीके ॥ श्री० ॥

ॐ ह्रीं श्री चम्पापुर सिद्धक्षेत्रेभ्यो अक्षयपदप्राप्तये अक्षतं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ३ ॥

अलि लुभन सुभग दृगघ्राण, सुमन जु सुरद्रुमके।
लै बाहिम अर्जुन वाण, सुमन दमन भुमके ॥ श्री० ॥

ॐ ह्रीं श्री चम्पापुर सिद्धक्षेत्रेभ्यो कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ४ ॥

रस पूरित तुरि पकवान, पक्क यथोक्त घृती।
क्षुधगदमदप्रदमन जान, लै विध शुक्त कृती ॥श्री०॥
ॐ ह्रीं श्री चम्पापुर सिद्धक्षेत्रेभ्यो क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्य निर्वपामीति स्वाहा ॥ ५ ॥
तम अज्ञप्रनाशक सूर, शिवमग परकाशी।
लै रत्नद्वीप द्युतिपूर, अनुपम सुखराशी ॥ श्री० ॥
ॐ ह्रीं श्री चम्पापुर सिद्धक्षेत्रेभ्यो मोहान्धकारविनाशनाय दीप निर्वपामीति स्वाहा ॥६॥
वर परिमल द्रव्य अनूप, सोध पवित्र करी।
तस चूरण कर कर धूप, लै विधि कुञ्ज हरी ॥ श्री० ॥
ॐ ह्रीं श्री चम्पापुर सिद्धक्षेत्रेभ्यो अष्टकर्मविध्वंसनाय धूपं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ७ ॥
फल पक्क मधुर रस वान, प्रासुक बहु विधके।
लखि सुखद रसनदृगघ्रान, ले शुभपद सिधके ॥ श्री० ॥
ॐ ह्रीं श्री चम्पापुर सिद्धक्षेत्रेभ्यो मोक्षफलप्राप्तये फल निर्वपामीति स्वाहा ॥ ८ ॥
जलफलवसु द्रव्य मिलाय, लै भर हिमथारी।
वसु अंग धरापर ल्याय, प्रमुदित चितधारी ॥ श्री० ॥
ॐ ह्रीं श्री चम्पापुर सिद्धक्षेत्रेभ्यो अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ९ ॥

जयमाला।

दोहा

भये द्वादशम तीर्थपती, चम्पापुर निर्वान।
तिन गुणकी जयमाल कछु, कहौं श्रवण सुखदान॥

पद्धडी छन्द।

जय जय श्री चम्पापुर सुधाम, जहँ राजत नृप वसुपूज्य नाम।
जय पौन पल्यसैं धर्म हीन, भव भ्रमण दुःखमय लख प्रवीन॥
उर करुणाधर सो तम विडार, उपजै किरणावलि धर अपार।

श्री वासुपूज्य तिनके सु बाल, द्वादशम तीर्थंकर्ता विशाल ॥
भव भोग देहतैं विरक्त होय, वय बालपनाहि ही नाथ सोय ।
सिद्धन नमि महाव्रत धार लीन, तप द्वादश विध उग्रोग्र कीन ॥
तह मोह सप्तक आयु त्रेह, दश प्रकृति पूर्वं ही क्षय करेह ।
श्रेणी सु क्षपक आरूढ़ होय, गुण नवम भाग नवमाहिं सोय ॥
सोलह वसु इक इक षट् इकेव, इक इक इक इम क्रम सहेव ।
पुनि दशमथान इक लोभ टार, द्वादशमथान सोलह निवार ॥
है अनन्त चतुष्टय युक्त स्वाम, पायो तब सुखद सयोग ठान ।
तह काल त्रिगोचर सर्व देव, युगपत हि समय इकमाहि लखेव ॥
कछु काल सुविध इत भविक इष्ट, कर पोषे सबहि सुभव्य पुष्ट ।
इक मास आयु अवशेष जान, जिन योगन की सुप्रवृत्ति हान ॥
ताही थल तैं शिवथान ध्याय, चतुर्दशथान तिष्ठे जिनाय ।
तह द्विचरम समय मंझार ईश, प्रकृती सु बहत्तर खिपहि धीश ॥
तेरह पर चरम समय मंझार, करके श्री जगतेश्वर प्रहार ।
ऊर्ध्वगमन स्वभावी इक समय माहिं, शिवथल पाकर निज अचल ठाहिं ॥
सुर सुर खग मनुज अमित सुखेर, हैं रहे सदा ही उनहि चैन ।
तिनही तैं सो थानक पवित्र, त्रैलोक्यपूज्य पायो विचित्र ॥
मैं तसु रज निज मस्तक लगाय, वन्दौं पुनि-पुनि थुति जोड़ हाथ ।
ताही पद वांछा उर मंझार, धर अन्य चाह बुधि निवार ॥

दोहा

श्रीचम्पापुर जो पुरुष, पूजै मन वच काय ।
वर्णि 'दौल' सो पाय ही, सुख सम्पति अधिकाय ॥

ॐ ह्रीं श्रीचम्पापुरसिद्धक्षेत्रेभ्यो महार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

श्री गिरनार सिद्धक्षेत्र पूजा

दोहा—वन्दों नेमि जिनेश पद, नेमि-धर्म दातार।
नेम धुरन्धर परम गुरु, भविजन सुख करतार॥
जिनवाणी को प्रणमि कर गुरु गणधर उरधार।
सिद्धक्षेत्र पूजा रचों, सब जीवन हितकार।
ऊर्जयन्त गिरिनाम तस, कह्यो जगत विख्यात।
गिरिनारी तासों कहत, देखत मन हर्षात॥

द्रुतविलंबित तथा सुन्दरी छन्द।

गिरि सु उन्नत सुभगाकार है, पंचकूट उत्तंग सुधार है।
वन मनोहर शिला सुहावनी, लखत सुन्दर मनको भावनी॥
अवर कूट अनेक बने तहां, सिद्ध थान सु अति सुन्दर जहां।
देखि भविजन मन हर्षावते, सकल जन वंदनको आवते॥

त्रिभंगी छन्द।

तहं नेमकुमारा व्रत तप धारा, कर्म विदारा शिव पाई।
मुनि कोटि बहत्तर सात शतक धर तागिरि ऊपर सुखदाई॥
भए शिवपुरवासी गुणके राशी विधि थिति नाशी ऋद्धिधरा।
तिनके गुण गाऊं पूज रचाऊँ, मन हर्षाऊँ सिद्धि करा॥
दोहा—ऐसो क्षेत्र महान तिहिं, पूजों मन वच काय।
त्रय वार जु कर थापना, तिष्ठ तिष्ठ इत आय॥

ॐ ह्रीं श्री गिरनार सिद्धक्षेत्र! अत्र अवतर अवतर संवौषट्।
ॐ ह्रीं श्री गिरनार सिद्धक्षेत्र! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः स्थापनं।
ॐ ह्रीं श्री गिरनार सिद्धक्षेत्र! अत्र मम सन्निहितानि भव भव वषट्।

अष्टक, कवित्त।

लेकर नीर सु क्षीर समान महा सुखदान सु प्रासुक लाई।
दे त्रय धार जजों चरणा हरना मम जन्म जरा दुःखदाई॥
नेमिपती तज राजमती भये बालयती तहँतैं शिवपाई।
कोडि बहत्तरि सातसौ सिद्ध मुनीश भये सु जजों हर्षाई॥

ॐ ह्रीं श्री गिरनार सिद्धक्षेत्रेभ्यो जन्मजरामृत्युविनाशनाये जल निर्वपामीति स्वाहा॥१॥

चन्दनगारि मिलाय सुगन्ध सु, ल्याय कटोरी में धरना।
मोहमहातम मेटनकाज सु चर्चतु हों तुम्हरे चरना॥ नेमि०

ॐ ह्रीं श्री गिरनार सिद्धक्षेत्रेभ्यो संसारतापविनाशनाय चन्दन निर्वपामीति स्वाहा॥ २॥

अक्षत उज्ज्वल ल्याय धरों, तहँ पुँज करो मनको हर्षाई।
देहु अखयपद प्रभु करुणा कर, फेर न या भववास कराई॥नेमि०

ॐ ह्रीं श्री गिरनार सिद्धक्षेत्रेभ्यो अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा॥ ३॥

फूल गुलाब चमेली बेल कदंब सु चम्पक बीन सु ल्याई।
प्राशुकपुष्प लवंग चढ़ाय सु गाय प्रभू गुण काम नसाई॥ नेमि०

ॐ ह्रीं श्री गिरनार सिद्धक्षेत्रेभ्यो कामबाणविध्वंसनाय पुष्प निर्वपामीति स्वाहा॥ ४॥

नेवज नव्य करों भर थाल सु कंचन भाजनमें धर भाई।
मिष्ट मनोहर क्षेपत हों यह रोग क्षुधा हरियो जिनराई॥नेमि०

ॐ ह्रीं श्री गिरनार सिद्धक्षेत्रेभ्यो क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्य निर्वपामीति स्वाहा॥ ५॥

दीप बनाय धरों मणिका अथवा घृत बाति कपूर जलाई।
नृत्य करोंकर आरति ले मम मोह महातम जाय नशाई॥ नेमि०

ॐ ह्रीं श्री गिरनार सिद्धक्षेत्रेभ्यो मोहान्धकारविनाशनाय दीप निर्वपामीति स्वाहा॥ ६॥

धूप दशांग सुगन्धमईं कर खेवहु अग्नि मझार सुहाई।

शीघ्रहि अर्ज सुनो जिनजी मम कर्ममहावनदेउजराई ॥ नेमि०

ॐ ह्रीं श्री गिरनार सिद्धक्षेत्रेभ्यो अष्टकर्मविध्वसनाय धूप निर्वपामीति स्वाहा ॥ ७ ॥

ले फल सार सुगन्धमई, रसना हृद नेत्रनको सुखदाई ।
क्षेपतहों तुम्हरे चरणा प्रभु देहु हमें शिवकी ठकुराई ॥ नेमि०

ॐ ह्रीं श्री गिरनार सिद्धक्षेत्रेभ्यो मोक्षफलप्राप्तये फल निर्वपामीति स्वाहा ॥ ८ ॥

ले वसु द्रव्य सु अर्घ करों धर थाल सु मध्य महा हर्षाई ।
पूजत हों तुमरे चरणा हरिये वसु-कर्मबली दुःखदाई ॥ नेमि०

ॐ ह्रीं श्री गिरनार सिद्धक्षेत्रेभ्यो अनर्घपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ९ ॥

दोहा—पूजत हों वसुद्रव्य ले, सिद्धक्षेत्र सुखदाय ।
निजहितहेतु सुहावनो, पूरण अर्घ चढ़ाय ॥

ॐ ह्रीं श्री गिरनार सिद्धक्षेत्रेभ्यो पूर्णार्घम् निर्वपामीति स्वाहा ।

पञ्चकल्याणक अर्घ, छन्द पाइता ।

कातिक शुक्लाकी छठ जानों, गर्भागम ता दिन मानो ।
उत इन्द्र जजे उस थानी, इत पूजत हम हर्षानी ॥

ॐ ह्रीं कातिकशुक्लषष्ठ्यां गर्भमङ्गल प्राप्ताय श्री नेमिनाथ जिनेन्द्राय अर्घ्यं० ।

श्रावण शुक्ल छठ सुखकारी, तब जन्म महोत्सव धारी ।
सुरराज सुमेर न्हवाई, हम पूजत इत सुखपाई ॥

ॐ ह्रीं श्रावणशुक्लषष्ठ्यां जन्ममङ्गलमण्डिताय श्री नेमिनाथ जिनेन्द्राय अर्घ्यं० ।

सित श्रावणकी छट्ठि प्यारी, ता दिन प्रभु दीक्षा धारी ।
तप घोर वीर तहँ करना, हम पूजत तिनके चरणा ॥

ॐ ह्रींश्रावणशुक्लषष्ठीदिने दीक्षामङ्गलप्राप्ताय श्री नेमिनाथ जिनेन्द्राय अर्घ्यं० ।

एकम शुक्ल आश्विन भाषा, तब केवल ज्ञान प्रकाशा ।

हरि समवशरण तब कीना, हम पूजत इत सुख लीना ॥

ॐ ह्रीं आश्विनशुक्लाप्रतिपदि केवलज्ञानप्राप्ताय श्री नेमिनाथ जिनेन्द्राय अर्घ्यं० ।

सित अष्टमी मास अषाढ़ा, तब योग प्रभू ने छाड़ा ।
जिन लई मोक्ष ठकुराई, इत पूजत चरणा भाई ॥

ॐ ह्रीं आषाढशुक्लाष्टम्यां मोक्षमङ्गलप्राप्ताय श्री नेमिनाथ जिनेन्द्राय अर्घ० ।

अडिल्ल छन्द ।

कोडि बहत्तरि सप्त सैकड़ा जानिये ।
मुनिवर मुक्ति गये तहँतै सु प्रमाणिये ॥
पूजौ तिनके चरण सु मनवचकायकैं ।
वसुविध द्रव्य मिलाय सु गाय बजायकैं ॥

जयमाला ।

दोहा — सिद्धक्षेत्र गिरिनार शुभ, सब जीवन सुखदाय ।
कहों तासु जयमालिका, सुनतहि पाप नशाय ॥१॥

पद्धडी छन्द ।

जय सिद्धक्षेत्र तीरथ महान, गिरिनारि सुगिरि उन्नत बखान ।
तहँ जूनागढ है नगर सार, सौराष्ट्र देश के मधि विथार ॥ २ ॥
तिस जूनागढ से चले सोइ, समभूमि कोस वर तीन होइ ।
दरवाजे से चल कास आध, इक नदी बहत है जल अगाध ॥ ३ ॥
पर्वत उत्तर दक्षिण सु दोय, मधि बहत नदी उज्वल सु तोय ।
ता नदी मध्य इक कुण्ड जान, दोनों तट मन्दिर बने मान ॥ ४ ॥
तहँ वैरागी वैष्णव रहाय, भिक्षा कारण तीरथ कराय ।
इक कोस तहां यह मच्यो ख्याल, आगैं इक वर नदी वहत नाल ॥ ५ ॥
तहँ श्रावकजन करते सनान, धो द्रव्य चलत आगैं सु जान ।
फिर मृगीकुण्ड इक नाम जान, तहा वैरागिन के बने थान ॥ ६ ॥

वैष्णव तीरथ जहा रच्यो सोइ, वैष्णव पूजत आनन्द होइ।
आगैं चल डेढ सु कोस जाय, फिर छोटे पर्वत को चढ़ाव ॥ ७ ॥
तहां तीन कुण्ड सोहैं महान, श्रीजिन के युग मन्दिर वखान।
मन्दिर दिगम्बरी दोय जान, श्वेतांवर के वहुते प्रमान ॥ ८ ॥
जहां नर्नी धर्मशाला सु जोय, जलकुण्ड तहां निर्मल सु तोय।
श्वेताम्बर यात्री तहां जाय, ताकुण्ड माहिं नितहीं नहाय ॥ ६ ॥
फिर आगैं पर्वत पर चढ़ाय, चढि प्रथम कूट को चले जाय।
तहां दर्शन कर आगैं सु जाय, तहां दुतिय टोंक के दर्श पाय ॥१०॥
तहां नेमनाथ के चरण जान, फिर है उतार भारी महान।
तहा चढ कर पञ्चम टोंक जाय, अति कठिन चढ़ाव तहा लखाय॥११॥
श्रीनेमनाथ का मुक्ति थान, देखत नयनों अति हर्ष मान।
इक बिंव चरणयुग तहा जान, भवि करत वन्दना हर्ष ठान ॥१२॥
कोउ करते जय जय भक्ति लाइ, कोऊ थुति पढते तहा सुनाय।
तुम त्रिभुवनपति त्रैलोक्यपाल, मम दुःख दूर कीजे दयाल ॥१३॥
तुम राजऋद्धि भुगती न कोइ, यह अथिररूप संसार जोइ।
तज मात पिता घर कुटुम्ब द्वार तज राजमती-सी सती नार ॥१४॥
द्वादशभावन भाई निदान, पशुवदि छोड दे अभय दान।
शेसा वन में दीक्षा सु धार, तप करके कर्म किये सु छार ॥१५॥
ताही वन केवल ऋद्धि पाय, इन्द्रादिक पूजे चरण आय।
तहां समवशरण रचियो विशाल, मणि पञ्चवर्ण कर अति रसाल ॥१६॥
तहा वेदी कोट सभा अनूप, दरवाजे भूमि वनी सु रूप।
वसुप्रातिहार्य छत्रादि सार, वर द्वादश सभा वनो अपार ॥१७॥
करके विहार देशों मझार, भवि जीव करे भव सिन्धु पार।
पुन टोंक पञ्चमीको सु जाय, शिव नाथ लह्यो आनन्द पाय ॥१८॥

सो पूजनीक वह थान जान, वन्दत जन तिनके पाप हान।
तहँतैं सु बहत्तर कोड और, मुनि सात शतक सब कहे जोर ॥१९॥
उस पर्वतसों सब मोक्ष पाय, सब भूमि सु पूजन योग्य थाय।
तहां देश-देश के भव्य आय, वन्दन कर बहु आनन्द पाय ॥२०॥
पूजन कर कीने पाप नाश, बहु पुण्य बंध कीनो प्रकाश।
यह ऐसो क्षेत्र महान जान, हम करी वन्दना हर्ष ठान ॥२१॥
उनईस शतक उनतीस जान, सम्वत् अष्टमि सित फाग मान।
सब संग सहित वन्दन कराय, पूजा कीनी आनन्द पाय ॥२२॥
अब दुःख दूर कीजे दयाल, कहै 'चन्द्र' कृपा कीजे कृपाल।
मैं अल्पबुद्धि जयमाल गाय, भवि जीव शुद्ध लीज्यो बनाय ॥२३॥

घत्ता।

तुम दयाविशाला सब क्षितिपाला, तुमगुणमाला कण्ठ धरी।
ते भव्य विशाला तज जगजाला, नावत भाला मुक्तिवरी॥

ॐ ह्रीं श्री गिरनार सिद्धक्षेत्रेभ्यो महार्घं निर्वपामीति स्वाहा।

चारित्र

आत्मा के स्वरूप में जो चर्या है उसी का नाम चारित्र है, वही वस्तु का स्वाभाविक धर्म है।

- संयम का पालन करना कल्याण का प्रमुख साधन है।
- संसार में वही जीव नीरोग रहता है, जो अपना जीवन चारित्र पूर्वक बिताता है।
- उपयोग की निर्मलता ही चारित्र है।

—'वर्णी वाणी' से

श्री पावापुर सिद्धक्षेत्र पूजा

जिहि पावापुर छित अघाति, हत सन्मति जगदीश।
भये सिद्ध शुभथान सो, जजों नाय निज शीश॥

ॐ ह्रीं श्री पावापुर सिद्धक्षेत्र ! अत्र अवतर अवतर संवौषट् आह्वाननं।
ॐ ह्रीं श्री पावापुर सिद्धक्षेत्र ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठ ठ स्थापन।
ॐ ह्रीं श्री पावापुर सिद्धक्षेत्र ! अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् सन्निधापनं।

अथाष्टक, गीता छन्द।

शुचि सलिल शीतौ कलिलरीतौ, श्रमण चीतौ लै जिसो।
भर कनक झारी त्रिगद हारी, दै त्रिधारी जित तृषो॥

वर पद्म वर भर पद्म सरवर, वहिर पावा ग्राम ही।
शिवधाम सन्मत स्वामी पायो, जजों सो सुखदा मही॥

ॐ ह्रीं श्री पावापुर सिद्धक्षेत्रेभ्यो वीरनाथ जिनेन्द्राय जन्ममृत्युरोगविनाशनाय जलं० ॥१॥

भव भ्रमत भ्रमत अशर्म तपकी, तपन कर तप ताइयो।
तसु वलय-कन्दन मलय-चन्दन, उदक सग घिसाइयो॥ वर०

ॐ ह्रीं श्री पावापुर सिद्धक्षेत्रेभ्यो वीरनाथ जिनेन्द्राय संसारतापविनाशनाय चन्दनं० ॥२॥

तन्दुल नवीन अखण्ड लीने, ले महीने ऊजरे।
मणिकुन्द इन्दु तुषार द्युति जित, कनक-रकाबी में धरे॥ वर०

ॐ ह्रीं श्री पावापुर सिद्धक्षेत्रेभ्यो वीरनाथ जिनेन्द्राय अक्षयपदप्राप्तये अक्षतं० ॥ ३ ॥

मकरन्दलोभन सुमन शोभन सुरभि चोभन लेय जी।
मद समर हरवर अमर तरुके, घ्राण-दृग हरखेय जी॥ वर०

ॐ ह्रीं श्री पावापुर सिद्धक्षेत्रेभ्यो वीरनाथ जिनेन्द्राय कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं० ॥ ४ ॥

नैवेद्य पावन छुध मिटावन, सेव्य भावन युत किया।
रस मिष्ट पूरित इष्ट सूरति, लेयकर प्रभु हित हिया॥ वर०

ॐ ह्रीं श्री पावापुर सिद्धक्षेत्रेभ्यो वीरनाथ जिनेन्द्राय क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं० ॥ ५ ॥

तम अज्ञ नाशक स्वपरभाशक ज्ञेय परकाशक सही।
हिमपात्रमे धर मौल्यबिन वर द्योतधर मणि दीपही ॥ वर०

ॐ ह्री श्री पावापुर सिद्धक्षेत्रेभ्यो वीरनाथ जिनेन्द्राय मोहान्धकारविनाशनाय दीपं० ॥६॥

आमोदकारी वस्तुसारी विध दुचारी-जारनी।
तसु तूप कर कर धूप ले दशदिश-सुरभि-विस्तारनी ॥ वर०

ॐ ह्री श्री पावापुर सिद्धक्षेत्रेभ्यो वीरनाथ जिनेन्द्राय अष्टकर्मविध्वंसनाय धूपं० ॥ ७ ॥

फल भक्त पक्क सुचक्ख सोहन, सुक्क जनमन मोहने।
वर सुरस पूरित त्वरित मधुरत लेय कर अति सोहने ॥ वर०

ॐ ह्री श्री पावापुर सिद्धक्षेत्रेभ्यो वीरनाथ जिनेन्द्राय मोक्षफलप्राप्तये फलं० ॥ ८ ॥

जल गन्ध आदि मिलाय वसुविध थारस्वर्ण भरायकै।
मन प्रमुद भाव उपाय करले आय अर्घ बनायकै ॥ वर०

ॐ ह्री श्री पावापुर सिद्धक्षेत्रेभ्यो वीरनाथ जिनेन्द्राय अनर्घपदप्राप्तये अर्घं० ॥ ९ ॥

जयमाला।

दोहा—चरम तीर्थ करतार, श्री वर्द्धमान जगपाल।
कलमलदल विध विकल ह्वै, गाऊँ तिन जयमाल ॥

पद्धडी छन्द।

जय जय सुवीर जिन मुक्ति धान, पावापुर वन सर शोभवान।
जे सित असाढ छट स्वर्ग धाम, तज पुष्पोत्तर सुविमान ठाम ॥ १ ॥
कुण्डलपुर सिद्धारथ नरेश, आये त्रिशला जननी उरेश।
सित चैत त्रयोदशि युत त्रिज्ञान, जनमे तम अज्ञ-निवार भान।
पूर्वाह्न धवल चउदिश दिनेश, किय न्हवन कनकगिरि-शिर सुरेश।
वय वर्ष तीस पद कुमरकाल, सुख दिव्य भोग भुगते विशाल ॥ २ ॥

मगसिर अलि दशमी पवित्र, चढ चन्द्रप्रभा शिविका विचित्र।
चलि पुर सें सिद्धन शीशनाय, धार्यो संजम वर शर्मदाय ॥ ४ ॥
गत वर्ष दुदश कर तप विधान, दिन शित वैशाख दशै महान।
रिजुकूला सरिता तट स्व सोध, उपजायो जिनवर चमर वोध ॥ ५ ॥
तब ही हरि आज्ञा शिर चढाय, रचि समवशरण वर धनदराय।
चउसंघ प्रकृति गौतम गणेश युत तीस वर्ष विहरे जिनेश ॥ ६ ॥
भविजीव देशना विविध देत, आये वर पावानगर खेत।
कार्तिक अलि अन्तिम दिवस ईश, कर योग निरोध अघाति पीस ॥ ७ ॥
ह्वै सिद्ध अमल इक समय माहिं, पञ्चम गति पाई श्री जिनाह।
तव सुरपति जिनरवि अस्त जान, आये तुरन्त चढि निज विमान ॥ ८ ॥
कर वपु अरचा थुति विविध भांत, लै विविध द्रव्य परिमल विख्यात।
तव ही अगणीन्द्र नवाय शीश, संस्कार देह को त्रिजगदीश ॥ ९ ॥
कर भस्म वन्दना निज महीय, निवसे प्रभु गुण चितवन स्वहीय।
पुनि नर मुनि गणपति आय-आय, वंदी सो रज शिर नाय-नाय ॥१०॥
तवही सो सो दिन पूज्य मान, पूजत जिनगृह जन हर्ष मान।
मैं पुन-पुन तिस भुवि शीश धार, वन्दौ तिन गुणधर उर मझार ॥११॥
तिनही का अव भी तीर्थ एह, वरतत दायक अति शर्म गेह।
अरु दुःखमकाल अवसान ताहि, वर्तैगो भव तिथि हर सदाहि ॥१२॥

कुसुमलता छन्द।

श्रीसन्मति जिन अंघ्रिपद्म युग जजै भव्य जो मन वच काय।
ताके जन्म-जन्म संचित अघ जावहि इक छिन माहिं पलाय ॥
धन धान्यादिक शर्म इन्द्रपद लहै सो शर्म अतीन्द्री थाय।
अजर अमर अविनाशी शिवथल वर्णी दौल रहै शिर नाय ॥

ॐ ह्रीं श्री पावापुर सिद्धक्षेत्रेभ्यो महार्घम् निर्वपामीति स्वाहा।

श्री सोनागिरि सिद्धक्षेत्र पूजा

अडिल्ल छन्द ।

जम्बूद्वीप मझार सु भरत क्षेत्र कहो ।
आर्य खण्ड सु जान भद्र देशे लहो ॥
सुवर्णगिरि अभिराम सु पर्वत है तहां ।
पञ्चकोड़ि अरु अर्द्ध गये मुनि शिव तहां ॥१॥

दोहा—सोनागिरिके शीश पर, बहुत जिनालय जान।
चन्द्रप्रभु जिन आदि दे, पूजों सब भगवान ॥

ॐ ह्रीं श्री सोनागिरि सिद्धक्षेत्रेभ्यो । अत्र अवतर अवतर संवौषट् आह्वानन ।
ॐ ह्रीं श्री सोनागिरि सिद्धक्षेत्रेभ्यो । अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठ: ठ: स्थापन ।
ॐ ह्रीं श्री सोनागिरि सिद्धक्षेत्रेभ्यो । अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् ।

अथाष्टक, सारङ्ग छन्द ।

पद्मद्रह को नीर ल्याय गंगा से भरके ।
कनक कटोरी मांहि हेम थारन में धरके ॥
सोनागिरिके शीश भूमि निर्वाण सुहाई ।
पञ्चकोडि अरु अर्द्ध मुक्ति पहुँचे मुनिराई ॥
चन्द्रप्रभु जिन आदि सकल जिनवर पद पूजो ।
स्वर्ग मुक्ति फल पाय जाय अविचल पद हूजो ॥

दोहा—सोनागिरि के शीष पर, जेते सब जिनराज ।
तिनपद धारा तीन दे, तृषा हरण के काज ॥

ॐ ह्रीं श्री सोनागिरि निर्वाणक्षेत्रेभ्यो जन्मजरामृत्युविनाशनाय जल निर्वपामीति स्वाहा ॥१॥

केसर आदि कपूर मिले मलयागिरि चन्दन ।
परिमल अधिको तास और सब दाह निकन्दन ॥

सोनागिरि के शीश पर, जेते सब जिनराज ।
ते सुगन्ध कर पूजिये, दाह निकन्दन काज ॥

ॐ ह्रीं श्री सोनागिरि निर्वाणक्षेत्रेभ्यो संसारतापविनाशनाय चन्दन निर्वपामीति स्वाहा ॥२॥

तन्दुल धवल सुगन्ध ल्याय जल धोय पखारो ।
अक्षय पद के हेतु पुञ्ज द्वादश तहँ धारो ॥
सोनागिरि के शीश पर, जेते सब जिनराज ।
तिन पद पूजा कीजिये, अक्षय पद के काज ॥

ॐ ह्रीं श्री सोनागिरि निर्वाणक्षेत्रेभ्यो अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा ॥ ३ ॥

बेला और गुलाब मालती कमल मंगाये ।
पारिजात के पुष्प ल्याय जिन चरण चढ़ाये ॥
सोनागिरि के शीश पर, जेते सब जिनराज ।
ते सब पूजों पुष्प ले, मद्दन विनाशन काज ॥

ॐ ह्रीं श्री सोनागिरि निर्वाणक्षेत्रेभ्यो कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा ॥४॥

विंजन जो जगमांहि खांडघृत मांहि पकाये ।
मीठे तुरत बनाय हेम थारी भर ल्याये ॥
सोनागिरि के शीश पर, जेते सब जिनराज ।
ते पूजों नैवेद्य ले, क्षुधा हरण के काज ॥

ॐ ह्रीं श्री सोनागिरि निर्वाणक्षेत्रेभ्यो क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥५॥

मणिमय दीप प्रजाल धरौं पंकति भर थारी ।
जिन मन्दिर तम हार करहु दर्शन नर-नारी ॥
सोनागिरि के शीश पर, जेते सब जिनराज ।
करों दीप ले आरती, ज्ञान प्रकाशन काज ॥

ॐ ह्रीं श्री सोनागिरि निर्वाणक्षेत्रेभ्यो मोहान्धकारविनाशनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा ॥६॥

दशविध धूप अनूप अगनि भाजन मे डालो।
जाकी धूप सुगन्ध रहे भर सर्व दिशालों॥
सोनागिरि के शीश पर जेते सब जिनराज।
धूप कुम्भ आगे धरो, कर्म दहन के काज॥

ॐ ह्रीं श्री सोनागिरि निर्वाणक्षेत्रेभ्यो अष्टकर्मविध्वंसनाय धूपं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ७ ॥

उत्तम फल जग माहि बहुत मीठे अरु पाके।
अमित अनार अनार आदि अमृत रस छाके॥
सोनागिरि के शीश पर, जेते सब जिनराज।
उत्तम फल तिनको मिले, कर्म विनाशन काज॥

ॐ ह्रीं श्री सोनागिरि निर्वाणक्षेत्रेभ्यो मोक्षफलप्राप्तये फलं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ८ ॥

दोहा – जल आदिक वसु द्रव्य अर्घ करके धर नाचो।
बाजे बहुत बजाय पाठ पढ़ के सुख सांचो॥
सोनागिरि के शीश पर, जेते सब जिनराज।
ते हम पूजें अर्घ ले, मुक्ति रमण के काज॥

ॐ ह्रीं श्री सोनागिरि निर्वाणक्षेत्रेभ्यो अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ९ ॥

अडिल्ल छन्द।

श्री जिनवर की भक्ति सु जे नर करत हैं।
फल वांछा कुछ नाहि प्रेम उर धरत हैं॥
ज्यों जगमाहिं किसान सु खेती को करैं।
नाज काज जिय जान सु शुभ आपहि झरैं॥
ऐसे पूजादान भक्ति यश कीजिये।
सुख सम्पति गति मुक्ति सहज पा लीजिये॥

ॐ ह्रीं श्री सोनागिरि निर्वाणक्षेत्रेभ्यो पूर्णार्घं निर्वपामीति स्वाहा।

अथ जयमाला।

दोहा—सोनागिरिके शीश पर, जिन-मन्दिर अभिराम।
तिन गुणकी जयमालिका, वर्णत 'आशाराम' ॥१॥

पद्धडी छन्द।

गिरि नीचे जिन मन्दिर सुचार, ते यतिन रचे शोभा अपार।
तिनके अति दीरघ चौक जान, तिनमे यात्री भेलें सु आन ॥ २ ॥
गुमटी छज्जे शोभित अनूप, ध्वज पद्धति सोहैं विविध रूप।
वसु प्रातिहार्य तहां धरे आन, सब मङ्गल द्रव्यन की सुखान ॥ ३ ॥
दरवाजों पर कलशा निहार, करजोर सु जय जय ध्वनि उचार।
इक मन्दिरमे यति राजमान, आचार्य विजय कीर्ति सुजान ॥ ४ ॥
तिन शिष्य भागीरथ विवुध नाम, जिनराज भक्ति नही और काम।
अव पर्वत को चढ चलो जान, दरवाजो तहा इक शोभमान ॥ ५ ॥
तिस ऊपर जिन प्रतिमा निहार, तिन वंदि पूज आगे सिधार।
तहां दुःखित भुखित को देत दान, याचक जन जहां हैं अप्रमाण ॥६॥
आगे जिन मन्दिर दुहूं ओर, जिन गान होत वादित्र शोर।
माली वहु ठाडे चौक पौर, ले हार कलङ्गी तहां देत दौर ॥ ७ ॥
जिन यात्री तिनके हाथ मांहि, वखशीस रीझ तहां देत जाहिं।
दरवाजो तहा दूजो विशाल, तहां क्षेत्रपाल दोउ ओर लाल ॥ ८ ॥
दरवाजे भीतर चौक मांहि जिन भवन रचे प्राचीन आंहिं।
तिनकी महिमा वरणी न जाय, दो कुण्ड सुजलकर अति सुहाय ॥९॥
जिन मन्दिर की वेदी विशाल, दरवाजे तीनों वहु सु ढाल।
ता दरवाजे पर द्वारपाल, ले मुकुट खड़े अरु हाथ माल ॥ १० ॥

जे दुर्जन को नहीं जान देय, ते निन्दक को ना दरश देय।
चल चन्द्र प्रभु के चौक माहि, दालाने तहां चौतर्फ आहि॥ ११॥
तहां सभ्य सभा मण्डप निहार, तिसकी रचना नाना प्रकार।
तहां चन्द्रप्रभु के दरश पाय, फल जात लहो नर जन्म आय॥ १२॥
प्रतिमा विशाल तहां हाथ सात, कायोत्सर्ग मुद्रा सुहात।
वन्दे पूजें तहां देय दान, जननृत्य भजन कर मधुर गान॥ १३॥
ता थेई थेई थेई बाजत सितार, मृदङ्ग बीन मुहचङ्ग सार।
तिनकी ध्वनि सुनि भवि होत प्रेम, जयकार करत नाचत सु एम॥१४॥
ते स्तुति करके फिर नाय शीस, भवि चले मनो कर कर्म खीस।
इह सोनागिरि रचना अपार, वर्णन कर को कवि लहै पार॥ १५॥
अति तनक बुद्धि 'आशा' सुपाय, वश भक्ति कही इतनी सु गाय।
मैं मन्दबुद्धि किम लहों पार, बुद्धिवान चूक लीजे सुधार॥ १६॥

ॐ ह्रीं श्री सोनागिरि निर्वाणक्षेत्रेभ्यो महार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

दोहा—सोनागिरि जयमालिका, लघुमति कही बनाय।
पढे सुने जो प्रीतसे, सो नर शिवपुर जाय॥

इत्याशीर्वादः।

श्री खण्डगिरि क्षेत्र पूजा

दोहा

अंगवंग के पास है देश कलिंग विख्यात।
तामें खण्डगिरि लसत है, दर्शन भव्य सुहात।
दसरथ राजा के सुत अति गुणवान जी।
और मुनीश्वर पञ्च सैकड़ा जान जी॥
अष्ट-कर्म कर नष्ट मोक्षगामी भये।
तिनके पूजहुँ चरण सकल मंगल ठये॥

ॐ ह्रीं श्री कलिंगदेशमध्ये खण्डगिरि सिद्धक्षेत्र से सिद्धपद प्राप्त दशरथ राजा के सुत तथा पञ्चशतक मुनि ! अत्र अवतर अवतर संवौषट् आह्वानन। अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः स्थापन। अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् सन्निधापनम्।

अथाष्टक।

अति उत्तम शुचि जल ल्याय, कञ्चन कलश भरा।
करूं धार सु मन वच काय, नाशत जन्म जरा॥
श्री खण्डगिरि के शीश जसरथ तनय कहे।
मुनि पञ्चशतक शिव लीन देश कलिंग दहे॥

ॐ ह्रीं श्री खण्डगिरि सिद्धक्षेत्रेभ्यो जन्मजरामृत्युविनाशनाय जल निर्वपामीति स्वाहा॥1॥

केशर मलयागिरि सार, घिसके सुगन्ध किया।
संसार ताप निरवार, तुम पद वसत हिया॥ श्री०॥

ॐ ह्रीं श्री खण्डगिरि सिद्धक्षेत्रेभ्यो संसारतापविनाशनाय चन्दन निर्वपामीति स्वाहा॥2॥

मुक्ताफल की उनमान, अक्षत शुद्ध लिया।
मम सर्व दोष निरवार, निजगुण मोह दिया॥ श्री०॥

ॐ ह्रीं श्री खण्डगिरि सिद्धक्षेत्रेभ्यो अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा॥3॥

ले सुमन कल्पतरु थार, चुन-चुन ल्याय धरूं।
तुम पद ढिग धरतहि, बाण काम समूल हरूं॥ श्री०॥

ॐ ह्रीं श्री खण्डगिरि सिद्धक्षेत्रेभ्यो कामबाणविध्वंशनाय पुष्प निर्वपामीति स्वाहा॥4॥

लाडू घेवर शुचि ल्याय, प्रभु पद पूजन को।
धरूं चरणन ढिग आय, मम क्षुधा नाशन को॥ श्री० ॥
ॐ ह्रीं श्री खण्डगिरि सिद्धक्षेत्रेभ्यो क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ५ ॥

ले मणिमय दीपक थार, दोय कर जोड धरो।
मम मोह अन्धेर निरवार, ज्ञान प्रकाश करों॥ श्री० ॥
ॐ ह्रीं श्री खण्डगिरि सिद्धक्षेत्रेभ्यो मोहान्धकारविनाशनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा ॥६॥

ले दशविधि गन्ध कुटाय, अग्नि मझार धरों।
मम अष्ट-कर्म जल जांय, यातैं पांय परों॥ श्री० ॥
ॐ ह्रीं श्री खण्डगिरि सिद्धक्षेत्रेभ्यो अष्टकर्मविनाशनाय धूपं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ७ ॥

श्रीफल पिस्ता सु बदाम, आम नारंगि धरूं।
ले प्रासुक हिम के थार, भवतर मोक्ष वरूं॥ श्री० ॥
ॐ ह्रीं श्री खण्डगिरि सिद्धक्षेत्रेभ्यो मोक्षफलप्राप्तये फलं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ८ ॥

जल फल वसु द्रव्य पुनीत, लेकर अर्घ करूं।
नाचूं गाऊं इह भांत, भवतर मोक्ष वरूं॥ श्री० ॥
ॐ ह्रीं श्री खण्डगिरि सिद्धक्षेत्रेभ्यो अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ९ ॥

जयमाला।

दोहा—देश कलिंगके मध्य है, खण्डगिरि सुखधाम।
उदयागिरि तसु पास है, गाऊँ जय जय धाम॥

श्रीसिद्ध खण्डगिरि क्षेत्र जान, अति सरल चढाई तहा मान।
अति सघन वृक्ष फल रहे आय, तिनकी सुगन्ध दशदिश जु जाय॥
ताके सु मध्य में गुफा आय, नव मुनि सुनाम ताको कहाय।
तामें प्रतिभा दशयोग धार, पद्मासन है हरि चवर डार॥
ता दक्षिण दिश इक गुफा जान, तामें चौबीस भगवान मान।

प्रति प्रतिमा इन्द्र खडे दुओर, कर चंवर धरें प्रभु भक्ति जोर ॥
आजू बाजू खडी देवी द्वार, पद्मावती चक्रेश्वरी सार।
कर द्वादश भुजि हथियार धार, मानहुं निन्दक नहिं आवें द्वार ॥
ताके दक्षिण चली गुफा आय, सतबखरा है ताको कहाय।
तामें चौबीसी बनी सार, अरु त्रय प्रतिमा सब योग धार ॥
सबमें हरि चमर सु धरहिं हाथ, नित आय भव्य नावहिं सु माथ।
ताके ऊपर मन्दिर विशाल, देखत भविजन होते निहाल ॥
ता दक्षिण टूटी गुफा आय, तिनमें ग्यारह प्रतिमा सुहाय।
पुनि पर्वत के ऊपर सु जाय, मन्दिर दीरघ मन को लुभाय ॥
तामें प्रतिमा भगवान जान, खड्गासन योग धरें महान।
ले अष्ट द्रव्य तनु पूज्य कीन, मन वच तन करि मम धोक दीन ॥
भयो जन्म सफल अपनो सु भाय, दर्शन अनूप देखो जिनाय।
जब अष्ट-कर्म होंगे जु चूर, जातें सुख पाहैं पूर-पूर ॥
पूरब उत्तर द्वय निज सु धाम, प्रतिमा खड्गासन अति महान।
दर्शन करके मन शुद्ध होय, शुभ बन्ध होय निश्चय जु जोय ॥
पुनि एक गुफा में बिम्बसार, ताको पूजन कर फिर उतार।
पुनि और गुफा खाली अनेक, ते हैं मुनिजन के ध्यान हेत ॥
पुनि चल कर उदयगिरि सुजाय, भारी-भारी जु गुफा लखाय।
इक गुफा माहिं जिनराय जान, पद्मासन धर प्रभु करत ध्यान ॥
जो पूजत हैं मन वचन काय, सो भव-भव के पातक नशाय।
तिनमें इक हाथी गुफा जान, प्राचीन लेख शोभे महान ॥
महाराज खारवेल नाम जास, जिनने जिनमत का किया प्रकाश।
बनवाई गुफा मन्दिर अनेक, अरु करी प्रतिष्ठा भी अनेक ॥

इसका प्रमाण यह शिलालेख, बतलाता है जैनत्व एक।
प्रारम्भ लेख में यह बखान, सिद्धों को वन्दन अरु प्रणाम॥
स्वस्तिकका चिह्न विराजमान, जो जैन-धर्म का है महान।
मथुरापति से उन युद्ध कीन, प्रतिमा आदीश्वर फेर लीन॥
तालाब, कूप, वापी अनेक, खुदवाई उन कर्त्तव्य पेख।
रानी भी दानी थीं विशेष, बनवाई गुफा उनने अनेक॥
पुनि और गुफा मे लेख जान, पढते जिनमत मानत प्रधान।
तहं जसरथ नृप के पुत्र आय, मुनि संग पाच सौ भी लहाय॥
तप बारह विधि का यह करन्त, बाईस परीषह वह सहन्त।
पुनि समिति पञ्च युत चलें सार, छ्यालीस दोष टल कर अहार॥
इस विधि तप दुद्धर करत जोय, सो उपजे केवलज्ञान सोय।
सब इन्द्र आज अति भक्ति धार, पूजा कीनी आनन्द धार॥
धर्मोपदेश दे भव्य तार, नाना देशन में कर विहार।
पुनि आये याही शिखर थान, सो ध्यान योग्य माना महान॥
भये सिद्ध अनन्ते गुणन ईश, तिनके युग पद पर धरत शीश।
तिन सिद्धन को पुनि-पुनि प्रणाम, जिन सुख अविचल माना सुधाम॥
वन्दत भव दुःख जावे पलाय, सेवक अनुक्रम शिवपद लहाय।
पूजन करता हूं मैं त्रिकाल, कर जोड़ नमत है "मुन्नालाल"॥

घत्ता।

उदयागिरि क्षेत्रं अति सुख देतं, तुरतहि भवदधि पार करं।
जो पूजे ध्यावे कर्म नसावे, वांछित पावे मुक्ति वरं॥

ॐ ह्रीं श्री खण्डगिरि सिद्धक्षेत्रेभ्यो जयमालाऽर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

दोहा—श्री खण्डगिरि उदयगिरि, जो पूजे त्रैकाल।
पुत्र पौत्र सम्पति लहे, पावे शिव सुख हाल॥

इत्याशीर्वाद।

ले तन्दुल अमल अखण्ड, थाली पूर्ण भरो।
अक्षय पद पावन हेतु, हे प्रभु पाप हरो॥ बाड़ा के०
ॐ ह्री श्री पद्म प्रभु जिनेन्द्राय अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा ॥ ३ ॥

ले कमल केतुकी बेल, पुष्प धरू आगे।
प्रभु सुनिये हमारो टेर, काम कला भागे॥ बाड़ा के०
ॐ ह्री श्री पद्म प्रभु जिनेन्द्राय कामवाणविध्वसनाय पुष्प निर्वपामीति स्वाहा ॥ ४ ॥

नैवेद्य तुरत बनवाय, सुन्दर थाल सजा।
मम क्षुधा रोग नश जाय, गाऊँ वाद्य बजा॥ बाडा के०
ॐ ह्री श्री पद्म प्रभु जिनेन्द्राय क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्य निर्वपामीति स्वाहा ॥ ५ ॥

हो जगमग-जगमग ज्योति, सुन्दर अनयारी।
ले दीपक श्रीजिनचन्द, मोह नशे भारी॥ बाडा के०
ॐ ह्री श्री पद्म प्रभु जिनेन्द्राय मोहान्धकारविनाशनाय दीप निर्वपामीति स्वाहा ॥ ६ ॥

ले अगर कर्पूर सुगन्ध, चन्दन गन्ध महा।
खेवत हों प्रभु ढिग आज, आठों कर्म दहा॥ बाड़ा के०
ॐ ह्री श्री पद्म प्रभु जिनेन्द्राय अष्टकर्मदहनाय धूप निर्वपामीति स्वाहा ॥ ७ ॥

श्रीफल बादाम सु लेय, केला आदि हरे।
फल पाऊँ शिव पद नाथ, अरपूं मोद भरे॥ बाडा के०
ॐ ह्री श्री पद्म प्रभु जिनेन्द्राय मोक्षफलप्राप्तये फल निर्वपामीति स्वाहा ॥ ८ ॥

जल चन्दन अक्षत पुष्प, नेवज आदि मिला।
मैं अष्ट द्रव्य से पूज, पाऊँ सिद्ध शिला॥ बाड़ा के०
ॐ ह्री श्री पद्म प्रभु जिनेन्द्राय अनर्घपदप्राप्तये अर्घ निर्वपामीति स्वाहा ॥ ९ ॥

चैत्र शुक्ल की पूर्णिमा, उपज्यो केवलज्ञान।
भवसागर से पार हो, दियो भव्य जन ज्ञान॥ श्री पद्म०
ॐ ह्री चैत शुक्ल पूर्णिमा केवलज्ञान प्राप्ताय श्री पद्म प्रभु जिनेन्द्राय अर्घ्यं०॥४॥
फाल्गुन कृष्ण सु चौथ को, मोक्ष गये भगवान।
इन्द्र आय पूजा करी, मैं पूजौं धर ध्यान॥ श्री पद्म०
ॐ ह्री फाल्गुन कृष्ण चौथ मोक्षमङ्गल प्राप्ताय श्री पद्म प्रभु जिनेन्द्राय अर्घ्यं०॥५॥

जयमाला।

दोहा—चौतीसो अतिशय सहित, बाडा के भगवान।
जयमाला श्री पद्म की, गाऊँ सुखद महान॥

पद्धडी छन्द।

जय पद्मनाथ परमातम देव, जिनकी करते सुर चरण सेव।
जय पद्म-पद्म प्रभु तन रसाल, जय जय करते मुनिमन विशाल॥
कोशाम्बी मे तुम जन्म लीन, बाडा मे बहु अतिशय करीन।
एक जाट पुत्र ने जमी खोद, पाया तुमको होकर समोद॥
सुर कर हर्षित हो भविक वृन्द, आकर पूजा की दुःख निकन्द।
करते दुःखियो का दुःख दूर, हो नष्ट प्रेत बाधा जरूर॥
डाकिन साकिन सब होय चूर्ण, अन्धे हो जाते नेत्र पूर्ण।
श्रीपाल सेठ अञ्जन सु चोर, तारे तुमने उनको विभोर॥
अरु नकुल सर्प सीता समेत, तारे तुमने निज भक्त हेत।
हे सङ्कट मोचन भक्त पाल, हमको भी तारो गुण विशाल॥
विनती करता हूँ बार-बार, होवे मेरा दुःख क्षार-क्षार।
मीना गूजर सब जाट जैन, आकर पूजे कर तृप्त नैन॥
मन वच तन से पूजें सुजोय, पावे वे नर-शिव सुख जु सोय।
ऐसी महिमा तेरी दयाल, अब हम पर भी होवो कृपाल॥
ॐ ह्री श्री पद्म प्रभु जिनेन्द्राय पूर्णार्घ्यं०॥४॥

श्री बाहुबली स्वामी की पूजा

दोहा—कर्म अरिगण जीति के, दरशायो शिव पन्थ।
प्रथम सिद्ध पद जिन लयो, भोगभूमि के अन्त॥
समर दृष्टि जल जीत लहि, मल्ल युद्ध जय पाय।
वीर अग्रणी बाहुबली, वन्दौं मन वच काय॥

ॐ ह्रीं श्रीमद् बाहुबली। अत्रावतरावतर संवौषट् आह्वाननं।
ॐ ह्रीं श्रीमद् बाहुबली। अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः स्थापनं।
ॐ ह्रीं श्रीमद् बाहुबली। अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् सन्निधापनं।

अथ अष्टकं चाल जोगीरासा।

जन्म जरा मरणादि तृषा कर, जगत जीव दुःख पावै।
तिहि दुःख दूर करन जिनपद को पूजन जल ले आवै॥
परम पूज्य वीराधिवीर जिन बाहुबली बलधारी।
तिनके चरण-कमल को नित प्रति धोक त्रिकाल हमारी॥

ॐ ह्रीं श्री वर्तमानावसर्पिणी समये प्रथम मुक्ति स्थान प्राप्ताय कर्मारि विजयी वीराधीवीर वीराग्रणी श्री बाहुबली परम योगीन्द्राय जन्मजरामृत्युविनाशनाय जल॥१॥

यह संसार मरुस्थल अटवी तृष्णा दाह भरी है।
तिहि दुःख वारन चन्दन लेकै जिन पद पूज करी है॥ परम०

ॐ ह्रीं श्री संसारतापविनाशनाय चन्दन निर्वपामीति स्वाहा॥२॥

स्वच्छ शालि शुचि नीरज रजसम गन्ध अखण्ड प्रचारी।
अक्षय पद के पावन कारण पूजे भवि जगतारी॥ परम०

ॐ ह्रीं श्री अक्षयपदप्राप्तये अक्षत निर्वपामीति स्वाहा॥३॥

हरिहर चक्रपति सुर दानव मानव पशु बस याकै।
तिहि मकरध्वज नाशक जिनको पूजो पुष्प चढ़ाकै॥ परम०
ॐ ह्री श्री कामवाराादिध्वसनाय पुष्प निर्वपामीति स्वाहा॥ ४॥

दु.खद त्रिजग जीवन को अतिही दोष क्षुधा अनिवारी।
तिहि दु.ख दूर करन को चरुवर ले जिन पूज प्रचारी॥ परम०
ॐ ह्री श्री क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्य निर्वपामीति स्वाहा॥ ५॥

मोह महातम मे जग जीवन शिव मग नाहिं लखावै।
तिहि निरवारण दीपक करले जिनपद पूजन आवै॥ परम०
ॐ ह्री श्री मोहान्धकारविनाशनाय दीप निर्वपामीति स्वाहा॥ ६॥

उत्तम धूप सुगन्ध बना कर दश दिश मे महकावै।
दश विधि बन्ध निवारण कारण जिनवर पूज रचावै॥ परम०
ॐ ह्री श्री अष्टकर्मदहनाय धूप निर्वपामीति स्वाहा॥ ७॥

सरस सुवरण सुगन्ध अनूपम स्वच्छ महाशुचि लावै।
शिवफल कारण जिनवर पद की फलसो पूज रचावै॥ परम०
ॐ ह्री श्री मोक्षफलप्राप्तये फल निर्वपामीति स्वाहा॥ ८॥

वसु विधिके वश वसुधा सबही परवश अति दुःख पावै।
तिहि दुःख दूर करन को भविजन अर्घ जिनाग्र चढ़ावै॥ परम०
ॐ ह्री श्री अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्य निर्वपामीति स्वाहा॥ ९॥

जयमाला. दोहा।

आठ कर्म हनि आठ गुण प्रगट करे जिन रूप।
सो जयवन्तो भुजवली प्रथम भये शिव भूप॥

कुसुमलता छन्द।

जै जै जै जगतार शिरोमणि क्षत्रिय वंश अशंस महान।
जै जै जै जग जन हितकारी दीनों जिन उपदेश प्रमाण॥
जै जै चक्रपति सुत जिनके शत सुत जेष्ठ भरत पहिचान।
ॐ ॐ ॐ श्री ऋषभदेव जिनसों जयवन्त सदा जगजान॥१॥
जिनके द्वितीय महादेवी शुचि नाम 'सुनन्दा' गुण की खान।
रूप शील सम्पन्न मनोहर तिनके सुत भुजबली महान॥
सवापञ्च शत धनु उन्नत तनु हरितवरण शोभा असमान।
वैडूर्यमणि पर्वत मानो नील कुलाचल सम थिर जान॥२॥
तेजवन्त परमाणु जगत में तिन कर रचो शरीर प्रमाण।
शान चौरत्व गुणाकर जाको निरखत हरि हरषे उर आन॥
धीरज अतुल वज्र सम नीरज सम वीराग्रणि अति बलवान।
जिन छबि लखि मनु शशि छवि लाजै कुसुमायुध लीनों सु पुमान॥३॥
बाल समै जिन बाल चन्द्रमा शशि से अधिक धरै दुतिसार।
जो गुरुदेव पढ़ाई विद्या शस्त्र शास्त्र सब पढ़ी अपार॥
ऋषभदेव ने पोदनपुर के नृप कीने भुजबली कुमार।
दई अयोध्या भरतेश्वर को आप बने प्रभुजी अनगार॥४॥
राजकाज षट्खण्ड महीपति सब दल लै चढ़ि आये आप।
बाहुबलि भी सन्मुख आये मन्त्रिन तीन युद्ध दिये थाप॥
दृष्टि नीर अरु मल्ल युद्ध मे दोनों नृप कीनो बल धाप।
वृथा हानि रुक जाय सैन्य की यातें लड़िये आपों-आप॥५॥
भरत भुजबली भूपति भाई उतरे समर भूमि में जाय।
दृष्टि नीर रण थके चक्रपति मल्लयुद्ध तब करो अघाय॥

पगतल चलत-चलत अचला तब कंपत अचल शिखर ठहराय।
निषध नील अचलाधर मानों भये चलाचल क्रोध बसाय ॥ ६ ॥

भुज विक्रमबलबाहुबलीनें लये चक्रपति अधर उठाय।
चक्र चलायो चक्रपति तब सो भी विफल भयो तिहि ठाय ॥
अति प्रचण्ड भुजदण्ड सुंड सम नृप शार्दुल बाहुबलि राय।
सिंहासन मगवाय जासपै अग्रज को दीनों पधराय ॥ ७ ॥

राजरमा रामासुर धुन मे जोवन दमक दामिनी जान।
भोग भुजङ्ग जङ्ग सम जग को जान त्याग कीनों तिहि थान ॥
अष्टापद पर जाय वीरनृप वीर व्रती धर कीनों ध्यान।
अचल अङ्ग निरभङ्ग सङ्ग तज सवतसरलों एक स्थान ॥ ८ ॥

विषधर वम्बी करी चरनतल ऊपर वेल चढी अनिवार।
युगजङ्घा कटि बाहुवेढि कर पहुँची वक्षस्थल परसार ॥
शिर के केश बढे जिस मांहीं नभचर पक्षी बसे अपार।
धन्य-धन्य इस अचल ध्यान की महिमा सुर गावैं उरधार ॥ ९ ॥

कर्मनाशि शिव जाय बसे प्रभु ऋषभेश्वर से पहले जान।
अष्ट गुणाङ्कित सिद्ध शिरोमणि जगदीश्वर पद लयो पुमान ॥
वीरव्रती वीराग्रगन्य प्रभु बाहुबली जगधन्य महान।
वीरवृत्ति के काज जिनेश्वर नमैं सदा जिन बिम्ब प्रमान ॥ १० ॥

दोहा—श्रवणबेलगुल विंध्य गिरि जिनवर बिंब प्रधान।
सन्तावन फुट उत्तङ्ग तनो खडगासन अमलान ॥ १ ॥

अतिशयवन्त अनन्त बल धारक बिंब अनूप।
अर्घ चढाय नमों सदा जै जै जिनवर भूप ॥ २ ॥

ॐ ह्रीं वर्तमानावसर्पिणी समये प्रथम मुक्तिस्थान प्राप्ताय कर्मारि विजयी वीराधिवीर वीराग्रणी श्री बाहुबलि स्वामिने अनर्घपद प्राप्ताय महार्घं निर्वपामीति स्वाहा।

इत्याशीर्वादः।

श्री विष्णुकुमार महामुनि पूजा

अडिल्ल छन्द।

विष्णुकुमार महामुनि को ऋद्धि भई।
नाम विक्रिया तास सकल आनन्द ठई॥
सो मुनि आये हथनापुर के बीच में।
मुनि बचाये रक्षा कर वन बीच में॥ १॥

तहां भयो आनन्द सर्व जीवन घनो।
जिमि चिन्तामणि रत्न एक पायो मनो॥
सब पुर के जे नार शब्द उचरत भये।
मुनि को देय आहार आप करते भये॥ २॥

ॐ ह्रीं श्री विष्णुकुमार मुनिभ्यो। अत्र अवतर अवतर संवौषट् आह्वाननं।
ॐ ह्रीं श्री विष्णुकुमार मुनिभ्यो। अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः स्थापनं।
ॐ ह्रीं श्री विष्णुकुमार मुनिभ्यो। अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् सन्निधीकरणं।

चाल—सोलह कारण पूजा की. अथाष्टक।

गङ्गाजल सम उज्ज्वल नीर, पूजो विष्णुकुमार सुधीर।
दयानिधि होय, जय जगबन्धु दयानिधि होय॥
सात सैकड़ा मुनिवर जान, रक्षा करी विष्णु भगवान।
दयानिधि होय, जय जगबन्धु दयानिधि होय॥
ॐ ह्रीं श्री विष्णुकुमार मुनिभ्यो नमः जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा
मलयागिर चन्दन शुभसार, पूजो श्रीगुरुवर निर्धार।
दयानिधि होय, जय जगबन्धु दयानिधि होय॥ सात०
ॐ ह्रीं श्री विष्णुकुमार मुनिभ्यो नमः भवआतापविनाशनाय चन्दनं निर्वपामीति स्वाहा।

श्वेत अखण्डित अक्षत लाय, पूजो श्रीमुनिवर के पाय।
दयानिधि होय, जय जगबन्धु दयानिधि होय॥ सप्त०
ॐ ह्री श्री विष्णुकुमार मुनिभ्यो नम अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा।

कमल केतकी पुष्प चढाय, मेटो कामवाण दुःखदाय।
दयानिधि होय, जय जगबन्धु दयानिधि होय॥ सप्त०
ॐ ह्री श्री विष्णुकुमार मुनिभ्यो नम कामवाणविध्वसनाय पुष्प निर्वपामीति स्वाहा।

लाडू फेनी घेवर लाय, सब मोदक मुनि चर्ण चढाय।
दयानिधि होय, जय जगबन्धु दयानिधि होय॥ सप्त०
ॐ ह्री श्री विष्णुकुमार मुनिभ्यो नम क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्य निर्वपामीति स्वाहा।

घृत कपूर का दीपक जोय, मोहतिमर सब जावे खोय।
दयानिधि होय, जय जगबन्धु दयानिधि होय॥ सप्त०
ॐ ह्री श्री विष्णुकुमार मुनिभ्यो नम मोहान्धकारविनाशनाय दीप निर्वपामीति स्वाहा।

अगर कपूर सुधूप बनाय, जारे अष्ट कर्म दुःखदाय।
दयानिधि होय, जय जगबन्धु दयानिधि होय॥ सप्त०
ॐ ह्री श्री विष्णुकुमार मुनिभ्यो नम अष्टकर्मदहनाय धूप निर्वपामीति स्वाहा।

लोग लायची श्रीफल सार, पूजो श्रीमुनि सुखदातार।
दयानिधि होय, जय जगबन्धु दयानिधि होय॥ सप्त०
ॐ ह्री श्री विष्णुकुमार मुनिभ्यो नम मोक्षफलप्राप्तये फल निर्वपामीति स्वाहा।

जल फल आठो द्रव्य संजोय, श्रीमुनिवर पद पूजो दोय।
दयानिधि होय, जय जगबन्धु दयानिधि होय॥ सप्त०
ॐ ह्री श्री विष्णुकुमार मुनिभ्यो नम अनर्घपदप्राप्तये अर्घ्य निर्वपामीति स्वाहा।

अथ जयमाला।

दोहा—श्रावण शुक्ल सु पूर्णिमा, मुनि रक्षा दिन जान।
रक्षक विष्णुकुमार मुनि, तिन जयमाल बखान॥

चाल—छन्द भुजङ्गप्रयात।

श्री विष्णु देवा करूं चर्ण सेवा, हरो जन की बाधा सुनो टेर देवा।
गजपुर पधारे महा सुक्खकारी, धरो रूप वामन सु मन में विचारी॥
गये पास बलि पै हुआ सो प्रसन्ना, जो मांगो सो पावो दिया ये वचन्ना।
मुनि तीन डग मांगी धरनी सुतापै, दई ताने ततछिन सु नहि ढील थापै॥
करै विक्रिया मुनि सु काया बढ़ाई, जगह सारी लेली सु डग दोके मांही।
धरी तीसरी डग बली पीठ मांही, सु मांगी क्षमा तब बली ने बनाई॥
जल की सु वृष्टि करी सुक्खकारी, सरब अग्नि क्षण में भई भस्म सारी।
टरे सर्व उपसर्ग श्री विष्णु जी से, भई जै जैकारा सरब नग्रही से॥

चौपाई।

फिर राजा के हुक्म प्रमाण, रक्षाबन्धन बधी सुजान।
मुनिवर घर-घर कियो विहार, श्रावक जन तिन दियो अहार॥
जा घर मुनि नहि आये कोय, निज दरवाजे चित्र सु लोय।
स्थापन कर तिन दियो अहार, फिर सब भोजन कियो सम्हार॥
तब से नाम सलूना सार, जैन-धर्म का है त्यौहार।
शुद्ध क्रिया कर मानो जीव, जासों धर्म बढ़ै सु अतीव॥
धर्म पदारथ जग में सार, धर्म बिना झूठो संसार।
श्रावण शुक्ल पूर्णिमा जब होय, यह दो पूजन कीजे लोय॥

सब भाइन को दो समझाय, रक्षाबन्धन कथा सुनाय।
मुनि का निज घर करो अकार, मुनि समान तिन देहु अहार॥
सबके रक्षा बन्धन बाध, जैन मुनिन की रक्षा जान।
इस विधि से मानो त्यौहार, नाम सलूना है ससार॥

घत्ता।

मुनि दीनदयाला सब दुःख टाला, आनन्द माला सुखकारी।
'रघु सुत' नित वन्दे आनन्द कन्दे, सुक्ख करन्दे हितकारी॥
ॐ ह्री श्री विष्णुकुमार मुनिभ्यो अर्घ निर्वपामीति स्वाहा।

दोहा—विष्णुकुमार मुनि के चरण, जो पूजे धर प्रीत।
'रघु सुत' पावे स्वर्गपद, लहे पुण्य नवनीत॥
इत्याशीर्वाद।

हमारा कर्त्तव्य

- बाल विवाह, अनमेल विवाह, वृद्ध विवाह और कन्या विक्रय या वर विक्रय जैसी घातक दुष्ट प्रथाओ का बहिष्कार करना।
- माता-पिता का आदर्श सदाचारी गृहस्थ होना।
- अपने बालकों को सदाचारी बनाना।
- सन्तति को सुशिक्षित बनाना।
- बालकों म एसी भावना भरना जिससे वे बचपन से ही देश, जाति और धर्म की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझें।

—'वर्णी वाणी' से

रविव्रत पूजा

यह भवजन हितकार, सु रविव्रत जिन कही ।
करहु भव्यजन लोग, सु मन देके सही ॥
पूजों पार्श्व जिनेन्द्र, त्रियोग लगाय के ।
मिटै सकल सन्ताप, मिले निधि आय के ॥
मति सागर इक सेठ, कथा ग्रन्थन कही ।
उन्हीं ने यह पूजा कर, आनन्द लही ॥
सुख सम्पति सन्तान, अतुल निधि लीजिये ।
तातैं रविव्रत सार, सो भविजन कीजिये ॥

दोहा—प्रणमो पार्श्व जिनेश को, हाथ जोड़ शिरनाय ।
परभव सुख के कारने, पूजा करूँ बनाय ॥
एक बार व्रत के दिना, एही पूजन ठान ।
ता फल सुख सम्पति लहै, निश्चय लीजे मान ॥

ॐ ह्रीं श्रीं पार्श्वनाथ जिनेन्द्र ! अत्र अवतर अवतर संवौषट् आह्वाननं ।
ॐ ह्रीं श्रीं पार्श्वनाथ जिनेन्द्र ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठ ठ स्थापनं ।
ॐ ह्रीं श्रीं पार्श्वनाथ जिनेन्द्र ! अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् ।

अथाष्टकं ।

उज्ज्वल जल भरके अति लायो, रतन कटोरन मांहीं ।
धार देत अति हर्ष बढ़ावत, जन्म जरा मिट जांहीं ॥
पारसनाथ जिनेश्वर पूजों, रविव्रत के दिन भाई ।
सुख सम्पति बहु होय, तुरत ही आनन्द मंगलदाई ॥

ॐ ह्रीं श्रीं पार्श्वनाथ जिनेन्द्राय जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ॥ १ ॥

मलयागिर केशर अति सुन्दर, कुम्कुम रंग बनाई ।
धार देत जिन चरणन आगे, भव आताप नसाई ॥ पा०
ॐ ह्रीं श्री पार्श्वनाथ जिनेन्द्राय संसारतापविनाशनाय चन्दन निर्वपामीति स्वाहा ॥ २ ॥

मोती सम अति उज्ज्वल, तन्दुल ल्यावो नीर पखारो ।
अक्षय पदके हेतु भावसों, श्रीजिनवर ढिग धारो ॥ पा०
ॐ ह्रीं श्री पार्श्वनाथ जिनेन्द्राय अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा ॥ ३ ॥

बेला अर मचकुन्द चमेली, पारिजात के ल्यावो ।
चुन-चुन श्रीजिन अग्र चढ़ावो, मनवांछित फल पावो ॥ पा०
ॐ ह्रीं श्री पार्श्वनाथ जिनेन्द्राय कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ४ ॥

बावर फेनी गोजा आदिक, घृत में लेत पकाई ।
कञ्चन थार मनोहर भरके, चरणन देत चढ़ाई ॥ पा०
ॐ ह्रीं श्री पार्श्वनाथ जिनेन्द्राय क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्य निर्वपामीति स्वाहा ॥ ५ ॥

मणिमय दीप रतनमय, लेकर जगमग जोत जगाई ।
जिनके आगे आरति करके, मोह तिमिर नस जाई ॥ पा०
ॐ ह्रीं श्री पार्श्वनाथ जिनेन्द्राय मोहान्धकारविनाशनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ६ ॥

चूरनकर मलयागिरि चन्दन, धूप दशांग बनाई ।
तट पावक में खेय भावसों, कर्मनाश हो जाई ॥ पा०
ॐ ह्रीं श्री पार्श्वनाथ जिनेन्द्राय अष्टकर्मदहनाय धूपं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ७ ॥

श्रीफल आदि बदाम सुपारी, भांति-भांतिके लावो ।
श्रीजिनचरण चढ़ाय हर्षकर, तातैं शिवफल पावो ॥ पा०
ॐ ह्रीं श्री पार्श्वनाथ जिनेन्द्राय मोक्षफलप्राप्तये फलं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ८ ॥

जल गन्धादिक अष्ट दरव ले, अर्घ बनावो भाई।
नाचत गावत हर्ष भावसों, कञ्चन थार भराई ॥ पा०

ॐ ह्रीं श्री पार्श्वनाथ जिनेन्द्राय अनर्घपदप्राप्तये अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ९ ॥

गीति का छन्द।

मन वचन काय विशुद्ध करिके पार्श्वनाथ सु पूजिये।
जल आदि अर्घ बनाय भविजन भक्तिवन्त सु हूजिये ॥
पूज पारसनाथ जिनवर सकल सुख दातारजी।
ले करत हैं नर नार पूजा लहत सुक्ख अपारजी ॥

जयमाला, दोहा।

यह जग में विख्यात है, पारसनाथ महान।
जिनगुणकी जयमालिका, भाषा करों बखान ॥

जय जय प्रणमों श्रीपार्श्वदेव, इन्द्रादिक तिनकी करत सेव।
जय जय सु बनारस जन्म लीन्ह, तिहुं लोकविषै उद्योत कीन ॥
जय जिनके पितु श्री विश्वसेन, तिनके घर भये सुख चैन एन।
जय वामादेवी मातु जान, तिनके उपजे पारस महान ॥
जय तीन लोक आनन्द देन, भविजन के दाता भये ऐन।
जय जिनने प्रभुको शरण लीन, तिनकी सहाय प्रभुजी सो कीन ॥
जय नाग नागनी भये अधीन, प्रभु चरनन लाग रहे प्रवीन।
तजके सु देह सो स्वर्ग जाय, धरणेन्द्र पद्मावती भये जाय ॥
जे चोर अञ्जना अधम जान, चोरी तज प्रभु को धरो ध्यान।
जे मतिसागर इक सेठ जान, जिन रविव्रत पूजा करी ठान ॥

तिनके सुत थे परदेश मांहि, जिन अशुभ-कर्म काटे सु ताहि।
जे रविव्रत पूजन करी सेठ, तो फल कर सबसे भई भेंट॥
जिन-जिनने प्रभुकी शरण लीन, तिन ऋद्धि-सिद्धि पाई नवीन।
जे रविव्रत पूजा करहि जेह, ते सुक्ख अनन्तानन्त लेय॥
धरणेन्द्र पद्मावती हुए सहाय, प्रभु भक्ति जान तत्काल जाय।
पूजा विधान इहि विधि रचाय, मन वचन काय तीनों लगाय॥
जो भक्ति भाव जैमाल गाय, सो नर सुख सम्पति अतुल पाय।
बाजत मृदङ्ग वीनादि सार, गावत-नाचत नाना प्रकार॥
तन नन नन नन ताल देत, सन नन नन तन सुर भरसु लेत।
ताथेई थेई थेई पग धरत जाय, छमछम छमछम घुघरू बजाय।
जे करहिं निरति इहि भांति-भांति, ते लहहि सुख्य शिवपुर सुजाति॥

दोहा—रविव्रत पूजा पार्श्व की, करै भविक जन कोय।
सुख संपति इहि भव लहै, तुरत महासुख होय॥

अडिल्ल—रविव्रत पार्श्व जिनेन्द्र पूज भवि मन धरै।
भव-भव के आताप सकल छिन में टरैं॥
होय सुरेन्द्र नरेन्द्र आदि पदवी लहैं।
सुख-सम्पति सन्तान अटल लक्ष्मी लहैं॥
फेर सर्व निधि पाय भक्ति अनुसरै।
नाना विधि सुख भोग वहुरि शिव तियवरै॥

ॐ ह्रीं श्री पार्श्वनाथ जिनेन्द्राय पूर्णार्घं निर्वपामीति स्वाहा।

दीपावली पूजा

नया वसना

दीपावली के दिन सन्ध्या की शुभ बेला व शुभ नक्षत्र मे नीचे लिखी रीति से पूजा करके नई बही का मुहूर्त तथा दीपों की ज्योति करें।

कुटुम्ब के अभिभावक या दुकान के मालिक को एकाग्र एवं प्रसन्न चित्त से घर या दुकान के पवित्र स्थान में पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके पूजा प्रारम्भ करनी चाहिये, पूजा करनेवाले को अपने सामने एक चौकी पर पूजा की सामग्री रख लेना चाहिये और दूसरी चौकी पर सामग्री चढ़ाने का थाल रख लेना चाहिये। इन दोनों चौकियों के आगे एक चौकी पर केशर से ॐ लिख कर शास्त्रजी को विराजमान करें।

पश्चात् व्यापार की वही मे सुन्दरतापूर्वक केशर से स्वस्तिक लिखे तथा दावात कलम के मौलि वाध कर सामने रखें।

पूजा प्रारम्भ करने के पूर्व उपस्थित सज्जनों को नीचे लिखा श्लोक बोल कर केशर का तिलक कर लेना चाहिये। उपस्थित सज्जनों को भी पूजा बोलना चाहिये व शान्तिपूर्वक सुनना चाहिये।

तिलक मन्त्र

मंगलम् भगवान वीरो, मगलम् गौतमो गणी।
मगलम् कुन्दकुन्दाद्यौ, जैन धर्मोऽस्तु मंगलम् ॥ १ ॥

उपस्थित सज्जनों को तिलक करना चाहिये।

मङ्गल कलश को स्थापना



कलश को जल से धोकर सुपारी, मूग, हल्दी की गाठ धनिया के दाने नवरत्न अक्षत, पुष्प आदि डाल कर जल से परिपूरित कर, लाल कपड़े से मौली द्वारा वेष्ठित नारियल को कलश के मुख पर रखे पश्चात

ॐ अद्य भगवतो महापुरुषस्य श्री मदादि व्रह्मणो मतेऽस्मिन् नूतन वसना मङ्गल कर्मणि होम मण्डप भूमि शुद्धयर्थं पात्र शुद्धयर्थं क्रिया शुद्ध्यर्थं शान्त्यर्थं पुण्याहवाचनार्थं नवरत्नगन्धपुष्पाक्षतादि बीज फल सहित शुद्ध प्रासुक तीर्थ जल पूरितं मङ्गल कलश संस्थापन करोम्यह ।

भवी क्षवी ह स स्वाहा । श्रीमज्जिनेन्द्र चरणारविन्देष्वानन्द भक्ति सदास्तु । मन्त्रोचारण करके शास्त्रजी की चौकी पर चावलों के बनाये साथिये



पर मङ्गल कलश स्थापन करे।

साधारण *नित्य नियम पूजा* करके *श्री महावीर स्वामी की* और सरस्वती *की पूजा* करें—सरस्वती पूजा मे फल चढाने के बाद शास्त्रजी के लिये शुद्ध वस्त्र या वेस्टन चढावें। पूजा के पश्चात् कर्पूर प्रज्वलित कर श्रद्धापूर्वक खड़े होकर सब ललित-ध्वनि से नीचे लिखी आरती बोलें।

जिनवाणी माता की आरती

जय अम्बे वाणी, माता जय अम्बे वाणी।
तुमको निशि दिन ध्यावत सुर नर मुनि ज्ञानी ॥ टेर ॥
श्रीजिन गिरितैं निकसी, गुरु गौतम वाणी।
जीवन भ्रम तम नाशन, दीपक दरशाणी ॥ जय० ॥ १ ॥
कुमत कुलाचल चूरण, वज्र सु सरधानी।
नय नियोग निक्षेपण, देखन दरशाणी ॥ जय० ॥ २ ॥
पातक पङ्क पखानल, पुन्य परम पाणी।
मोहमहार्णव डूबत, तारण नौकाणी ॥ जय० ॥ ३ ॥
लोकालोक निहारण, दिव्य नेत्र स्थानी।
निज पर भेद दिखावन, सूरज किरणानी ॥ जय० ॥ ४ ॥
श्रावक मुनिगण जननी, तुमही गुणखानी।
सेवक लख सुखदायक, पावन परमाणी ॥ जय० ॥ ५ ॥

पश्चात् नीचे लिखे अनुसार बहियों में स्वस्तिकादि लिख कर वीर संवत्, विक्रम संवत्, ईस्वी सन, मिती, वार, तारीख आदि लिखें।

श्री महावीराय नमः

श्री

श्री लाभ — श्री श्री — श्री शुभ

श्री श्री श्री

श्री श्री श्री श्री

श्री ऋषभाय नमः — श्री श्री श्री श्री श्री — श्री वर्धमानाय नमः

श्री गौतम गणधराय नमः — श्री जिनमुखोद्भवसरस्वतीदेव्यै नमः

श्री केवलज्ञानलक्ष्मीदेव्यै नमः

श्री भक्तामर स्तोत्र पूजा

ॐ जय जय जय । नमोऽस्तु नमोऽस्तु नमोऽस्तु ॥

अनुष्टुप् ।

परमज्ञान वाणासि, घाति-कर्म प्रघातिनम् ।
महा धर्म प्रकर्त्तारं, वन्देऽहमादि नायकम् ॥
भक्तामर महास्तोत्रं, मन्त्रपूजां करोम्यहम् ।
सर्वजीव-हितागारं, आदिदेवं नमाम्यहम् ॥

ॐ ह्रीं श्री आदिदेव ! अत्र अवतर अवतर संवौषट् आह्वानन ।
ॐ ह्रीं श्री आदिदेव ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठ ठ. स्थापन ।
ॐ ह्रीं श्री आदिदेव ! अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् सन्निधापण ।

अथाष्टकं ।

सुरसुरी नदसंभृत जीवनैः सकल ताप हरैः सुख कारणैः ।
वृषभनाथ वृषांक समन्वितं शिवकरं प्रयजे हत किल्विषं ॥

ॐ ह्रीं श्री वृषभनाथ जिनेन्द्राय जन्ममृत्युविनाशनाय जल निर्वपामीति स्वाहा ॥ १ ॥

मलय चन्दन मिश्रित कुंकुमैः सुरभितागत षट्पद नंदनैः । वृ०

ॐ ह्रीं श्री वृषभनाथ जिनेन्द्राय ससारतापविनाशनाय चन्दन निर्वपामीति स्वाहा ॥ २ ॥

कमल जाति समुद्भवतन्दुलैः परम पावन पञ्च सुपुञ्जकैः । वृ०

ॐ ह्रीं श्री वृषभनाथ जिनेन्द्राय अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा ॥ ३ ॥

जलज चंपक जाति सुमालती, वकुलपाडलकुंद सुपुष्पकैः । वृ०

ॐ ह्रीं श्री वृषभनाथ जिनेन्द्राय कामबाणविध्वसनाय पुष्प निर्वपामीति स्वाहा ॥ ४ ॥

वटक खज्जक मंडुक पायसै र्विविध मोदकव्यञ्जनषट्रसैः । वृ०

ॐ ह्रीं श्री वृषभनाथ जिनेन्द्राय क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्य निर्वपामीति स्वाहा ॥ ५ ॥

रविकर द्युति सन्निभ दीपकैः प्रबलमोह घनांध निवारकैः। वृ०

ॐ ह्रीं श्रीं वृषभनाथ जिनेन्द्राय मोहान्धकारविनाशनाय दीप निर्वपामीति स्वाहा ॥ ६ ॥

स्वगुरु धूपभरैं घटनिक्षितैः प्रतिदिशं मिलितालिसमूहकैः। वृ०

ॐ ह्रीं श्रीं वृषभनाथ जिनेन्द्राय अष्टकर्मदहनाय धूप निर्वपामीति स्वाहा ॥ ७ ॥

सरस निंबुकलांगलि दाड़िमैःकदलि पुङ्गकपित्थशुभैःफलैः। वृ०

ॐ ह्रीं श्रीं वृषभनाथ जिनेन्द्राय मोक्षफलप्राप्तये फल निर्वपामीति स्वाहा ॥ ८ ॥

सलिल गंध शुभाक्षत पुष्पकैश्चरु सुदीप सु धूप फलार्घकैः।
जिनपतिं च यजे सुखकारकं, वदति मेरु सु चन्द्र यतीश्वरं। वृ०

ॐ ह्रीं श्रीं वृषभनाथ जिनेन्द्राय अनर्घपदप्राप्तये अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ९ ॥

प्रत्येक श्लोक पूजा

(भक्तामर स्तोत्र का एक एक श्लोक पढ़ कर नीचे लिखे क्रम से ॐ ह्रीं बोल कर अर्घ चढ़ाना चाहिये।)

ॐ ह्रीं प्रणत देव समूह मुकुटाग्रमणि महा पापान्धकार विनाशकाय श्री आदि परमेश्वराय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ १ ॥

ॐ ह्रीं गणधर चारण समस्त रूपीन्द्रचन्द्रिलसुरेन्द्रव्यन्तरेन्द्रनागेन्द्र चतुर्विध मुनीन्द्रस्तवितचरणारविन्दाय श्री आदि परमेश्वराय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २ ॥

ॐ ह्रीं विगतबुद्धिगर्व्वोपहतरसहित श्री मानतुङ्गाचार्य भक्तिसहिताय श्री आदि परमेश्वराय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ३ ॥

ॐ ह्रीं त्रिभुवनगुणसमुद्र चन्द्रकान्तिमणितेजशरीरसमस्त सुरनाथ स्तवित श्री आदि परमेश्वराय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ४ ॥

ॐ ह्रीं अनन्त गणधरादि मुनिवर प्रतिपालक मृगबालवत श्री आदिनाथ परमेश्वराय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ५ ॥

ॐ ह्रीं श्रीं जिनेन्द्र चन्द्रभक्तिसर्व सौख्य तुच्छभक्ति बहु सुखदायकाय श्री जिनेन्द्राय आदि परमेश्वराय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ६ ॥

ॐ ह्रीं श्रीं अनन्त भव पातक सर्व विघ्नविनाशकाय तव, स्तुतिसौख्यदायकाय श्री आदि परमेश्वराय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ७ ॥

ॐ ह्रीं श्री जिनेन्द्र स्तवन सत्पुरुचित्त चमत्काराय श्री आदि परमेश्वराय अर्घं० ।

ॐ ह्रीं जिनपूजनस्तवन कथाश्रवणेन समस्त पाप विनाशकाय जगत्त्रय भव्यजीव भवविघ्ननाशसमर्थाय च श्री आदि परमेश्वराय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ९ ॥

ॐ ह्रीं त्रैलोक्यगुणमण्डितसमस्तोपमासहिताय श्री आदि परमेश्वराय अर्घं० ॥१०॥

ॐ ह्रीं श्री जिनेन्द्र दर्शनेन अनन्त भव संचित अघसमूह विनाशकाय श्री प्रथम जिनेन्द्राय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ११ ॥

ॐ ह्रीं त्रिभुवन शान्त स्वरूपाय त्रिभुवन तिलकाय मानाय श्री आदि परमेश्वराय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ १२ ॥

ॐ ह्रीं त्रैलोक्यविजयरूप अतिशय अनन्तचन्द्र तेजजित सदातेज पूजमानाय श्री आदि परमेश्वराय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ १३ ॥

ॐ ह्रीं शुभगुणातिशयरूप त्रिभुवनजीत जिनेन्द्र गुण विराजमानाय श्री प्रथम जिनेन्द्राय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ १४ ॥

ॐ ह्रीं मेरुचन्द्र अचलशील शिरोमणि व्रतोधराजमण्डित चतुर्विध वनिता विरहित शीलसमुद्राय श्री आदि परमेश्वराय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ १५ ॥

ॐ ह्रीं धूम्रस्नेह वातादि विघ्नरहिताय त्रैलोक्य परम केवल दीपकाय श्री प्रथम जिनेन्द्राय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ १६ ॥

ॐ ह्रीं राहु चन्द्र पूजित कर्म प्रकृति क्षयति निवारण ज्योतिरूप लोकद्वयावलोकि सदोदयादि परमेश्वराय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ १७ ॥

ॐ ह्रीं नित्योदयादि रूप राहुना अग्रसिताय त्रिभुवन सर्व कला सहित विराजमानाय श्री आदि परमेश्वराय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ १८ ॥

ॐ ह्रीं चन्द्र सूर्योदयास्त रजनी दिवस रहित परम केवलोदय सदादीप्ति विराजमानाय श्री आदि देवाय आदि परमेश्वराय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ १९ ॥

ॐ ह्रीं हरि हरादि ज्ञानसहिताय सर्वज्ञ परम ज्योति केवलज्ञान सहिताय श्री आदि परमेश्वराय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २० ॥

ॐ ह्रीं त्रिभुवन मनमोहन जिनेन्द्ररूप अन्य दृष्टान्त रहित परम बोध मण्डिताय श्री आदि जिनाय परमेश्वराय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २१ ॥

ॐ ह्रीं त्रिभुवन वनितोपमारहित श्री जिनवर माताजनित जिनेन्द्र पूर्व दिग् भास्कर केवलज्ञान भास्कराय श्री आदिब्रह्म जिनाय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २२ ॥

ॐ ह्रीं त्रैलोक्य पावनादिलक्षणं परमाष्टोत्तर शत लक्षण नव शत व्यञ्जनसमुदाय एक सहस्र अष्ट मण्डिताय श्री आदि जिनेन्द्राय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २३ ॥

ॐ ह्रीं ब्रह्मा विष्णु धीवरेन्द्र गणपति त्रिभुवन देवत्व सेवित्ताय चेतिकाय श्री आदि परमेश्वराय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २४ ॥

ॐ ह्रीं बुद्धिवाक देवधर महादि समस्तानन्तनामसहिताय श्री आदि जिनेन्द्राय परमेश्वराय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ २५ ॥

ॐ ह्रीं अधोमध्योर्द्ध्व लोकत्रय कृताद्योराग्निनमस्कार समस्तातिरौद्रविनाशक त्रिभुवनेश्वर भवोदधि तरण तारण समर्थाय श्री आदि परमेश्वराय अर्घं० ॥ २६ ॥

ॐ ह्रीं परमगुणाधिता एकादि अष्टगुणसहिताय श्री आदि परमेश्वराय अर्घं० ॥२७॥

ॐ ह्रीं अशोक वृक्ष प्रातिहार्य सहिताय परमेश्वराय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥२८॥

ॐ ह्रीं सिंहासन प्रातिहार्य सहिताय श्री प्रथम जिनेन्द्राय अर्घं निर्वपामीति० ॥२९॥

ॐ ह्रीं चतु षष्टि चामर प्रातिहार्य सहिताय श्री प्रथम जिनेन्द्राय अर्घं० ॥ ३० ॥

ॐ ह्रीं छत्रत्रय प्रातिहार्य सहिताय श्री आदि परमेश्वराय अर्घं निर्वपामीति० ॥३१॥

ॐ ह्रीं अपादन कोटि वादित्र प्रातिहार्य सहिताय श्री परमादि जिनाय अर्घं० ॥३२॥

ॐ ह्रीं समस्त पुष्प जाति वृष्टि प्रातिहार्य सहिताय श्री आदि जिनेन्द्राय अर्घं० ॥३३॥

ॐ ह्रीं कोटि भास्कर प्रभा मण्डित भामण्डल प्रातिहार्य सहिताय श्री परमादि जिनाय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ३४ ॥

ॐ ह्रीं सकल जलधर पटलगर्जितध्वनि योजन प्रमाण प्रातिहार्य सहिताय श्री आदि परमेश्वराय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ३५ ॥

ॐ ह्रीं हेम कमलोपरि गमन देवकृतातिशय सहिताय श्री आदि परमेश्वराय अर्घं० ॥३६॥

ॐ ह्रीं धर्मोपदेश समये समवसरण विभूति मण्डिताय श्री आदि परमेश्वराय अर्घं० ॥३७॥

ॐ ह्रीं मत्तकालिमरण सुर गजेन्द्र महादुर्द्धर भय विनाशकाय श्रीजिनाय परमेश्वराय अर्घं०

ॐ ह्रीं आदिदेव नाम प्रसादान्महाचिद भय विनाशकाय श्रीयुगादि परमेश्वराय अर्घं० ॥३९॥

ॐ ह्रीं महापत्ति विषभक्षण समर्थ जिननाम जल विनाशकाय श्री आदि ब्रह्मणे परमेश्वराय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ४० ॥

ॐ ह्रीं रक्तनयन सर्पं जिन नागदमन्यौषधि समस्त भय विनाशकाय श्री जिनादि परमेश्वराय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ४१ ॥

ॐ ह्रीं महासंग्राम भयविनाशकाय सर्वाङ्गरक्षणकराय श्री प्रथम जिनेन्द्राय परमेश्वराय अर्घं० ॥४२॥

ॐ ह्रीं महारिपुयुद्धे जयदायकाय श्री आदि परमेश्वराय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥४३॥

ॐ ह्रीं महासमुद्र चलित वातमहादुर्जय भय विनाशकाय श्री जिनादि परमेश्वराय अर्घं० ॥४४॥

ॐ ह्रीं दश प्रकार ताप जलधराष्टादश कुष्ट सन्निपात महद्रोग विनाशकाय परमकामदेवरूप प्रकटाय श्री जिनेश्वराय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ४५ ॥

ॐ ह्रीं महाबन्धन आपाद कण्ठ पर्यन्त वैरिकृतोपद्रव भय विनाशकाय श्री आदि परमेश्वराय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ४६ ॥

ॐ ह्रीं सिंह गजेन्द्र राक्षस भूत पिशाच शाकिनी रिपु परमोपद्रव भय विनाशकाय श्री जिनादि परमेश्वराय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ४७ ॥

ॐ ह्री पठक पाठक श्रोता वा श्रद्धावान मानतुङ्गाचार्यादि समस्त जीव कल्याणदायक श्री आदि परमेश्वराय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ४८ ॥

वन सुगंध सु तन्दुल पुष्पकैः प्रवर मोदक दीपक धूपकैः ।
फल वरैः परमात्म पदप्रदं, प्रवियजे श्रीआदि जिनेश्वरम् ॥

ॐ ह्रीं अष्ट चत्वारिंशत्कमलेभ्य पूर्णार्घं निर्वपामीति स्वाहा ।

जयमाला ।

श्लोक—प्रमाणद्वय कर्त्तारं स्यादस्ति वाद वेदकं ।
द्रव्यतत्व नयागार मादिदेवं नमाम्यहम् ॥

छन्द ।

आदि जिनेश्वर भोगागारं, सर्व जीववर दया सुधारं ।
परमानन्द रमा सुखकन्दं, भव्य जीव हित करणममन्दं ॥ २ ॥
परम पवित्र वंशवर मण्डन, दुःख दारिद्र काम बल खण्डन ।
वेद-कर्म दुर्जय बल दण्डन, उज्ज्वल ध्यान प्रति शुभ मण्डन ॥ ३ ॥
चतु अस्सीलक्ष पूर्व जीवित पर, धनुष पञ्च शत मानस जिनवर ।
हेमवर्ण रूपौघ विमल कर, नगर अयोध्या स्थान व्रत धर ॥ ४ ॥

नाभिराज परमात्म सु पेता, माता मरुदेवी गुण नेता।
सोल स्वप्न पर भेद दिखाता, त्रिभुवननायक पुन विधाता॥ ५॥
गर्भकल्याणक सुरपति कीधा, जन्मकल्याणक मेरुशिर सीधा।
स्वयं स्वयंभू दीक्षाधारी, केवल बोध सु त्रिभुवन प्यारी॥ ६॥
अष्ट गुणाकर सिद्ध दिवाकर, परम धर्म विस्तारण जय भर।
शीलवार रहितं भय हारी, सर्व सौख्य निरुपम गुणधारी॥ ७॥

घत्ता।

जय आदि सु ब्रह्मा, त्रिभुवन ब्रह्मा ब्रह्मास्वातम स्वरूप परं।
जय बोधसु ब्रह्मा, पंच सु ब्रह्मा, ब्रह्मा सुमति जलधिनिकरं॥

ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं आदि ब्रह्मदेवाय जयमालार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

शार्दूलविक्रीडित।

देवोऽनेक भवार्जितो गत महा पापः प्रदीपा नलः।
देवः सिद्ध वधू विशाल हृदयालंकार हारोपमः॥
देवोऽष्टादश दोष सिन्धुर घटा दुर्भेद पञ्चाननो।
भव्यानां विदधातु वांछित फलं श्री आदिनाथो जिनः॥

श्लोक—लक्ष्मीचन्द्रगुरुर्जातो मूलसंघ विदाग्रणी।
पट्टाभयचन्द्रो देवो दयानन्दि विदांवरः॥
रत्नकीर्ति कुमुदेन्दु सुमतिः सागरोदितः।
भक्तामर महास्तोत्र पूजा चक्रीगुणाधिका॥

इति श्री [illegible] विरचित भक्तामर स्तोत्र पूजा समाप्ता।

श्री मानतुङ्गाचार्य विरचितं

श्री भक्तामर स्तोत्रं ।

वसन्त तिलका छन्द

भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणा-
मुद्योतकं दलितपापतमोवितानम्
सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुगंयुगादा,
वालम्बनं भवजले पततां जनानाम् ॥१॥

यः संस्तुतः सकलवाङ्मयतत्त्वबोधा-
दुद्भूत बुद्धिपटुभिः सुरलोकनाथैः।
स्तोत्रै र्जगत्त्रितयचित्तहरै रुदारैः,
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम् ॥२॥

बुद्धया विनापि विबुधार्चितपादपीठ
स्तोतुं समुद्यतमतिर्विगतत्रपोऽहम्
बालं विहाय जलसंस्थितमिंदुबिंब-
मन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम् ॥३॥

वक्तुं गुणान्गुणसमुद्रशशाङ्ककान्तान्,
कस्ते क्षमः सुरगुरुप्रतिमोऽपिबुद्धया ।

कल्पांतकालपवनोद्धतनक्रचक्रं,
को वा तरीतुमलमंबुनिधिं भुजाभ्याम् ॥ ४ ॥
सोऽहं तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश,
कर्तुं स्तवं विगतशक्तिरपि प्रवृत्तः।
प्रीत्यात्मवीर्यमविचार्य मृगी मृगेन्द्रं,
नाभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थम् ॥५॥
अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम,
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति,
तच्चाम्रचारुकलिकानिकरैकहेतु ॥६॥
त्वत्संस्तवेन भवसन्ततिसन्निबद्धं,
पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीरभाजाम्
आक्रान्तलोकमलिनीलमशेषमाशु
सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम् ॥७॥
मत्वेति नाथ तव संस्तवनं मयेद-
मारभ्यते तनुधियापि तव प्रभावात्।
चेतो हरिष्यति सतां नलिनीदलेषु
मुक्ताफलद्युतिमुपैति ननूदबिंदुः ॥८॥

आस्तां तवस्तवनमस्तसमस्तदोषं,
त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति ।
दूरे सहस्रकिरणः कुरुते प्रभैव
पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि ॥९॥

नात्यद्भुतं भुवनभूषण भूतनाथ ।
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः ।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥१०॥

दृष्ट्वा भवन्तमनिमेषविलोकनीयं
नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः ।
पीत्वा पयः शशिकरद्युति-दुग्धसिन्धोः
क्षारं जलं जलनिधेः रसितुं क इच्छेत् ॥११॥

यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं
निर्मापित-स्त्रिभुवनैक ललामभूत ।
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां,
यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति ॥१२॥

वक्त्रं क्व ते सुरनरोरगनेत्रहारि
निःशेषनिर्जितजगत्त्रितयोपमानम्

बिंबं कलंकमलिनं क्व निशाकरस्य,
यद्वासरे भवति पांडुपलाशकल्पम् ॥ १३ ॥
सम्पूर्णमण्डलशशांककलाकलाप-
शुभ्रा गुणास्त्रिभुवनं तव लंघयन्ति ।
ये संश्रितास्त्रिजगदीश्वरनाथमेकं,
कस्तान्निवारयति संचरतो यथेष्टम् ॥ १४ ॥
चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभि-
र्नीतं मनागपि मनो न विकारमार्गम्
कल्पांतकालमरुता चलिताचलेन,
किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित् ।१५।
निर्धूमवर्त्तिरपवर्जिततैलपूरः,
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि ।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां,
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ जगत्प्रकाशः ।१६।
नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्यः,
स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगन्ति ।
नांभोधरोदरनिरुद्धमहाप्रभावः,
सूर्यातिशायिमहिमासि मुनीन्द्र लोके ।१७।

नित्योदयं दलितमोहमहांधकारं,
गम्यं न राहु वदनस्य न वारिदानां ।
विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्पकांति,
विद्योतयज्जगदपूर्वशशांकबिंबम् ॥१८॥
किं शर्वरीषु शशिनाह्नि विवस्वता वा,
युष्मन्मुखेन्दुदलितेषु तमःसु नाथ !
निष्पन्न शालिवनशालिनि जीवलोके,
कार्यं कियज्जलधरैर्जलभारनम्रैः ॥१९॥
ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाशं,
नैवं तथा हरिहरादिषु नायकेषु ।
तेजःस्फुरन्मणिषु याति यथा महत्त्वं,
नैवं तु काचशकले किरणाकुलेऽपि ॥२०॥
मन्ये वरं हरिहरादय एव दृष्टा,
दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति ।
किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः,
कश्चिन्मनो हरति नाथ !भवांतरेऽपि ॥२१॥
स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता ।

सर्वादिशो दधति भानि सहस्ररश्मि,
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम् ॥२२॥
त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस-
मादित्यवर्णममलं तमसः पुरस्तात् ।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं,
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनींद्र पन्थाः ।२३।
त्वामव्ययं विभुमचिंत्यमसंख्यमाद्यं,
ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनङ्गकेतुम् ।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं,
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ।२४।
बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्,
त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रय शङ्करत्वात् ।
धातासि धीर शिवमार्गविधेर्विधानाद,
व्यक्तं त्वमेव भगवन्पुरुषोत्तमोऽसि२५।
तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ,
तुभ्यं नमः क्षितितलामलभूषणाय ।
तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय,
तुभ्यं नमो जिनभवोदधिशोषणाय ।२६।

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषै-
स्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश ।
दोषैरुपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः,
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि २७।
उच्चैरशोकतरुसंश्रितमुन्मयूख-
माभाति रूपममलं भवतो नितांतं ।
स्पष्टोल्लसत्किरणमस्ततमो वितानं,
बिंबं रवेरिवपयोधरपार्श्ववर्ति ।२८।
सिंहासने मणिमयूखशिखाविचित्रे,
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम्
बिंबं वियद्विलसदंशुलतावितानं,
तुङ्गोदयाद्रिशिरसीवसहस्ररश्मेः ।२६।
कुन्दावदातचलचामरचारुशोभं.
विभ्राजते तव वपुः कलधौतकान्तम्
उद्यच्छशाङ्कशुचिनिर्झरवारिधार-
मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शातकौंभम् ।३०।
छत्रत्रयं तव विभाति शशाङ्ककान्त
मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम्

उन्निद्रहेमनवपङ्कजपुञ्जकांती,
पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेंद्र ! धत्तः,
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ।३६।
इत्थं यथा तव विभूतिरभूज्जिनेंद्र,
धर्मोपदेशनविधौ न तथा परस्य ।
यादृक्प्रभा दिनकृतः प्रहतान्धकारा,
तादृक् कुतो ग्रहगणस्य विकाशिनोऽपि ।३७।
श्च्योतन्मदाविलविलोलकपोलमूल-
मत्तभ्रमद्भ्रमरनादविवृद्धकोपं ।
ऐरावताभमिभमुद्धतमापतंतं,
दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम् ।३८।
भिन्नेभकुम्भगलदुज्ज्वलशोणिताक्त-
मुक्ताफलप्रकरभूषितभूमिभागः ।
बद्धक्रमः क्रमगतं हरिणाधिपोऽपि,
नाक्रामति क्रमयुगाचलसंश्रितं ते ।३९।
कल्पांतकालपवनोद्धतवह्निकल्पं,
दावानलंज्वलितमुज्ज्वलमुत्स्फुलिङ्गम्

उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्नाः,
शोच्यां दशामुपगताश्च्युतजीविताशाः ।
त्वत्पादपङ्कजरजोमृतदिग्धदेहा,
मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपाः ॥४५॥

आपादकण्ठमुरुशृङ्खलवेष्टिताङ्गा,
गाढं बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजंघाः ।
त्वन्नाममंत्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः,
सद्यः स्वयं विगतबन्धभया भवन्ति ॥४६॥

मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानलाहि-
संग्रामवारिधि महोदरबन्धनोत्थम्
तस्याशु नाशमुपयाति भयं भियेव,
यस्तावकं स्तवमिमं मतिमानधीते ॥४७॥

स्तोत्र स्रजं तव जिनेन्द्र गुणैर्निबद्धां,
भक्त्या मया विविधवर्णविचित्रपुष्पाम्
धत्ते जनो य इह कण्ठगता-मजस्रं,
तं मानतुङ्गमवशा समुपैति लक्ष्मीः ॥४८॥

इति श्री मानतुङ्गाचार्य विरचित भक्तामर स्तोत्रं समाप्तम् ।

तत्त्वार्थसूत्रम्

[आचार्य गृद्धपिच्छ]

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

त्रैकाल्यं द्रव्य-षट्कं नव-पद-सहितं जीव-षट्काय-लेश्याः
पञ्चान्ये चास्तिकाया व्रत-समिति-गति-ज्ञान-चारित्र-भेदाः ।
इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवन-महितैः प्रोक्तमर्हद्भिरीशैः
प्रत्येति श्रद्दधाति स्पृशति च मतिमान् यः स वै शुद्धदृष्टिः ॥१॥

सिद्धे जयप्पसिद्धे चउविहाराहणफलं पत्ते ।
वंदित्ता अरहंते वोच्छं आराहणा कमसो ॥२॥

उज्जोवणमुज्जवणं णिव्वहणं साहणं च णिच्छरणं ।
दंसण-णाण-चरित्तं तवाणमाराहणा भणिया ॥३॥

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्ष-मार्गः ॥१॥ तत्त्वार्थ-श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥२॥ तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥३॥ जीवाजीवास्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम् ॥४॥ नाम-स्थापना-द्रव्य-भावतस्तन्न्यासः॥५॥ प्रमाण-नयैरधिगमः॥६॥ निर्देश-स्वामित्व-साधनाधिकरण - स्थिति-विधानतः ॥ ७ ॥ सत्संख्या-क्षेत्र-स्पर्शन-कालान्तर-भावाल्पबहुत्वैश्च ॥८॥ मति-श्रुतावधि-मनःपर्यय-केवलानि ज्ञानम् ॥९॥ तत्प्रमाणे ॥१०॥ आद्ये परोक्षम् ॥११॥ प्रत्यक्षमन्यत्॥१२॥मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥१३॥ तदिन्द्रियानिन्द्रिय-

निमित्तम् ॥१४॥ अवग्रहेहावाय-धारणाः॥१५॥ वहु-वहुविध-क्षिप्रानिःसृतानुक्त-ध्रुवाणां सेतराणाम् ॥१६॥ अर्थस्य॥१७॥ व्यञ्जनस्यावग्रहः ॥१८॥ न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥१९॥ श्रुतं मति-पूर्वं द्व्यनेक-द्वादश-भेदम्।२०। भव-प्रत्ययोऽवधिर्देव-नारकाणाम्।२१।क्षयोपशम-निमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम्॥२२॥ ऋजु-विपुलमती मनःपर्ययः ॥२३॥ विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥ २४ ॥ विशुद्धि-क्षेत्र-स्वामि-विषयेभ्योऽवधि-मनः-पर्ययोः॥२५॥मति-श्रुतयोर्निवन्धो द्रव्येष्वसर्व-पर्यायेषु॥२६॥ रूपिष्ववधेः॥२७॥तदनन्त-भागे मनःपर्ययस्य ॥२८॥ सर्व-द्रव्य-पर्यायेषु केवलस्य ॥२९॥ एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ३० ॥ मति-श्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥ ३१ ॥ सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥ ३२ ॥ नैगम-संग्रह-व्यवहारर्जु-सूत्र-शब्द-समभिरूढैवम्भूता नयाः॥३३॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे प्रथमोऽध्याय ॥ १॥

औपशमिक-क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्व-मौदयिक-पारिणामिकौ च ॥ १ ॥ द्वि-नवाष्टादशैकविंशति-त्रि-भेदा यथाक्रमम् ॥ २ ॥ सम्यक्त्व-चारित्रे ॥ ३ ॥ ज्ञान-दर्शन-दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्याणि च ॥ ४ ॥ ज्ञानाज्ञानदर्शन-लब्धयश्चतुस्त्रित्रि-पञ्च-भेदाः सम्यक्त्व-चारित्र-संयमासंयमाश्च ॥ ५ ॥ गति-कषाय-लिङ्ग-मिथ्यादर्शनाज्ञाना-संयतासिद्ध-लेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैक-षड्भेदाः ॥ ६ ॥ जीव-भव्याभव्यत्वानि च ॥ ७ ॥ उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥ स

विधोऽष्ट-चतुर्भेदः ॥ ९ ॥ संसारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥
समनस्कामनस्काः ॥ ११ ॥ संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥१२॥
पृथिव्यप्तेजो वायु-वनस्पतयः स्थावराः ॥१३॥ द्वीन्द्रियादय-
स्त्रसाः ॥ १४ ॥ पञ्चेन्द्रियाणि ॥१५॥ द्विविधानि ॥१६॥
निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥ १७ ॥ लब्ध्युपयोगौ
भावेन्द्रियम् ॥१८॥ स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः-श्रोत्राणि ॥१९॥
स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दास्तदर्थाः ॥ २० ॥ श्रुतमनिन्द्रियस्य
॥२१॥ वनस्पत्यन्तानामेकम् ॥२२॥ कृमि-पिपीलिका-भ्रमर-
मनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥२३॥ संज्ञिनः समनस्काः ॥२४॥
विग्रहगतौ कर्म-योगः ॥ २५ ॥ अनुश्रेणि गतिः ॥ २६ ॥
अविग्रहा जीवस्य ॥ २७ ॥ विग्रहवती च संसारिणः प्राक्
चतुर्भ्यः ॥ २८ ॥ एकसमयाऽविग्रहा ॥ २९ ॥ एकं द्वौ
त्रीन्वाऽनाहारकः ॥३०॥ सम्मूर्छन-गर्भोपपादा जन्म ॥ ३१ ॥
सचित्त-शीत-संवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥ ३२ ॥
जरायुजाण्डज-पोतानां गर्भः ॥ ३३ ॥ देव-नारकाणा-
मुपपादः ॥ ३४ ॥ शेषाणां सम्मूर्छनम् ॥ ३५ ॥ औदारिक-
वैक्रियिकाहारक-तैजस-कार्मणानि शरीराणि ॥ ३६ ॥ परं
परं सूक्ष्मम् ॥३७॥ प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ॥३८॥
अनन्त-गुणे परे ॥ ३९ ॥ अप्रतीघाते ॥ ४० ॥
अनादि-सम्बन्धे च ॥ ४१ ॥ सर्वस्य ॥ ४२ ॥ तदादीनि
भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ४३ ॥ निरुपभोग-

मन्त्यम् ॥ ४४ ॥ गर्भसंमूर्च्छनजमाद्यम् ॥४५॥ औपपादिक वैक्रियिकम् ॥४६॥ लब्धि-प्रत्यय च ॥४७॥ तैजसमपि ॥४८॥ शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥ ४९ ॥ नारक-संमूर्च्छिनो नपुंसकानि ॥ ५० ॥ न देवाः ॥ ५१ ॥ शेषास्त्रिवेदाः ॥ ५२ ॥ औपपादिक-चरमोत्तमदेहाऽसख्येय-वर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ॥ ५३ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे द्वितीयोऽध्याय ॥ २ ॥

रत्न-शर्करा-वालुका-पङ्क-धूम-तमो-महातमः-प्रभा-भूमयो घनाम्बुवाताकाश-प्रतिष्ठाः सप्ताऽधोऽधः ॥ १ ॥ तासु त्रिंश-त्पंचविंशति-पंचदश-दश-त्रि-पञ्चोनैक-नरक-शतसहस्राणि पञ्च चैव यथाक्रमम् ॥२॥ नारका नित्याऽशुभतर-लेश्या-परिणाम-देह-वेदना-विक्रियाः ॥ ३ ॥ परस्परोदीरित-दुःखाः ॥ ४ ॥ सक्लिष्टाऽसुरोदीरित-दुखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥ ५ ॥ तेष्वेक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदश-द्वाविंशति - त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा सत्त्वाना परा स्थितिः ॥ ६ ॥ जंबूद्वीप-लवणोदादयः शुभ-नामानो द्वीप-समुद्राः॥७॥द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्व-पूर्व-परिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥८॥ तन्मध्ये मेरु-नाभिर्वृत्तो योजन-शतसहस्र-विष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥ ९ ॥ भरत-हैमवत-हरि-विदेह-रम्यक-हैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥१०॥ तद्विभाजिनः पूर्वापरा-यता हिमवन्महाहिमवन्निषध-नील-रुक्मि-शिखरिणो वर्षधर-पर्वताः ॥११॥ हेमार्जुन-तपनीय-वैडूर्य-रजत-हेममयाः ॥१२॥

मणिविचित्र-पार्श्वा उपरि मूले च तुल्य-विस्ताराः ॥ १३ ॥
पद्म-महापद्म-तिगिंछ-केसरि-महापुण्डरीक-पुण्डरीका ह्रदास्ते-
षामुपरि ॥ १४ ॥ प्रथमो योजन-सहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भो
ह्रदः ॥ १५ ॥ दश-योजनावगाहः ॥ १६ ॥ तन्मध्ये योजनं
पुष्करम् ॥१७॥ तद्द्विगुण-द्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ॥१८॥
तन्निवासिन्यो देव्यः श्री-ह्री-धृति-कीर्ति-बुद्धि-लक्ष्म्यः पल्यो-
पमस्थितयः ससामानिक-परिषत्काः ॥ १९ ॥ गङ्गा-सिन्धु-
रोहिद्रोहितास्या-हरिद्धरिकान्ता-सीता-सीतोदा-नारी-नरकान्ता-
सुवर्ण-रूप्यकूला-रक्ता-रक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ॥ २० ॥
द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥ २१ ॥ शेषास्त्वपरगाः ॥ २२ ॥
चतुर्दश-नदी-सहस्र-परिवृता गंगा-सिन्ध्वादयो नद्यः ॥२३॥
भरतः षड्विंशति-पञ्चयोजनशत-विस्तारः षट् चैकोनविंशति-
भागा योजनस्य॥२४॥ तद्द्विगुण-द्विगुण-विस्तारा वर्षधर-वर्षा
विदेहान्ताः॥२५॥ उत्तरा दक्षिण-तुल्याः॥२६॥ भरतैरावतयो-
र्वृद्धि-ह्रासौ षट्-समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥ २७ ॥
ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः ॥ २८ ॥ एक-द्वि-त्रि-
पल्योपम-स्थितयो हैमवतक-हारिवर्षक-दैवकुरवकाः ॥ २९ ॥
तथोत्तराः ॥ ३० ॥ विदेहेषु संख्येय-कालाः ॥३१॥ भरतस्य
विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवति-शत-भागः ॥ ३२ ॥
द्विर्धातकीखण्डे ॥३३॥ पुष्करार्द्धे च ॥३४॥ प्राङ्मानुषो-
त्तरान्मनुष्याः ॥ ३५ ॥ आर्या म्लेच्छाश्च ॥ ३६ ॥

भरतैरावत-विदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः॥३७॥ नृस्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥ ३८ ॥ तिर्यग्योनिजानां च ॥ ३९ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

देवाश्चतुर्णिकायाः॥१॥आदितस्त्रिषु पीतान्त-लेश्याः॥२॥ दशाष्ट-पञ्च-द्वादश-विकल्पाः कल्पोपपन्न-पर्यन्ताः ॥३॥ इन्द्र-सामानिक - त्रायस्त्रिंश-पारिषदात्मरक्ष - लोकपालानीक-प्रकीर्णकाभियोग्य-किल्विषिकाश्चैकशः ॥४॥ त्रायस्त्रिंश-लोक-पाल-वर्ज्या व्यन्तर-ज्योतिष्काः ॥ ५ ॥ पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥ ६ ॥ काय-प्रवीचारा आ ऐशानात् ॥७॥ शेषाः स्पर्श-रूप-शब्द-मनः-प्रवीचाराः ॥८॥ परेऽप्रवीचाराः॥९॥ भवनवासिनोऽसुर-नाग-विद्युत्सुपर्णाग्नि-वात-स्तनितोदधि-द्वीप-दिक्कुमाराः ॥१० व्यन्तराः किन्नर-किम्पुरुष-महोरग-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-भूत-पिशाचाः ॥ ११ ॥ ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रह-नक्षत्र-प्रकीर्णक-तारकाश्च॥१२॥ मेरु-प्रदक्षिणा नित्य-गतयो नृ-लोके ॥१३॥ तत्कृतः काल-विभागः ॥१४॥ बहिरवस्थिताः ॥१५॥ वैमानिकाः ॥१६॥ कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥१७॥ उप-र्युपरि ॥१८॥ सौधर्मैशान-सानत्कुमार-माहेन्द्र -ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर-लान्तव-कापिष्ठ-शुक्र-महाशुक्र -शतार-सहस्रारेष्वानत-प्राणतयो-रारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजय-वैजयन्त-जयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥१९॥ स्थिति-प्रभाव-सुख-द्युति-लेश्या-

विशुद्धीन्द्रियावधि-विषयतोऽधिकाः ॥ २० ॥ गतिशरीर-परिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥२१॥ पीत-पद्म-शुक्ल-लेश्या द्वि-त्रि-शेषेषु ॥२२॥ प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥२३॥ ब्रह्म-लोकालया लौकान्तिकाः ॥ २४ ॥ सारस्वतादित्य - वह्न्यरुण - गर्दतोय-तुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ॥२५॥ विजयादिषु द्वि-चरमाः ॥२६॥ औपपादिक-मनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥२७॥ स्थिति-रसुर-नाग-सुपर्ण-द्वीप-शेषाणां सागरोपम-त्रिपल्योपमार्ध-हीन-मिताः ॥२८॥ सौधर्मैशानयोः सागरोपमेऽधिके ॥२९॥ सानत्कुमार-माहेन्द्रयोः सप्त ॥३०॥ त्रि-सप्त-नवैकादश-त्रयोदश-पञ्चदशभिरधिकानि तु ॥३१॥ आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥३२॥ अपरा पल्योपममधिकम् ॥३३॥ परतःपरतःपूर्वा पूर्वाऽनन्तरा ॥३४॥ नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥३५॥ दश-वर्ष-सहस्राणि प्रथमायाम् ॥३६॥ भवनेषु च ॥३७॥ व्यन्तराणां च ॥३८॥ परा पल्योपम-मधिकम् ॥३९॥ ज्योतिष्काणां च ॥४०॥ तदष्ट-भागोऽपरा ॥४१॥ लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ॥४२॥

इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे चतुर्थोऽध्याय ॥ ४ ॥

अजीव-काया धर्माधर्माकाश-पुद्गलाः ॥१॥ द्रव्याणि ॥ २ ॥ जीवाश्च ॥ ३ ॥ नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥ ४ ॥ रूपिणः पुद्गलाः ॥ ५ ॥ आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥ ६ ॥ निष्क्रियाणि च ॥ ७ ॥ असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैक-

जीवानाम् ॥८॥ आकाशस्यानन्ताः॥९॥ संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥१०॥ नाणोः ॥११॥ लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥ धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥ एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥ १४ ॥ असंख्येय-भागादिषु जीवानाम् ॥१५॥ प्रदेश-संहार-विसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥१६॥ गति-स्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥१७॥ आकाशस्यावगाहः॥१८॥ शरीर-वाङ्-मनः-प्राणापानाः पुद्गलानाम्॥१९ सुख-दुःख-जीवित-मरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥ परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥ २१ ॥ वर्तना-परिणाम-क्रिया-परत्वापरत्वे च कालस्य ॥ २२ ॥ स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवन्तः पुद्गलाः ॥२३॥ शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद-तमश्छायातपोद्योत-वन्तश्च ॥ २४ ॥ अणवः स्कन्धाश्च ॥ २५ ॥ भेद-संघातेभ्य उत्पद्यन्ते ॥२६॥ भेदादणुः ॥२७॥ भेद-संघाताभ्यां चाक्षुषः ॥ २८ ॥ सद् द्रव्य-लक्षणम् ॥ २९ ॥ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत् ॥ ३० ॥ तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥३१॥ अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥ ३२ ॥ स्निग्ध-रूक्षत्वाद्बन्धः ॥ ३३ ॥ न जघन्य-गुणानाम् ॥३४॥ गुण-साम्ये सदृशानाम् ॥३५॥ द्व्यधिकादि-गुणानां तु ॥ ३६ ॥ बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥३७॥ गुण-पर्ययवद् द्रव्यम् ॥ ३८ ॥ कालश्च ॥ ३९ ॥ सोऽनन्तसमयः ॥४०॥ द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥४१॥ तद्भावः परिणामः ॥ ४२ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

काय-वाङ्-मनःकर्म योगः ॥१॥ स आस्रवः॥२॥ शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥३॥ सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥ ४ ॥ इन्द्रिय-कषायाव्रत-क्रियाः पञ्च-चतुः-पञ्च-पञ्चविंशति-संख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥५॥ तीव्र-मन्द-ज्ञाताज्ञात-भावाधिकरण-वीर्य-विशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥ ६ ॥ अधिकरणं जीवाजीवाः ॥७॥ आद्यं संरम्भ-समारम्भारम्भ-योग-कृत-कारितानुमत-कषाय-विशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥८॥ निर्वर्तना-निक्षेप-संयोग-निसर्गा द्वि-चतुर्द्वि-त्रि-भेदाः परम्॥९॥तत्प्रदोष-निह्नव-मात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञान-दर्शनावरणयोः॥१० दुःख-शोक-तापाक्रन्दन-वध-परिदेवनान्यात्म-परोभय-स्थानान्यसद्वेद्यस्य ॥११॥ भूत-व्रत्यनुकम्पादान-सरागसंयमादि-योगः क्षांतिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥१२॥ केवलि-श्रुत-संघ-धर्म-देवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥ १३ ॥ कषायोदयात्तीव्र-परिणामश्चारित्रमोहस्य ॥ १४ ॥ बह्वारम्भ-परिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥१५॥ माया तैर्यग्योनस्य ॥१६॥ अल्पारम्भ-परिग्रहत्वं मानुषस्य ॥१७॥स्वभाव-मार्दवं च॥१८॥ निःशील-व्रतत्वं च सर्वेषाम्॥१९॥ सरागसंयम-संयमासंयमाकामनिर्जरा-बालतपांसि दैवस्य ॥२०॥ सम्यक्त्वं च ॥२१॥ योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः॥२२॥ तद्विपरीतं शुभस्य ॥२३॥ दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शील-व्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग-संवेगौ शक्तितस्त्याग-तपसी साधु-समाधिर्वैया

वृत्यकरणमर्हदाचार्य-बहुश्रुत-प्रवचन-भक्तिरावश्यकापरिहाणि-मार्ग-प्रभावना प्रवचन-वत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥२४॥ परात्म-निन्दा-प्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य॥२५॥ तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य॥२६॥ विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥२७॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे षष्ठोऽध्याय ॥ ६ ॥

हिंसाऽनृत-स्तेयाब्रह्म-परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥१॥ देश-सर्वतोऽणु-महती॥२॥तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥३॥ वाङ्-मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपण-समित्यालोकित-पानभोजनानि पञ्च ॥४॥क्रोध-लोभ भीरुत्व-हास्य-प्रत्याख्यानान्यनुवीची-भाषणं च पञ्च॥५॥शून्यागार-विमोचितावास-परोपरोधाकरण-भैक्ष्यशुद्धि-सधर्माविसंवादाः पञ्च ॥६॥ स्त्रीरागकथाश्रवण-तन्मनोहरांग-निरीक्षण-पूर्वरतानुस्मरण-वृष्येष्टरस-स्वशरीरसंस्कार-त्यागाः पञ्च ॥७॥ मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रिय-विषय-राग-द्वेष-वर्जनानि पञ्च ॥८॥ हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥९॥ दुःखमेव वा ॥१०॥ मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थानि च सत्त्व-गुणाधिक-क्लिश्य-मानाविनेयेषु ॥११॥ जगत्काय-स्वभावौ वा संवेग-वैराग्यार्थम् ॥ १२ ॥ प्रमत्तयोगात्प्राण-व्यपरोपणं हिंसा ॥ १३ ॥ असद्भिधानमनृतम् ॥१४॥ अदत्तादानं स्तेयम् ॥१५॥ मैथुन-मब्रह्म ॥१६॥ मूर्छा परिग्रहः ॥१७॥ निःशल्यो व्रती ॥१८॥ अगार्यनगारश्च॥१९॥ अणुव्रतोऽगारी॥२०॥ दिग्देशानर्थदण्ड-

विरति-सामायिक-प्रोषधोपवासोपभोग-परिभोग-परिमाणातिथि संविभाग-व्रत-सम्पन्नश्च ॥२१॥ मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥ २२ ॥ शंका-कांक्षा-विचिकित्सान्यदृष्टि-प्रशंसा-संस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥२३॥ व्रत-शीलेषु पञ्च पञ्च यथाक्रमम् ॥ २४ ॥ बन्ध-वध-च्छेदातिभारारोपणान्नपान-निरोधाः ॥२५॥ मिथ्योपदेश-रहोभ्याख्यान-कूटलेखक्रिया-न्यासापहार-साकारमन्त्रभेदाः ॥२६॥ स्तेनप्रयोग-तदाहृता-दान-विरुद्धराज्यातिक्रम-हीनाधिकमानोन्मान-प्रतिरूपकव्यवहाराः ॥ २७ ॥ परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीता-गमनानङ्गक्रीडा-कामतीव्राभिनिवेशाः ॥ २८ ॥ क्षेत्रवास्तु-हिरण्यसुवर्ण-धनधान्य-दासीदास-कुप्य-प्रमाणातिक्रमाः ॥२९॥ ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रम-क्षेत्रवृद्धि-स्मृत्यन्तराधानानि ॥३०॥ आनयन-प्रेष्यप्रयोग-शब्द-रूपानुपात-पुद्गलक्षेपाः ॥ ३१ ॥ कन्दर्प-कौत्कुच्य-मौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ॥ ३२ ॥ योग-दुःप्रणिधानानादर-स्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३३ ॥ अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादान-संस्तरोपक्रमणा-नादर-स्मृत्यनुपस्थानानि ॥ ३४ ॥ सचित्त-सम्बन्ध-सम्मिश्राभिषव-दुःपक्वाहाराः ॥३५॥ सचित्तनिक्षेपापिधान-पर-व्यपदेश-मात्सर्य-कालातिक्रमः ॥३६॥ जीवित-मरणाशंसा-मित्रानुराग-सुखानुबन्ध-निदानानि ॥ ३७ ॥ अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥३८॥ विधि-द्रव्य-दातृ-पात्र-विशेषा-

त्त्वद्विशेषः ॥३६॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे सप्तमोऽध्याय ॥७॥

मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः ।१। सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः॥२॥ प्रकृति-स्थित्यनुभव-प्रदेशास्तद्विधयः ॥ ३ ॥ आद्यो ज्ञान-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीयायुर्नाम-गोत्रान्तरायाः ॥ ४ ॥ पञ्च-नव-द्व्यष्टाविंशति-चतुर्द्विचत्वारिंशद्-द्वि-पञ्च-भेदा यथा-क्रमम् ॥५॥ मति-श्रुतावधि-मनःपर्यय-केवलानाम् ॥६॥ चक्षु-रचक्षुरवधि-केवलानां निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला-प्रचलाप्रचला-स्त्यानगृद्धयश्च ॥७॥ सदसद्वेद्ये ॥८॥ दर्शन-चारित्र-मोहनीया-कषाय-कषायवेदनीयाख्यास्त्रि-द्वि-नव-षोडशभेदाः सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-तदुभयान्यकषाय-कषायौ हास्य-रत्यरति-शोक-भय-जुगुप्सा-स्त्री-पुन्नपुंसक-वेदा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यान-प्रत्या-ख्यान-संज्वलन-विकल्पाश्चैकशः क्रोध-मान-माया-लोभाः॥९॥ नारक-तैर्यग्योन-मानुष-दैवानि ॥ १० ॥ गति-जाति-शरी-राङ्गोपाङ्ग-निर्माण-बन्धन-संघात-संस्थान-संहनन-स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णानुपूर्व्यगुरुलघूपघात - परघातातपोद्योतोच्छ्वास-विहायोगतयः प्रत्येकशरीर-त्रस-सुभग-सुस्वर-शुभ-सूक्ष्म-पर्याप्ति-स्थिरादेय-यशःकीर्ति-सेतराणि तीर्थकरत्वं च ॥११॥ उच्चैर्नीचैश्च ॥ १२ ॥ दान - लाभ - भोगोपभोग-वीर्याणम् ॥ १३ ॥ आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपम-कोटीकोट्यः

परा स्थितिः ॥१४॥ सप्ततिर्मोहनीयस्य ॥१५॥ विंशतिर्नाम-गोत्रयोः ॥१६॥ त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः ॥१७॥ अपरा द्वादश-मुहूर्ता वेदनीयस्य ॥१८॥ नाम-गोत्रयोरष्टौ ॥१९॥ शेषाणामन्तर्मुहूर्ता॥२०॥विपाकोऽनुभवः॥२१॥स यथानाम॥२२ ततश्च निर्जरा ॥२३॥ नाम-प्रत्ययाः सर्वतो योग-विशेषात्-सूक्ष्मैक-क्षेत्रावगाह-स्थिताः सर्वात्म-प्रदेशेष्वनन्तानन्त-प्रदेशाः ॥२४॥ सद्वेद्य-शुभायुर्नाम-गोत्राणि पुण्यम् ॥२५॥ अतोऽन्यत्पापम् ॥२६॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रेऽष्टमोऽध्यायः ॥८॥

आस्रव-निरोधः संवरः॥१॥ स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परीषहजय-चारित्रैः ॥२॥ तपसा निर्जरा च ॥३॥ सम्यग्योग-निग्रहो गुप्तिः ॥ ४ ॥ ईर्या-भाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥५॥ उत्तम-क्षमा-मार्दवार्जव-शौच-सत्य-संयम-तप-स्त्यागाकिञ्चन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः॥६॥ अनित्याशरण-संसारै-कत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरा - लोक-बोधिदुर्लभ-धर्मस्वा-ख्यातत्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ॥ ७ ॥ मार्गाच्यवन-निर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः ॥८॥ क्षुत्पिपासा-शीतोष्णदंशमशक-नाग्न्यारति-स्त्री-चर्या - निषद्या - शय्याक्रोश-वध - याचनालाभ-रोग-तृणस्पर्श-मल-सत्कारपुरस्कार-प्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ॥९॥ सूक्ष्मसाम्पराय-च्छद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दश ॥१०॥ एकादश जिने ॥११॥ बादरसाम्पराये सर्वे ॥१२॥ ज्ञानावरणे प्रज्ञा-

परे केवलिनः ॥३८॥ पृथक्त्वैकत्ववितर्क-सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति-व्युपरतक्रियानिवर्तीनि ॥ ३९ ॥ त्र्येकयोग-काययोगा-योगानाम्॥४०॥ एकाश्रये सवितर्क-वीचारे पूर्वे ॥४१॥ अवी-चारं द्वितीयम्॥४२॥ वितर्कः श्रुतम्॥४३॥ वीचारोऽर्थ-व्यञ्जन-योग-संक्रान्तिः ॥४४॥ सम्यग्दृष्टि-श्रावक-विरतानन्तवियोजक-दर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्त-मोहक्षपक- क्षीणमोह-जिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुण-निर्जराः ॥ ४५ ॥ पुलाक-वकुश-कुशील-निर्ग्रन्थ-स्नातका निर्ग्रन्थाः॥४६॥ संयम-श्रुत-प्रतिसेवना-तीर्थ-लिङ्ग-लेश्योपपाद-स्थान-विकल्पतः साध्याः ॥४७॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे नवमोऽध्याय ॥९॥

मोहक्षयाज्ज्ञान-दर्शनावरणान्तराय-क्षयाच्च केवलम्॥१॥ बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्न-कर्म-विप्रमोक्षो मोक्षः ॥२॥ औपशमिकादि-भव्यत्वानां च ॥३॥ अन्यत्र केवलसम्यक्त्व-ज्ञान-दर्शन-सिद्धत्वेभ्यः ॥४॥ तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्या लोका-न्तात् ॥ ५ ॥ पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद् बन्धच्छेदात्तथागतिपरि-णामाच्च॥६॥ आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्ड-बीजवदग्निशिखावच्च ॥७॥ धर्मास्तिकायाभावात् ॥८॥ क्षेत्र-काल-गति-लिङ्ग-तीर्थ-चारित्र-प्रत्येकबुद्ध - बोधित-ज्ञानावगाह-नान्तर-संख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ॥९॥

इति तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे दशमोऽध्याय ॥१०॥

कोटीशतं द्वादश चैव कोट्यो लक्षाण्यशीतिस्त्र्यधिकानि चैव ।
पञ्चाशदष्टौ च सहस्रसंख्यामेतत् श्रु तं पञ्चपदं नमामि ॥ १ ॥

अरहंत भासियत्थं गणहरदेवेहि गथियं सव्वं ।
पणमामि भत्तिजुत्तो, सुदणाणमहोवयं सिरसा ॥ २ ॥
अक्षर-मात्र-पद-स्वर-हीन व्यंजन-सन्धि-विवर्जित-रेफम् ।
साधुभिरत्र मम क्षमितव्यं को न विमुह्यति शास्त्र-समुद्रे ।३।
दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति ।
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुंगवै ॥ ४ ॥
तत्त्वार्थसूत्रकर्त्तारं गृद्ध्रपिच्छोपलक्षितम् ।
वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामिमुनीश्वरम् ॥ ५ ॥
जं सक्कइ तं कीरइ जं पुण सक्कइ तहेव सद्दहणं ।
सद्दहमाणो जीवो पावइ अजरामरं ठाणं ॥६॥
तवयरणं वयधरणं संजमसरणं च जीवदयाकरणम् ।
अंते समाहिमरणं चउविहदुक्खं णिवारेइ ॥ ७ ॥

इति तत्त्वार्थसूत्रं समाप्तम् ।

चौवीस तीर्थंकरोंके चिन्ह

छप्पय ।

गऊपुत्र गजराज, बाज बानर मनमोहै ।
कोक कमल साथिया, सोम सफरीपति सोहै ॥
सुरतरु गैंड़ा महिप, कोल पुनि सेही जानों ।
वज्र हिरन अज मीन, कलश कच्छप उर आनों ॥
शतपत्र शंख अहिराज हरि ऋषभदेव जिन आदिले ।
वर्द्धमानलों जानिये, चिन्ह चारु चौवीस ये ॥

तन्दुल उज्ज्वल अति धोय थारा में लाऊँ।
तुम सन्मुख पुञ्ज चढ़ाय अक्षय पद पाऊँ॥ चाँदन०
ॐ ह्री श्री चाँदनपुर महावीर स्वामिने अक्षयपदप्राप्तये अक्षत० ॥ ३ ॥

वेला केतुकी गुलाब चम्पा कमल लऊँ।
जे कामवाण करि नाश तुम्हरे चरण दऊँ॥ चाँदन०
ॐ ह्री श्री चाँदनपुर महावीर स्वामिने कामवाणविध्वसनाय पुष्प० ॥ ४ ॥

फैनी गुञा अरु स्वार मोदक ले लीजे।
करि क्षुधा रोग निरवार तुम सन्मुख कीजे॥ चाँदन०
ॐ ह्री श्री चाँदनपुर महावीर स्वामिने क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्य ० ॥ ५ ॥

घृत में कर्पूर मिलाय दीपक मे जारो।
करि मोह तिमिर को दूर तुम सन्मुख बारो॥ चाँदन०
ॐ ह्री श्री चाँदनपुर महावीर स्वामिने मोहान्धकारविनाशनाय दीपं० ॥ ६ ॥

दश विधि ले धूप बनाय तामें गन्ध मिला।
तुम सन्मुख खेऊँ आय आठों कर्म जला॥ चाँदन०
ॐ ह्री श्री चाँदनपुर महावीर स्वामिने अष्टकर्मदहनाय धूप० ॥ ७ ॥

पिस्ता किसमिस बादाम श्रीफल लौंग सजा।
श्री वर्द्धमान पद राख पाऊँ मोक्ष पदा॥ चाँदन०
ॐ ह्री श्री चाँदनपुर महावीर स्वामिने मोक्षफलप्राप्तये फल० ॥ ८ ॥

जल गन्ध सु अक्षत पुष्प चरुवर जोर करों।
ले दीप धूप फल मेलि आगे अर्घ करों॥ चाँदन०
ॐ ह्री श्री चाँदनपुर महावीर स्वामिने अनर्घपदप्राप्तये अर्घ० ॥ ९ ॥

टोंक के चरणो का अर्घ

जहां कामधेनु नित आय दुग्ध जु बरसावै।
तुम चरणनि दरशन होत आकुलता जावै॥
जहां छतरी बनी विशाल तहां अतिशय बहु भारी।
हम पूजत मन वच काय तजि संशय सारी॥
चांदनपुर के महावीर तोरी छवि प्यारी।
प्रभु भव आताप निवार तुम पद बलिहारी॥
ॐ ह्रीं टोंक में स्थापित श्री महावीर चरणेभ्यो अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

टीले के अन्दर विराजमान समय का अर्घ

टीले के अन्दर आप सोहें पदमासन।
जहां चतुर निकाई देव आवे जिन शासन॥
नित पूजन करत तुम्हार कर मे ले झारी।
हम हू वसु द्रव्य बनाय पूजे भरि थारी॥
चांदनपुर के महावीर तोरी छवि प्यारी।
प्रभु भव आताप निवार तुम पद बलिहारी॥
ॐ ह्रीं श्री चांदनपुर महावीर जिनेन्द्राय टीले के अन्दर विराजमान समय का अर्घं०।

पञ्चकल्याणक।

कुण्डलपुर नगर मझार त्रिशला उर आयो।
शुक्ल छट्ठि अषाढ़ सुर आई रतन जु बरसायो॥ चांदन०
ॐ ह्रीं श्री महावीर जिनेन्द्राय अषाढ़ शुक्ल छट्ठि गर्भमङ्गल प्राप्ताय अर्घं० १॥

जनमत अनहद भई घोर, आये चतुर निकाई।
तेरस शुक्ल को चैत्र सुर गिरि ले जाई॥ चांदन०

ॐ ह्री श्री महावीर जिनेन्द्राय चैत शुक्ल तेरस जन्ममङ्गल प्राप्ताय अर्घं॥ २॥

कृष्णा मंगसिर दश जान लौकान्तिक आये।
करि केश लौंच ततकाल झट वन को धाये॥ चादन०

ॐ ह्री श्री महावीर जिनेन्द्राय मगसिर कृष्णा दशमी तपमङ्गल प्राप्ताय अर्घं०॥ ३॥

वैशाख शुक्ल दश मांहि घाती क्षय करना।
पायौ तुम केवलज्ञान इन्द्रनि की रचना॥ चादन०

ॐ ह्री श्री महावीर जिनेन्द्राय वैशाख शुक्ल दशमी केवलज्ञान प्राप्ताय अर्घं०॥ ४॥

कार्तिक जु अमावस कृष्णा पावापुर ठाहीं।
भयो तीनलोक में हर्ष पहुंचे शिव माहीं॥ चांदन०

ॐ ह्री श्री महावीर जिनेन्द्राय कार्तिक कृष्णा अमावस मोक्षमङ्गल प्राप्ताय अर्घं०॥ ५॥

जयमाला।

दोहा—मङ्गलमय तुम हो सदा श्रीसन्मति सुखदाय।
चांदनपुर महावीर की कहूँ आरती गाय॥

पद्धड़ी छन्द।

जय जय चाँदनपुर महावीर, तुम भक्तजनौ की हरत पीर।
जड़ चेतन जग के लखत आप, दई द्वादशांग वाणी अलाप॥
अब पञ्चम काल मझार आय, चाँदनपुर अतिशय दई दिखाय।
टीले के अन्दर बैठि वीर, नित हरा गाय का आप क्षीर॥

ग्वाला को फिर आगाह कीन, जब दर्शन अपना आप दीन।
सूरत देखी अति ही अनूप, हैं नग्न दिगम्बर शान्ति रूप॥
तहां श्रावक जन वह गये आय, किये दर्शन करि मनवचनकाय।
है चिह्न शेर का ठीक जान, निश्चय है ये श्री वर्द्धमान॥
सब देशन के श्रावक जु आय, जिन भवन अनूपम दियो बनाय।
फिर शुद्ध दई वेदी कराय, तुरतहि गजरथ फिर लयो सजाय॥
ये देख ग्वाल मन में अधीर, मम ग्रह को त्यागो नही वीर।
तेरे दर्शन बिन तजूं प्राण, सुनि टेर मेरी किरपा निधान॥
कीने रथ में प्रभु विराजमान, रथ हुआ अचल गिरि के समान।
तब तरह-तरह के किये जोर, बहुतक रथ गाडी दिये तोड़॥
निशिमाहि स्वप्न सचिवहि दिखात, रथ चलै ग्वाल का लगत हाथ।
भोरहि झट चरण दियो बनाय, सन्तोष दियो ग्वालहिं कराय॥
करि जय जय प्रभु से करी टेर, रथ चल्यो फेर लागी न देर।
बहु नृत्य करत बाजे बजाई, स्थापन कीने तह भवन जाई॥
इक दिन नृप को लगा दोष, धरि तोप कही नृप खाई रोष।
तुमको जब ध्याया वहां वीर, गोला से झट बच गया वजीर॥
मन्त्री नृप चाँदनगांव आय, दर्शन करि पूजा की बनाय।
करि तीन शिखर मन्दिर रचाय, कञ्चन कलशा दीने धराय॥
यह हुक्म कियो जयपुर नरेश, सालाना मेला हो हमेश।
अब जुडन लगे नर और नार, तिथि चैत शुक्ल पूनो मझार॥
मीना गूजर आवें विचित्र, सब वरण जुटे करि मन पवित्र।
बहु निरत करत गावें सुहाय, कोई-कोई घृत दीपक रह्यो चढाय॥

कोई जय जय शब्द करै गम्भीर, जय जय जय है श्री महावीर।
जैनी जन पूजा रचत आन, कोई छत्र चंवर के करत दान॥
जिसकी जो मन इच्छा करन्त, मन वांछित फल पावै तुरन्त।
जो करै वन्दना एक बार, सुख पुत्र सम्पदा हो अपार॥
जो तुम चरणों में रखै प्रीत, ताको जग में को सकै जीत।
है शुद्ध यहां का पवन नीर, जहां अति विचित्र सरिता गम्भीर॥
'पूरणमल' पूजा रची सार, हो भूल लेउ सज्जन सुधार।
मेरा है शमशाबाद ग्राम, त्रयकाल करूँ प्रभु को प्रणाम॥

घत्ता।

श्रीवर्द्धमान तुम गुण निधान, उपमा न बनी तुम चरण की।
है चाह यही नित बनी रहै, अभिलाष तुम्हारे दर्शन की॥

ॐ ह्रीं श्री चाँदनगांव महावीर जिनेन्द्राय जयमालार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

दोहा—अष्ट-कर्म के दहन को पूजा रची विशाल।
पढ़ै सुनै जो भाव से छूटै जग जंजाल॥
सम्वत् जिन चौबीस सौ है बासठ की साल।
एकादश कार्तिक बदी पूजा रची सम्हाल॥

इत्याशीर्वाद।

सदाचार

- मानव जीवन राज्य है, मन उसका राजा है, इन्द्रियां उसकी सेना हैं, कषाय शत्रु है। यदि मन विवेकशील है तो इन्द्रियां सदा सचेत रह कर कषाय शत्रुओं को पराजित करती रहेंगी।

—'वर्णी वाणी' से

वृहत् अभिषेक पाठ

श्रीमज्जिनेन्द्रमभिवंद्य जगत्त्रयेशं, स्याद्वादनायकमनन्तचतुष्टयार्हम्। श्रीमूलसंघसुदृशाम् सुकृतैकहेतुजैनेन्द्रयज्ञविधिरेष मयाभ्यधायि ॥ १ ॥

पुष्पाञ्जलि क्षेपण।

सौगन्ध्यसंगतमधुव्रतझंकृतेन, सौवर्ण्यमानमिव गन्धमनिंद्यमादौ। आरोपयामि विबुधेश्वरवृन्दवन्द्य, पादारविन्दमभिवन्द्य जिनोत्तमानाम् ॥ २ ॥

अभिषेक करनेवालो को अङ्ग मे चन्दन लगाना चाहिये।

नोट—अभिषेक पाठ करने के पहले गर्भ और जन्म के दो मंगल बोलना चाहिये।

प्रोत्फुल्लनीलकुलिशोत्पलपद्मराग, निर्जत्करप्रकरबंधसुरेन्द्रचापं। जैनाभिषेक समयेऽगुलिपर्वमूले, रत्नांगुलीयकमहं विनिवेशयामि ॥ ३ ॥

अभिषेक करनेवालों को मुद्रिका धारण करना चाहिये।

सम्यक्पिनद्धनवनिर्मलरत्नपंक्तिः, रोचिर्बृहद्वलयजातबहुप्रकारं। कल्याणनिर्मितमहं कटकं जिनेशं, पूजाविधानललिते स्वकरे करोमि ॥ ४ ॥

अभिषेक करनेवालो को हाथ में कंकण धारण करना चाहिये।

पूर्वं पवित्रतरसूत्रविनिर्मितं यत्, प्रीतः प्रजापतिरकल्पयदंगसंगं। सद्भूषणं जिनमहे निजकण्ठधार्य्ययज्ञोपवीतमहमेष तदा तनोमि ॥ ५ ॥

अभिषेक करनेवालों को यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये।

पुन्नागचम्पकपयोरुहकिंकरात, जातीप्रसूननवकेसर-

कुन्ददग्धम् । देव ! त्वदीयपदपंकजसत्प्रसादात्, मूर्द्धिन प्रणाममतिशेषकरं दधेऽहं ॥ ६ ॥

अभिषेक करनेवालों को शिर पर मुकुट धारण करना चाहिये ।

कटकं च सूत्रत्रयकुण्डलानि, केयूरहारगजमुद्रितमुद्रिकां च । प्रालेयपाटं मुकुटस्वरूपं, स्वस्ति क्रियामेखलकर्णपूर्णं ॥ ७ ॥

अभिषेक करनेवालों को कुण्डल धारण करना चाहिये ।

ये सन्ति केचिदिह दिव्यकुलप्रसूता, नागाः प्रभूत वलदर्पयुता विबोधाः । संरक्षणार्थममृतेन शुभेन तेषां, प्रक्षालयामि पुरतः स्नपनस्य भूमिम् ॥ ८ ॥

ॐ क्ष्रां क्ष्रीं क्ष्रूं क्ष्रौं क्ष इसको पढ कर अभिषेक के लिये भूमि या चौकी का प्रक्षालन करे ।

क्षीरार्णवस्य पयसां शुचिभिः प्रवाहैः, प्रक्षालितं सुरवरैर्यदनेकवारम् । अत्युद्धमुद्यतमहं जिनपादपीठं, प्रक्षालयामि भवसम्भवतापहारि ॥ ९ ॥

सिंहासन प्रक्षालन करें, जिस पर भगवान विराजते हैं ।

श्रीशारदा सुमुख निर्गत बीजवर्णं, श्रीमंगलीकवर सर्वजनस्य नित्यं । श्रीमत्स्वयंक्षयित तस्य विनाश विघ्नं, श्रीकारवर्ण लिखितं जिन भद्रपीठे ॥ १० ॥

यह श्लोक पढ कर सिंहासन पर 'श्री' लिखना चाहिये ।

इन्द्राग्निदण्डधरनैऋतपाशपाणि, वायुत्तरेशशशि मौलिफणीन्द्रचन्द्राः । आगत्य यूयमिह सानुचराः सचिन्हाः स्वं स्वं प्रतीच्छत बलिं जिनपाभिषेके ॥११॥

दश दिक्पालों के लिये अर्घ चढ़ाने की विधि

१ ॐ आं क्रौं ह्रीं इन्द्र आगच्छ आगच्छ इन्द्राय स्वाहा।

२ ॐ आं क्रौं ह्रीं अग्ने आगच्छ आगच्छ अग्नये स्वाहा।

३ ॐ आं क्रौं ह्रीं यम आगच्छ आगच्छ यमाय स्वाहा।

४ ॐ आं क्रौं ह्रीं नैऋत आगच्छ आगच्छ नैऋताय स्वाहा।

५ ॐ आं क्रौं ह्रीं वरुण आगच्छ आगच्छ वरुणाय स्वाहा।

६ ॐ आं क्रौं ह्रीं पवन आगच्छ आगच्छ पवनाय स्वाहा।

७ ॐ आं क्रौं ह्रीं कुबेर आगच्छ आगच्छ कुबेराय स्वाहा।

८ ॐ आं क्रौं ह्रीं ऐशान आगच्छ आगच्छ ऐशानाय स्वाहा।

९ ॐ आं क्रौं ह्रीं धरणीन्द्र आगच्छ आगच्छ धरणीन्द्राय स्वाहा।

१० ॐ आं क्रौं ह्रीं सोम आगच्छ आगच्छ सोमाय स्वाहा।

इति दश दिक्पाल मन्त्राः।

अत्युग्रतारमौक्तिकचूर्णवर्णैर्भृंगारनालमुखनिर्गतचारुधारैः। शीतैः सुगन्धिभिरतीव जलैर्जिनेन्द्रबिंबोत्सवस्नपनमेष समारभेऽहम् ॥ १२ ॥

पुष्पाञ्जलि क्षेपण।

दध्युज्ज्वलाक्षतमनोहरपुष्पदीपैः, पात्रार्पितैः प्रतिदिनं महतादरेण। त्रैलोक्यमंगलसुखालयकामदाहमारार्तिकं तव विभोरवतारयामि ॥ १३ ॥

दधि, अक्षत, पुष्प और दीप पात्र में लेकर मंगल पाठ तथा अनेक वादित्रों के साथ भगवान की आरती उतारनी चाहिये।

पुण्याहमद्य सुमहन्ति च मंगलानि, सर्वे प्रहृष्टमनसश्च भवन्ति भव्याः। पुण्योदकेन भगवन्तमनन्तकान्तिमर्हंतिमुज्ज्वलतनुं परिवर्तयामि ॥ १४ ॥

नाथ ! त्रिलोकमहिताय दशप्रकारः धर्माम्बुवृष्टि-परिषिक्तजगत्त्रयाय । अर्घं महार्घगुणरत्नमहार्णवाय, तुभ्यं ददामि कुसुमैर्विशदाक्षतैश्च ॥ १५ ॥

(जहाँ भगवान विराजमान हों, वहाँ जाकर अर्घ चढ़ाना चाहिये ।)

जन्मोत्सवादिसमयेषु यदीयकीर्ति, सेन्द्राः सुराः प्रमदभारनताः स्तुवन्ति । तस्याग्रतो जिनपतेः परया विशुद्ध्या, पुष्पांजलिं मलयजातमुपाक्षिपेऽहम् ॥ १६ ॥

पुष्पांजलिं क्षिपेत् ।

नीचे लिखा श्लोक बोल कर सिंहासन पर जिनबिम्ब की स्थापना ।

यं पाण्डुकामलशिलागतमादिदेवमस्नापयन् सुरवराः सुरशैलमूर्ध्नि । कल्याणमीप्सुरहमक्षततोयपुष्पैः, संभावयामि पुर एव तदीय बिम्बम् ॥ १७ ॥

ॐ ह्रीं अरहन्तदेव ! अत्र अवतर अवतर संवौषट् आह्वाननं ।

ॐ ह्रीं अरहन्तदेव ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः स्थापनं ।

ॐ ह्रीं अरहन्तदेव ! अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् सन्निधिकरणम् ।

सत्पल्लवार्चितमुखान्कलधौतरौप्य, ताम्रारकूटघटितान्पयसा सुपूर्णान् । संवाह्यतामिव गतांश्चतुरः समुद्रान्, संस्थापयामि कलशान् जिनवेदिकान्ते ॥१८॥

चार दिशाओं में जल से पूर्ण स्वस्तिक लगे हुए कलश स्थापन ।

आभिः पुण्याभिरद्भिः परिमल बहुलेनामुना चन्दनेन, श्रीदृक् पेयैरमीभिः शुचिसदकचयैरुद्गमै रेभिरुद्धैः । हृद्यै रेभिर्निवेद्यै र्मख भवनमिमैर्दीपयद्भिः प्रदीपैः धूपैः

प्रायोभिरेभिः पृथुभिरपि फलै रेभिरीशैर्यजामि ॥१९॥

ॐ ह्रीं श्री परमदेवाय श्रीअर्हंपरमेष्ठिने अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

दूरावनम्रसुरनाथकिरीटकोटीसंलग्नरत्नकिरणच्छविधूसरांघ्रिम् । प्रस्वेदतापमलमुक्तमपि प्रकृष्टैर्भक्त्या जलै र्जिनपतिं बहुधाभिषिंचे ॥ २० ॥

ॐ ह्रीं श्री भगवन्त कृपालसन्त श्रीवृषभादि वीर पर्यन्त चतुर्विंशति तीर्थंकर परमदेव जिनाभिषेक समये आद्ये आद्ये जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे आर्यखण्डे नाम्नि नगरे मानान। मासोत्तमे मासे पक्षे पर्वणि शुभ तिथौ वासरे मुनि आर्यिकाणां क्षुल्लक क्षुल्लिकाणां श्रावक श्राविकाणां सकलकर्मक्षयार्थं जलेनाभिसिंचेति स्वाहा।

यह मन्त्र पढकर भगवान के ऊपर शुद्ध जल की धारा देनी चाहिये ।

उदकचन्दनतन्दुलपुष्पकैश्चरुसुदीपसुधूपफलार्घकैः ।
धवलमंगलगानरवाकुले जिनगृहे जिननाथमहं यजे ॥

ॐ ह्रीं श्री वृषभादिवीरान्तेभ्योऽनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

उत्कृष्टवर्णनवहेमरसाभिराम, देहप्रभावलयसंगमलुप्तदीप्तिम् । धारां घृतस्य शुभगन्धगुणानुमेयां, वन्देऽर्हतां सुरभिसंस्नपनोपयुक्ताम् ॥

गाथा — जो घियकंचणवण्णदुइ जिणण्हावे धरि भाव ।
सो दुग्गयगइ अवहर जम्मनदुक्कइपाइ ॥

अभिषेक मन्त्र में 'जलेनाभिषिंचे' की जगह 'घृतेनाभिषिंच' पढें। इति घृत कलशाऽभिषेक । पीछे 'उदकचन्दनादि' बोल कर अर्घ चढाना चाहिये ।

सम्पूर्णशारदशशांकमरीचिजालस्यन्दैरिवात्मयशसामिव सुप्रवाहैः क्षीरैर्जिनाः शुचितरैरभिषिंच्यमानाः, सम्पादयन्तु मम चित्तसमीहितानि ॥

गाथा — दुद्धहि जिणवर जो ण्हवई मुत्ताहलधवलेण।
सो संसार न संभवइ मुच्चइ पावमलेण॥

अभिषेक मन्त्र मे 'जलेनाभिषिंचे' की जगह 'क्षीरेणाभिषिंचे' पढें। इति दुग्धकलशाभिषेक। पीछे 'उदकचन्दनादि' बोल कर अर्घ चढावें।

दुग्धाब्धिवीचिपयसंचितफेनराशिपाण्डुत्वकान्तिमव-
धारयतामतीव। दध्ना गता जिनपतेः प्रतिमा सुधारा,
सम्पाद्यतां सपदि वांछित सिद्धये नः।

गाथा — दुद्धझडाझड उत्तरइ दडवडदहीपडन्त।
भवियह मुच्चइ कलिमलह जिणदिट्ठ उवीसन्त॥

मन्त्र में 'जलेनाभिषिंचे' की जगह 'दध्ना' पढें। इति दधिकलशाभिषेक। पीछे 'उदकचन्दनादि' बोल कर अर्घ चढाना चाहिये।

भक्त्याललाटतटदेशनिवेशितोच्चैः, हस्तैश्च्युता सुर-
वराऽसुरमर्त्यनाथैः। तत्कालपीलितमहेक्षुरसस्य धारा,
सद्यः पुनातु जिनविम्बगतैव युष्मान्॥

मन्त्र में 'जलेनाभिषिंचे' की जगह 'इक्षुरसेनाभिषिंचे' पढें। पीछे "उदकचन्दन" बोल कर अर्घ चढाना चाहिये।

संस्नापितस्य घृतदुग्धदधीक्षुवाहैः, सर्वाभिरौषधि-
भिरर्हतमुज्ज्वलाभिः। उद्वर्तितस्य विदधाम्यभिषेक-
मेलाकालेयकुंकुमरसोत्कटवारिपूरैः॥

गाथा — रसदुद्धदही पाणीय जो जिनवर ण्हावै।
भवसंकल तोडे विकरि अचल सुक्ख पावइ॥

मन्त्र में 'जलेनाभिषिंचे' की जगह 'सर्वौषधेनाभिषिंचे' पढें। इति सर्वौषधिकलशाभिषेक। पीछे 'उदकचन्दनादि' बोल कर अर्घ चढाना।

द्रव्यैरनल्प घनसारचतुःसमाद्यै रामोदवासितसमस्त-दिगन्तरालैः । मिश्रीकृतेन पयसा जिनपुंगवानां, त्रैलोक्यपावनमहं स्नपनं करोमि ॥

मन्त्रमें 'जलेनाभिषिंचे' की जगह 'सुगन्धजलेन' पढें। केशर कर्पूरादि सुगन्धित पूर्ण कलशाभिषेक। पीछे 'उदकचन्दनादि' बोल कर अर्घ चढ़ाना।

इष्टैर्मनोरथशतैरिव भव्यपुंसां, पूर्णैः सुवर्णकलशैर्नि-खिलैवसानैः । संसारसागरविलंघन हेतुसेतुमाप्लावये त्रिभुवनैकपतिं जिनेन्द्रम् ॥

श्लोक—श्रीमन्नीलोत्पलामोदैराहूता भ्रमरोत्कटैः ।
गन्धोदकैर्जिनेन्द्रस्य पादाभ्यर्चनमारंभे ॥

पूरा अभिषेक मन्त्र बोल कर बाकी बचे हुए समस्त कलशोंसे भगवान का अभिषेक करना चाहिये।

अथ गन्धोदक धारण

मुक्ति श्री वनिताकरोदकमिदं पुण्यांकुरोत्पादकं ।
नागेन्द्रत्रिदशेन्द्रचक्रपदवी राज्याभिषेकोदकं ॥
सम्यग्ज्ञानचरित्रदर्शनलता संवृद्धि सम्पादकं ।
कीर्तिश्री जयसाधकं तव जिन ! स्नानस्य गन्धोदकं

श्लोक—निर्मलं निर्मलीकरणं पावनं पापनाशनम् ।
जिनगन्धोदकं वन्दे अष्टकर्मविनाशकम् ॥

इसको पढ कर गन्धोदक अपने मस्तक पर लगाना चाहिये।

अभिषेक पूजा

अथाष्टकम्

सद्गन्धतोयैः परिपूरितेन, श्रीखण्डमाल्यादिविभूषितेन ।
पादाभिषेकं प्रकरोमिभूत्यै,भृङ्गारनालेनजिनस्यभक्त्या ॥१॥

ॐ ह्रीं चतुर्विंशतिजिनवृषभादिवीरान्तेभ्यो जन्ममृत्युविनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

काश्मीरपंकहरिचन्दनसारसांद्र निस्पंदनादिरचितेन विलेपनेन । अभ्याजसौरभतनौ प्रतिमा जिनस्य, संचर्चयामि भवदुःखविनाशनाय ॥ २ ॥

ॐ ह्रीं चतुर्विंशतिजिनवृषभादिवीरान्तेभ्यो संसारतापविनाशनाय चन्दनं निर्वपामीतिस्वाहा ।

तत्कालभक्तिसमुपार्जितसौख्यवीज, पुण्यात्मरेणुनिकरैरिव संगलब्धिः । पुंजीकृतःप्रतिदिनं कमलाक्षतोघैः, पूजां करोति रचयामि जिनाधिपानाम् ॥ ३ ॥

ॐ ह्रीं चतुर्विंशतिजिनवृषभादिवीरान्तेभ्यो अक्षयपदप्राप्तये अक्षतं निर्वपामीति स्वाहा ।

अम्भोजकुन्दवकुलोत्पलपारिजात, मन्दारजातविदलं नवमल्लिकाभिः । देवेन्द्र मौलिविरजीकृतपादपीठं, भक्त्या जिनेश्वरमहं परिपूजयामि ॥ ४ ॥

ॐ ह्रीं चतुर्विंशतिजिनवृषभादिवीरान्तेभ्यो कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा ।

अत्युज्ज्वलं सकललोचनचारुहार, नानाविधौ कृतनिवेद्यमनिन्द्यगन्धं । आघ्रायमाण रमणीयसि हेमपात्रे संस्थापितं जिनवराय निवेदयामि ॥ ५ ॥

ॐ ह्रीं चतुर्विंशतिजिनवृषभादिवीरान्तेभ्यो क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

निःकज्ज्वलस्थिरशिखाकलिकाकलापैः, माणिक्यरश्मि शिखराणिविडंवयद्भिः । सर्वाभिरुज्ज्वलविशालतरा-

वलोकै र्दीपैर्जिनेन्द्रभवनानि यजे त्रिसन्ध्यम् ॥ ६ ॥

ॐ ह्रीं चतुर्विंशतितीर्थङ्करवृषभादिवीरान्तेभ्यो मोहान्धकारविनाशनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा

कर्पूरचन्दनतरुष्कसुरेन्द्रदारुकृष्णागरुप्रभृतिचूर्णविधान-
सिद्धिं । नासाक्षिकण्ठमनसां प्रियधूमवर्तिधूपैर्जिनेन्द्र-
मभितो बहुभीः क्षपेऽहम् ॥ ७ ॥

ॐ ह्रीं चतुर्विंशतितीर्थङ्करवृषभादिवीरान्तेभ्यो अष्टकर्मविध्वंसनाय धूपं निर्वपामीति स्वाहा ।

वर्णेन जातिनयनोत्सवमावहन्ति, यानी प्रियाणि
मनसो रससंपदा च । गन्धेन सुष्ठु रमयन्ति च यान्ति
नाशं. तैस्तैः फलैर्जिनपतेर्विदधामि पूजाम् ॥ ८ ॥

ॐ ह्रीं चतुर्विंशतितीर्थङ्करवृषभादिवीरान्तेभ्यो मोक्षफलप्राप्तये फलं निर्वपामीति स्वाहा ।

एवं यथाविधिमनागपि यः सपर्यामर्हस्तव स्तवपुर-
स्सरमातनोति । कामं सुरेन्द्रनरनाथसुखानि भक्त्या,
मोक्षं तमप्यभयनन्दि पदं स याति ॥ ९ ॥

ॐ ह्रीं चतुर्विंशतितीर्थङ्करवृषभादिवीरान्तेभ्यो अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

जयमाला

श्रीमत्श्रीजिनराजजन्मसमये इन्द्रोऽतिहर्षायमान् ।
इन्द्राणीपरिवार भृत्यसहितो देवांगनां नृत्यवान् ॥
नानागीतविनोदमंगलविधौ पूजार्थमादाय सः ।
जलगन्धाक्षतपुष्पचारुचरुभिर्दीपैश्च धूपैः फलैः ॥

छन्द ।

जन्म जिनराज को जबहिं जिन जानियो ।
इन्द्र धरणिन्द्र सुर सकल अकुलानियो ॥

देवदेवांगना चलियउ जयकारती।
सचिय सुरपति सहित करहिं जिन आरती ॥ २ ॥
साजि गजराज हरि लक्ष योजन तनौ।
वदन शतवदनप्रतिदन्तवसु सोहनौ ॥
सजल भरिपूर प्रतिदन्त सर सोहती ॥ सचिय० ॥ ३ ॥
सरहि सर पञ्च द्वै इक कमलिनी बनी।
तासु प्रति कमल पच्चीस शोभा बनी ॥
कमल दल एक सौ आठ विस्तारती ॥ सचिय० ॥ ४ ॥
दलहि दल अपछरा नाचही भावसों।
करहिं संगीत जयकार सुर रागसों ॥
ताग्र तत थेइ थेइ करति पगटारती ॥ सचिय० ॥ ५ ॥
तासु करि बैठि हरि सकल परिवारसों।
देहिं परदिछना जिनहि जयकारसों ॥
आनि कर सचिय जिननाथ उद्धारती ॥ सचिय० ॥ ६ ॥
आनि पाण्डुकशिला पूर्वमुख थापि जिन।
करहिं अभिषेक जो इन्द्र उत्साहसों ॥
अधिक तिनदेखि प्रभु कोटि छवि वारती ॥ सचिय० ॥ ७ ॥
योजना आठ गम्भीर कलसा बनौ।
चारि चौड़ाई मुख एक जोजन तनौ ॥
सहस्र अठोतरसौ कलश शिर ढारती ॥ सचिय० ॥ ८ ॥
छत्र मणि खचित ईशान शिर ढारती।
सनतमाहेन्द्र दोऊ चमर शिर ढारती ॥
देव-देवी सुपुष्पाञ्जलि डारती ॥ सचिय० ॥ ६ ॥

जल सुचन्दन अक्षत पुष्प चरु लै धरैं ।
दीप अरु धूप फल अर्घ पूजा करैं ॥
पाण्डुका और नीराञ्जना वारती ॥ सचिय० ॥ १० ॥
कियो सिंगार सब अंग सम्मानकौ ।
आनि मातहिं दियौ फेरि जिनराजकौ ॥
तृप्त नहिं होत दृग रूप को नीहारती ॥ सचिय० ॥ ११ ॥
ताल मृदङ्ग-ध्वनि सप्त स्वर बाजहीं ।
नृत्य ताण्डव करत इन्द्र अति छाजहीं ॥
करत उत्साह सौं जिन सुपग ढारती ॥ सचिय० ॥ १२ ॥
भव्यजन लोक जन्ममहोत्सव करैं ।
आगिले जन्म के सकल पातक हरैं ॥
भक्ति जिनराज की पार उत्तारती ।
सचिय सुरपति सहित करहिं जिन आरती ॥१३॥

घत्ता — जिनवर वर माता, माननीया सुरेन्द्रैः ।
स जयति जिनराजा "लालचन्द्र" विनोदी ॥

ॐ ह्रीं चतुर्विंशतिजिनवृषभादितीर्थंकरेभ्यो अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं इत्याशीर्वाद ।

नव तिलक

पूजा करनेवाले को प्रथम नव तिलक करना चाहिये ।

शिखा शीश की जानि, ललाट सु लीजिये ।
कण्ठ, हृदय अरु कान, भुजा गनि लीजिये ॥
कूंख, हाथ अरु नाभि, सरस शुभ कीजिये ।
नव जिनवर को जजो, तिलक नव कीजिये ॥१॥

देव-शास्त्र-गुरु पूजा संस्कृत

पूजा प्रारम्भ करना चाहिये ।

सार्वः सर्वज्ञनाथः सकल-तनुभृतां पाप-संताप-हर्ता
त्रैलोक्याक्रान्त-कीर्तिः क्षत-मदनरिपुर्घातिकर्म-प्रणाशः ।
श्रीमान्निर्वाणसम्पद्वरयुवति-करालीढ-कण्ठः सुकण्ठैः
देवेन्द्रैर्वन्द्य-पादो जयति जिनपतिः प्राप्त-कल्याण-पूजः ॥१॥

जय जय जय श्रीसत्कान्ति-प्रभो जगतां पते ।
जय जय भवानेव स्वामी भवाम्भसि मज्जताम् ॥
जय जय महामोह-ध्वान्त-प्रभातकृतेऽर्चनम् ।
जय जय जिनेश त्वं नाथ प्रसादं करोम्यहम् ॥२॥

ॐ ह्रीं भगवज्जिनेन्द्र अत्र अवतर २ संवौषट् आह्वाननम् ।
अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः । अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट्

देवि श्रीश्रुतदेवते भगवति त्वत्पाद-पङ्केरुह-
द्वन्द्वे यामि शिलीमुखत्वमपरं भक्त्या मया प्रार्थ्यते ।
मातश्चेतसि तिष्ठ मे जिन-मुखोद्भूते सदा त्राहि मां
दृग्दानेन मयि प्रसीद भवतीं सम्पूजयामोऽधुना ॥३॥

ॐ ह्रीं जिनमुखोद्भूतद्वादशाङ्गश्रुतज्ञान अत्र अवतर अवतर संवौषट् ।
अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः । अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् ।

संपूजयामि पूज्यस्य पादपद्मयुगं गुरोः ।
तपःप्राप्त-प्रतिष्ठस्य गरिष्ठस्य महात्मनः ॥४॥

ॐ ह्रीं आचार्योपाध्यायसर्वसाधुसमूह अत्र अवतर अवतर संवौषट् ।
अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः । अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् ।

अक्षय अक्षय मैं कहूँ, सो अक्षय पद नाय।
महा अक्षय पद तुम लियो, यातैं पूजूं गाय ॥
ॐ ह्रीं अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा।
विनीत-भव्याब्ज-विबोधसूर्यान्वर्यान् सुचर्या-कथनैक-धुर्यान्।
कुन्दारविन्द-प्रमुखैः प्रसूनैर्जिनेन्द्र-सिद्धान्त-यतीन् यजेऽहम्॥८॥
पुष्प चाप धर पुष्प सर, धारी मनमथ वीर।
यातैं पूजा पुष्प की, हरैं मदन की पीर ॥
कामदाप पुष्पे हरो, सो तुम जीते राय।
यातैं मैं पायन पडूं, मदन काम नशि जाय ॥
ॐ ह्रीं कामवाणविध्वंसनाय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा।
कुदर्प-कन्दर्प-विसर्प-सर्प-प्रसह्य-निर्णाशन-वैनतेयान्।
प्राज्याज्यसारैश्चरुभी रसाढ्यैर्जिनेन्द्र-सिद्धान्त-यतीन् यजेऽहम्॥९॥
परम अन्न नैवेद्य विधि, क्षुधाहरण तन पोष;
जे पूजैं नैवेद्य सौं, मिटे क्षुधादिक दोष ॥
भोजन नाना विधि कियो, मूल क्षुधा नहिं जाय।
क्षुधा रोग प्रभु तुम हरो, यातैं पूजूं पाय ॥
ॐ ह्रीं क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा।
ध्वस्तोद्यमान्धीकृत-विश्व-विश्वमोहान्धकार-प्रतिघात-दीपान्।
दीपैः कनत्कांचन-भाजनस्थैर्जिनेन्द्र-सिद्धान्त-यतीन् यजेऽहम्॥१०
आपा पर देखे सकल, निशि मे दीपक जोत।
दीपक सौं जिन पूजिये, निर्मल ज्ञान उद्योत ॥
दीप शिखा घट में वसै, ज्ञान घटा घट माय।
ढूंढ़त डोलैं करम को, कृत कलंक मिट जाय ॥
ॐ ह्रीं मोहान्धकारविनाशनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा।

दुष्टाष्ट-कर्मेन्धन-पुष्ट-जाल-संधूपने भासुर-धूमकेतून् ।
धूपैर्विधूतान्य-सुगन्ध-गन्धैर्जिनेन्द्र-सिद्धान्त-यतीन् यजेऽहम्॥११॥

पावक में सुगन्ध को, धूप करावे सोग।
खेवत धूप जिनेश को, अष्ट कर्म क्षय होय॥
जय प्रभु धूपायन लखो, ध्यान अगिन धर धीर।
धर्म धारहित खेइये, त्रिभुवन पति गम्भीर॥

ॐ ह्रीं अष्टकर्मदहनाय धूप निर्वपामीति स्वाहा।

क्षुभ्यद्विलुभ्यन्मनसामगम्यान् कुवादि-वादाऽस्खलित-प्रभावान्।
फलैरलं मोक्ष-फलाभिसारैर्जिनेन्द्र-सिद्धान्त-यतीन् यजेऽहम्॥१२॥

जो जैसी करनी करै, सो तैसा फल लेय।
फल पूजा महाराज की, निश्चय शिव फल देय॥
फल फल सारे फलत हैं, ये फल ये फल नाय।
महा मोक्ष फल तुम दियो, तातैं पूजूं पांय॥

ॐ ह्रीं मोक्षफलप्राप्तये फल निर्वपामीति स्वाहा।

सद्वारि-गन्धाक्षत-पुष्पजातैर्नैवेद्य-दीपामल-धूप-धूम्रैः।
फलैर्विचित्रैर्घन-पुण्य-योगाज्जिनेन्द्र-सिद्धान्त-यतीन् यजेऽहम्॥१३॥

जलधारा चन्दन धरौं, अक्षत पुष्प नैवेद्य।
दीप धूप फल अर्घ युत, ये पूजा वसु भेद॥
ये जिन पूजा अष्ट विधि, कीजे कर शुचि अङ्ग।
प्रभि पूजा जलधार सो, दीजे धार अभंग॥

ॐ ह्रीं अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

ये पूजां जिननाथ-शास्त्र-यमिनां भक्त्या सदा कुर्वते
त्रैसन्ध्यं सुविचित्र-काव्य-रचनामुच्चारयन्तो नराः।

पुण्याढ्या मुनिराज-कीर्ति-सहिता भूत्वा तपोभूषणा-
स्ते भव्याः सकलावबोध-रुचिरा सिद्धि लभन्ते पराम् ॥१४॥
[इत्याशीर्वाद, पुष्पाञ्जलिं क्षिपामि ।]
वृषभोऽजितनामा च सम्भवश्चाभिनन्दनः ।
सुमतिः पद्मभासश्च सुपार्श्वो जिनसत्तम. ॥१५॥
चन्द्राभः पुष्पदन्तश्च शीतलो भगवान्मुनिः ।
श्रेयांश्च वासुपूज्यश्च विमलो विमल-द्युतिः ॥१६॥
अनन्तो धर्मनामा च शान्तिः कुन्थुर्जिनोत्तम· ।
अरश्च मल्लिनाथश्च सुव्रतो नमि-तीर्थकृत् ॥१७॥
हरिवंश-समुद्भूतोऽरिष्टनेमिर्जिनेश्वरः ।
ध्वस्तोपसर्ग-दैत्यारिः पार्श्वो नागेन्द्र-पूजित· ॥१८॥
कर्मान्तकृन्महावीरः सिद्धार्थ-कुल-सम्भव· ।
एते सुरासुरौघेण पूजिता विमलत्विषः ॥१९॥
पूजिता भरताद्यैश्च भूपेन्द्रैर्भूरि-भूतिभिः ।
चतुर्विधस्य संघस्य शान्ति कुर्वन्तु शाश्वतीम् ॥२०॥
जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्जिने भक्तिः सदाऽस्तु मे ।
सम्यक्त्वमेव संसार-वारणं मोक्ष-कारणम् ॥२१॥
[पुष्पाञ्जलिं क्षिपामि]
श्रुते भक्ति· श्रुते भक्तिः श्रुते भक्ति सदाऽस्तु मे ।
सज्ज्ञानमेव संसार-वारण मोक्ष-कारणम ॥२२॥
[पुष्पाञ्जलिं क्षिपामि]
गुरौ भक्तिर्गुरौ भक्तिर्गुरौ भक्ति· सदाऽस्तु मे ।
चारित्रमेव संसार-वारण मोक्ष-कारणम ॥२३॥
[पुष्पाञ्जलिं क्षिपामि]

देव-जयमाला

वत्ताणुट्ठाणें जणु धणदाणें पइं पोसिउ तुहुं खत्तधरु ।
तवचरणविहाणे केवलणाणें तुहुं परमप्पउ परमपरु ॥१॥
जय रिसह रिसीसर-णविय-पाय । जय अजिय जियंगय-रोस-राय ॥
जय संभव संभव-कय-विओय । जय अहिणंदण णंदिय-पओय ॥२॥
जय सुमइ सुमइ-सम्मय-पयास । जय पउमप्पह पउमा-णिवास ॥
जय जयहि सुपास सुपास-गत्त । जय चंदप्पह चंदाहवत्त ॥३॥
जय पुप्फयंत दंतंतरंग । जय सीयल सीयल-वयण-भंग ।
जय सेय सेय-किरणोह-सुज्ज । जय वासुपुज्ज पुज्जाणुपुज्ज ॥४॥
जय विमल विमल-गुणसेढि-ठाण । जय जयहि अणंताणंत-णाण ॥
जय धम्म धम्म-तित्थयर संत । जय संति संति-विहियायवत्त ॥५॥
जय कुंथु कुंथु-पहुअंगि सदय । जय अर-अर-मा-हर विहिय-समय ॥
जय मल्लि मल्लिआ-दाम-गंध । जय मुणिसुव्वय सुव्वय-णिबंध ॥६॥
जय णमि णमियासर-णियर-सामि । जय णेमि धम्म-रह-चक्क-णेमि ॥
जय पास पास-छिंदण-किवाण । जय वड्ढमाण जस-वड्ढमाण ॥७॥

घत्ता

इह जाणिय-णामहिं दुरिय-विरामहिं परहि वि णमिय-सुरावलिहिं ।
अणिहणहिं अणाइहिं समिय-कुवाइहिं पणविवि अरहंतावलिहिं ॥

ॐ ह्रीं वृषभादिमहावीरान्तचतुर्विंशतिजिनेभ्यो अर्घं

शास्त्र-जयमाला

संपइ-सुह-कारण कम्म-वियारण भव-समुद्द-तारणतरणं ।
जिणवाणि णमस्समि सत्ति पयासमि सग्ग-मोक्ख-संगम-करणं ॥१॥
जिणिंद-मुहाओ विणिग्गय-तार । गणिंद-विगुंफिय गंथ-पयार ॥
तिलोयहि मंडण धम्मह खाणि । सया पणमामि जिणिंदह वाणि ॥२॥
अवग्गह-ईह-अवायजुएहिं । सुधारणभेयहि तिण्णिसएहि ॥

मई छत्तीस वहु-प्पमुहाणि । सया पणमामि जिणिंदह वाणि ॥३॥
सुदं पुण दोण्णि अणेय-पयार । सुवारह-भेय जगत्तय-सार ॥
सुरिंद-णरिंद-समुच्चिय जाणि । सया पणमामि जिणिंदह वाणि ॥४॥
जिणिंद-गणिंद-णरिंदह रिद्धि । पयासइ पुण्ण पुरा किउ लद्धि ॥
णिउग्गु पहिल्लउ एहु वियाणि । सया पणमामि जिणिंदह वाणि ॥५॥
जु लोय-अलोयह जुत्ति जणेइ । जु तिण्णि वि काल सरूव भणेइ ॥
चउग्गइ-लक्खण दुज्जउ जाणि । सया पणमामि जिणिंदह वाणि ॥६॥
जिणिंद-चरित्त विचित्त मुणेइ । सुसावहि धम्मह जुत्ति जणेइ ॥
णिउग्गु वि तिज्जउ इत्थु वियाणि । सया पणमामि जिणिंदह वाणि ॥७॥
सुजीव-अजीवह तच्चह चक्खु । सुपुण्णु वि पाव वि बंध वि मुक्खु ॥
चउत्थु णिउग्गु वि भासिय जाणि । सया पणमामि जिणिंदह वाणि ॥८॥
तिभेयहि ओहि वि णाणु विचित्तु । चउत्थ रिजु विउल मइ उत्तु ॥
सुखाइय केवलणाण वियाणि । सया पणमामि जिणिंदह वाणि ॥९॥
जिणिंदह णाणु जग-त्तय-भाणु । महातम णासिय सुक्ख-णिहाणु ॥
पयच्चउ भत्तिभरेण वियाणि । सया पणमामि जिणिंदह वाणि ॥१०॥
पयाणि सुवारह कोडि सयेण । सुलक्ख तिरासिय जुत्ति-भरेण ॥
सहस अट्ठावण पंच वियाणि । सया पणमामि जिणिंदह वाणि ॥११॥
इकावण कोडिउ लक्ख अठेव । सहस चुलसीदिय सा छक्केव ॥
सढाइगवीसह गन्थ-पयाणि । सया पणमामि जिणिंदह वाणि ॥१२॥
घत्ता— इह जिणवर-वाणि विसुद्धमई । जो भवियण णिय-मण धरई ॥
सो सुर-णरिंद संपइ लहई । केवलणाण वि उत्तरई ॥१३॥

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भूतस्याद्वादनयगर्भितद्वादशाङ्गश्रुतज्ञानायार्घं ।

गुरु-जयमाला

भवियह भव-तारण सोलह-कारण अज्जवि तित्थयरत्तणहं ।
तवकम्म असंगइ दयधम्मंगइ पालवि पंच महव्वयहं ॥१॥
वंदामि महारिसि सीलवंत, पंचिंदिय-संजम जोगजुत्त ।
जे ग्यारह अंगह अणुसरंति, जे चउदह पुव्वह मुणि थुणंति ॥२॥

पादाणुसारि-वरकुट्ठबुद्धि, उप्पण्णु जाह आयासरिद्धि ।
जे पाणाहारी तोरणीय, जे रुक्ख-मूल आतावणीय ॥३॥
जे मोणिधाय चन्दाहणीय, जे जत्थत्थ वणि णिवासणीय ।
जे पंच-महव्वय धरणधीर, जे समिदि-गुत्ति पालणहि वीर ॥४॥
जे वड्ढहि देह विरत्तचित्त, जे राय-रोस-भय-मोह-चित्त ।
जे कुगइहि संवरु विगयलोह, जे दुरियविणासणकामकोह ॥५॥
जे जल्लमल्लतणगत्तलित्त, आरंभ-परिग्गह जे विरत्त ।
जे तिण्णकाल वाहर गमंति, छट्ठट्ठम-दसमउ तउ चरंति॥ ६॥
जे इक्कगास दुइगास लिंति, जे णीरस-भोयण रइ करंति ।
ते मुणिवर वंदउं ठियमसाण, जे कम्म डहइ वर सुक्कझाण॥७॥
बारहविह संजम जे धरंति, जे चारिउ विकहा परिहरंति ।
बावीस परीषह जे सहंति, संसार-महण्णउ ते तरंति ॥८॥
जे धम्मबुद्धि महियलि थुणंति, जे काउस्सग्गे णिसि गमंति ।
जे सिद्धि-विलासणि अहिलसंति, जे पक्ख-मास आहार लिंति॥९॥
गोदूहण जे वीरासणीय, जे धणुह-सेज्ज-वज्जासणीय ।
जे तव-बलेण आयास जंति, जे गिरि-गुह-कंदर-विवर थंति॥१०॥
जे सत्तु-मित्त समभाव चित्त, ते मुणिवर वंदउ दिढ-चरित्त ।
चउवीसह गंथह जे विरत्त, ते मुणिवर वंदउ जग-पवित्त॥११॥
जे सुज्झाणिज्झा एकचित्त, वंदामि महारिसि मोक्खपत्त ।
रयण-त्तय-रंजिय सुद्ध-भाव, ते मुणिवर वंदउ ठिदि-सहाव ॥१२॥

घत्ता

जे तप-सूरा संजम-धीरा सिद्ध-वधू अणुराईया ।
रयण-त्तय-रंजिय कम्मह-गंजिय ते ऋसिवर मय झाईया॥१३॥

[ॐ ह्रीं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रादिगुणविराजमानाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो महार्घं निर्वपामीति स्वाहा ।]

वृहत् सिद्धचक्र पूजा भाषा

दोहा

परम ब्रह्म परमातमा, परमजोति परमीश।
परमनिरञ्जन परमपद, नमों सिद्ध जगदीश॥

ॐ ह्रीं श्री णमो सिद्धाण सिद्ध परमेष्ठिन ! अत्र अवतर अवतर सवौषट् आह्वानन।

ॐ ह्रीं श्री णमो सिद्धाण सिद्ध परमेष्ठिन ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः स्थापन।

ॐ ह्रीं श्री णमो सिद्धाण सिद्ध परमेष्ठिन ! अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् सन्निधिकरणम

अथाष्टकं, सोरठा।

मोहि तृषा दुःख देत, सो तुमने जीती प्रभू।
जलसौं पूजों तोहि, मेरो रोग मिटाइयो॥ १।

ॐ ह्रीं श्री णमो सिद्धाण सिद्धपरमेष्ठिभ्यो जन्ममृत्युविनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा।

हम भव आतप मांहि, तुम न्यारे संसार तैं।
कीजे शीतल छांह, चन्दन सों पूजा करौं॥ २।

ॐ ह्रीं श्री णमो सिद्धाण सिद्धपरमेष्ठिभ्यो समारतापविनाशनाय चन्दन निर्वपामीपि स्वाहा।

हम औगुण समुदाय, तुम अक्षय सब गुण भरे।
पूजौं अक्षत ल्याय, दोष नाश गुण कीजिये॥ ३॥

ॐ ह्रीं श्री णमो सिद्धाण सिद्धपरमेष्ठिभ्यो अक्षयपदप्राप्तये अक्षत निर्वपामीति स्वाहा

काम अग्नि है मोहि, निश्चैय शील सुभाव तुम।
फूल चढ़ाऊँ तोहि, सेवक की बाधा हरो॥ ४॥

ॐ ह्रीं श्री णमो सिद्धाण सिद्धधपरमेष्ठिभ्यो कामवाणविध्वसनाय पुष्प निर्वपामीति स्वाहा।

हमैं क्षुधा दुःख सूर, ध्यान खड्ग सौं तुम हती।
मेरी बाधा चूर, नेवजसौं पूजा करौं॥ ५॥

ॐ ह्रीं श्री णमो सिद्धाण सिद्धपरमेष्ठिभ्यो क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्य निर्वपामीति स्वाहा।

मोहतिमिर हम पास, तुम पै चेतन जोत है।
पूजौं दीप प्रकाश, मेरो तम निरवारियो॥ ६॥

ॐ ह्रीं श्री णमो सिद्धाण सिद्धपरमेष्ठिभ्यो मोहान्धकारविनाशनाय दीप निर्वपामीति स्वाहा

अष्ट करम वनजाल, मुकति मांहि तुम सुख करौ।
खेऊँ धूप रसाल, मम निकाल वनजाल से ॥ ७ ॥

ॐ ह्रीं श्री णमो सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिभ्यो अष्टकर्मविध्वंसनाय धूपं निर्वपामीति स्वाहा।

अन्तराय दुःखटार, तुम अनन्त थिरता लिये।
पूजों फल दरशाय, विघनटार शिव फल करो ॥ ८ ॥

ॐ ह्रीं श्री णमो सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिभ्यो मोक्षफलप्राप्तये फलं निर्वपामीति स्वाहा।

हममें आठों दोष, जजों अरघलों सिद्धजी।
दीजे वसु गुण मोहि, कर जोरे द्यानत खड़े ॥ ९ ॥

ॐ ह्रीं श्री णमो सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिभ्यो अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

ज्ञानावरणीकर्मनाशक सिद्ध जयमाला।

दोहा

मूरति ऊपर पट करो, रूप न जाने कोय।
ज्ञानावरणी करमतें, जीव अज्ञानी होय ॥१॥

चौपाई

तियसे छत्तिस विधि मति वरणी, ताहि ढकै मति ज्ञानावरणी।
द्वादश विधि श्रुत ज्ञान न होवै, श्रुत ज्ञानावरणी सो होवै ॥ २ ॥
तिय विधि षट विधि अवधि छिपावै, अवधि ज्ञानावरण कहावै।
जो विधि मनःपर्यय नहि हो है, मनःपर्यय आवरणी सो है ॥३॥
केवलज्ञान अनन्तानन्ता, केवल ज्ञानावरणी हन्ता।
उदय अनुदय मूरख ठानै, कुमति कुश्रुत कुअवधि पहिचानै ॥ ४ ॥
क्षय उपशम करि सम्यक्धारी, चारों ज्ञान लहै अविकारी।
ज्ञानावरणी सर्व विनाशै, केवल ज्ञान रूप परकाशै ॥ ५ ॥

दोहा

ज्ञानावरणी पञ्च हत, प्रगट्यो केवलज्ञान।
द्यानत मनवचकायसों, नमों सिद्ध गुणखान ॥

ॐ ह्रीं श्री णमो सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिभ्यो ज्ञानावरणी कर्मविनाशनाय अर्घ्यं०।

दर्शनावरणीकर्मनाशक सिद्ध जयमाला।

दोहा

जैसे भूपति दरश को, होन न दे दरवान।
तैसे दरशन आवरण, देख न देई सुजान ॥१॥

चौपाई।

जाके उदै आख नहि होई, चक्षु दर्शनावरणी सोई।
नहिं मुख नाक फरस मुख करणं, उदै अचक्षु दर्शनावरण ॥ २ ॥
अवधि दर्श प्रमाण विलोकै, अवधि दर्शनावरणी रोकै।
केवल लोकालोक निहारै, केवल दर्शनावरण निवारै ॥ ३ ॥
निद्रा उदै सबै तन सोवै, थोरी नीद सुरत कछु होवै।
प्रचला बलसौ आंख खुली है, अर्द्ध मुदी-सो अर्द्ध खुली है ॥ ४ ॥
निद्रा-निद्रा उदै बखानी, पलक उघार सकै नहि प्राणी।
प्रचला-प्रचला उदै कहावै, लार बहै मुख अग चलावै ॥ ५ ॥
उठै चलै बोलै सुध नाही, जोर विशेष बढ़ै तन माहीं।
काम प्रचण्ड तास तै होवै, स्त्यानगृद्धि निद्रा जो सोवै ॥ ६ ॥

दोहा

दरशन आवरणी हते, केवल दर्शन रूप।
द्यानत सिद्ध नमों सदा, अमल अचल चिद्रूप॥

ॐ ह्रीं श्री णमो सिद्धाण सिद्धपरमेष्ठिभ्यो दर्शनावरणी कर्मविनाशनाय अर्घ्यं०।

वेदनीयकर्मनाशक सिद्ध जयमाला

सोरठा

शहद मिली असिधार, सुख दुःख जीवनको करै।
कर्मवेदनीय सार, साताअसाता देत हैं ॥ १ ॥

चौपाई छन्द।

पुन्नी कनक महल मे सोवै, पापी राह परौ दुःख रोवै।
पुन्नी वांछित भोजन खावै, पापी मांगे टूक न पावै ॥ २ ॥

पुन्नी ढरें जवाहर शोभे, पापी फाटे कपड़े ओढ़े।
पुन्नी कंचन थार करोंरा, पापी के कर प्याला कोरा ॥ ३ ॥
पुन्नी गज पर चढ़ चालन्ता, पापी नंगे पग धावन्ता।
पुन्नी के सिर छत्र फिरावे, पापी सीस बोझ ले धावे ॥ ४ ॥
पुन्नी सुन्दर जगत पर होई, पापी बात सुने नहिं कोई।
पुन्नी भवन द्रव्य नित आवे, पापी धन देखन नहिं पावे ॥ ५ ॥
पुन्नी को सब देखन आवे, पापी जन को सुख न लगावे।
पुन्नी कबहू रोग न पावे, पापी को नित व्याधि सतावे ॥ ६ ॥
पुन्नी शीलरूप गुणवागी, पापी लहै न कानी कागी।
पुन्नी के सुत करें कमाई, पापी तहँ हैं दुःखदाई ॥ ७ ॥
पुन्नी वस्तु गई फिर आवे, पापी के कर से गिर जावे।
पुन्नी पट ऋतु के सुख भोगे, पापी महादुःखी अति रोवे ॥ ८ ॥

पुण्य पाप दोऊ डार, कर्मवेदनी वृक्ष के।
सिद्ध जलावन हार, थानन निरवाधा करों ॥

ॐ ह्रीं श्री वेदनीयकर्मरहिताय अव्याबाध गुणसहित सिद्धेभ्यो अर्घं०।

मोहनीयकर्मनाशक सिद्ध जयमाला।

दोहा

ज्यों मदिराके पान तें, सुधबुध सबै भुलाय।
त्यों मोहनी-कर्म उदै, जीव गहिल हो जाय ॥

चौपाई।

दरशन मोह तीन परकार, नाश करें सम्यक् गुण सार।
मिथ्या जुरी उदै जब आवे, धर्म मधुर रस भूल न आवे ॥ २ ॥
मिश्र भाव जिनतिनि समत्याते, एक समें सम्यकमिथ्याते।
सम्यक् प्रकृति मिथ्यात सतावे, चल मल शिथिल दोष उपजावे ॥३॥
चारित्र मोह पचीस प्रकार, जो मेटे सम्यक् आचार।

क्रोध मान माया अर लोभ, चारों चार-चार विधि शोभं ॥ ४ ॥
अनन्तानुबन्धी चौकड़िया, जिनने निरमल समकित हरिया।
अप्रत्याख्यानी चऊ भाखै, श्रावक व्रत विधि वश कर राखै ॥ ५ ॥
प्रत्याख्यान चौकड़ी मोई, जाके उदय न मुनि व्रत होई।
सो संज्वलन चतुष्क बखानी, यथाख्यात पावै नहीं प्राणी ॥ ६ ॥
हास्य उदै तैं हांसी ठाने, रतिके उदै जीव रति मानै।
अरति उदय तैं कछु न सुहावै, शोक उदै सेती बिललावै ॥ ७ ॥
भयतैं डरे जुगुप्स गिलान, पुरुष भाव तिन पावक जानं।
शोठे की पावक समनारी, पंढापा जावे अगनि निहारी ॥ ८ ॥

दोहा

अट्ठाईसों मोह की, तुम नाशक भगवान।
अटल शुद्ध अवगाहना, नमों सिद्ध गुणखान ॥

ॐ ह्रीं श्री णमो सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिभ्यो मोहनीयकर्मविनाशनाय अर्घ्यं०।

आयुकर्मनाशक सिद्ध जयमाला।

सोरठा

जैसे नरको पांव. दियो काठमें थिर रहै।
तैसे आयु स्वभाव, जियको चहुँगति थिति करै ॥

चौपाई।

नरक आयुतै नरक लहे हैं, तेतिस सागर तहां रहे हैं।
गाढ़ा करि आरेसों चीरे, कोल्हू मांहि डारकै पेरें ॥ २ ॥
वैतरणी दुर्गन्ध नहावै, पुतरी अगनी मांहि गलावै।
सूली देहि कड़ाई तावै, शाल्मली तल मांहि सुवावै ॥ ३ ॥
शीश तलै कर गिरिसैं डारे, नीचे वज्र मुष्टि सौं मारे।
भूख प्यास तप शीत सहारी, पञ्च प्रकार सहै दुःख भारी ॥ ४ ॥
पशु की आयु करै पशु काया, बिना विवेक सदा बिललाया।
जन्म वैर ज़िय तै दुःख पावै, बाधमारकी कौन चलावै ॥ ५ ॥

मानुष आयु धरै नर देही, इष्ट वियोग लहै दुःख तेही।
धन संपतिको सदा भिखारी, प्रभुता मांहि पचै ससारी ॥ ६ ॥
देव आयुतैं देव कहाया, परको विभव देख खुनसाया।
मरण चिह्न लख अति दुःख दानी, इम चारौं गतिभटकै प्राणी ॥

दोहा

ध्यानत चारौं आयुके, तुम नाशक भगवान।
अटल शुद्ध अवगाहना, नमों सिद्ध गुणखान ॥

ॐ ह्रीं श्री णमो सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिभ्यो आयुकर्मविनाशनाय अर्घ्यं०।

नामकर्मनाशक सिद्ध जयमाला।

दोहा

चित्रकार जैसे लिखे, नाना चित्र अनूप।
नाम-कर्म तैसे करै, चेतन के बहु रूप ॥ १ ॥

चौपाई।

गतिके उदय चहूं गति जानी, जाति पंचइन्द्री सब प्राणी।
आनुपूर्वी गति ले जाई, दो विहाय दो चाल बताई ॥ २ ॥
बन्धन पञ्च पञ्च विधि काया, तन बन्धान पञ्च दृढ़ लाया।
बन्धं सघन सो पञ्च संघातं, अंग उपंग तीन ही गातं ॥३॥
वरण पंच तन रंग बखानै, पांचौं ही तन के रस जानै।
गन्ध दोय तन मांहि कहे हैं, आठ फरस तन मांहि लहे हैं ॥४॥
षट संठान देह आकारं, हाड छह भेद संहनन धारं।
उड़ै पड़ै न अगुरु लघु काया, स्वास उस्वास नाक सुर गाया ॥५॥
निज दुःख दे उपघात शरीरं, तन पर घात करै पर पीरं।
चन्द्र बिम्ब जिय देह उद्योतं, भानुबिंब जिय आतप होत ॥६॥
थावर उदै सुथिर न चलै है, त्रस के उदैतैं चलै हलै है।
परयापत पूरी जन्म होई, खिरे बीच अपरयापति सोई ॥७॥
थिरके उदै सुथिर तन गाया, अथिर उदैतैं कंपै काया।
तन प्रत्येक जिय एक भनन्तं, साधारण तन जीव अनन्त ॥८॥

मारै मरे रहे आधारं, दीसै अर लोकनि मे मारं।
वादर जीया चहूं पसरंतं, सूक्ष्म जीव इन तें विपरीत ॥९॥
शुभ कै उदै होय शुभ काया, अशुभ उदै तन अशुभ बताया।
शुभग उदै भाग का पूरा, अशुभ उदै अभाग हजूरा ॥१०॥
सुस्वर उदय कोकिला वानी, दुस्वर गर्दभ-ध्वनि सम जानी।
आदर तैं बहु आदर पावै, उदय अनादर तैं न सुहावै ॥११॥
जसके उदय सुजस जग मांही, अजस उदय अपजस जग मांही।
थान प्रमान दुविधि निर्मानं, तीर्थङ्कर है पुण्य प्रधानं ॥१२॥

दोहा

ब्यालीस और तिरानवै, तथा एकसौ तीन।
द्यानत सो प्रकृति हरी, सिद्ध अमूरति लीन॥

ॐ ह्रीं श्री णमो सिद्धाण सिद्धपरमेष्ठिभ्यो नामकर्मविनाशनाय अर्घ्यं०।

गोत्रकर्मनाशक सिद्ध जयमाला।

दोहा

ज्यों कुम्हार छोटो बड़ौ, भांड़ौ घड़ा जनेय।
गोत्र-कर्म त्यों जीवको, ऊंच नीच कुल देय ॥१॥

चौपाई।

नीच गोत्र पशु नर्क निहारं, ऊंच गोत्र सब देव कुमारं।
मनुष मांहि दो गोत्र वखानें, नीच गोत्र सब शूद्र प्रवानें ॥ २ ॥
ब्राह्मण क्षत्री वैश्य मझारं, मद्य मांस जो करे अहारं।
जो पंचनितैं बाहिर होई, नीच गोत्र कहिये नर सोई ॥ ३ ॥
परगुणको औगुण करि भाखै, निज औगुणको गुण अभिलाषै।
परको निन्दै आप वड़ाई, वांधे नीच गोत्र दु.खदाई ॥ ४ ॥
नीच गोत्रको मुनिव्रत नाहीं, क्योंकर जाय मुकतिके मांहीं।
नीच काज तज ऊंच सम्हारै, दया धरम कर आतम तारै ॥ ५ ॥

सोरठा **ऊँच नीच दो गोत्र, नाश अगुरुलघु गुण भये।**
द्यानत आतम जोत, सिद्ध शुद्ध वंदौं सदा॥

ॐ ह्रीं श्री णमो सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिभ्यो गोत्रकर्मविनाशनाय अर्घ्यं०।

अन्तरायकर्मनाशक सिद्ध जयमाला ।

दोहा

भूप दिलावे दर्व को, भण्डारी दे नाहिं ।
होन देय नहिं सम्पदा, अन्तराय जगमाहिं ॥१॥

चौपाई ।

छती वस्तु दे सकै न प्राणी, दान अन्तराय विधि जानी ।
उद्यम करै न होय कमाई, लाभ अन्तराय दुःखदाई ॥२॥
भोजन त्यार खान नहिं पावै, भोग अन्तराय जब आवै ।
पट भूषण है पहिरत नाहीं, उपभोग अन्तराय की छाहीं ॥३॥
तन वर पोखै बल नहिं होई, वीर्य अन्तराय है सोई ।
इह विधि अन्तराय विवहारी, निश्चय बात सुनो मति धारी ॥४॥
मिथ्याभाव त्याग सो दानं, समताभाव लाभ परधानं ।
आतमीक सुख भोग सजोगं, अनुभौऽभ्यास सदा उपभोग ॥५॥
ध्यान ठानकै कर्म विनासै, सो वीरज निज भाव प्रकासै ।
पांचों भाव जहां नहिं लहिये, निश्चै अन्तराय सो कहिये ॥६॥

दोहा

अन्तराय पांचों हते, ऽगट्यो सुबल अनन्त ।
द्यानत सिद्ध नमों सदा, ज्यों पाऊँ भव अन्त ॥१॥

ॐ ह्रीं श्री णमो सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिभ्यो अन्तरायकर्मविनाशनाय अर्घ्यं० ।

आठ कर्मनाशक सिद्ध जयमाला ।

सोरठा

आठ करम को नाश, आठों गुण परगट भये ।
सिद्ध सदा सुखरास, करों आरती भावसौं ॥१॥

चौपाई ।

ज्ञानावरणी कर्म विनाशै, लोकालोक ज्ञान परकाशै ।
दरशन आवरणी छय कीनी, दुःख सुगुण परजय लखि लीनी ॥२॥

कर्म वेदनी नाश गया है, निराबाधा गुण प्रगट भया है।
मोह कर्म नाशा दुःखकारी, निर्मल छायक दरशन धारी ॥३॥
आयु-कर्म थिति सर्व विनाशी, अवगाह गुण अटल प्रकाशी।
नाम-कर्म जीता जग नामी, चेतन जोत अमूरति स्वामी ॥४॥
गोत्र-कर्म घाता वरवीरं, सिद्ध अगुरु लघु गुण गम्भीरं।
अन्तराय दुःखदाय हरा है, बल अनन्त परकाश करा है ॥५॥
जा पद मांहि सर्वपद छाजै, ज्यों दर्पण प्रतिबिंब विराजै।
राग न दोष मोह नहि भावै, अजर अमर अब अचल सुहावै ॥६॥
जाके गुण सुर नर सब गावै, जाको जोगीश्वर नित ध्यावै।
जाकी भगति मुकति पद पावै, सो शोभा किह भांति बतावै ॥७॥
ये गुण आठ थूल इम भाखे, गुण अनन्त निज मनमें राखे।
सिद्धनकी थुतिको कर जाने, या मिस सो शुभ नाम बखाने ॥८॥

सोरठा।

बहु विधि नाम बखान, परमेश्वर सबही भजें।
ज्यों का त्यों सरधान, द्यानत सेवैं ते बड़े ॥ ९ ॥

ॐ ह्रीं श्री णमो सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिभ्यो अष्टकर्मविनाशनाय अर्घ्यं०।

ज्ञान

■ आंख वही है जिसमें देखने की शक्ति हो अन्यथा उसका होना न होने के तुल्य है। इसी तरह ज्ञान वही है जो 'स्व' और 'पर' का विवेक करा देवे, अन्यथा उस ज्ञान का कोई मूल्य नहीं।

—'वर्णी वाणी' से

तीस चौबीसी पूजा

पडिल्ल

पाँच भरत शुभ क्षेत्र, पांच ऐरावते ।
आगत नागत वर्त्तमान जिन शाश्वते ॥
सो चौबीसी तीस जजों मन लायके ।
आह्वानन विधि करूँ वार त्रय गायके ॥

अथाष्टक, रेखता ।

नीर दधि क्षीर सम लायो, कनकके भृङ्ग भरवायो ।
जरामृतु रोग सन्तायो, अब तुम चर्ण ढिग आयो ॥
दीप ढाई सरस राजै, क्षेत्र दश ता विषैं छाजै ।
सात शत बीस जिन राजै, पूजते पाप सब भाजै ॥

ॐ ह्रीं [illegible] क्षेत्रके सातसौ बीस जिनेन्द्रेभ्यो जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं०

सुरभि जुत चन्दनं लायो, संग करपूर घसवायो ।
धार तुम चरण ढरवायो, भवोदधि ताप नसवायो ॥ द्वीप०

ॐ ह्रीं [illegible] क्षेत्रके सातसौ बीस जिनेन्द्रेभ्यो संसारतापविनाशनाय चन्दनं० ।

चन्द सम तन्दुलं सारं, किरण मुक्ता जु उनहारं ।
पुञ्ज तुम चरण ढिग धारं, अखै पद काजके कारं ॥ द्वीप०

ॐ ह्रीं [illegible] क्षेत्रके सातसौ बीस जिनेन्द्रेभ्यो अक्षयपदप्राप्तये अक्षतं० ।

पुष्प शुभ गन्ध जुत सोहे, सुगन्धित तास मन मोहे ।
जजत तुम मदन छय होवे, मुक्तिपुर पलकमे जोवे ॥ द्वीप०

ॐ ह्रीं [illegible] क्षेत्रके सातसौ बीस जिनेन्द्रेभ्यो कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं० ।

सरस व्यञ्जन लिया ताजा, तुरत बनवाइया खाजा ।
चरण तुम जजों महाराजा, क्षुधादुःख पलक्कस भाजा ॥ द्वीप०

ॐ ह्रीं पञ्चमेरुसम्बन्धिदशक्षेत्रके सातसौ बीस जिनेन्द्रेभ्यो क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्य० ।

दीप तम नाश कारी है, सरस शुभ ज्योतिधारी है ।
होय दशदिश उजारी है, धूम्र मिस पाप जारी है ॥ द्वीप०

ॐ ह्रीं पञ्चमेरुसम्बन्धिदशक्षेत्रके सातसौ बीस जिनेन्द्रेभ्यो मोहान्धकारविनाशनाय दीप० ।

सरस शुभ धूप दश अङ्गी, जराऊँ अग्नि के सङ्गी ।
कर्म की सेन चतुरङ्गी, चरण तुम पूजते अङ्गी ॥ द्वीप०

ॐ ह्रीं पञ्चमेरुसम्बन्धिदशक्षेत्रके सातसौ बीस जिनेन्द्रेभ्यो अष्टकर्मविध्वंसनाय धूप० ।

मिष्ट उत्कृष्ट फल ल्यायो, अष्ट अरि दुष्ट नसवायो ।
श्रीजिन भेंट करवायो, कार्य मनवांछित पायो ॥ द्वीप०

ॐ ह्रीं पञ्चमेरुसम्बन्धिदशक्षेत्रके सातसौ बीस जिनेन्द्रेभ्यो मोक्षफलप्राप्तये फल० ।

द्रव्य आठों जु लीना है, अर्घ कर में नवीना है ।
पूजते पाप छीना है, 'भानु'मल जोड़ि कीना है ॥ द्वीप०

ॐ ह्रीं पञ्चमेरुसम्बन्धिदशक्षेत्रके सातसौ बीस जिनेन्द्रेभ्यो अनर्घपदप्राप्तये अर्घं० ।

प्रत्येक अर्घ (अडिल्ल छन्द)

आदि सुदर्शन मेरु तनी दक्षिण दिशा ।
भरत क्षेत्र सुखदाय सरस सुन्दर बसा ॥
तिहँ चौबीसी तीन तने जिनरायजी ।
बहत्तरि जिन सर्वज्ञ नमों शिरनायजी ॥ १ ॥

ॐ ह्रीं सुदर्शनमेरु के दक्षिणदिशा के भरतक्षेत्रसम्बन्धि तीनचौबीसी के बहत्तरि जिनेन्द्रेभ्यो अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ १ ॥

ताहि मेरु उत्तर ऐरावत सोहनो।
आगत नागत वर्त्तमान मनमोहनो ॥
तिहे चौबीसी तीन तने जिनरायजी।
बहत्तरि जिन सर्वज्ञ नमों शिरनायजी ॥ २ ॥

ॐ ह्रीं [illegible] उत्तरदिशा के ऐरावतक्षेत्रसम्बन्धि तीनचौबीसी के बहत्तरि जिनेन्द्रेभ्यो अर्घं [illegible] ॥ २ ॥

कुसुमलता छन्द।

खण्ड धातुकी विजय मेरुके दक्षिण दिशा भरत शुभ जान।
तहां चौबीसी तीन विराजे आगत नागत अरु वर्त्त मान ॥
तिनके चरण कमलको निशिदिन अर्घ चढ़ाय करूं उर ध्यान।
इस संसार भ्रमणतें तारो अहो जिनेश्वर करुणावान ॥

ॐ ह्रीं धातुकीखण्ड की पूर्वदिशा के [illegible] दक्षिणदिश भरतक्षेत्र सम्बन्धी तीनचौबीसी के बहत्तरि जिनेन्द्रेभ्यो अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ३ ॥

इसी द्वीपकी प्रथम शिखरके उत्तर ऐरावत जो महान।
आगत नागत वर्त्त मान जिन बहत्तरि सदा शास्वते जान ॥
तिनके चरणकमलको निशदिन अर्घ चढ़ाय करूं उर ध्यान।
इस संसार भ्रमणतें तारो अहो जिनेश्वर करुणावान ॥

ॐ ह्रीं [illegible] की पूर्वदिश [illegible] उत्तरदिश ऐरावतक्षेत्र सम्बन्धी तीनचौबीसी के बहत्तरि जिनेन्द्रेभ्यो अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ४ ॥

चौपाई छन्द

खण्ड धातु गिरि अचल जु मेरु, दक्षिण तास भरत बहु घेरु।
तामें चौबीसी त्रय जान, आगत नागत अरु वर्त्त मान ॥

ॐ ह्रीं धातुकीखण्ड की पश्चिमदिश अचलमेरु के दक्षिण दिश भरतक्षेत्र सम्बन्धी तीनचौबीसी के बहत्तरि जिनेन्द्रेभ्यो अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ५ ॥

अचल मेरु उत्तर दिश जाय, ऐरावत शुभ क्षेत्र बताय।
तामें चौबीसी त्रय जान, आगत नागत अरु वर्त्त मान ॥

ॐ ह्रीं धातुकीखण्ड की पश्चिमदिश अचलमेरु के उत्तरदिश ऐरावतक्षेत्र सम्बन्धी तीनचौवीसी के बहत्तरि जिनेन्द्रेभ्यो अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ६ ॥

सुन्दरी छन्द ।

द्वीप पुष्करकी पूरब दिशा, मन्दिर मेरुकी दक्षिण भरत-सा ।
ता विषै चौबीसी तीन जू, अर्घ लेय जजों परवीन जू ॥

ॐ ह्रीं पुष्करद्वीप की पूर्वदिश मन्दिरमेरु की दक्षिणदिश भरतक्षेत्र सम्बन्धी तीनचौवीसी के बहत्तरि जिनेन्द्रेभ्यो अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ७ ॥

गिरि सुमन्दिर उत्तर जानियो, क्षेत्र ऐरावत सुबखानियो ।
ता विषै चौबीसी तीन जू, अर्घ लेय पूजों परवीन जू ॥

ॐ ह्रीं पुष्करद्वीप की पूर्वदिश मन्दिरमेरु की उत्तरदिश ऐरावतक्षेत्र सम्बन्धी तीनचौवीसी के बहत्तरि जिनेन्द्रेभ्यो अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ८ ॥

पद्धडी छन्द ।

पश्चिम पुष्कर गिरि विद्युतमाल, ता दक्षिण भरत बन्यो रसाल ।
तामें चौवीसी है जु तीन, वसु द्रव्य लेय पूजों प्रवीन ॥

ॐ ह्रीं पुष्करार्द्धद्वीप की पश्चिमदिश विद्युन्मालीमेरु के दक्षिणदिश भरतक्षेत्र सम्बन्धी तीनचौवीसी के बहत्तरि जिनेन्द्रेभ्यो अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ९ ॥

याही गिरिके उत्तर जु ओर, ऐरावत क्षेत्र तनी सुठौर ।
तामें चौवीसी है जु तीन, वसु द्रव्य लेय पूजों प्रवीन ॥

ॐ ह्रीं पुष्करार्द्धद्वीप की पश्चिमदिश विद्युन्मालीमेरु के उत्तरदिश ऐरावतक्षेत्र सम्बन्धी तीनचौवीसी के बहत्तरि जिनेन्द्रेभ्यो अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ १० ॥

कुण्डलिया ।

द्वीप अढाई के विषै, पांच मेरु हितदाय ।
दक्षिण उत्तर तासुके, भरत ऐरावत भाय ॥
भरत ऐरावत भाय एक क्षेत्र के मांहीं ।

चौवीसी है तीन तीन दशहीके माही ॥
दशो क्षेत्र के तीस, सात सौ बीस जिनेश्वर ।
अर्घ लेय करजोर जजों 'रविमल' मन शुद्ध कर ॥

ॐ ह्रीं पञ्चमेरुसम्बन्धी दशक्षेत्र के विषैं तीनचौबीसी के सातसौ बीस जिनेन्द्रेभ्यो अर्घं० ।

जयमाला ।

दोहा—चौवीसी तीसों तनी, पूजा परम रसाल ।
मन वच तनसों शुद्ध कर, अब वरणों जयमाल ।

पद्धडी छन्द ।

जय द्वीप अटाई में जु सार, गिरि पञ्चमेरु उन्नत अपार ।
ता गिरि पूरब पश्चिम जु और, शुभ क्षेत्र विदेह बसे जु ठौर ॥१॥
ता दक्षिण क्षेत्र भरत सुजान, है उत्तर ऐरावत महान ।
गिरि पांच तने दस क्षेत्र जोय, ताको वर्णन सुनि भव्य लोय ॥२॥
जो भरत तनो वरणन विशाल, तैसो ही ऐरावत रसाल ।
इक क्षेत्र बीच विजयार्द्ध एक, ता ऊपर विद्याधर अनेक ॥३॥
इक क्षेत्र तने षट् खण्ड जान, वहाँ छहों काल वरते समान ।
जो तीन काल में भोग भूमि, दश जाति कल्पतरु रहे झूमि ॥४॥
जब चौथो काल लगे जु आय, तब कर्मभूमि वरते सु आय ।
जब तीर्थंकरको जनम होय, सुर लेय जजें गिरि मेरु सोय ॥५॥
बहु भक्ति करें सब देव आय, ता थेई थेई थेई तान लाय ।
हरि ताडव नृत्य करे अपार, सब जीवन मन आनन्दकार ॥६॥
इत्यादि भक्ति करिके सुरिन्द, निज थान जाय युत देव वृन्द ।
या विधि पाँचों कल्याण जोय, हरि भक्ति करे अति हर्ष होय ॥७॥
या काल विषें पुण्यवन्त जीव, नर जन्म धार शिव लहे अतीव ।
सब त्रेसठ पुरुष प्रवीण जोय, सब याही काल विषें जु होय ॥८॥
जब पञ्चम काल करे प्रवेश, मुनि धर्म तनों नहिं रहे लेश ।
विरले कोई दक्षिण देश माहिं, जिनधर्मी जन बहुते जु नाहिं ॥९॥

जब आवत है षष्ठम जु काल, दुःखमादुःख प्रगटे अति कराल।
तब मांसभक्षी नर सर्व होय, जहाँ धर्म नाम नहिं सुनै कोय ॥१०॥
याही विधि से षट्काल जोय, दश क्षेत्रन में इकसार होय।
सब क्षेत्रन में रचना समान, जिनवाणी भाख्यो सो प्रमान ॥११॥
चौवीसी है इक क्षेत्र तीन, दश क्षेत्र तीस जानों प्रवीन।
आगत नागत जिन वर्त्तमान, सब सात सतक अरु वीस जान ॥१२॥
सबही जिनराज नमों त्रिकाल, मोहि भव वारिधितें ल्यो निकाल।
यह वचन हिये में धारि लेव, मम रक्षा करो जिनेन्द्र देव ॥१३॥
"रविमल" की विनती सुनो नाथ, मैं पांय पड़ू जुग जोरि हाथ।
मन वांछित कारज करो पूर, यह अरज हिये में धरि हजूर ॥१४॥

घत्ता।

शत सात जू वीसं श्रीजगदीशं आगत नागत बरततु हैं।
मन वच तन पूजै शुद्ध मन हूजै सुरग मुक्ति पद धारतु हैं ॥

ॐ ह्रीं पाच भरत पाच ऐरावत दशक्षेत्र के विषैं तीनचौवीसी के सात सौ वीस जिनेन्द्रेभ्यो अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

पूजाकार की प्रार्थना।

दोहा—संवत् शत उगनीस के, ता ऊपर पुनि आठ।
पौष कृष्ण तृतीया गुरु, पूरण कीना पाठ ॥
अक्षर मात्रा की कसर, बुधजन शुद्ध करेहिं।
अल्प बुद्धि मो जानके, दोष नाहिं मम देहिं ॥
पढ्यो नहीं व्याकरण मैं, पिङ्गल देख्यो नाहिं।
जिनवाणी परसादतै, उमग भई घट माहिं ॥
मान बड़ाई ना चहूं, चहूं धर्म को अंग।
नितप्रति पूजा कीजियो, मनमें धार उमंग ॥

इत्याशीर्वाद

अकृत्रिम चैत्यालय पूजा

आठ कोड़ अरु छप्पन लाख, सहस सत्यानव चतुशत भाख।
जोड़ इक्यासी जिनवर थान, तीन लोक आह्वान करान ॥

ॐ ह्रीं त्रैलोक्य सम्बन्ध्यष्टकोटिषट्पञ्चाशल्लक्षसप्तनवतिसहस्र चतु:शतैकाशीति अकृत्रिमजिनचैत्यालयानि । अत्र अवतर अवतर संवौषट् । अत्र तिष्ठत तिष्ठत ठ ठ: । अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् ।

क्षीरोदधिनीरं उज्ज्वल क्षीरं, छान सुचीरं भरि झारी।
अति मधुर लखावन,परम सु पावन,तृषा बुझावन गुण भारी॥
वसुकोटि सु छप्पन लाख सत्तानव,सहस चारशत इक्यासी।
जिनगेह अकीर्तिम तिहुँजग भीतर,पूजत पद ले अविनाशी॥

ओं ह्रीं तीन लोक सम्बन्धी आठ कोटि छप्पन लाख सत्यानवै हजार चार सौ इक्यासी अकृत्रिम जिन चैत्यालयेभ्यो जन्ममृत्युविनाशनाय जल निर्वपामीति स्वाहा ।

मलयागिरि पावन,चन्दन बावन,ताप बुझावन घसि लीनो।
धरि कनक कटोरी.द्वै करजोरी,तुमपद ओरी,चित दीनो।वसु०

ॐ ह्रीं संसारतापविनाशनाय चन्दन निर्वपामीति स्वाहा।

बहुभांति अनोखे, तन्दुल चोखे, लखि निरदोखे, हम लीने।
धरि कञ्चनथाली,तुम गुणमाली,पुँज विशाली कर दीने॥वसु०

ॐ ह्रीं अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा।

शुभ पुष्प सुजाती है, बहुभांति, अलि लिपटाती लेय वरं।
धरि कनकरकेबी,करगह लेवी, तुम पद जुगकी भेट धरं।वसु०

ॐ ह्रीं कामबाणविध्वंसनाय पुष्प निर्वपामीति स्वाहा।

खुरमा जु गिंदोडा, बरफी पेड़ा, घेवर मोदक भरि थारी।
विधिपुर्वक कीने,घृतपय भीने,खण्ड मैं लीने,सुखकारी।वसु०

ॐ ह्रीं क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्य निर्वपामीति स्वाहा।

मिथ्यात महातम, छाय रह्यो मम, निजभव परणति नहि सूझै।
इहकारण पाके दीप सजाकैं, थाल धराकैं, हम पूजैं ॥वसु०

ॐ ह्रीं मोहान्धकारविनाशनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा।

दशगन्ध कुटाकै, धूप बनाकैं, निजकर लेकैं, धरि ज्वाला।
तसु धूम उड़ाई, दशदिश छाई, बहु महकाई, अति आला ॥वसु०

ॐ ह्रीं अष्टकर्मदहनाय धूपं निर्वपामीति स्वाहा।

बादाम छुहारे, श्रीफल धारे, पिस्ता प्यारे, दाखवरं।
फल आदि अनोखे, लखि निरदोखे, थाल पजोखे, भेट धरं ॥वसु०

ॐ ह्रीं मोक्षफलप्राप्तये फलं निर्वपामीति स्वाहा।

जल चंदन तंदुल कुसुमरु नेवज, दीप धूप फल थाल रचौं।
जयघोष कराऊँ, बीन बजाऊँ, अर्घ चढ़ाऊँ, खूब नचौं ॥ वसु०

ॐ ह्रीं अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

प्रत्येक अर्घ चौपाई।

अधोलोक जिन आगमसाख, सात कोड़ि अरु बहत्तरि लाख।
श्रीजिनभवन महा छवि देइ, ते सब पूजौं वसुविधि लेइ ॥

ॐ ह्रीं अधोलोकसम्बन्धी सात कोटि बहत्तर लाख श्रीअकृत्रिम जिनचैत्यालयेभ्योऽर्घं०।

मध्यलोक जिन-मन्दिर ठाठ, साढ़े चार शतक अरु आठ।
ते सब पूजौं अर्घ चढ़ाय, मनवचतन त्रयजोग मिलाय ॥

ॐ ह्रीं मध्यलोक सम्बन्धी चारसौ अठावन श्रीजिनचैत्यालयेभ्यो अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

अडिल्ल छन्द।

ऊर्ध्वलोकके माहिं भवन जिन जानिये।
लाख चौरासी सहस सत्यानव मानिये ॥

तापै धरि तेईस जजौं शिर नायकैं ।
कञ्चन थाल मझार जलादिक लायकैं ॥

ॐ ह्रीं ऊर्ध्वलोकसम्बन्धी चौरासी लाख सत्तानवै हजार तेईस श्रीजिनचैत्यालयेभ्योऽर्घं०।

वसुकोटि छप्पन लाख ऊपर, सहस सत्यानवे मानिये ।
सत चारपै गिनले इक्यासी, भवन जिनवर जानिये ॥
तिहुँलोक भीतर सासते, सुर असुर नर पूजा करैं ।
तिन भवनको हम अर्घ लेकैं, पूजिहैं जग दुःख हरैं ॥

ॐ ह्रीं त्रिलोकसम्बन्धी आठ कोटि छप्पन लाख सत्यानवै हजार चारसौ इक्यासी अकृत्रिमजिनचैत्यालयेभ्यो अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

दोहा — अब वरणों जयमालिका, सुनो भव्य चितलाय ।
जिन-मन्दिर तिहुँलोकके, देहुँ सकल दरशाय ॥ १ ॥

पद्धड़ी छन्द ।

जय अमल अनादि अनन्त जान, अनिमित जु अकीर्तम अचल थान ।
जय अजय अखण्ड अरूप धार, षट्द्रव्य नहीं दीसै लगार ॥ २ ॥
जय निराकार अविकार होय, राजत अनन्त परदेश सोय ।
जे शुद्ध सुगुण अवगाह पाय, दश दिशा मांहि इहविधि लखाय ॥३॥
यह भेद अलोकाकाश जान, ता मध्य लोक नभ तीन मान ।
स्वयमेव बन्यो अविचल अनन्त, अविनाशि अनादि जु कहत सन्त ॥४॥
पुरुषाआकार ठाढो निहार, कटि हाथ धारि द्वै पग पसार ।
दक्षिण उत्तर दिशि सर्व ठौर, राजू जु सात भाख्यो निचोर ॥५॥
जय पूर्व अपरदिश घाट बाधि, सुन कथन कहूं ताको जु साधि ।
लखि श्वभ्रतलैं राजू जु सात, मधिलोक एक राजू रहात ॥६॥

फिर ब्रह्मसुरग राजू जु पांचं, भूसिद्ध एक राजू जु साँच।
दश चार ऊँच राजू गिनाय, षट द्रव्य लये चतुकोण पाय ॥७॥
तसु वातवलय लपटाय तीन, इह निराधार लखियो प्रवीन।
त्रसनाड़ी तामधि जान खास, चतुकोन एक राजू जु व्यास ॥८॥
राजू उतंग चौदह प्रमान, लखि स्वयं सिद्ध रचना महान।
तामध्य जीव त्रस आदि देय, निज थान पाय तिष्ठै भलेय ॥६॥
लखि अधोभाग में श्वभ्रथान, गिन सात कहे आगम प्रमान।
षट् थान माहिं नारकि बसेय, इक श्वभ्रभाग फिर तीन भेय ॥१०॥
तसु अधोभाग नारकि रहाय, पुनि ऊर्ध्वभाग द्वय थान पाय।
बस रहे भवन व्यन्तर जु देव, पुर हर्म्य छजै रचना स्वमेव ॥११॥
तिंह थान गेह जिनराज भाख, गिन सात कोटि बहत्तरि जु लाख।
ते भवन नमों मन वचन काय, गति श्वभ्रहरण हारे लखाय ॥१२॥
पुनि मध्यलोक गोला अकार, लखि दीप उदधि रचना विचार।
गिन असंख्यात भाखे जु सन्त, लखि संभुरमण सबके जु अन्त ॥१३
इक राजु व्यास में सर्व जान, मधिलोक तनों इह कथन मान।
सब मध्य द्वीपजम्बू गिनेय, त्रयदशम रुचिकवर नाम लेय ॥१४॥
इन तेरह में जिन-धाम जान, शत चार अठावन हैं प्रमान।
खग देव असुर नर आय-आय, पद पूज जांय शिर नाय-नाय ॥१५॥
जय ऊर्ध्वलोक सुर कल्पवास, तिहं थान छजै जिन-भवन खास।
जय लाख चौरासी पर लखेय, जय सहससत्यानव और ठेय ॥१६॥
जय वीस तीन पुनि जोड देय, जिन-भवन अकीर्तम जान लेय।
प्रतिभवन एक रुचना कहाय, जिनबिम्ब एक शत आठ पाय ॥१७॥

शत पञ्च धनुष उन्नत लसाय, पदमासनयुत वर ध्यान लाय।
शिर तीनछत्र शोभित विशाल, त्रय पादपीठ मणिजडित लाल ॥१८॥
भासण्डलकी छवि कौन गाय, पुनि चॅवर ढुरत चौसठि लखाय।
जय दुन्दुभिरव अद्भुत सुनाय, जय पुष्पवृष्टि गन्धोदकाय ॥१९॥
जय तरु अशोक शोभा भलेय, मंगल विभूति राजत अमेय।
घट तूप छजैं मणिमाल पाय, घट धूम्र धूम दिग सर्व छाय ॥२०॥
जय केतुपंक्ति सोहै महान, गन्धर्व देव गण करत गान।
सुर जनम लेत लखि अवधि पाय, तिहं थान प्रथम पूजन कराय ॥२१॥
जिन गेह तणो वरणन अपार, हम तुच्छ वुद्धि किम लहत पार।
जय देव जिनेसुर जगत भूप, नमि 'नेम' मंगै निज देहु रूप ॥२२॥

दोहा—तीनलोक में सासते, श्रीजिन भवन विचार।
मनवचतन करि शुद्धता, पूजों अरघ उतार ॥

ॐ ह्रीं तीन लोक सम्बन्धी आठ कोडि छप्पन लाख सत्यानवे हजार चारसौ इक्यासी अकृत्रिमजिनचैत्यालयभ्योऽर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

तिहुँ जग भीतर श्रीजिनमंदिर, वने अकीर्त्तम अति सुखदाय।
नरसुरखग कर वन्दनीक, जे तिनको भविजन पाठ कराय ॥
धनधान्यादिक संपति तिनके, पुत्रपौत्र सुख होत भलाय।
चक्री सुर खग इन्द्र होयके, करम नाश शिवपुर सुख थाय ॥

इत्याशीर्वादः।

क्षमावणी-पूजा

[कवि मल्लजी]

छप्पय अंग क्षमा जिन-धर्मतनो दृढ़-मूल बखानो।
सम्यक रतन सँभाल हृदयमें निश्चय जानो ॥
तज मिथ्या विष-मूल और चित निर्मल ठानो।
जिनधर्मीसों प्रीत करो सब पातक भानो ॥
रत्नत्रय गह भविक-जन जिन-आज्ञा सम चालिये।
निश्चय कर आराधना करम-रासको जालिये ॥

ॐ ह्रीं सम्यक्‌रत्नत्रय ! अत्र अवतर अवतर संवौषट्।
ॐ ह्रीं सम्यक्‌रत्नत्रय ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः।
ॐ ह्रीं सम्यक्‌रत्नत्रय ! अत्र मम सन्निहितं भव भव वषट्।

नीर सुगंध सुहावनो, पदम-द्रहको लाय।
जन्म-रोग निरवारिये, सम्यक्‌रतन लहाय ॥
क्षमा गहो उर जीवड़ा, जिनवर-वचन गहाय।

ॐ ह्रीं निःशंकिताङ्गाय निःकांक्षिताङ्गाय निर्विचिकित्सिताङ्गाय निर्मूढताङ्गाय उपगूहनाङ्गाय सुस्थितीकरणाङ्गाय वात्सल्याङ्गाय प्रभावनाङ्गाय जन्ममृत्युविनाशनाय सम्यग्दर्शनाय जलं

ॐ ह्रीं व्यंजनव्यंजिताय अर्थसमग्राय तदुभयसमग्राय कालाध्ययनाय उपाध्यानोपहिताय विनयलब्धिप्रभावनाय गुरुवाधाह्नवाय बहुमानोन्मानाय अष्टाङ्गसम्यग्ज्ञानाय जलं निर्वपामीति स्वाहा।

ॐ ह्रीं अहिंसामहाव्रताय सत्यमहाव्रताय अचौर्यमहाव्रताय ब्रह्मचर्यमहाव्रताय अपरिग्रहमहाव्रताय मनोगुप्तये वचनगुप्तये कायगुप्तये ईर्यासमितये भाषासमितये ऐषणासमितये आदाननिक्षेपणसमितये प्रतिष्ठापनसमितये त्रयोदशविधसम्यक्‌चारित्राय जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा ॥१॥

केसर चंदन लीजिये, संग कपूर घसाय।
अलि पंकति आवत घनी, वास सुगंध सुहाय ॥ क्षमा०

ॐ ह्रीं अष्टाङ्गसम्यग्दर्शनाय अष्टविधसम्यग्ज्ञानाय त्रयोदश-
विधसम्यक्चारित्राय रत्नत्रयाय भवातापविनाशनाय चन्दनं

शालि अखंडित लीजिये, कंचन-थाल भराय।
जिनपद पूजों भावसों, अक्षत पदको पाय॥ क्षमा

ॐ ह्रीं अष्टाङ्गसम्यग्दर्शनाय अष्टविधसम्यग्ज्ञानाय त्रयोदश-
विधसम्यक्चारित्राय रत्नत्रयाय अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान्

पारिजात अरु केतकी, पहुप सुगंध गुलाब।
श्रीजिन-चरण-सरोजकूं, पूज हर्ष चित-चाव॥ क्षमा

ॐ ह्रीं अष्टाङ्गसम्यग्दर्शनाय अष्टविधसम्यग्ज्ञानाय त्रयोदश-
विधसम्यक्चारित्राय रत्नत्रयाय कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं

शक्कर घृत सुरभीतना, व्यंजन षट्रस स्वाद।
जिनके निकट चढायकर, हिरदे धरि आह्लाद॥ क्षमा

ॐ ह्रीं अष्टांगसम्यग्दर्शनाय अष्टविधसम्यग्ज्ञानाय त्रयोदश-
विधसम्यक्चारित्राय रत्नत्रयाय क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं

हाटकमय दीपक रचो, वाति कपूर सुधार।
शोधित घृत कर पूजिये, मोह-तिमिर निरवार॥ क्षमा

ॐ ह्रीं अष्टांगसम्यग्दर्शनाय अष्टविधसम्यग्ज्ञानाय त्रयोदश-
विधसम्यक्चारित्राय रत्नत्रयाय मोहान्धकारविनाशनाय दीपं

कृष्णागर करपूर हो, अथवा दशविधि जान।
जिन-चरणन ढिग खेइये, अष्ट-कर्मकी हान॥ क्षमा

ॐ ह्रीं अष्टांगसम्यग्दर्शनाय अष्टविधसम्यग्ज्ञानाय त्रयोदश-
विधसम्यक्चारित्राय रत्नत्रयाय अष्टकर्मदहनाय धूपं

केला अंब अनार ही, नारिकेल ले दाख।
अग्र धरो जिनपदतने, मोक्ष होय जिन भाख॥ क्षमा

ॐ ह्रीं अष्टांगसम्यग्दर्शनाय अष्टविधसम्यग्ज्ञानाय त्रयोदश-
विधसम्यक्चारित्राय रत्नत्रयाय मोक्षफलप्राप्तये फलं

जल फल आदि मिलायके, अरघ करो हरषाय।
दुःख-जलांजलि दीजिये, श्रीजिन होय सहाय॥ क्षमा

ॐ ह्रीं अष्टांगसम्यग्दर्शनाय, अष्टविधसम्यग्ज्ञानाय, त्रयोदश-
विधसम्यक्चारित्राय रत्नत्रयाय अनर्घपदप्राप्तये अर्घं

परिग्रह देख न मूर्छित होई, पंच महाव्रत-धारक सोई।
महाव्रत ये पांचों खरे हैं, सब तीर्थंकर इनको करे हैं॥
मनमें विकल्प रंच न होई, मनोगुप्ति मुनि कहिये सोई।
वचन अलीक रंच नहिं भाखें, वचन गुप्ति सोमुनिवर राखें॥
कायोत्सर्ग परीषह सहि हैं, ता मुनि काय-गुप्ति जिन कहि हैं।
पंच समिति अब सुनिये भाई, अर्थ सहित भाखों जिनराई॥
हाथ चार जब भूमि निहारैं, तब मुनि ईर्यापथ पद धारैं।
मिष्टवचन मुख बोलै सोई, भाषा-समिति तास मुनि होई॥
भोजन छयालिस दूषण टारैं, सो मुनि एषण शुद्ध विचारैं।
देखकर पोथी ले अरु धर हैं, सो आदान-निक्षेपण वर हैं॥
मल-मूत्र एकांत जु डारैं, परतिष्ठापन समिति संभारैं।
यह सब अंग उनतीस कहे हैं, जिन भाखे गणधरने गहे हैं॥
आठ-आठ-तेरहविधि जानों, दर्शन-ज्ञान-चरित्र सु ठानों।
तातैं शिवपुर पहुँचो जाई, रत्नत्रयकी यह विधि भाई॥
रत्नत्रय पूरण जब होई, क्षमा क्षमा करियो सब कोई।
चैत माघ भादों त्रय बारा, क्षमा क्षमा हम उरगें धारा॥

दोहा यह क्षमावणी आरती, पढ़ै सुनै जो कोय।
कहे "मल्ल" सरधा करो, मुक्ति-श्री-फल होय॥२२॥

ॐ ह्रीं अष्टांगसम्यग्दर्शनाय अष्टविधसम्यग्ज्ञानाय त्रयोदश विधसम्यक्चारित्राय रत्नत्रयाय अनर्घ्यपदप्राप्तये महार्घं।

सोरठा दोष न गहियो कोय, गुण गह पढ़िये भावसौं।
भूल चूक जो होय, अर्थ विचारि जु शोधियो॥

[इत्याशीर्वादः। परिपुष्पाञ्जलिं क्षिपामि]

सरस्वती पूजा

जनम जरा मृत्यु छय करै, हरै कुनय जड़रीति ।
भवसागरसों ले तिरै, पूजै जिन वच प्रीति ॥

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भवसरस्वतिवाग्वादिनि ! अत्र अवतर अवतर संवौषट् ।
ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भवसरस्वतिवाग्वादिनि ! अत्र तिष्ठत तिष्ठत ठ ठः ।
ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भवसरस्वतिवाग्वादिनि ! अत्र मम सन्निहितानि भव वषट् ।

छीरोदधिगंगा, विमल तरंगा, सलिल अभंगा सुखसंगा ।
भरि कञ्चन झारी, धार निकारी, तृषा निवारी हितचंगा ॥
तीर्थंकरकी धुनि, गणधरने सुनि, अंग रचे चुनि, ज्ञानमई ।
सो जिनवर वानी, शिवसुखदानी, त्रिभुवन मानी पूज्य भई ॥

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भवसरस्वतीदेव्यै जन्ममृत्युविनाशनाय जल निर्वपामीति स्वाहा ॥१॥

करपूर मंगाया, चंदन आया, केशर लाया, रंग भरी ।
शारदपद वंदों, मन अभिनंदों, पापनिकंदों, दाह हरी ॥ ती०

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भवसरस्वतीदेव्यै संसारतापविनाशनाय चन्दन निर्वपामीति स्वाहा ॥२॥

सुखदास कमोदं, धारकमोदं, अति अनुमोदं, चंदसमं ।
बहुभक्ति बढ़ाई, कीरति गाई, होहु सहाई, मात ममं ॥ ती०

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भवसरस्वतीदेव्यै अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा ॥ ३ ॥

बहुफूल सुवासं, विमल प्रकाशं, आनंदरासं, लाय धरे ।
मम काम मिटायो, शीलबढ़ायो, सुखउपजायो दोष हरे ॥ ती०

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भवसरस्वतीदेव्यै कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा ॥४॥

पकवान बनाया, बहुघृत लाया, सब विधि भाया, मिष्ट महा ।
पूजूं थुति गाऊँ, प्रीति बढ़ाऊँ, क्षुधा नशाऊँ, हर्ष लहा ॥ ती०

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भवसरस्वतीदेव्यै क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥५॥

करि दीपक जोतं, तमछय होतं, ज्योति उदोतं, तुमहिं चढ़ै।
तुम हो परकाशक, भरम विनाशक. हम घट भासक, ज्ञान बढ़ै। ती

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भवसरस्वतीदेव्यै मोहान्धकारविनाशनाय दीपं निर्वपामीति स्वाहा ॥६॥

शुभगंध दशोंकर, पावकमैं धर, धूप मनोहर, खेवत हैं।
सब पाप जलावैं, पुण्य कमावैं, दास कहावैं, सेवत हैं॥ ती

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भवसरस्वतीदेव्यै अष्टकर्मविध्वंसनाय धूपं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ७ ॥

बादाम छुहारी, लौंग सुपारी, श्रीफल भारी, ल्यावत हैं।
मनवांछित दाता, मेट असाता, तुम गुन माता, ध्यावत हैं॥ ती

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भवसरस्वतीदेव्यै मोक्षफलप्राप्तये फलं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ८ ॥

नयननसुखकारी, मृदुगुणधारी, उज्ज्वलभारी, मोल धरैं।
शुभगंधसम्हारा, वसन निहारा, तुम तट धारा, ज्ञान करैं॥ ती

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भवसरस्वतीदेव्यै अनर्घपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ९ ॥

जलचंदन अच्छत, फूल चरू चत, दीप धूप अति फल लावैं।
पूजाको ठानत, जो तुम जानत, सो नर द्यानत, सुख पावैं॥ ती

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भवसरस्वतीदेव्यै अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

जयमाला, सोरठा।

ओंकार धुनिसार, द्वादशांगवाणी विमल।
नमों भक्ति उर धार, ज्ञान करै जड़ता हरै॥

पहलो आचारांग बखानो, पद अष्टादश सहस प्रमानो।
दूजो सूत्रकृतं अभिलाषं, पद छत्तीस सहस गुरु भाषं ॥१॥
तीजो ठाना अङ्ग सु जानं, सहस बियालिस पद सरधानं।
चौथो समवायांग निहारं, चौसठ सहस लाख इक धारं ॥२॥
पञ्चम व्याख्या प्रज्ञपति दरसं, दोय लाख अट्ठाइस सहसं।

छट्ठो ज्ञातृकथा विसतारं, पांच लाख छप्पन हज्जारं ॥ ३ ॥
सप्तम उपासकाध्ययनगं, सत्तर सहस ग्यारलख भंगं।
अष्टम अन्तकृतं दश ईसं, सहस अट्ठाइस लाख तेईसं ॥ ४ ॥
नवम अनुत्तरदश सुविशालं, लाख बानवै सहस चवालं।
दशम प्रश्न व्याकरण विचारं, लाख तिरानवै सोल हजारं ॥ ५ ॥
ग्यारम सूत्रविपाक सु भाखं, एक कोड़ चौरासी लाखं।
चार कोडि अरु पन्द्रह लाखं, दो हजार सब पद गुरु शाखं ॥ ६ ॥
द्वादश दृष्टिवाद पनभेदं, इकसौ आठ कोडिपनवेदं।
अडसठ लाख सहस छप्पन हैं, सहित पञ्चपद मिथ्याहन हैं ॥ ७ ॥
इकसौ बारह कोड़ि बखानो, लाख तिरासी ऊपर जानो।
ठावन सहस पञ्च अधिकाने, द्वादश अङ्ग सर्व पद माने ॥ ८ ॥
कोडि इकावन आठ हि लाखं, सहस चुरासी छह सौ भाखं।
साढ़े इकीस शिलोक बताये, एक एक पद के ये गाये ॥ ९ ॥

दोहा

जा वानी के ज्ञानमैं, सूझै लोक अलोक।
'द्यानत' जग जयवन्त हो, सदा देत हों धोक॥

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भवसरस्वतीदेव्यै महार्घम् निर्वपामीति स्वाहा।

— ० —

सप्तर्षि-पूजा

[कविवर मनरंगलालजी]

छप्पय — प्रथम नाम श्रीमन्व दुतिय स्वरमन्व ऋषीश्वर ।
तीसर मुनि श्रीनिचय सर्वसुंदर चौथो वर ॥
पंचम श्रीजयवान विनयलालस षष्ठम भनि ।
सप्तम जयमित्राख्य सर्व चारित्र-धाम गनि ॥
ये सातों चारण-ऋद्धि-धर, करूं तास पद थापना ।
मैं पूजूं मन वचन काय करि, जो सुख चाहूं आपना ॥

ॐ ह्रीं चारणर्द्धिधरश्रीसप्तर्षीश्वरा ! अत्र अवतरत अवतरत संवौषट् ।
ॐ ह्रीं चारणर्द्धिधरश्रीसप्तर्षीश्वरा ! अत्र तिष्ठत तिष्ठत ठ ठ ।
ॐ ह्रीं चारणर्द्धिधरश्रीसप्तर्षीश्वरा ! अत्र मम सन्निहिता भवत भवत वषट् ।

शुभ-तीर्थ-उद्भव-जल अनूपम, मिष्ट शीतल लायकें ।
भव-तृषा-कंद-निकंद-कारण, शुद्ध-घट भरवायकें ॥
मन्वादि चारण-ऋद्धि-धारक, मुनिनकी पूजा करूं ।
ता करें पातक हरें सारे, सकल आनंद विस्तरूं ॥

ॐ ह्रीं श्रीचारणर्द्धिधरमन्व-स्वरमन्व-निचय-सर्वसुन्दर-जयवान-विनयलालस-जयमित्रर्षिभ्यो जलं निर्वपामीति स्वाहा ।

श्रीखंड कदलीनंद केशर, मंद मंद घिसायकें ।
तसु गंध प्रसरित दिग-दिगंतर, भर कटोरी लायकें ॥मन्वादि०

ॐ ह्रीं श्रीमन्वादिसप्तर्षिभ्यः चंदनं निर्वपामीति स्वाहा ।

अति धवल अक्षत खंड-वर्जित, मिष्ट राजन-भोगके ।
कलधौत-थारा भरत सुंदर, चुनित शुभ उपयोगके ॥मन्वादि०

ॐ ह्रीं श्रीमन्वादिसप्तर्षिभ्यो अक्षतं निर्वपामीति स्वाहा ।

बहु-वर्ण सुवरण-सुमन आछे, अमल कमल गुलाबके ।
केतकी चंपा चारु मरुआ, चुने निज-कर चावके ॥ मन्वादि

ॐ ह्रीं श्रीमन्वादिसप्तर्षिभ्यः पुष्पं निर्वपामीति स्वाहा ।

पकवान नानाभांति चातुर, रचित शुद्ध नये नये ।
सदमिष्ट लाडू आदि भर बहु, पुरटके थारा लये ॥ मन्वादि०

ॐ ह्रीं श्रीमन्वादिसप्तर्षिभ्यो नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

कलधौत-दीपक जडित नाना, भरित गोघृत-सारसों।
अति ज्वलित जगमग-ज्योति जाकी, तिमिरनाशनहारसों ॥म०
ॐ ह्रीं श्रीमन्वादिसप्तर्षिभ्यो दीपं निर्वपामीति स्वाहा।
दिक्-चक्र गंधित होत जाकर, धूप दश-अंगी कही।
सो लाय मन-वच-कायशुद्ध, लगाय कर खेऊं सही ॥मन्वादि०
ॐ ह्रीं श्रीमन्वादिसप्तर्षिभ्यो धूपं निर्वपामीति स्वाहा।
वर दाख खारक अमित प्यारे, मिष्ट चुष्ट चुनायकैं।
द्रावडी दाडिम चारु पुंगी, थाल भर भर लायकें ॥ मन्वादि०
ॐ ह्रीं श्रीमन्वादिसप्तर्षिभ्य फलं निर्वपामीति स्वाहा।
जल गंध अक्षत पुष्प चरुवर, दीप धूप सु लावना।
फल ललित आठौं द्रव्य-मिश्रित, अर्घ कीजे पावना॥
ॐ ह्रीं श्रीमन्वादिसप्तर्षिभ्यो अर्घं निर्वपामीति स्वाहा।

जयमाला

वंदूं ऋषिराजा धर्म-जहाजा निज-पर-काजा करत भले।
करुणाके धारी गगन-विहारी दुख-अपहारी भरम दले॥
काटत जम-फंदा भवि-जन-वृंदा करत अनंदा चरणनमें।
जो पूजै ध्यावै मंगल गावै फेर न आवै भव-वनमें ॥१॥

छंद पद्धरी

जय श्रीमनु मुनिराजा महंत, त्रस-थावरकी रक्षा करंत।
जय मिथ्या-तम-नाशक पतंग, करुणा-रस-पूरित अंग अंग।
जय श्रीस्वरमनु अकलंकरूप, पद-सेव करत नित अमर-भूप।
जय पंच अक्ष जीते महान, तप तपत देह कंचन-समान।
जय निचय सप्त तत्त्वार्थ भास, तप-रमातनों तनमें प्रकाश।
जय विषय-रोध संबोध भान, परणतिके नाशन अचल ध्यान।
जय जयहिं सर्वसुंदर दयाल, लखि इंद्रजालवत जगत-जाल।
जय तृष्णाहारी रमण राम, निज परणतिमें पायो विराम।
जय आनंदघन कल्याणरूप, कल्याण करत सबको अनूप।
जय मद-नाशन जयवान देव, निरमद विरचित सब करत सेव।
जय जयहिं विनयलालस अमान, सब शत्रु मित्र जानत समान।
जय कृशित-काय तपके प्रभाव, छवि-छटा उड़ति आनंद-दाय।

जयमित्र सकल जगके सुमित्र, अनगिनत अधम कीने पवित्र।
जय चंद्र-वदन राजीव-नैन, कबहूं विकथा बोलत न बैन।
जय सातौ मुनिवर एक संग, नित गगन-गमन करते अभंग।
जय आये मथुरापुर मंझार, तँह मरी रोगको अति प्रचार।
जय जय तिन चरणनि को प्रसाद, सब मरी देवकृत भई वाद।
जय लोक करे निर्भय समस्त, हम नमत सदा नित जोड़ हस्त।
जय ग्रीषम-ऋतु परवत मंझार, नित करत अतापन योग सार।
जय तृषा-परीषह करत जेर, कहुं रंच चलत नहिं मन-सुमेर।
जय मूल अठाइस गुणन धार, तप उग्र तपत आनंदकार।
जय वर्षा-ऋतुमें वृक्ष-तीर, तहँ अति शीतल झेलत समीर।
जय शीत-काल चौपट मंझार, कै नदी-सरोवर-तट विचार।
जय निवसत ध्यानारूढ़ होय, रंचक नहिं मटकत रोम कोय।
जय मृतकासन वज्रासनीय, गोदूहन इत्यादिक गनीय।
जय आसन नानाभांति धार, उपसर्ग सहत ममता निवार।
जय जपत तिहारो नाम कोय, लख पुत्र पौत्र कुल-वृद्धि होय।
जय भरे लक्ष अतिशय भंडार, दारिद्रतनो दुख होय छार।
जय चोर अग्नि डाकिन पिशाच, अरु ईति भीति सब नसत सांच।
जय तुम सुमरत सुख लहत लोक, सुर असुर नवत पद देत धोक।

छन्द रोला

ये सातों मुनिराज, महातप लछमी धारी।
परम पूज्य पद धरैं, सकल जगके हितकारी॥
जो मन वँच तन शुद्ध, होय सेवै औ ध्यावै।
सो जन 'मनरँगलाल', अष्ट ऋद्धिनको पावै॥

दोहा

नमन करत चरनन परत, अहो गरीबनिवाज।
पंच परावर्तननितैं, निरवारो ऋषिराज॥

ॐ ह्रीं श्रीमन्वादिसप्तर्षिभ्यो पूर्णार्घं निर्वपामीति स्वाहा॥

अनन्तव्रत पूजा

अडिल्ल छन्द ।

श्रीजिनराज चतुर्दश जग जयकारजी ।
कर्म नाशि भवतार सु शिवसुख धारजी ॥
सवौषट् ठः ठः सुवषट् यह उच्चरूँ ।
आह्वानन स्थापन मम सन्निधि करूँ ॥

ॐ ह्रीं श्रीवृषभाद्यनन्तनाथपर्यन्तचतुर्दशजिनेन्द्रा ! अत्र अवतर अवतर संवौषट् ।
ॐ ह्रीं श्रीवृषभाद्यनन्तनाथपर्यन्तचतुर्दशजिनेन्द्रा ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः स्थापनं ।
ॐ ह्रीं श्रीवृषभाद्यनन्तनाथपर्यन्तचतुर्दशजिनेन्द्रा ! अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् ।

गीता छन्द ।

गंगादि तीर्थको सु जल भर कनकमय भृङ्गार में ।
चउदश जिनेश्वर चरणयुगपरि धार डारौ सार में ॥
श्रीवृषभ आदि अनन्त जिन पर्यंत पूजों ध्यायके ।
करि अनन्तव्रत तप कर्म हनिके लहो शिव सुख जायके ॥

ॐ ह्रीं श्रीवृषभाद्यनन्तनाथपर्यन्तचतुर्दशजिनेन्द्रेभ्यो जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं० ।

चन्दन अगर घनसार आदि सुगन्ध द्रव्य घसायके ।
सहजहि सुगन्ध जिनेन्द्रके पद चर्च हों सुखदायके ॥ श्रीवृषभ०

ॐ ह्रीं श्रीवृषभाद्यनन्तनाथपर्यन्तचतुर्दशजिनेन्द्रेभ्यो संसारतापविनाशनाय चन्दनं० ।

तन्दुल अखण्डित अति सुगन्ध सुमिष्ट लेके कर धरों ।
राजत तुम चरणन निकट शिरनाय पूजों शुभ धरो ॥ श्रीवृषभ०

ॐ ह्रीं श्रीवृषभाद्यनन्तनाथपर्यन्तचतुर्दशजिनेन्द्रेभ्यो अक्षयपदप्राप्तये अक्षतं० ।

चम्पा चमेली केतकी पुनि मोगरो शुभ लायके ।
केवड़ो कमल गुलाब गैंदा जुही माल बनायके ॥ श्रीवृषभ०

ॐ ह्रीं श्रीवृषभाद्यनन्तनाथपर्यन्तचतुर्दशजिनेन्द्रेभ्यो कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं० ।

लाडू कलाकन्द सेव घेवर और मोतीचूर ले।
गूंजा सु पेड़ा क्षीर व्यञ्जन थाल में भरपूर ले ॥ श्रीवृष०
ॐ ह्रीं श्रीवृषभाद्यनन्तनाथपर्यन्तचतुर्दशजिनेन्द्रेभ्यो क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्य ०।
ले रत्नजड़ित सु आरती तामांहि दीप संजोयके।
जिनराज तुमपद आरतीकर तिमिर मिथ्या खोयके॥ श्रीवृष०
ॐ ह्रीं श्रीवृषभाद्यनन्तनाथपर्यन्तचतुर्दशजिनेन्द्रेभ्यो मोहान्धकारविनाशनाय दीप०।
चन्दन अगरतर सिलारस कर्पूरको करि धूपको।
ता गंधतें मधु चकित सो खेऊं निकट जिन भूपको॥ श्रीवृषभ०
ॐ ह्रीं श्रीवृषभाद्यनन्तनाथपर्यन्तचतुर्दशजिनेन्द्रेभ्यो अष्टकर्मविध्वंसनाय धूप०।
नारंगि केला दाख दाड़िम बीजपूर संगायके।
पुनि आम्र और बदाम खारिक कनक थार भरायके॥ श्रीवृष०
ॐ ह्रीं श्रीवृषभाद्यनन्तनाथपर्यन्तचतुर्दशजिनेन्द्रेभ्यो मोक्षफलप्राप्तये फल०।
जल सुचन्दन अखत पुष्प सुगन्ध बहुविधि लायकै।
नैवेद्य दीप सुधूप फल इनको जु अर्घ बनायके॥ श्रीवृषभ०
ॐ ह्रीं श्रीवृषभाद्यनन्तनाथपर्यन्तचतुर्दशजिनेन्द्रेभ्यो अनर्घ्यपदप्राप्तयेऽर्घ्यं०।

जयमाला पद्धडी छन्द।

जय वृषभनाथ वृष को प्रकाश, भविजन को तारे पाप नाश।
जय अजितनाथ जीते सु कर्म, ले क्षमा खड्ग भेदे जु मर्म॥१॥
जय सम्भव जग सुखके निधान, जग सुख करता तुम दियो ज्ञान।
जय अभिनन्दन पद धरो ध्यान, तासों प्रगटे शुभ ज्ञान भान॥२॥
जय सुमति सुमतिके देन हार, जासों उतरे भव उदधि पार।
जय पद्म पद्म पदकमल तोहि, भविजन अति सेवैं मगन होहिं॥३॥
जय जय सुपार्श्व तुम नमत पांय, क्षय होत पाप बहु पुण्य थाय।
जय चन्द्रप्रभ शशिकोट भान, जगका मिथ्यातम हरो जान॥४॥

जय पुष्पदन्त जग मांहि सार, पुष्पकको मारयो अति सुमार।
करि धर्मभाव जगमें प्रकाश, हरि पाप तिमिर दियो मुक्तवास ॥५॥
जय शीतलजिन भवहर प्रवीन, हरि पाप ताप जग सुखी कीन।
श्रेयांस कियो जग को कल्यान, दे धर्म दुःखित तारे सुजान ॥६॥
जय वासुपूज्य जिन नमों तोहि, सुर नर मुनि पूजत गर्व खोहि।
जय विमल विमल गुण लीन मेय, भवि करे आप सम सुगुण देय ॥७॥
जय अनन्तनाथ करि अनन्तवीर्य, हरि घातिकर्म धरि नन्त धीर्य।
उपजायो केवलज्ञान भान, प्रभु लखे चराचर सब सु जान ॥८॥

दोहा—यह चौदह जिनजगत में, मंगल करन प्रवीन।
पाप हरण बहु सुख करन, सेवक सुखमय कीन ॥

ॐ ह्रीं श्रीवृषभाद्यनतनाथपर्यंतचतुर्दशजिनेन्द्रेभ्योऽर्घ्यं०।

अनन्त चतुर्दशी मन्त्र

एकादशी—ॐ ह्रीं अर्हं हंसः अनन्त केवलिने नमः स्वाहा।
द्वादशी—ॐ ह्रीं क्ष्वीं ह्रीं ह्रौं ह्रौं हंसः अमृत वाहने नमः स्वाहा।
त्रयोदशी—ॐ ह्रीं अनन्तनाथ तीर्थङ्कराय ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः असि आउसा मम सर्व शान्ति कुरु-कुरु स्वाहा।
चतुर्दशी—ॐ ह्रीं अर्हं हंसः। अनन्त केवलि भगवान अनन्त दान लाभ भोगोपभोग वीर्याभिवृद्धि कुरु-कुरु स्वाहा।

अनन्त बदलने का मन्त्र

ॐ ह्रीं अर्हं हंसः अनन्त केवलि भगवान सर्व कर्म विमुक्ताय अनन्तनाथ तीर्थङ्कराय अनन्त सुख प्राप्ताय पूर्व सूत्र बन्धन मोचन करोमि स्वाहा।

अनन्त बांधने का मन्त्र

ॐ ह्रीं अनन्त तीर्थङ्कराय सर्व शान्ति कुरु-कुरु सूत्र बन्धन करोमि स्वाहा।

यज्ञोपवीत मन्त्र

ॐ ह्रीं नमः परमशान्ताय परमशान्तिकराय पवित्रीकराजाहं रत्नत्रय स्वरूप यज्ञोपवीत दधामि मम गात्रं पवित्र भवतु अर्हं नमः स्वाहा।

शान्तिपाठः

दोधकवृत्त ।

शान्तिजिनं शशि-निर्मल-वक्त्रं शील-गुण-व्रत-संयम-पात्रम् ।
अष्टशतार्चित-लक्षण-गात्रं नौमि जिनोत्तममम्बुज-नेत्रम् ॥१॥
पञ्चममीप्सित-चक्रधराणां पूजितमिन्द्र-नरेन्द्र-गणैश्च ।
शान्तिकरं गण-शान्तिमभीप्सुः षोडश-तीर्थकरं प्रणमामि ॥२॥
दिव्य-तरुः सुर-पुष्प-सुवृष्टिर्दुन्दुभिरासन-योजन-घोषौ ।
आतपवारण-चामर-युग्मे यस्य विभाति च मण्डलतेजः ॥३॥
तं जगदर्चित-शान्ति-जिनेन्द्रं शान्तिकरं शिरसा प्रणमामि ।
सर्वगणाय तु यच्छतु शान्तिं मह्यमरं पठते परमां च ॥४॥

वसन्ततिलका छन्द ।

येऽभ्यर्चिता मुकुट-कुण्डल-हार-रत्नैः शक्रादिभिः सुरगणैः स्तुत-पाद-पद्माः ।
ते मे जिनाः प्रवर-वंश-जगत्प्रदीपास्तीर्थङ्कराः सतत-शान्तिकरा भवन्तु ॥५॥

इन्द्रवज्रा ।

संपूजकानां प्रतिपालकानां यतीन्द्र-सामान्य-तपोधनानाम् ।
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः करोतु शान्तिं भगवाञ्जिनेन्द्रः ॥६॥

स्रग्धरावृत्त ।

क्षेमं सर्व-प्रजानां प्रभवतु बलवान्धार्मिको भूमिपालः
काले काले च सम्यग्वर्षतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम् ।
दुर्भिक्षं चौर-मारी क्षणमपि जगतां मा स्म भूज्जीवलोके
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्व-सौख्य-प्रदायि ॥७॥

अनुष्टुप्

प्रध्वस्त-घाति-कर्माणः केवलज्ञान-भास्कराः ।
कुर्वन्तु जगतां शान्तिं वृषभाद्या जिनेश्वराः ॥८॥

अथेष्ट प्रार्थना

प्रथम करणं चरणं द्रव्यं नमः
शास्त्राभ्यासो जिनपति-नुतिः सङ्गतिः सर्वदार्यैः

सद्वृत्तानां गुण-गण-कथा दोष-वादे च मौनम् ।
सर्वस्यापि प्रिय-हित-वचो भावना चात्मतत्त्वे
सम्पद्यन्तां मम भव-भवे यावदेतेऽपवर्गः ॥६॥

आर्यावृत्त

तव पादौ मम हृदये मम हृदयं तव पद-द्वये लीनम् ।
तिष्ठतु जिनेन्द्र तावद्यावन्निर्वाण-सम्प्राप्तिः ॥१०॥
अक्खर- पयत्थ-हीणं मत्ता-हीणं च जं मए भणियं ।
तं खमउ णाणदेव य मज्झ वि दुक्ख-क्खयं दिंतु ॥११॥
दुक्ख-खओ कम्म-खओ समाहिमरणं च बोहि-लाहो य ।
मम होउ जगद-बंधव तव जिणवर चरण-सरणेण ॥१२॥

स्तुतिः

त्रिभुवन-गुरो, जिनेश्वर परमानन्दैक-कारणं कुरुष्व ।
मयि किङ्करेऽत्र करुणां यथा तथा जायते मुक्तिः ॥१३॥
निर्विण्णोऽहं नितरामर्हन्बहु-दुःखया भवस्थित्या ।
अपुनर्भवाय भवहर, कुरु करुणामत्र मयि दीने ॥१४॥
उद्धर मां पतितमतो विषमाद्भवकूपतः कृपां कृत्वा ।
अर्हन्नलमुद्धरणे त्वमसीति पुनः पुनर्वच्मि ॥१५॥
त्वं कारुणिकः स्वामी त्वमेव शरणं जिनेश तेनाहम् ।
मोह-रिपु-दलित-मानं फूत्करणं तव पुरः कुर्वे ॥१६॥
ग्रामपतेरपि करुणा परेण केनाप्युपद्रुते पुंसि ।
जगतां प्रभो न कि तव जिन मयि खलु कर्मभिः प्रहते ॥१७॥
अपहर मम जन्म दयां कृत्वा चेत्येकवचसि वक्तव्यम् ।

तव जिन चरणाब्ज-युगं करुणामृत-शीतलं यावत् ।
संसार-ताप-तप्तः करोमि हृदि तावदेव सुखी ॥१९॥

जगदेक-शरण भगवन् नौमि श्रीपद्मनन्दित-गुणौघ ।
किं बहुना कुरु करुणामत्र जने शरणमापन्ने ॥२०॥

[परिपुष्पाञ्जलिं क्षिपामि]

विसर्जन संस्कृत

ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि शास्त्रोक्तं न कृतं मया ।
तत्सर्वं पूर्णमेवास्तु त्वत्प्रसादाज्जिनेश्वर ! ॥ १ ॥

आह्वानं नैव जानामि नैव जानामि पूजनं ।
विसर्जनं न जानामि क्षमस्व परमेश्वर ! ॥ २ ॥

मन्त्रहीनं क्रियाहीनं द्रव्यहीनं तथैव च ।
तत्सर्वं क्षम्यतां देव रक्ष रक्ष जिनेश्वर ! ॥ ३ ॥

आहूता ये पुरा देवा लब्धभागा यथाक्रमम् ।
ते मयाऽभ्यर्चिता भक्त्या सर्वे यांतु यथास्थितं ॥४॥

सर्वमंगल मांगल्यं सर्व कल्याणकारकम् ।
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥ ५ ॥

पार्श्वनाथ स्तोत्र

भुजंगप्रयात छन्द ।

नरेन्द्रं फणीन्द्रं सुरेन्द्रं अधीसं, शतेन्द्रं सु पुजं भजैं नाय शीशं ।
मुनीद्रं गणेन्द्रं नमों जोडि हाथ, नमो देवदेवं मदा पार्श्वनाथं ॥१॥
गजेन्द्रं मृगेन्द्रं गह्यो तू छुड़ावै, महा आगतैं नागतैं तू वचावै ।
महावीरतैं युद्ध मैं तू जितावै, महा रोगतैं वंधतैं तू छुड़ावै ॥ २ ॥
दुःखी दुःखहर्ता सुखीसुक्खकर्ता, सदासेवकों को महानन्द भर्ता ।
हरे यक्षराक्षस्य भूतं पिशाचं, विषं डांकिनी विघ्नकेभय अवाचं ॥३॥
दरिद्रीन को द्रव्यके दानदी ने, अपुत्रीन को तू भले पुत्र कीने ।
महासंकटोंसे निकारै विधाता, सबै सम्पदा सर्वको देहि दाता ॥४॥
महाचोरको वज्र का भय निवारै, महापौनके पुञ्जतैं तू उबारै ।
महाक्रोधकी अग्निको मेघ धारा, महालोभ शैलेशको वज्रभारा ॥५॥
महामोह अन्धेरको ज्ञान मानं, महाकर्मकांतारको दौं प्रधानं ।
किये नागनागिन अधोलोक स्वामी, हरयो मान तूदैत्यको हो अकामी।
तुही कल्पवृक्षं तुही कामधेनु, तुही दिव्य चिन्तामणी नाग एनं।
पशू नर्क के दुःखतैं तू छुड़ावै, महास्वर्गतैं मुक्ति मैं तू बसावै ॥७॥
करै लोहको हेमपाषाण नामी, रटै नाम सो क्यों न हो मोक्षगामी।
करै सेव ताकी करैं देव सेवा, सुनै वैन सोही लहैं ज्ञान मेवा ॥८॥
जपै जाप ताको नहीं पाप लागै, धरै ध्यान ताके सबै दोष भागै ।
विना तोहि जाने धरे भव घनेरे, तुम्हारी कृपातैं सरैं काज मेरे ॥६॥

दोहा—गणधर इन्द्र न कर सकैं, तुम विनती भगवान।
'द्यानत' प्रीति निहारकैं, कीजै आप समान ॥

श्री जिनवाणी भजन

जिनवाणी माता दर्शन की बलिहारियां ॥ टेक ॥
प्रथम देव अरहन्त मनाऊ, गणधरजी को ध्याऊ ।
कुन्दकुन्द आचारज स्वामी, नितप्रति शीश नवाऊ ॥ ए जिनवाणी०
योनि लाख चोरासी मांही, घोर महा दुःख पायो ।
तेरी महिमा सुन कर माता, शरण तिहारी आयो ॥ ए जिनवाणी०
जाने थारो शरणां लीनो, अष्ट-कर्म क्षय कीनो ।
जामन मरण मेट के माता, मोक्ष महाफल लीनो ॥ ए जिनवाणी०
बार-बार मैं विनऊ माता, मिहरजु मोपर कीजे ।
पार्श्वदास को अरज यही है, चरण शरण मोहि दीजे ॥ ए जिनवाणी०

जिनवाणी स्तुति

वीर हिमाचलतें निकसी गुरु गौतम के मुख कुण्ड ढरी है ।
मोह महाचल भेद चली जग की जड़ता तप दूर करी है ॥
ज्ञान पयोनिधि माहि रली बहु भक्ति तरङ्गनि सों उछरी है ।
ता शुचि शारद गङ्ग नदी प्रति मैं अजुरी निज शीश धरी है ॥ १ ॥
या जग मन्दिर मे अनिवार अज्ञान अन्धेर छयो अति भारी ।
श्रीजिन की धुनि दीपशिखा सम जो नहि होत प्रकाशन हारी ॥
तो किस भाति पदारथ पाति कहा लहते रहते अविचारी ।
या विधि सन्त कहैं धनि हं धनि हैं जिन वैन वडे उपगारी ॥ २ ॥

अथ भूधरकृत गुरु स्तुति

वन्दौ दिगम्बर गुरुचरण जग—तरण तारण जान।
जे भरम भारी रोग को है, राजवैद्य महान॥
जिनके अनुग्रह बिन कभी नहिं, कटै कर्म जजीर।
ते साधु मेरे उर बसहु, मेरी हरहु पातक पीर॥ १ ॥

यह तन अपावन अथिर है, ससार सकल असार।
ये भोग विषपकवान से, इह भाति सोच विचार॥
तप विरचि श्रीमुनि वन बसे, सब छाडि परिग्रह भीर। ते साधु०॥२॥

जे काच कञ्चनसम गिनहिं, अरि मित्र एक स्वरूप।
निन्दा बडाई सारिखी, वनखण्ड शहर अनूप॥
सुख दुःख जीवन मरन मे, नहिं खुशी नहि दिलगीर। ते साधु०॥३॥

जे वाह्य परवत वन बसै, गिरि गुफा महल मनोग।
सिल सेज समता सहचरी, शशि किरन दीपक जोग॥
मृग मित्र भोजन तपमई, विज्ञान निरमल नीर। ते साधु०॥४॥

सूखहि सरोवर जल भरे, सूखहिं तरगिनि-तोय।
बाटहि वटोही ना चलै, जहँ घाम गरमी होय॥
तिहँकाल मुनिवर तपतपहिं, गिरि शिखर ठाडे धीर। ते साधु०॥५॥

घनघोर गरजहिं घनघटा, जलपरहिं पावसकाल।
चहुँ ओर चमकहि बीजुरी, अति चलै सीरी व्याल॥
तरुहेट तिष्ठहिं तब जती, एकान्त अचल शरीर। ते साधु०॥६॥

जब शीतमास तुषारसो, दाहै सकल वनराय।
जब जमै पानी पोखरां, थरहरै सबकी काय॥
तब नगन निवसै चौहटै, अथवा नदी के तीर। ते साधु०॥७॥

करजोर 'भूधर' बीनवै, कब मिलहिं वे मुनिराज।
यह आश मन की कब फलै, मम सरहिं सगरे काज॥
ससार विषम विदेश मे, जे बिना कारण वीर। ते साधु०॥८॥



अथ भूधरकृत दूसरी गुरु स्तुति

राग भरथरी—दोहा।

ते गुरु मेरे मन बसो, जे भवजलधि जिहाज।
आप तिरहिं पर तारही, ऐसे श्रीऋषिराज॥ ते गुरु० ॥ १ ॥

मोहमहारिपु जीतिकै, छाड्यो सब घरबार।
होय दिगम्बर वन बसे, आतम शुद्ध विचार॥ ते गुरु० ॥ २ ॥

रोग उरग-विलवपु गिण्यो, भोग भुजंग समान।
कदलीतरु ससार है, त्याग्यो सब यह जान॥ ते गुरु० ॥ ३ ॥

रत्नत्रयनिधि उर धरैं, अरु निरग्रन्थ त्रिकाल।
मार्यो कामखबीस को, स्वामी परम दयाल॥ ते गुरु० ॥ ४ ॥

पञ्च महाव्रत आचरै, पांचो समिति समेत।
तीन गुपति पालैं सदा, अजर अमर पदहेत॥ ते गुरु० ॥ ५ ॥

धर्म धरै दशलाक्षणी, भावैं भावना सार।
सहैं परीषह बीस द्वै, चारित-रतन-भण्डार ॥ ते गुरु० ॥ ६ ॥

जेठ तपै रवि आकरो, सूखै सर वर नीर।
शैल-शिखर मुनि तप तपै, दाझै नगन शरीर ॥ ते गुरु० ॥ ७ ॥

पावस रैन डरावनी, बरसै जलधर धार।
तरुतल निवसै तव यती, चालै झञ्झा व्यार ॥ ते गुरु० ॥ ८ ॥

शीत पडे कपि-मद गलै, दाहै सब वनराय।
तालतरंगनि के तटै, ठाडे ध्यान लगाय ॥ ते गुरु० ॥ ९ ॥

इहि विधि दुद्धर तप तपै, तीनो काल मझार।
लागे सहज सरूप में, तनसो ममत निवार ॥ ते गुरु० ॥ १० ॥

पूरव भोग न चिन्तवै, आगम वांछै नाहिं।
चहुं गतिके दुःखसौ डरै, सुरति लगी शिवमाहिं ॥ ते गुरु० ॥ ११ ॥

रङ्गमहल मे पौढते, कोमल सेज बिछाय।
ते पच्छिम निशि भूमि मे, सोवै सवरि काय ॥ ते गुरु० ॥ १२ ॥

गज चढ़ि चलते गर्वसो, सैना सजि चतुरङ्ग।
निरखि-निरखि पग वे धरै, पालै करुणा अङ्ग ॥ ते गुरु० ॥ १३ ॥

वे गुरु चरण जहा धरै, जग मे तीरथ जेह।
सो रज मम मस्तक चढो, 'भूधर' मागे एह ॥ ते गुरु० ॥ १४ ॥

संकट हरण विनती

हे दीनबन्धु श्रीपति करुणा निधान जी।
अब मेरी व्यथा क्यों ना हरो बार क्या लगी॥ टेक॥
मालिक हो दो जहान के जिनराज आप ही।
ऐबो हुनर हमारा कुछ तुमसे छिपा नहीं॥
बेजान में गुनाह मुझसे बन गया सही।
ककरी के चोर को कटार मारिये नहीं॥ हे दीन०॥ १॥
दुख दर्द दिल का आपसे जिसने कहा सही।
मुश्किल कहर बहर से लई है भुजा गही॥
जस वेद और पुराण में प्रमाण है यही।
आनन्द कन्द श्रीजिनेन्द्र देव है तुही॥ हे दीन०॥ २॥
हाथी पै चढ़ी जाती थी सुलोचना सती।
गङ्गा में ग्राह ने गही गजराज की गती॥
उस वक्त में पुकार किया था तुम्हें सती।
भय टार के उबार लिया हे कृपा पती॥ हे दीन०॥ ३॥
पावक प्रचण्ड कुण्ड में उमण्ड जब रहा।
सीता से शपथ लेने को जब राम ने कहा॥
तुम ध्यान धरके जानकी पग धारती तहाँ।
तत्काल ही सर स्वच्छ हुआ कमल लहलहा॥ हे दीन०॥ ४॥
जब चीर द्रौपदी का दुःशासन ने था गहा।
सबही सभा के लोग कहते थे हहा-हहा॥
उस वक्त भीर पीर में तुमने करी सहा।
परदा ढका सती का सुयश जगत में रहा॥ हे दीन०॥ ५॥

श्रीपाल को सागर विषै जब सेठ गिराया।
उसकी रमा से रमने को आया था बेहया॥
उस वक्त के सङ्कट मे सती तुमको जो ध्याया।
दुःख द्वन्दफन्द मेट के आनन्द बढाया॥ हे दीन०॥ ६॥
हरिषेण की माता को जहाँ सौत सताया।
रथ जैन का तेरा चले पीछे से बताया॥
उस वक्तके अनशन मे सती तुमको जो ध्याया।
चक्रेश हो सुत उसके ने रथ जैन चलाया॥ हे दीन०॥ ७॥
सम्यक्त शुद्ध शीलवन्त चन्दना सती।
जिसके नजीक लगती थी जाहर रती-रती॥
बेडी मे पडी थी तुम्हें जब ध्यावती हुती।
तब वीर धीर ने हरी दुःख द्वन्द की गती॥ हे दीन०॥ ८॥
जब अञ्जना सती को हुआ गर्भ उजारा।
तब सास ने कलङ्क लगा घर से निकारा॥
वन वर्ग के उपसर्ग मे सती तुमको चितारा।
प्रभु भक्त व्यक्त जानि के भय देव निवारा॥ हे दीन०॥ ९॥
सोमा से कहा जो तू सती शील विशाला।
तो कुम्भतें निकाल भला नाग जु काला॥
उस वक्त तुम्हें ध्याय सती हाथ जो डाला।
तत्काल ही वह नाग हुआ फूल की माला॥ हे दीन०॥ १०॥
जब राज रोग था हुआ श्रीपाल राज को।
मैना सती तब आपकी पूजा इलाज को॥
तत्काल ही सुन्दर किया श्रीपालराज को।
वह राज रोग भोग गया मुक्तिराज को॥ हे दीन०॥ ११॥

जब सेठ सुदर्शन को मृषा दोष लगाया।
रानी के कहे भूप ने शूली पै चढाया॥
उस वक्त तुम्हें सेठ ने निज ध्यान मे ध्याया।
शूली से उतार उसको सिंहासन पै बिठाया॥ हे दीन०॥ १२॥
जब सेठ सुधंन्नाजी को वापी मे गिराया।
ऊपर से दुष्ट था उसे वह मारने आया॥
उस वक्त तुम्हें सेठ ने निज ध्यान मे ध्याया।
तत्काल ही जञ्जाल से तब उसको बचाया॥ हे दीन०॥ १३॥
इक सेठ के घर मे किया दारिद्र ने डेरा।
भोजन्न का ठिकाना नहीं था साझ सवेरा॥
उस वक्त तुम्हें सेठ ने जब ध्यान मे घेरा।
घर उसके मे तब कर दिया लक्ष्मी का बसेरा॥ हे दीन०॥ १४॥
बलि वाद मे मुनिराज सो जब पार न पाया।
तब रात को तलवार ले शठ मारने आया॥
मुनिराज ने निज ध्यान मे मन लीन लगाया।
उस वक्त हो प्रत्यक्ष तहाँ देव बचाया॥ हे दीन०॥ १५॥
जब राम ने हनुमन्त को गढ लङ्क पठाया।
सीता की खबर लेने को सह सैन्य सिधाया॥
मग बीच दो मुनिराज की लख आग मे काया।
झट वार मूसलधार से उपसर्ग बुझाया॥ हे दीन०॥ १६॥
जिननाथ ही को माथ नवाता था उदारा।
घेरे मे पडा था वो कुम्भकरण विचारा॥
उस वक्त तुम्हें प्रेम से सङ्कट मे उचारा।
रघुवीर ने सब पीर तहा तुरत निवारा॥ हे दीन०॥ १७॥

रणपाल कुँवर के पडी थी पाँव मे वेरी।
उस वक्त तुम्हें ध्यान मे ध्याया था सवेरी॥
तत्काल ही सुकुमाल की सव भड पडी वेरी।
तुम राजकुँवर की सभी दुःख द्वन्द निवेरी॥ हे दीन०॥ १८॥
जब सेठ के नन्दन को डसा नाग जु कारा।
उस वक्त तुम्हे पीर में धर धीर पुकारा॥
तत्काल ही उस वाल का विष भूरि उतारा।
वह जाग उठा सोके मानो सेज सकारा॥ हे दीन०॥ १९॥
मुनि मानतुङ्ग को दई जव भूप ने पीरा।
ताले मे किया वन्द भरी लोह जञ्जीरा॥
मुनीश ने आदीश की थुति की है गम्भीरा।
चक्रेश्वरी तव आन के झट दूर की पीरा॥ हे दीन०॥ २०॥
शिवकोटि ने हट था किया समन्तभद्र सों।
शिवपिण्ड को वन्दन करो शङ्को अभद्र सों॥
उस वक्त स्वयम्भू रचा गुरु भाव भद्र सों।
प्रतिमा जहा जिन चन्द्र की प्रगटी सुभद्र सों॥ हे दीन०॥ २१॥
सूवे ने तुम्हें आन के फल आम चढाया।
मेंढक ले चला फूल भरा भक्ति का भाया॥
तुम दोनों को अभिराम स्वर्ग धाम वसाया।
हम आपसे दातार को लख आज ही पाया॥ हे दीन०॥ २२॥
कपि, श्वान, सिंह, नवल, अज, वैल विचारे।
तिर्यञ्च जिन्हें रञ्च न था बोध चितारे॥
इत्यादि को सुरधाम दे शिवधाम में धारे।
प्रभु आपसे दातार को हम आज निहारे॥ हे दीन०॥ २३॥

तुमही अनन्त जन्तु का भय भीर निवारा।
वेदों-पुराण में गुरु गणधर ने उचारा॥
हम आपकी शरणागति में आके पुकारा।
तुम हो प्रत्यक्ष कल्पवृक्ष ईक्षु अहारा॥ हे दीन०॥ २४॥

प्रभु-भक्त व्यक्त जक्त भुक्त मुक्त के दानी।
आनन्द कन्द वृन्द को हो मुक्ति के दानी॥
मोहि दीन जान दीनबन्धु पातकी भानी।
ससार विषम तार-तार अन्तर यामी॥ हे दीन०॥ २५॥

करुणा निधान दास को अब क्यों न निहारो।
दानी अनन्त दान के दाता हो सम्भारो॥
वृष चन्द नन्द वृन्द का उपसर्ग निवारो।
ससार विषमक्षार से प्रभु पार उतारो॥
हे दीनबन्धु श्रीपति करुणा निधानजी।
अब मेरी व्यथा क्यों न हरो वार क्या लगी॥ हे दीन०॥ २६॥

वर्णी वाणी की डायरी से

- "किसी को मत सताओ" यह परम कल्याण का मार्ग है। इसका यह तात्पर्य है कि जो पर को कष्ट देने का भाव है वह आत्मा का विभाव भाव है, उसके होते ही आत्मा विकृत अवस्था को प्राप्त हो जाती है और विकृत भाव के होते ही आत्मा स्वरूप से च्युत हो जाती है, स्वरूप से च्युत होते ही आत्मा नाना गतियों का आश्रय लेती है और वहाँ नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव करती है; इसका नाम कर्म फल चेतना है। कर्मफल चेतना का कारण कर्म चेतना है, जब तक कर्म चेतना का सम्बन्ध न छूटेगा इस ससार चक्र से सुलझना कठिन ही नहीं, असम्भव है।

भजन—होनहार बलवान

नर होनहार होतव्य, न तिल भर टरती।
भई जरदकुवर के हाथ मौत गिरिधर की॥
श्री नेमिनाथ जिन आगम यह उच्चारी।
भई बारह वर्ष विनाशि द्वारिका सारी॥
बचे फक्त श्री बलभद्र और गिरिधारी।
गये निकलि देश से कथ तृषा अधिकारी॥
भये निद्रावश वन बीच निवृत्ति हरि की।
भई जरदकुवर के हाथ मौत गिरिधर की॥
बलभद्र भरन गये नीर न नियरे पाया।
धरि भेष शिकारी जरदकुंवर तह आया॥
लखि पीताम्बर पट पीत पद्म हरषाया।
तब मृगा जानि यदुवश ने बाण चलाया॥
लागत ही तीर उठि वीर पीर तरकस की।
भई जरदकुंवर के हाथ मौत गिरिधर. की॥
चित चकित होत चहुँ ओर निहारे वन मे।
किन मारा बैरी बाण आय इस वन मे॥
यह वचन सुनत यदुकुंवर बिलखते मन में।
श्री नेमिनाथ जिन वचन लखे दृग मन में॥
होनी से शक्ति न होवे गणधर मुनि की।
भई जरदकुंवर के हाथ मौत गिरिधर की॥

ले आये नीर बलभद्र तीर नरपति के।
लखि हाल भये बेहाल देख भूपति के॥
षट् मास फिरे बलभद्र मोहवश भ्रमते।
दिया तुङ्गीगिरि पर दाह बोध चितधर के॥
कहे गुणीजन के सुन वाणी यह जिनवर की।
भई जरदकुंवर के हाथ मौत गिरिधर की॥

श्री नेमिनाथजी की विनती

सैयो म्हारी नेमीसुर बनडाने गिरनारी जातां राख लीजो ये॥ टेक॥
समद विजयजी रा लाडला ये माय, सैयो म्हारी दोनूं छै हरधर लार।
पिताजी ने जाय कहिजो ये॥ १॥
नेमीसुर बनडो बण्यो हे माय, सैयो म्हारी खूब वणी छै वरात।
झरोखा से झाख लीजो ये॥ २॥
तोरन पर जब आईया ये माय, सैयो म्हारी पशुवन सुणी पुकार।
पाछो रथ फेरियो ये माय॥ ३॥
तोड्या छै कांकण डोरडा ये माय, सैयो म्हारी तोड्या छै नवसर हार।
दीक्षा उरधार लीनो हे माय॥ ४॥
संजम अब मैं धारस्यूं ये माय, सैयो म्हारी जास्या गढ गिरिनार।
कर्म फन्द काटस्या ये माय॥ ५॥
सेवक की ये विनती ये माय, सैयो म्हारी मागो छै शिवपुर वास।
दया चित्त धार लीजो ये माय॥ ६॥

शास्त्र-भक्ति

अकेला ही हूँ मैं करम सब आये सिमटिके।
लिया है मैं तेरा शरण अब माता सटकिके॥
भ्रमावत है मोको-करम दु.ख देता जनमका।
करो भक्ती तेरी, हरो दु ख माता भ्रमणका॥ १॥

दु खी हुआ भारी, भ्रमत फिरता हूँ जगतमे।
सहा जाता नाही, अकल घबराई भ्रमणमे॥
करो क्या मा मोरी, चलत वश नाही मिटनका।
करो भक्ती तेरी, हरो दु ख माता भ्रमणका॥ २॥

सुनो माता मोरी, अरज करता हूँ दरदमे।
दु खी जानो मोको, डरप कर आयो शरणमे॥
कृपा ऐसी कीजे, दरद मिट जावै मरणका।
करो भक्ती तेरी, हरो दु ख माता भ्रमणका॥ ३॥
पिलावै जो मोको, सुबुधिकर प्याला अमृतका।
मिटावै जो मेरा, सरब दुःख सारा फिरनका॥
पडू पावा तेरे, हरो दु ख सारा फिकरका।
करो भक्ती तेरी, हरो दु.ख माता भ्रमणका॥ ४॥

सवैया।

मिथ्या-तम नाशवे को, ज्ञान के प्रकाशवे को।
आपा-पर-भासवे को, भानुसी बखानी है॥
छहो द्रव्य जानवे को, वसुविधि भानवे को।
स्वपर पिछानवे को, परम प्रमानी है॥
अनुभौ बताइवे को, जीव के जतायवे को।
काहू न सतायवे को, भव्य उर आनी है॥
जहां तहां तारवे को, पार के उतारवे को।
सुख विस्तारवे को, ऐसी जिनवानी है॥ ५॥

दोहा—जिनवाणी की स्तुति करै, अल्प बुद्धि परमान।
'पन्नालाल' विनती करै, दे माता मोहि ज्ञान॥
हे जिनवाणी भारती, तोहि जपूं दिन रैन।
जो तेरा शरणा गहै, सुख पावै दिन रैन॥
जा वानी के ज्ञानतैं, सूझै लोकालोक।
सो वानी मस्तक चढ़ो, सदा देत हों धोक॥

वर्णी वाणी की डायरी से

■ संसार की दशा जो है वही रहेगी इसको देख कर उपेक्षा करनी चाहिये। केवल स्वात्म गुण और दोषों को देखो। उन्हें देख कर गुणों को ग्रहण करो और दोषों को त्यागो।

पं० भूधरकृत दूसरी स्तुति

अहो ! जगतगुरु देव, सुनियो अरज हमारी।
तुम हो दीनदयाल, मै दुःखिया संसारी॥
इस भव वन में वादि, काल अनादि गमायो।
भ्रमत चहूँगति माहिं, सुख नहि दुःख बहु पायो॥
कर्म महारिपु जोर, एक न कान करै जी।
मन मान्या दुःख देहि, काहू सो नाहि डरै जी॥
कबहूँ इतर निगोद, कबहूँ नर्क दिखावें।
सुरनर-पशुगति माहि, बहुविधि नाच नचावें॥
प्रभु इनके परसग, भव भव माहि बुरे जी।
जे दुःख देखे देव। तुमसो नाहिं दुरे जी॥
एक जनम की बात, कहि न सको सुनि स्वामी।
तुम अनन्त परजाय, जानत अन्तरयामी॥
मैं तो एक अनाथ, ये मिलि दुष्ट घनेरे।
कियो बहुत बेहाल, सुनियो साहिब मेरे॥
ज्ञान महानिधि लूटि, रङ्क निबल करि डारयो।
इन ही तुम मुझ माहि, हे जिन ! अन्तर पार्यो॥
पाप पुण्य मिलि दोइ, पायनि बेडी डारी।
तन कारागृह माहि, मोहि दिये दुःख भारी॥

इनको नेक विगार, मैं कछु नाहिं कियो।
बिन कारन जगवधु ! बहुविधि बैर लियो ॥
अब आयो तुम पास, सुनि कर सुजस तिहारो।
नीति निपुन महाराज, कीजे न्याय हमारो॥
दुष्टन देहु निकार, साधुन को रख लीजै।
विनवै "भूधरदास" हे प्रभु ! ढील न कीजै॥

मंगलाष्टक (वृन्दावन कृत भाषा)

संघ सहित श्रीकुन्दकुन्द गुरु, वन्दन हेत गये गिरनार।
वाद परयो तहं संशय मतिसों, साक्षी वदी अम्बिकाकार॥
'सत्य' पंथ निरग्रंथ दिगम्बर, कही सुरी तहं प्रकट पुकार।
सो गुरुदेव वसौ उर मेरे, विघन हरण मङ्गल करतार॥ १॥

स्वामी समन्तभद्र मुनिवरसों, शिवकोटी हट कियो अपार।
वन्दन करो शम्भु पिण्डी को, तब गुरु रच्यो स्वयंभू भार॥
वन्दन करत पिण्डिका फाटी प्रगट भये जिनचन्द उदार॥ सो० २॥

श्री अकलङ्कदेव मुनिवरसों, वाद रच्यौ जहं बौद्ध विचार।
तारादेवी घट में थापी, पटके ओट करत उच्चार॥
जीत्यो स्यादवादबल मुनिवर, बौद्ध बोध तारामद टार॥ सो० ३॥

श्रीमत विद्यानन्दि जबै, श्री देवागम थुति सुनी सुधार।
अर्थ हेतु पहुँच्यो जिनमन्दिर, मिल्यो अर्थ तहं सुख दातार॥
तब व्रत परम दिगम्बर को धर, परमतको कीनों परिहार॥ सो० ४॥

श्रीमत मानतुङ्ग मुनिवर पर, भूप कोप जब कियो गंवार।
बन्द कियो तालों में तबही, भक्तामर गुरु रच्यो उदार॥
चक्रेश्वरी प्रगट तब ह्वैके, बन्धन काट कियो जयकार॥ सो० ५॥

श्रीमत वादिराज मुनिवरसों, कह्यो कुष्ठि भूपति जिहं बार।
श्रावक सेठ कह्यो तिहं अवसर, मेरे गुरु कंचन तनधार॥
तबहीं एकीभाव रच्यो गुरु, तन सुवरण दुति भयो अपार॥ सो० ६॥

श्रीमत कुमुदचन्द्र मुनिवरसों, वाद परयो जहं सभा मंझार।
तब ही श्रीकल्याण धामथुति, श्रीगुरु रचना रची अपार॥
तब प्रतिमा श्रीपार्श्वनाथ की प्रगट भयी त्रिभुवन जयकार॥ सो० ७॥

श्रीमत अभयचन्द्र गुरुसों जब, दिल्लीपति इमि कही पुकार।
कै तुम मोहि दिखावहु अतिशय, कै पकरौं मेरो मत सार॥
तब गुरु प्रगट अलौकिक अतिशय, तुरत हर्यो ताको मदभार।
सो गुरुदेव बसो उर मेरे, विघन हरण मंगल करतार॥ सो० ८॥

दोहा—विघन हरण मङ्गल करण, वाञ्छित फल दातार।
'वृन्दावन' अष्टक रच्यो, करो कण्ठ सुखकार॥

वर्णी-वाणी (डायरी) से

- जो स्वच्छ मन में आवे, उसे कहने में संकोच मत करो।
- किसी से राग-द्वेष मत करो।
- राग-द्वेष के आवेग में आकर अन्यथा प्रचार मत करो, यही आत्मा के सुधार की मुख्य शिक्षा है।

सुप्रभात स्तोत्रम्

यत्स्वर्गावतरोत्सवे यद्भगवज्जन्माभिषेकोत्सवे,
यद्दीक्षाग्रहणोत्सवे यदखिलज्ञानप्रकाशोत्सवे ।
यन्निर्वाणगमोत्सवे जिनपतेः पूजाद्भुतं तद्भवैः,
संगीतस्तुतिमंगलैः प्रसरतान्मे सुप्रभातोत्सवः ॥ १ ॥

श्रीमन्नतामरकिरीटमणिप्रभाभि
रालीढ़पादयुग दुर्धरकर्मदूर ।
श्रीनाभिनंदनजिनाजितसंभवाख्य
त्वद्ध्यानतोऽस्तु सततं मम सुप्रभातम् ॥ २ ॥

छत्रत्रयप्रचलचामरवीज्यमान,
देवाभिनंदनमुने सुमते जिनेन्द्र ।
पद्मप्रभारुणमणिद्युतिभासुरांग। त्व० ॥ ३ ॥

अर्हन् सुपार्श्व कदलीदलवर्णगात्र,
प्रालेयतारगिरिमौक्तिकवर्णगौर ।
चन्द्रप्रभ, स्फटिकपाण्डुर पुष्पदन्त।त्व०॥ ४ ॥

सन्तप्तकाञ्चनरुचे जिनशीतलाख्य,
श्रेयन्विनष्टदुरिताष्टकलंकपक ।
बन्धूकबन्धुररुचे जिनवासुपूज्य।त्व० ॥ ५ ॥

उद्दण्डदर्पकरिपो विमलामलांग
स्थेमन्ननन्तजिदनन्त सुखाम्बुराशे ।
दुष्कर्मकल्मषविवर्जित धर्मनाथ। त्व० ॥ ६ ॥

देवामरीकुसुमसन्निभ शांतिनाथ
कुन्थो दयागुणविभूषणभूषितांग ।

देवाधिदेव भगवन्नरतीर्थनाथ। त्व० ॥ ७ ॥
यन्मोहमल्लमदभञ्जनमल्लिनाथ
क्षेमकरोऽवितथशासनसुव्रताख्य ।
यत्सम्पदाप्रशमितो नमिनामधेयं। त्व० ॥ ८ ॥
तापिच्छगुच्छरुचिरोज्ज्वल नेमिनाथ
घोरोपसर्गविजयिन् जिन पार्श्वनाथ
स्याद्वादसूक्तिमणिदर्पणवर्द्धमान। त्व०॥ ९ ॥
प्रालेयनीलहरितारुणपीतभासं
यन्मूर्तिमव्यय सुखावसथं मुनीन्द्राः ।
ध्यायन्ति सप्ततिशतं जिनवल्लभानां। त्व०॥१०॥
सुप्रभातं सुनक्षत्रं मांगल्यं परिकीर्तितम् ।
चतुर्विंशतितीर्थानां सुप्रभातं दिने दिने ॥११॥
सुप्रभातं सुनक्षत्रं श्रेयः प्रत्यभिनन्दितम् ।
देवता ऋषयः सिद्धाः सुप्रभातं दिने दिने ॥ १२॥
सुप्रभातं तवैकस्य वृषभस्य महात्मनः ।
येन प्रवर्तितं तीर्थं भव्यसत्त्वसुखावहम् ॥ १३ ॥
सुप्रभातं जिनेंद्राणां ज्ञानोन्मीलितचक्षुषाम् ।
अज्ञानतिमिरान्धानां नित्यमस्तमितो रविः ॥१४॥
सुप्रभातं जिनेन्द्रस्य, वीरः कमल लोचनः ।
येन कर्माटवी दग्धा, शुक्लध्यानोग्रवह्निना ॥१५॥
सुप्रभातं सुनक्षत्रं सुकल्याणं सुमंगलम् ।
त्रैलोक्यहितकर्तॄणां जिनानामेव शासनम् ॥१६॥

अद्याष्टकस्तोत्रम्

अद्य मे सफलं जन्म नेत्रे च सफले मम ।
त्वामद्राक्षं यतो देव हेतुमक्षयसंपदः ॥ १ ॥
अद्य संसार-गंभीर-पारावारः सुदुस्तरः ।
सुतरोऽयं क्षणेनैव जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥ २ ॥
अद्य मे क्षालितं गात्रं नेत्रे च विमले कृते ।
स्नातोऽहं धर्म-तीर्थेषु जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥३॥
अद्य मे सफलं जन्म प्रशस्तं सर्वमंगलम् ।
संसारार्णव-तीर्णोऽहं जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥ ४ ॥
अद्य कर्माष्टक-ज्वालं विधूतं सकषायकम् ।
दुर्गतेर्विनिवृत्तोऽहं जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥ ५ ॥
अद्य सौम्या ग्रहाः सर्वे शुभाश्चैकादश-स्थिताः ।
नष्टानि विघ्न-जालानि जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥६॥
अद्य नष्टो महाबन्धः कर्मणां दुःखदायकः ।
सुख-सङ्गं समापन्नो जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥७॥
अद्य कर्माष्टकं नष्टं दुःखोत्पादन-कारकम् ।
सुखाम्भोधि-निमग्नोऽहं जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥८॥
अद्य मिथ्यान्धकारस्य हन्ता ज्ञान-दिवाकरः ।
उदितो मच्छरीरेऽस्मिन् जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥९॥
अद्याहं सुकृती भूतो निर्धूताशेषकल्मषः ।
भुवन-त्रय-पूज्योऽहं जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥१०॥
अद्याष्टकं पठेद्यस्तु गुणानन्दित-मानसः ।
तस्य सर्वार्थसंसिद्धिर्जिनेन्द्र तव दर्शनात् ॥११॥

मङ्गलाष्टकम्

श्रीमन्नम्र-सुरासुरेन्द्र-मुकुट-प्रद्योत-रत्नप्रभा-
भास्वत्पाद-नखेन्दवः प्रवचनाम्भोधीन्दवः स्थायिनः ।
ये सर्वे जिन-सिद्ध-सूर्यनुगतास्ते पाठकाः साधवः
स्तुत्या योगिजनैश्च पञ्चगुरवः कुर्वन्तु ते मङ्गलम् ॥१॥

सम्यग्दर्शन-बोध-वृत्तममलं रत्नत्रयं पावनं
मुक्ति-श्री-नगराधिनाथ-जिनपत्युक्तोऽपवर्गप्रदः ।
धर्मः सूक्तिसुधा च चैत्यमखिलं चैत्यालयं श्रयालयं
प्रोक्तं च त्रिविधं चतुर्विधममी कुर्वन्तु ते मङ्गलम् ॥२॥

नाभेयादि-जिनाधिपास्त्रिभुवनख्याताश्चतुर्विंशतिः
श्रीमन्तो भरतेश्वरप्रभृतयो ये चक्रिणो द्वादश ।
ये विष्णु-प्रतिविष्णु-लाङ्गलधराः सप्तोत्तरा विंशतिः
त्रैकाल्ये प्रथितास्त्रिषष्टिपुरुषाः कुर्वन्तु ते मङ्गलम् ॥३॥

देव्योऽष्टौ च जयादिका द्विगुणिता विद्यादिका देवताः
श्रीतीर्थङ्करमातृकाश्च जनका यक्षाश्च यक्ष्यस्तथा ।
द्वात्रिंशत्त्रिदशाधिपास्तिथिसुरा दिक्कन्यकाश्चाष्टधा
दिक्पाला दश चेत्यमी सुरगणाः कुर्वन्तु ते मङ्गलम् ॥४॥

ये सर्वौषधऋद्धयः सुतपसो वृद्धिंगताः पञ्च ये
ये चाष्टाङ्गमहानिमित्तकुशला येऽष्टाविधाश्चारणाः ।

पञ्चज्ञानधरास्त्रयोऽपि बलिनो ये बुद्धिऋद्धीश्वराः
सप्तैते सकलार्चिता गणभृतः कुर्वन्तु ते मङ्गलम् ॥५॥

कैलासे वृषभस्य निर्वृतिमही वीरस्य पावापुरे
चम्पायां वसुपूज्यतुग्जिनपतेः सम्मेदशैलेऽर्हताम् ।
शेषाणामपि चोर्जयन्तशिखरे नेमीश्वरस्यार्हतो
निर्वाणावनयः प्रसिद्धविभवाः कुर्वन्तु ते मङ्गलम् ॥६॥

ज्योतिर्व्यन्तर-भावनामरगृहे मेरौ कुलाद्रौ तथा
जम्बू-शाल्मलि-चैत्यशाखिषु तथा वक्षार-रूप्याद्रिषु ।
इष्वाकारगिरौ च कुण्डलनगे द्वीपे च नन्दीश्वरे
शैले ये मनुजोत्तरे जिनगृहाः कुर्वन्तु ते मङ्गलम् ॥७॥

यो गर्भावतरोत्सवो भगवतां जन्माभिषेकोत्सवो
यो जातः परिनिष्क्रमेण विभवो यः केवलज्ञानभाक् ।
यः कैवल्यपुरप्रवेशमहिमा संभावितः स्वर्गिभिः
कल्याणानि च तानि पञ्च सततं कुर्वन्तु ते मङ्गलम् ॥८॥

इत्थं श्रीजिनमङ्गलाष्टकमिदं सौभाग्यसंपत्प्रदं
कल्याणेषु महोत्सवेषु सुधियस्तीर्थङ्कराणामुषः ।
ये शृण्वन्ति पठन्ति तैश्च सुजनैर्धर्मार्थकामान्विता
लक्ष्मीराश्रयते व्यपायरहिता निर्वाणलक्ष्मीरपि ॥९॥

इति मङ्गलाष्टकम्

दृष्टाष्टकस्तोत्रम्

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भवतापहारि
भव्यात्मनां विभव-संभव-भूरिहेतु ।
दुग्धाब्धि-फेन-धवलोज्ज्वल-कूटकोटी-
नद्ध-ध्वज-प्रकर-राजि-विराजमानम् ॥१॥

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भुवनैकलक्ष्मी-
धामर्द्धिवर्द्धित-महामुनि-सेव्यमानम् ।
विद्याधरामर-वधूजन-मुक्तदिव्य-
पुष्पाञ्जलि-प्रकर-शोभित-भूमिभागम् ॥२॥

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भवनादिवास-
विख्यात-नाक-गणिका-गण-गीयमानम् ।
नानामणि-प्रचय-भासुर-रश्मिजाल-
व्यालीढ-निर्मल-विशाल-गवाक्षजालम् ॥३॥

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं सुर-सिद्ध-यक्ष-
गन्धर्व-किन्नर-करार्पित-वेणु-वीणा- ।
संगीत-मिश्रित-नमस्कृत-धारनादै-
रापूरिताम्बर-तलोरु-दिगन्तरालम् ॥ ४ ॥

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं विलसद्विलोल-
मालाकुलालि-ललितालक-विभ्रमाणम् ।
माधुर्यवाद्य-लय-नृत्य-विलासिनीनां
लीला-चलद्वलय-नूपुर-नाद-रम्यम् ॥ ५ ॥

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं मणि-रत्न-हेम-
सारोज्ज्वलैः कलश-चामर-दर्पणाद्यैः ।
सन्मंगलैः सततमष्टशत-प्रभेदै-
र्विभ्राजितं विमल-मौक्तिक-दामशोभम् ॥६॥

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं वरदेवदारु-
कर्पूर-चन्दन-तरुष्क-सुगन्धिधूपैः ।
मेघायमानगगने पवनाभिघात-
चञ्चच्चलद्विमल-केतन-तुङ्ग-शालम् ॥ ७ ॥

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं धवलातपत्र-
च्छाया-निमग्न-तनु-यक्षकुमार-वृन्दैः ।
दोधूयमान-सित-चामर-पंक्तिभासं
भामण्डल-द्युतियुत-प्रतिमाभिरामम् ॥ ८ ॥

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं विविधप्रकार-
पुष्पोपहार-रमणीय-सुरत्नभूमिः ।
नित्यं वसन्ततिलकश्रियमादधानं
सन्मंगलं सकल-चन्द्रमुनीन्द्र-वन्द्यम् ॥ ९ ॥

दृष्टं मयाद्य मणि-काञ्चन-चित्र-तुङ्ग-
सिंहासनादि-जिनबिम्ब-विभूतियुक्तम् ।
चैत्यालयं यदतुलं परिकीर्तितं मे
सन्मंगलं सकल-चन्द्रमुनीन्द्र-वन्द्यम् ॥१०॥

इति दृष्टाष्टकम्

एकीभावस्तोत्रम्

[श्रीवादिराज]

एकीभावं गत इव मया यः स्वयं कर्म-बन्धो
घोरं दुःखं भव-भव-गतो दुर्निवारः करोति।
तस्याप्यस्य त्वयि जिन-रवे भक्तिरुन्मुक्तये चेत्
जेतुं शक्यो भवति न तया कोऽपरस्तापहेतुः ॥१॥

ज्योतीरूपं दुरित-निवह-ध्वान्त-विध्वंस-हेतुं
त्वामेवाहुर्जिनवर चिरं तत्त्व-विद्याभियुक्ताः।
चेतोवासे भवसि च मम स्फार-मुद्भासमान-
स्तस्मिन्नंहः कथमिव तमो वस्तुतो वस्तुमीष्टे ॥२॥

आनन्दाश्रु-स्नपित-वदनं गद्गदं चाभिजल्पन्
यश्चायेत त्वयि दृढ-मनाः स्तोत्र-मन्त्रैर्भवन्तम्।
तस्याभ्यस्तादपि च सुचिरं देह-वल्मीक-मध्यात्
निष्कास्यन्ते विविध-विषम-व्याधयः काद्रवेयाः ॥३॥

प्रागेवेह त्रिदिव-भवनादेष्यता भव्य-पुण्यात्
पृथ्वी-चक्रं कनकमयतां देव निन्ये त्वयेदम्।
ध्यान-द्वारं मम रुचिकरं स्वान्त-गेहं प्रविष्टः
तत्किं चित्रं जिन वपुरिदं यत्सुवर्णीकरोषि ॥४॥

लोकस्यैकस्त्वमसि भगवन्निर्निमित्तेन बन्धु-
स्त्वय्येवासौ सकल-विषया शक्तिरप्रत्यनीका।
भक्ति-स्फीता चिरमधिवसन्मामिकां चित्त-शय्यां
मय्युत्पन्नं कथमिव ततः क्लेश-यूथं सहेथाः ॥५॥

जन्माटव्यां कथमपि मया देव दीर्घं भ्रमित्वा
प्राप्तैवेयं तव नय-कथा स्फार-पीयूष-वापी।
तस्या मध्ये हिमकर-हिम-व्यूह-शीते नितान्तं
निर्मग्नं मां न जहति कथं दुःख-दावोपतापाः ॥६॥
पाद-न्यासादपि च पुनतो यात्रया ते त्रिलोकीं
हेमाभासो भवति सुरभिः श्रीनिवासश्च पद्मः।
सर्वाङ्गेण स्पृशति भगवंस्त्वय्यशेषं मनो मे
श्रेयः किं तत्स्वयमहरहर्यन्न मामभ्युपैति ॥७॥
पश्यन्तं त्वद्वचनममृतं भक्ति-पात्र्या पिबन्तं
कर्मारण्यात्पुरुषमसमानन्द-धाम प्रविष्टम्।
त्वां दुर्वार-स्मर-मद-हरं त्वत्प्रसादैक-भूमिं
क्रूराकाराः कथमिव रुजा-कण्टका निर्लुठन्ति ॥८॥
पाषाणात्मा तदितरसमः केवलं रत्न-मूर्तिः
मानस्तम्भो भवति च परस्तादृशो रत्न-वर्गः।
दृष्टि-प्राप्तो हरति स कथं मान-रोगं नराणां
प्रत्यासत्तिर्यदि न भवतस्तस्य तच्छक्ति-हेतुः ॥९॥
हृद्यः प्राप्तो मरुदपि भवन्मूर्ति-शैलोपवाही
सद्यः पुंसां निरवधि-रुजा-धूलिबन्धं धुनोति।
ध्यानाहूतो हृदय-कमलं यस्य तु त्वं प्रविष्टः
तस्याशक्यः क इह भुवने देव लोकोपकारः ॥१०॥
जानासि त्वं मम भव-भवे यच्च यादृक्च दुःखं
जातं यस्य स्मरणमपि मे शस्त्रवन्निष्पिनष्टि।

त्वं सर्वेशः सकृप इति च त्वामुपेतोऽस्मि भक्त्या
यत्कर्तव्यं तदिह विषये देव एव प्रमाणम् ॥११॥
आपद्दैवं तव नुति-पदैर्जीवकेनोपदिष्टैः
पापाचारी मरण-समये सारमेयोऽपि सौख्यम् ।
कः सन्देहो यदुपलभते वासव-श्री-प्रभुत्वं
जल्पञ्जाप्यैर्मणिभिरमलैस्त्वन्नमस्कार-चक्रम् ॥१२॥
शुद्धे ज्ञाने शुचिनि चरिते सत्यपि त्वय्यनीचा
भक्तिर्नो चेदनवधि-सुखावञ्चिका कुञ्चिकेयम् ।
शक्योद्घाटं भवति हि कथं मुक्ति-कामस्य पुंसो
मुक्ति-द्वारं परिदृढ-महामोह-मुद्रा-कवाटम् ॥१३॥
प्रच्छन्नः खल्वयमघमयैरन्धकारैः समन्तात्
पन्था मुक्तेः स्थपुटित-पदः क्लेश-गर्तैरगाधैः ।
तत्कस्तेन व्रजति सुखतो देव तत्त्वावभासी
यद्यग्रेऽग्रे न भवति भवद्भारती-रत्न-दीपः ॥१४॥
आत्म-ज्योतिर्निधिरनवधिर्द्रष्टुरानन्द-हेतुः
कर्म-क्षोणी-पटल-पिहितो योऽनवाप्यः परेषाम् ।
हस्ते कुर्वन्त्यनतिचिरतस्तं भवद्भक्तिभाजः
स्तोत्रैर्बन्ध-प्रकृति-परुषोद्दाम-धात्री-खनित्रैः ॥१५॥
प्रत्युत्पन्ना नय-हिमगिरेरायता चामृताब्धेः
या देव त्वत्पद-कमलयोः संगता भक्ति-गङ्गा ।
चेतस्तस्यां मम रुचि-वशादाप्लुतं क्षालितांहः
कल्माषं यद्भवति किमियं देव सन्देह-भूमिः ॥१६॥

कोपावेशो न तव न तव क्वापि देव प्रसादो
व्याप्तं चेतस्तव हि परमोपेक्षयैवानपेक्षम् ।
आज्ञावश्यं तदपि भुवनं संनिधिर्वैरहारी
क्वैवंभूतं भुवन-तिलकं प्राभवं त्वत्परेषु ॥ २२ ॥
देव स्तोतुं त्रिदिव-गणिका-मण्डली-गीत-कीर्तिं
तोतूर्ति त्वां सकल-विषय-ज्ञान-मूर्तिं जनो यः ।
तस्य क्षेमं न पदमटतो जातु जोहूर्ति पन्थाः
तत्त्वग्रन्थ-स्मरण-विषये नैष मोमूर्ति मर्त्यः ॥२३॥
चित्ते कुर्वन्निरवधि-सुख-ज्ञान-दृग्वीर्य-रूपं
देव त्वां यः समय-नियमादादरेण स्तवीति ।
श्रेयोमार्गं स खलु सुकृती तावता पूरयित्वा
कल्याणानां भवति विषयः पञ्चधा पञ्चितानाम् ॥२४
भक्ति-प्रह्व-महेन्द्र-पूजित-पद त्वत्कीर्तने न क्षमाः
सूक्ष्म-ज्ञान-दृशोऽपि संयमभृतः के हन्त मन्दा वयम् ।
अस्माभिः स्तवन-च्छलेन तु परस्त्वय्यादरस्तन्यते
स्वात्माधीन-सुखैषिणां स खलु नः कल्याण-कल्पद्रुमः ॥

वादिराजमनु शाब्दिक-लोको वादिराजमनु तार्किक-सिंहः ।
वादिराजमनु काव्यकृतस्ते वादिराजमनु भव्य-सहायः ॥

ये योगिनामपि न यान्ति गुणास्तवेश
वक्तुं कथं भवति तेषु ममावकाशः।
जाता तदेवमसमीक्षित-कारितेयं
जल्पन्ति वा निज-गिरा ननु पक्षिणोऽपि॥६॥

आस्तामचिन्त्य-महिमा जिन संस्तवस्ते
नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति।
तीव्रातपोपहत-पान्थ-जनान्निदाघे
प्रीणाति पद्म-सरसः सरसोऽनिलोऽपि॥७॥

हृद्वर्तिनि त्वयि विभो शिथिलीभवन्ति
जन्तोः क्षणेन निबिडा अपि कर्म-बन्धाः।
सद्यो भुजङ्गमसया इव मध्य-भाग-
मभ्यागते वन-शिखण्डिनि चन्दनस्य॥८॥

मुच्यन्त एव मनुजाः सहसा जिनेन्द्र
रौद्रैरुपद्रव-शतैस्त्वयि वीक्षितेऽपि।
गो-स्वामिनि स्फुरित-तेजसि दृष्टमात्रे
चौरैरिवाशु पशवः प्रपलायमानैः॥९॥

त्वं तारको जिन कथं भविनां त एव
त्वामुद्वहन्ति हृदयेन यदुत्तरन्तः।
यद्वा दृतिस्तरति यज्जलमेष नून-
मन्तर्गतस्य मरुतः स किलानुभावः॥१०॥

यस्मिन्हर-प्रभृतयोऽपि हत-प्रभावाः
सोऽपि त्वया रति-पतिः क्षपितः क्षणेन।
विध्यापिता हुतभुजः पयसाथ येन

पीतं न किं तदपि दुर्धर-वाडवेन ॥११॥

स्वामिन्ननल्प-गरिमाणमपि प्रपन्ना-

स्त्वां जन्तवः कथमहो हृदये दधानाः ।

जन्मोदधिं लघु तरन्त्यतिलाघवेन

चिन्त्यो न हन्त महतां यदि वा प्रभावः ॥१२॥

क्रोधस्त्वया यदि विभो प्रथमं निरस्तो

ध्वस्तास्तदा बत कथं किल कर्म-चौराः ।

प्लोषत्यमुत्र यदि वा शिशिरापि लोके

नील-द्रुमाणि विपिनानि न किं हिमानी॥१३॥

त्वां योगिनो जिन सदा परमात्मरूप-

मन्वेषयन्ति हृदयाम्बुज-कोष-देशे ।

पूतस्य निर्मल-रुचेर्यदि वा किमन्य-

दक्षस्य सम्भव-पदं ननु कर्णिकायाः ॥१४॥

ध्यानाज्जिनेश भवतो भविनः क्षणेन

देहं विहाय परमात्म-दशां व्रजन्ति ।

तीव्रानलादुपल-भावमपास्य लोके

चामीकरत्वमचिरादिव धातु-भेदाः ॥१५॥

अन्तः सदैव जिन यस्य विभाव्यसे त्वं

भव्यैः कथं तदपि नाशयसे शरीरम् ।

एतत्स्वरूपमथ मध्य-विवर्तिनो हि

यद्विग्रहं प्रशमयन्ति महानुभावाः ॥१६॥

आत्मा मनीषिभिरयं त्वदभेद-बुद्ध्या

ध्यातो जिनेन्द्र भवतीह भवत्प्रभावः ।

पानीयमप्यमृतमित्यनुचिन्त्यमानं
किं नाम नो विष-विकारमपाकरोति ॥१७॥

त्वामेव वीत-तमसं परवादिनोऽपि
नूनं विभो हरि-हरादि-धिया प्रपन्नाः ।
किं काच-कामलिभिरीश सितोऽपि शङ्खो
नो गृह्यते विविध-वर्ण-विपर्ययेण ॥१८॥

धर्मोपदेश-समये सविधानुभावात्
आस्तां जनो भवति ते तरुरप्यशोकः ।
अभ्युद्गते दिनपतौ समहीरुहोऽपि
किं वा विबोधमुपयाति न जीव-लोकः ॥१९॥

चित्रं विभो कथमवाङ्मुख-वृन्तमेव
विष्वक्पतत्यविरला सुर-पुष्प-वृष्टिः ।
त्वद्गोचरे सुमनसां यदि वा मुनीश
गच्छन्ति नूनमध एव हि बन्धनानि ॥२०॥

स्थाने गभीर-हृदयोदधि-सम्भवायाः
पीयूषतां तव गिरः समुदीरयन्ति ।
पीत्वा यतः परम-सम्मद-सङ्ग-भाजो
भव्या व्रजन्ति तरसाप्यजरामरत्वम् ॥२१॥

स्वामिन्सुदूरमवनम्य समुत्पतन्तो
मन्ये वदन्ति शुचयः सुर-चामरौघाः ।
येऽस्मै नतिं विदधते मुनि-पुङ्गवाय
ते नूनमूर्ध्व-गतयः खलु शुद्ध-भावाः ॥२२॥

श्यामं गभीर-गिरमुज्ज्वल-हेम-रत्न-

सिंहासनस्थमिह भव्य-शिखण्डिनस्त्वाम्।
आलोकयन्ति रभसेन नदन्तमुच्चैः
चामीकराद्रि-शिरसीव नवाम्बुवाहम् ॥२३॥

उद्गच्छता तव शिति-द्युति-मण्डलेन
लुप्त-च्छद-च्छविरशोक-तरुर्बभूव
सान्निध्यतोऽपि यदि वा तव वीतराग
नीरागतां व्रजति को न सचेतनोऽपि ॥२४॥

भो भोः प्रमादमवधूय भजध्वमेन-
मागत्य निर्वृति-पुरीं प्रति सार्थवाहम्।
एतन्निवेदयति देव जगत्त्रयाय
मन्ये नदन्नभिनभः सुरदुन्दुभिस्ते ॥२५॥

उद्योतितेषु भवता भुवनेषु नाथ
तारान्वितो विधुरयं विहताधिकारः।
मुक्ता-कलाप-कलितोरु-सितातपत्र-
व्याजात्त्रिधा धृत-तनुर्ध्रुवमभ्युपेतः ॥२६॥

स्वेन प्रपूरित-जगत्त्रय-पिण्डितेन
कान्ति-प्रताप-यशसामिव संचयेन।
माणिक्य-हेम-रजत-प्रविनिर्मितेन
सालत्रयेण भगवन्नभितो विभासि ॥ २७ ॥

दिव्य-स्रजो जिन नमत्त्रिदशाधिपाना-
मुत्सृज्य रत्न-रचितानपि मौलि-बन्धान्।
पादौ श्रयन्ति भवतो यदि वापरत्र
त्वत्सङ्गमे सुमनसो न रमन्त एव ॥ २८ ॥

त्वं नाथ जन्म-जलधेर्विपराङ्मुखोऽपि
यत्तारयस्यसुमतो निज-पृष्ठ-लग्नान् ।
युक्तं हि पार्थिव-निपस्य सतस्तवैव
चित्रं विभो यदसि कर्म-विपाक-शून्यः ॥२९॥

विश्वेश्वरोऽपि जन-पालक दुर्गतस्त्वं
किं वाक्षर-प्रकृतिरप्यलिपिस्त्वमीश ।
अज्ञानवत्यपि सदैव कथञ्चिदेव
ज्ञानं त्वयि स्फुरति विश्व-विकास-हेतुः ॥३०॥

प्राग्भार-सम्भृत-नभांसि रजांसि रोषाद्
उत्थापितानि कमठेन शठेन यानि ।
छायापि तैस्तव न नाथ हता हताशो
ग्रस्तस्त्वमीभिरयमेव परं दुरात्मा ॥ ३१ ॥

यद्गर्जदूर्जित-घनौघमदभ्र-भीम-
भ्रश्यत्तडिन्मुसल-मांसल-घोरधारम् ।
दैत्येन मुक्तमथ दुस्तर-वारि दध्रे
तेनैव तस्य जिन दुस्तर-वारि कृत्यम् ॥३२॥

ध्वस्तोर्ध्व-केश-विकृताकृति-मर्त्य-मुण्ड-
प्रालम्बभृद्भयदवक्त्र-विनिर्यदग्निः ।
प्रेतव्रजः प्रति भवन्तमपीरितो यः
सोऽस्याभवत्प्रतिभवं भव-दुःख-हेतुः ॥ ३३ ॥

धन्यास्त एव भुवनाधिप ये त्रिसन्ध्य-
माराधयन्ति विधिवद्विधुतान्य-कृत्याः ।
भक्त्योल्लसत्पुलक-पक्ष्मल-देह-देशाः

पाद-द्वयं तव विभो भुवि जन्मभाजः ॥३४॥

अस्मिन्नपार-भव-वारि-निधौ मुनीश
मन्ये न मे श्रवण-गोचरतां गतोऽसि ।
आकर्णिते तु तव गोत्र-पवित्र-मन्त्रे
किं वा विपद्विषधरी सविधं समेति ॥ ३५ ॥

जन्मान्तरेऽपि तव पाद-युगं न देव
मन्ये मया महितमीहित-दान-दक्षम् ।
तेनेह जन्मनि मुनीश पराभवानां
जातो निकेतनमहं मथिताशयानाम् ॥ ३६ ॥

नूनं न मोह-तिमिरावृत-लोचनेन
पूर्वं विभो सकृदपि प्रविलोकितोऽसि ।
मर्माविधो विधुरयन्ति हि मामनर्थाः
प्रोद्यत्प्रबन्ध-गतयः कथमन्यथैते ॥ ३७ ॥

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या ।
जातोऽस्मि तेन जन-बान्धव दुःखपात्रं
यस्मात्क्रियाः प्रतिफलन्ति न भाव-शून्याः ॥३८॥

त्वं नाथ दुःखि-जन-वत्सल हे शरण्य
कारुण्य-पुण्य-वसते वशिनां वरेण्य ।
भक्त्या नते मयि महेश दयां विधाय
दुःखाङ्कुरोद्दलन-तत्परतां विधेहि ॥३९॥

निःसंख्य-सार-शरणं शरणं शरण्य-
मासाद्य सादित-रिपु प्रथितावदानम् ।

त्वत्पाद-पङ्कजमपि प्रणिधान-वन्ध्यो
वन्ध्योऽस्मि चेद्भुवन-पावन हा हतोऽस्मि ॥४०॥
देवेन्द्र-वन्द्य विदिताखिल-वस्तुसार
संसार-तारक विभो भुवनाधिनाथ ।
त्रायस्व देव करुणा-ह्रद मा पुनीहि
सीदन्तमद्य भयद-व्यसनाम्बु-राशेः ॥४१॥

यद्यस्ति नाथ भवदङ्घ्रि-सरोरुहाणां
भक्तेः फलं किमपि सन्तत-सञ्चितायाः ।
तन्मे त्वदेक-शरणस्य शरण्य भूयाः
स्वामी त्वमेव भुवनेऽत्र भवान्तरेऽपि ॥४२॥
इत्थं समाहित-धियो विधिवज्जिनेन्द्र
सान्द्रोल्लसत्पुलक-कञ्चुकिताङ्गभागाः ।
त्वद्बिम्ब-निर्मल-मुखाम्बुज-बद्ध-लक्ष्या
ये संस्तवं तव विभो रचयन्ति भव्याः ॥४३॥

जन-नयन-'कुमुदचन्द्र'-प्रभास्वराः स्वर्ग-सम्पदो भुक्त्वा ।
ते विगलित-मल-निचया अचिरान्मोक्षं प्रपद्यन्ते ॥४४॥

स्वाध्याय

- स्वाध्याय आत्मशान्ति के लिये है, केवल ज्ञानार्जन के लिये नहीं। ज्ञानार्जन के लिये तो विद्याध्ययन है। स्वाध्याय तप है। इससे संवर और निर्जरा होती है।
- कल्याण के इच्छुक हो तो एक घण्टा नियम से स्वाध्याय में लगाओ।

—'वर्णी वाणी' से

विषापहारस्तोत्रम्

[श्रीधनञ्जय]

स्वात्म-स्थितः सर्व-गतः समस्त-व्यापार-वेदी विनिवृत्त-सङ्गः ।
प्रवृद्ध-कालोऽप्यजरो वरेण्यः पायादपायात्पुरुषः पुराणः ॥
परैरचिन्त्यं युग-भारमेकः स्तोतुं वहन्योगिभिरप्यशक्यः ।
स्तुत्योऽद्य मेऽसौ वृषभो न भानोः किमप्रवेशे विशति प्रदीपः॥
तत्याज शक्रः शकनाभिमानं नाहं त्यजामि स्तवनानुबन्धम् ।
स्वल्पेन बोधेन ततोऽधिकार्थं वातायनेनेव निरूपयामि ॥
त्वं विश्वदृश्वा सकलैरदृश्यो विद्वानशेषं निखिलैरवेद्यः ।
वक्तुं कियान्कीदृश इत्यशक्यः स्तुतिस्ततोऽशक्तिकथा तवास्तु ॥
व्यापीडितं बालमिवात्म-दोषैरुल्लाघतां लोकमवापिपस्त्वम् ।
हिताहितान्वेषणमान्द्यभाजः सर्वस्य जन्तोरसि बाल-वैद्यः ॥
दाता न हर्ता दिवसं विवस्वानद्यश्व इत्यच्युत दर्शिताशः ।
सव्याजमेवं गमयत्यशक्तः क्षणेन दत्सेऽभिमतं नताय ॥६॥
उपैति भक्त्या सुमुखः सुखानि त्वयि स्वभावाद्विमुखश्च दुःखम् ।
सदावदात-द्युतिरेकरूपस्तयोस्त्वमादर्श इवावभासि ॥७॥
अगाधताब्धेः स यतः पयोधिर्मेरोश्च तुङ्गा प्रकृतिः स यत्र ।
द्यावापृथिव्योः पृथुता तथैव व्याप त्वदीया भुवनान्तराणि ॥
तवानवस्था परमार्थ-तत्त्वं त्वया न गीतः पुनरागमश्च ।
दृष्टं विहाय त्वमदृष्टमैषी विरुद्ध-वृत्तोऽपि समञ्जसस्त्वम् ॥
स्मरः सुदग्धो भवतैव तस्मिन्नुद्धूलितात्मा यदि नाम शम्भुः ।
अशेत वृन्दोपहतोऽपि विष्णुः किं गृह्यते येन भवानजागः ॥

स नीरजाः स्यादपरोऽघवान्वा तद्दोषकीर्त्यैव न ते गुणित्वम् ।
स्वतोऽम्बुराशेर्महिमा न देव स्तोकापवादेन जलाशयस्य ॥
कर्मस्थितिं जन्तुरनेक-भूमिं नयत्यमु सा च परस्परस्य ।
त्वं नेतृ-भावं हि तयोर्भवाब्धौ जिनेन्द्र नौ-नाविकयोरिवाख्यः॥
सुखाय दुःखानि गुणाय दोषान्धर्माय पापानि समाचरन्ति ।
तैलाय बालाः सिकता-समूहं निपीडयन्ति स्फुटमत्वदीयाः ॥
विपापहारं मणिमौषधानि मन्त्रं समुद्दिश्य रसायनं च ।
भ्राम्यन्त्यहो न त्वमिति स्मरन्ति पर्याय-नामानि तवैव तानि ॥
चित्ते न किञ्चित्कृतवानसि त्वं देवः कृतश्चेतसि येन सर्वम् ।
हस्ते कृतं तेन जगद्विचित्रं सुखेन जीवत्यपि चित्तबाह्यः ॥
त्रिकाल-तत्त्व त्वमवैस्त्रिलोकी-स्वामीति संख्या-नियतेरमीषाम् ।
बोधाधिपत्यं प्रति नाभविष्यंस्तेऽन्येऽपि चेद्व्याप्स्यदमूनपीदम्॥
नाकस्य पत्युः परिकर्म रम्यं नागम्यरूपस्य तवोपकारि ।
तस्यैव हेतुः स्वसुखस्य भानोरुद्बिभ्रतच्छत्रमिवादरेण ॥
क्वोपेक्षकस्त्वं क्व सुखोपदेशः स चेत्किमिच्छा-प्रतिकूल-वादः ।
क्वासौ क्व वा सर्वजगत्प्रियत्व तन्नो यथातथ्यमवेविचं ते ॥
तुङ्गात्फलं यत्तदकिञ्चनाच्च प्राप्यं समृद्धान्न धनेश्वरादेः ।
निरम्भसोऽप्युच्चतमादिवाद्रेर्नैकापि निर्याति धुनी पयोधेः ॥
त्रैलोक्य-सेवा-नियमाय दण्डं दध्रे यदिन्द्रो विनयेन तस्य ।
तत्प्रातिहार्यं भवतः कुतस्त्यं तत्कर्म-योगाद्यदि वा तवास्तु ॥
श्रिया परं पश्यति साधु निःस्वः श्रीमान्न कश्चित्कृपणं त्वदन्यः ।
यथा प्रकाश-स्थितमन्धकारस्थायीक्षतेऽसौ न तथा तमःस्थम्॥

स्ववृद्धिनिःश्वास-निमेषभाजि प्रत्यक्षमात्मानुभवेऽपि मूढः ।
किं चाखिल-ज्ञेय-विवर्ति-बोधस्वरूपमध्यक्षमवैति लोकः ॥

तस्यात्मजस्तस्य पितेति देव त्वां येऽवगायन्ति कुलप्रकाश्य ।
तेऽद्यापि नन्वाश्मनमित्यवश्यं पाणौ कृतं हेम पुनस्त्यजन्ति ॥

दत्तस्त्रिलोक्यां पटहोऽभिभूताः सुरासुरास्तस्य महान् स लाभः ।
मोहस्य मोहस्त्वयि को विरोद्धुर्मूलस्य नाशो बलवद्विरोधः ॥

मार्गस्त्वयैको ददृशे विमुक्तेश्चतुर्गतीनां गहनं परेण ।
सर्वं मया दृष्टमिति स्मयेन त्वं मा कदाचिद्भुजमालुलोक ॥

स्वर्भानुरर्कस्य हविर्भुजोऽम्भः कल्पान्तवातोऽम्बुनिधेर्विघातः ।
संसार-भोगस्य वियोग-भावो विपक्ष-पूर्वाभ्युदयास्त्वदन्ये ॥

अजानतस्त्वां नमतः फलं यत्तज्जानतोऽन्यं न तु देवतेति ।
हरिन्मणिं काचधिया दधानस्तं तस्य बुद्ध्या वहतो न रिक्तः ॥

प्रशस्त-वाचश्चतुराः कषायैर्दग्धस्य देव-व्यवहारमाहुः ।
गतस्य दीपस्य हि नन्दितत्वं दृष्टं कपालस्य च मङ्गलत्वम् ॥

नानार्थमेकार्थमदस्त्वदुक्तं हितं वचस्ते निशमय्य वक्तुः ।
निर्दोषतां के न विभावयन्ति ज्वरेण मुक्तः सुगमः स्वरेण ॥

न क्वापि वाञ्छा ववृते च वाक्ते काले क्वचित्कोऽपि तथा नियोगः ।
न पूरयाम्यम्बुधिमित्युदंशुः स्वयं हि शीतद्युतिरभ्युदेति ॥

गुणा गभीराः परमाः प्रसन्ना बहु-प्रकारा बहवस्तवेति ।
दृष्टोऽयमन्तः स्तवने न तेषां गुणो गुणानां किमतः परोऽस्ति ॥

स्तुत्या परं नाभिमत हि भक्त्या स्मृत्या प्रणत्या च ततो भजामि।
स्मरामि देवं प्रणमामि नित्य केनाप्युपायेन फल हि माध्यम् ॥
ततस्त्रिलोकी-नगराधिदेवं नित्यं पर ज्योतिरनन्त-शक्तिम् ।
अपुण्य-पापं पर-पुण्य-हेतु नमाम्यह वन्द्यमवन्दितारम् ॥
अशब्दमस्पर्शमरूप-गन्ध त्वा नीरस तद्विषयाववोधम् ।
सर्वस्य मातारममेयमन्यैर्जिनेन्द्रमस्मार्यमनुस्मरामि ॥
अगाध मन्यैर्मनसाप्यलङ्घ्यं निष्किञ्चन प्रार्थितमर्थवद्भिः ।
विश्वस्य पार तमदृष्टपार पति जनाना शरणं व्रजामि ॥
त्रैलोक्य-दीक्षा-गुरवे नमस्ते यो वर्धमानोऽपि निजोन्नतोऽभूत् ।
प्राग्गण्डशैलः पुनरद्रि-कल्पः पश्चान्न मेरुः कुल-पर्वतोऽभूत् ॥
स्वयंप्रकाशस्य दिवा निशा वा न बाध्यता यस्य न बाधकत्वम् ।
न लाघवं गौरवमेकरूपं वन्दे विभुं कालकलामतीतम् ॥
इति स्तुतिं देव विधाय दैन्याद्वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि ।
छायातरुं संश्रयतः स्वतः स्यात्कश्छायया याचितयात्मलाभः ॥
अथास्ति दित्सा यदि चोपरोधस्त्वय्येव सक्तां दिश भक्ति-बुद्धिम्
करिष्यते देव तथा कृपां मे को वात्मपोष्ये सुमुखो न सूरिः ॥
वितरति विहिता यथाकथञ्चिज्जिन विनताय मनीषितानि भक्तिः
त्वयि नुति-विषया पुनर्विशेषाद्दिशति सुखानि यशो 'धनं जयं' च॥

जिनचतुर्विंशतिका

[श्री भूपाल कवि]

श्रीलीलायतनं मही-कुल-गृहं कीर्ति-प्रमोदास्पदं
वाग्देवी-रति-केतनं जय-रमा-क्रीडा-निधानं महत् ।
स स्यात्सर्व-महोत्सवैक-भवनं यः प्रार्थितार्थ-प्रदं
प्रातः पश्यति कल्प-पादप-दल-च्छायं जिनांघ्रि-द्वयम् ॥
शान्तं वपुः श्रवण-हारि वचश्चरित्रं
सर्वोपकारि तव देव ततः श्रुतज्ञाः ।
संसार-मारव-महास्थल-रुन्द-सान्द्र-
च्छाया-महीरुह भवन्तमुपाश्रयन्ते ॥२॥
स्वामिन्नद्य विनिर्गतोऽस्मि जननी-गर्भान्ध-कूपोदरा-
दद्योद्घाटित-दृष्टिरस्मि फलवज्जन्मास्मि चाद्य स्फुटम् ।
त्वामद्राक्षमहं यदक्षय-पदानन्दाय लोकत्रयी-
नेत्रेन्दीवर-काननेन्दुममृत-स्यन्दि-प्रभा-चन्द्रिकम् ॥३॥
निःशेष-त्रिदशेन्द्र-शेखर-शिखा-रत्न-प्रदीपावली-
सान्द्रीभूत-मृगेन्द्र-विष्टर-तटी-माणिक्य-दीपावलिः ।
क्वेयं श्रीः क्व च निःस्पृहत्वमिदमित्यूहातिगस्त्वादृशः
सर्व-ज्ञान-दृशश्चरित्र-महिमा लोकेश लोकोत्तरः ॥४॥
राज्यं शासनकारि-नाकपति यत्त्यक्तं तृणावज्ञया
हेला-निर्दलित-त्रिलोक-महिमा यन्मोह-मल्लो जितः ।
लोकालोकमपि स्वबोध-मुकुरस्यान्तः कृतं
यत्त्वयैषाश्चर्य-परम्परा जिनवर

दानं ज्ञान-धनाय दत्तमसकृत्पात्राय सद्वृत्तये
चीर्णान्युग्र-तपांसि तेन सुचिरं पूजाश्च वह्व्यः कृताः ।
शीलाना निचयः सहामलगुणैः सर्वः समासादितो
दृष्टस्त्वं जिन येन दृष्टि-सुभगः श्रद्धा-परेण क्षणम् ॥६॥
प्रज्ञा-पारमितः स एव भगवान्पारं स एव श्रुत-
स्कन्धाब्धेर्गुण-रत्न-भूषण इति श्लाघ्यः स एव ध्रुवम् ।
नीयन्ते जिन येन कर्ण-हृदयालङ्कारतां त्वद्गुणाः
संसाराहि-विषापहार-मणयस्त्रैलोक्य-चूडामणे ॥७॥
जयति दिविज-वृन्दान्दोलितैरिन्दुरोचिः
निचय-रुचिभिरुच्चैश्चामरैर्वीज्यमानः ।
जिनपतिरनुरज्यन्मुक्ति-साम्राज्य-लक्ष्मी-
युवति-नव-कटाक्ष-क्षेप-लीलां दधानैः ॥८॥
देवः श्वेतातपत्र-त्रय-चमरिरुहाशोक-भाश्चक्र-भाषा-
पुष्पौघासार-सिंहासन-सुरपटहैरष्टभिः प्रातिहार्यैः ।
साश्चर्यैर्भ्राजमानः सुर-मनुज-सभाम्भोजिनी-भानुमाली
पायान्नः पादपीठीकृत-सकल-जगत्पाल-मौलिर्जिनेन्द्रः॥
नृत्यत्स्वर्दन्ति-दन्ताम्बुरुह-वन-नटन्नाक-नारी-निकायः
सद्यस्त्रैलोक्य-यात्रोत्सव-कर-निनदातोद्यमाद्यन्निलिम्पः ।
हस्ताम्भोजात-लीला-विनिहित सुमनोदाम-रम्यामर-स्त्री-
काम्यः कल्याण-पूजाविधिषु विजयते देव देवागमस्ते ॥
चक्षुष्मानहमेव देव भुवने नेत्रामृत-स्यन्दिनं
त्वद्वक्त्रेन्दुमतिप्रसाद-सुभगैस्तेजोभिरुद्भासितम् ।

येनालोकयता मयानति-चिराच्चक्षु: कृतार्थीकृतं
दृष्टव्यावधि-वीक्षण-व्यतिकर-व्याजृम्भमाणोत्सवम् ॥
कन्तोः सकान्तमपि मल्लमवैति कश्चिन्-
मुग्धो मुकुन्दमरविन्दजमिन्दुमौलिम् ।
मोघीकृत-त्रिदश-योषिदपाङ्गपातः
तस्य त्वमेव विजयी जिनराज मल्लः ॥१२॥
किसलयितमनल्पं त्वद्विलोकाभिलाषात्
कुसुमितमतिसान्द्रं त्वत्समीप-प्रयाणात् ।
मम फलितममन्दं त्वन्मुखेन्दोरिदानीं
नयन-पथमवाप्तादेव पुण्यद्रुमेण ॥१३॥
त्रिभुवन-वन-पुष्प्यत्पुष्प-कोदण्ड-दर्प-
प्रसर-दव-नवाम्भो-मुक्ति-सूक्ति-प्रसूतिः ।
स जयति जिनराज-व्रात-जीमूत-संघः
शतमख-शिखि-नृत्यारम्भ-निर्बन्ध-बन्धुः ॥१४॥
भूपाल-स्वर्ग-पाल-प्रमुख-नर-सुर-श्रेणि-नेत्रालिमाला-
लीला-चैत्यस्य चैत्यालयमखिलजगत्कौमुदीन्दोर्जिनस्य ।
उत्तंसीभूत-सेवाञ्जलि-पुट-नलिनी-कुड्मलास्त्रिः परीत्य
श्रीपाद-च्छायया पस्थितभवदवथुः संश्रितोऽस्मीव मुक्तिम् ॥
देव त्वदंघ्रि-नख-मण्डल-दर्पणेऽस्मिन्
अर्घ्ये निसर्ग-रुचिरे चिर-दृष्ट-वक्त्रः ।
२१

श्रीकीर्ति-कान्ति-धृति-सङ्गम-कारणानि
नव्यो न कानि लभते शुभ-मङ्गलानि ॥१६॥

जयति सुर-नरेन्द्र-श्रीसुधा-निर्झरिण्याः
कुलधरणि-धरोऽयं जैन-चैत्याभिरामः ।
प्रविपुल-फल-धर्मानोकहाग्र-प्रवाल-
प्रसर-शिखर-शुम्भत्केतनः श्रीनिकेतः ॥१७॥

विनमदमरकान्ता-कुन्तलाक्रान्त-कान्ति-
स्फुरित-नख-मयूख-द्योतिताशान्तरालः ।
दिविज-मनुज-राज-व्रात-पूज्य-क्रमाब्जो
जयति विजित-कर्माराति-जालो जिनेन्द्रः ॥१८॥

सुप्तोत्थितेन सुमुखेन सुमङ्गलाय
द्रष्टव्यमस्ति यदि मङ्गलमेव वस्तु ।
अन्येन किं तदिह नाथ तवैव वक्त्रं
त्रैलोक्य-मङ्गल-निकेतनमीक्षणीयम् ॥१९॥

त्वं धर्मोदय-तापसाश्रम-शुकस्त्वं काव्य-बन्ध-क्रम-
क्रीडानन्दन-कोकिलस्त्वमुचितः श्रीमल्लिका-षट्पदः ।
त्वं पुन्नाग-कथारविन्द-सरसी-हंसस्त्वमुत्तंसकैः
कैर्भूपाल न धार्यसे गुण-मणि-स्रङ्मालिभिर्मौलिभिः ॥

शिव-सुखमजर-श्री-सङ्गमं चाभिलष्य
स्वमभिनियमयन्ति क्लेश-पाशेन केचित् ।
वयमिह तु वचस्ते भूपतेर्भावयन्तः
तदुभयमपि शश्वल्लीलया निर्विशामः ॥२१॥

क्षतिं मनःशुद्धि-विधेरतिक्रमं व्यतिक्रमं शील-वृतेर्विलंघनम् ।
प्रभोऽचितारं विषयेषु वर्तनं वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम् ॥
यदर्थ-मात्रा-पदवाक्य-हीनं मया प्रमादाद्यदि किञ्चनोक्तम् ।
तन्मे क्षमित्वा विदधातु देवी सरस्वती केवलबोध-लब्धिम् ॥

बोधिः समाधिः परिणाम-शुद्धिः
स्वात्मोपलब्धिः शिव-सौख्य-सिद्धिः ।
चिन्तामणिं चिन्तित-वस्तु-दाने
त्वां वन्द्यमानस्य ममास्तु देवि ॥११॥

यः स्मर्यते सर्व-मुनीन्द्र-वृन्दैर्यः स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रैः ।
यो गीयते वेद-पुराण-शास्त्रैः स देव-देवो हृदये ममास्ताम् ॥

यो दर्शन-ज्ञान-सुख-स्वभावः समस्त-संसार-विकार-बाह्यः ।
समाधिगम्यः परमात्म-संज्ञः स देव-देवो हृदये ममास्ताम् ॥

निषूदते यो भव-दुख-जालं निरीक्षते यो जगदन्तरालम् ।
योऽन्तर्गतो योगि-निरीक्षणीयः स देव-देवो हृदये ममास्ताम् ॥

विमुक्ति-मार्ग-प्रतिपादको यो यो जन्म-मृत्यु-व्यसनाद्यतीतः ।
त्रिलोक-लोकी विकलोऽकलङ्कः स देव-देवो हृदये ममास्ताम् ॥

क्रोडीकृताशेष-शरीरि-वर्गा रागादयो यस्य न सन्ति दोषाः ।
निरिन्द्रियो ज्ञानमयोऽनपायः स देव-देवो हृदये ममास्ताम् ॥

यो व्यापको विश्व-जनीनवृत्तेः सिद्धो विबुद्धो धुत-कर्म-बन्धः ।
ध्यातो धुनीते सकलं विकारं स देव-देवो हृदये ममास्ताम् ॥

न स्पृश्यते कर्म-कलङ्क-दोषैः यो ध्वान्त-संघैरिव तिग्म-रश्मिः।
निरञ्जनं नित्यमनेकमेकं तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये॥

विभासते यत्र मरीचिमाली न विद्यमाने भुवनावभासि।
स्वात्म-स्थितं बोधमय-प्रकाशं तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये॥

विलोक्यमाने सति यत्र विश्वं विलोक्यते स्पष्टमिदं विविक्तम्।
शुद्धं शिवं शान्तमनाद्यनन्तं तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये॥

येन क्षता मन्मथ-मान-मूर्च्छा-विषाद-निद्रा-भय-शोक-चिन्ताः।
क्षयोऽनलेनेव तरु-प्रपञ्चस्तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये॥

न संस्तरोऽश्मा न तृणं न मेदिनी विधानतो नो फलको विनिर्मितः
यतो निरस्ताक्ष-कषाय-विद्विषः सुधीभिरात्मैव सुनिर्मितो मतः॥

न संस्तरो भद्र समाधि-साधनं न लोक-पूजा न च संघ-मेलनम्।
यतस्ततोऽध्यात्म-रतो भवानिशं विमुच्य सर्वामपि बाह्य-वासनाम्

न सन्ति बाह्या मम केचनार्था भवामि तेषां न कदाचनाहम्।
इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं स्वस्थः सदा त्वं भद्र मुक्त्यै॥

आत्मानमात्मन्यवलोक्यमानस्त्वं दर्शन-ज्ञानमयो विशुद्धः।
एकाग्रचित्तः खलु यत्र तत्र स्थितोऽपि साधुर्लभते समाधिम्॥

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा विनिर्मलः साधिगम-स्वभावः
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ता न शाश्वताः कर्म-भवाः स्वकीयाः॥

यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्द्धं तस्यास्ति किं पुत्र-कलत्र-मित्रैः।
पृथक्कृते चर्मणि रोम-कूपाः कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये॥

संयोगतो दुःखमनेकभेदं यतोऽश्नुते जन्म-वने शरीरी।
ततस्त्रिधासौ परिवर्जनीयो यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम् ॥

सर्वं निराकृत्य विकल्प-जालं संसार-कान्तार-निपात-हेतुम्।
विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो निलीयसे त्वं परमात्म-तत्त्वे ॥

स्वयंकृतं कर्म यदात्मना पुरा फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं स्वयंकृतं कर्म निरर्थकं तदा ॥

निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो न कोऽपि कस्यापि ददाति किञ्चन
विचारयन्नेवमनन्यमानसः परो ददातीति विमुच्य शेमुषीम् ॥

यैः परमात्माऽमितगति-वन्द्यः सर्व-विविक्तो भृशमनवद्यः।
शश्वदधीतो मनसि लभन्ते मुक्ति-निकेतं विभव-वरं ते ॥

इति द्वात्रिंशतिवृत्तैः परमात्मानमीक्षते।
योऽनन्यगत-चेतस्को यात्यसौ पदमव्ययम् ॥

कायबल

- जिनका कायबल श्रेष्ठ है, वे ही मोक्ष पथ के पथिक बन सकते हैं। इस प्रकार जब मोक्षमार्ग में भी कायबल की श्रेष्ठता आवश्यक है, तब सांसारिक कार्य इसके बिना कैसे हो सकते हैं।

- प्राचीन महापुरुषों ने जो कठिन से कठिन आपत्तियाँ और उपसर्ग सहन किये, वे कायबल की श्रेष्ठता पर ही किये। अत शरीर को पुष्ट रखना आवश्यक है, किन्तु इसी के पोषण में सब समय न लगाया जावे। दूसरे की रक्षा स्वात्म रक्षा की ओर दृष्टि रख कर ही की जाती है, अपने आप को भूल कर नहीं।

—'वर्णी वाणी' से

श्रीजिनसहस्रनामस्तोत्रम्

[भगवज्जिनसेनाचार्य]

स्वयम्भुवे नमस्तुभ्यमुत्पाद्यात्मानमात्मनि ।
स्वात्मनैव तथोद्भूतवृत्तयेऽचिन्त्यवृत्तये ॥ १ ॥
नमस्ते जगतां पत्ये लक्ष्मीभर्त्रे नमोऽस्तु ते ।
विदांवर नमस्तुभ्यं नमस्ते वदतांवर ॥ २ ॥
कर्मशत्रुहणं देवमामनन्ति मनीषिणः ।
त्वामानमत्सुरेण्मौलि-भा-मालाभ्यर्चित-क्रमम् ॥३ ॥
ध्यान-दुर्घण-निर्भिन्न-घन-घाति-महातरुः ।
अनन्त-भव-सन्तान-जयादासीरनन्तजित् ॥ ४ ॥
त्रैलोक्य-निर्जयावाप्त-दुर्दर्पमतिदुर्जयम् ।
मृत्युराजं विजित्यासीज्जिन मृत्युंजयो भवान् ॥ ५ ॥
विधुताशेष-संसार-बन्धनो भव्य-बान्धवः ।
त्रिपुरारिस्त्वमीशासि जन्म-मृत्युजरान्तकृत् ॥ ६ ॥
त्रिकाल-विजयाशेष-तत्त्वभेदात् त्रिधोत्थितम् ।
केवलाख्यं दधच्चक्षुस्त्रिनेत्रोऽसि त्वमीशिता ॥ ७ ॥
त्वामन्धकान्तकं प्राहुर्मोहान्धासुर-मर्दनात् ।
अर्द्धं ते नारयो यस्मादर्धनारीश्वरोऽस्यतः ॥ ८ ॥
शिवः शिव पदाध्यासाद् दुरितारि-हरो हरः ।
शङ्करः कृतशं लोके शम्भवस्त्वं भवन्सुखे ॥ ९ ॥
वृषभोऽसि जगज्ज्येष्ठः पुरुः पुरु-गुणोदयैः ।
नाभेयो नाभि-सम्भूतेरिक्ष्वाकु-कुल-नन्दनः ॥ १० ॥
त्वमेकः पुरुषस्कंधस्त्वं द्वे लोकस्य लोचने ।
त्वं त्रिधा बुद्ध-सन्मार्गस्त्रिज्ञस्त्रिज्ञान धारकः ॥११॥

चतुःशरण-माङ्गल्यमूर्तिस्त्व चतुरस्रधीः ।
पञ्च-ब्रह्ममयो देव पावनस्त्व पुनीहि माम् ॥१२॥
स्वर्गावतरणे तुभ्यं सद्योजातात्मने नमः ।
जन्माभिषेक-वामाय वामदेव नमोऽस्तु ते ॥१३॥
सन्निष्क्रान्तावघोराय पर प्रशममीयुषे ।
केवलज्ञान-संसिद्धावीशानाय नमोऽस्तु ते ॥१४॥
पुरस्तत्पुरषत्वेन विमुक्त-पद-भागिने ।
नमस्तत्पुरुषावस्थां भाविनीं तेऽद्य बिभ्रते ॥१५॥
ज्ञानावरणनिर्ह्रासान्नमस्तेऽनन्तचक्षुषे ।
दर्शनावरणोच्छेदान्नमस्ते विश्वदृश्वने ॥१६॥
नमो दर्शनमोहघ्ने क्षायिकामलदृष्टये ।
नमश्चारित्रमोहघ्ने विरागाय महौजसे ॥१७॥
नमस्तेऽनन्त-वीर्याय नमोऽनन्त-सुखात्मने ।
नमस्तेऽनन्त-लोकाय लोकालोकावलोकिने ॥१८॥
नमस्तेऽनन्त-दानाय नमस्तेऽनन्त-लब्धये ।
नमस्तेऽनन्त-भोगाय नमोऽनन्तोपभोगिने ॥१९॥
नमः परम-योगाय नमस्तुभ्यमयोनये ।
नमः परम-पूताय नमस्ते परमर्षये ॥२०॥
नमः परम-विद्याय नमः पर-मत-च्छिदे ।
नमः परम-तत्त्वाय नमस्ते परमात्मने ॥२१॥
नमः परमरूपाय नमः परम-तेजसे ।
नमः परम-मार्गाय नमस्ते परमेष्ठिने ॥२२॥
परमर्द्धिजुषे धाम्ने परम-ज्योतिषे नमः ।
नमः पारेतमःप्राप्तधाम्ने परतरात्मने ॥२३॥
नमः क्षीण-कलङ्काय क्षीण-बन्ध नमोऽस्तु ते ।

नमस्ते क्षीण-मोहाय क्षीण-दोषाय ते नमः ॥२४॥
नमः सुगतये तुभ्य शोभना गतिमीयुषे ।
नमस्तेऽतीन्द्रिय-ज्ञान-सुखायानिन्द्रियात्मने ॥२५॥
काय-बन्धननिर्मोक्षादकायाय नमोऽस्तु ते ।
नमस्तुभ्यमयोगाय योगिनामधियोगिने ॥२६॥
अवेदाय नमस्तुभ्यमकषायाय ते नमः ।
नमः परम-योगीन्द्र-वन्दिताङ्घ्रि-द्वयाय ते ॥२७॥
नम परम-विज्ञान नमः परम-सयम ।
नमः परमदृग्दृष्ट-परमार्थाय ते नमः ॥२८॥
नमस्तुभ्यमलेश्याय शुक्ललेश्यांशक-स्पृशे ।
नमो भव्येतरावस्थाव्यतीताय विमोक्षणे ॥२९॥
सञ्ज्यसंज्ञिद्वयावस्थाव्यतिरिक्तामलात्मने ।
नमस्ते वीतसंज्ञाय नमः क्षायिकदृष्टये ॥३०॥
अनाहाराय तृप्ताय नमः परमभाजुषे ।
व्यतीताशेषदोषाय भवाब्धेः पारमीयषे ॥ ३१ ॥
अजराय नमस्तुभ्यं नमस्तेऽतीतजन्मन ।
अमृत्यवे नमस्तुभ्यमचलायाक्षरात्मने ॥ ३२ ॥
अलमास्ता गुणस्तोत्रमनन्तास्तावका गुणाः ।
त्वं नामस्मृतिमात्रेण पर्युपासिसिषामहे ॥ ३३ ॥
एव स्तुत्वा जिनं देव भक्त्या परमया सुधीः
पठेदष्टोत्तरं नाम्ना सहस्रं पाप-शान्तये ॥ ३४ ॥

इति प्रस्तावना

प्रसिद्धाष्ट-सहस्रेद्धलक्षण त्वा गिरा पतिम् ।
नाम्नामष्टसहस्रेण तोष्टुमोऽभीष्टसिद्धये ॥ १ ॥
श्रीमान्स्वयम्भूर्वृषभः शंभवः शंभुरात्मभूः ।
स्वयंप्रभः प्रभुर्भोक्ता विश्वभूरपुनर्भवः ॥ २ ॥

विश्वात्मा विश्वलोकेशो विश्वतश्चक्षुरक्षर. ।
विश्वविद्विश्वविद्येशो विश्वयोनिरनीश्वर ॥ ३ ॥
विश्वदृश्वा विभुर्धाता विश्वेशो विश्वलोचन. ।
विश्वव्यापी विधिर्वेधा. शाश्वतो विश्वतोमुख॰ ॥४॥
विश्वकर्मा जगज्ज्येष्ठो विश्वमूर्तिर्जिनेश्वर॰ ।
विश्वदृक् विश्वभूतेशो विश्वज्योतिरनीश्वर॰ ॥ ५ ॥
जिनो जिष्णुरमेयात्मा विश्वरीशो जगत्पति॰ ।
अनन्तजिदचिन्त्यात्मा भव्यबन्धुरबन्धनः ॥ ६ ॥
युगादिपुरुषो ब्रह्मा पञ्चब्रह्ममयः शिवः ।
परः परतरः सूक्ष्मः परमेष्ठी सनातनः ॥ ७ ॥
स्वयंज्योतिरजोऽजन्मा ब्रह्मयोनिरयोनिजः ।
मोहारिविजयी जेता धर्मचक्री दयाध्वजः ॥ ८ ॥
प्रशान्तारिरनन्तात्मा योगी योगीश्वरार्चितः ।
ब्रह्मविद् ब्रह्मतत्त्वज्ञो ब्रह्मोद्याविद्यतीश्वर॰ ॥ ९ ॥
शुद्धो बुद्धः प्रबुद्धात्मा सिद्धार्थः सिद्धशासनः ।
सिद्धः सिद्धान्तविद् ध्येयः सिद्धसाध्यो जगद्धितः ॥१०॥
सहिष्णुरच्युतोऽनन्तः प्रभविष्णुर्भवोद्भवः ।
प्रभूष्णुरजरोऽजर्यो भ्राजिष्णुर्धीश्वरोऽव्ययः ॥११॥
विभावसुरसम्भूष्णुः स्वयम्भूष्णुः पुरातनः ।
परमात्मा परंज्योतिस्त्रिजगत्परमेश्वरः ॥१२॥

इति श्रीमदादिशतम् ॥ १ ॥

[प्रत्येक शतकके अन्तमे उदकचदनतदुल आदि श्लोक पढकर अर्घ चढाना चाहिये ।]

दिव्यभाषापतिर्दिव्यः पूतवाक्पूतशासन॰ ।
पूतात्मा परमज्योतिर्धर्माध्यक्षो दमीश्वरः ॥ १ ॥

श्रीपतिर्भगवानर्हन्नरजा विरजाः शुचिः ।
तीर्थकृत्केवलीशानः पूजार्हः स्नातकोऽमलः ॥ २ ॥
अनन्तदीप्तिर्ज्ञानात्मा स्वयम्बुद्धः प्रजापतिः ।
मुक्तः शक्तो निराबाधो निष्कलो भुवनेश्वरः ॥ ३ ॥
निरञ्जनो जगज्ज्योतिर्निरुक्तोक्तिरनामयः ।
अचलस्थितिरक्षोभ्यः कूटस्थः स्थाणुरक्षयः ॥ ४ ॥
अग्रणीर्ग्रामणीर्नेता प्रणेता न्यायशास्त्रकृत् ।
शास्ता धर्मपतिर्धर्म्यो धर्मात्मा धर्मतीर्थकृत् ॥ ५ ॥
वृषध्वजो वृषाधीशो वृषकेतुर्वृषायुधः ।
वृषो वृषपतिर्भर्ता वृषभाङ्को वृषोद्भवः ॥ ६ ॥
हिरण्यनाभिर्भूतात्मा भूतभृद् भूतभावनः ।
प्रभवो विभवो भास्वान् भवो भावो भवान्तकः ॥ ७ ॥
हिरण्यगर्भः श्रीगर्भः प्रभूतविभवोऽभवः ।
स्वयंप्रभः प्रभूतात्मा भूतनाथो जगत्पतिः ॥ ८ ॥
सर्वादिः सर्वदृक् सार्वः सर्वज्ञः सर्वदर्शनः ।
सर्वात्मा सर्वलोकेशः सर्ववित्सर्वलोकजित् ॥ ९ ॥
सुगतिः सुश्रुतः सुश्रुत् सुवाक् सूरिर्बहुश्रुतः ।
विश्रुतः विश्वतः पादो विश्वशीर्षः शुचिश्रवाः ॥१०॥
सहस्रशीर्षः क्षेत्रज्ञः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
भूतभव्यभवद्भर्ता विश्वविद्यामहेश्वरः ॥ ११ ॥

इति दिव्यादिशतम् ॥ २ ॥ अर्घम् ।

स्थविष्ठः स्थविरो ज्येष्ठः पृष्ठः प्रेष्ठो वरिष्ठधीः ।
स्थेष्ठो गरिष्ठो बहिष्ठः श्रेष्ठोऽणिष्ठो गरिष्ठगीः ॥१॥
विश्वभृद्विश्वसृट् विश्वेट् विश्वसृग्विश्वनायकः ।
विश्वाशीर्विश्वरूपात्मा विश्वजिद्विजितान्तकः ॥ २ ॥

विभवो विभयो वीरो विशोको विजरो जरन् ।
विरागो विरतोऽसङ्गो विविक्तो वीतमत्सरः ॥ ३ ॥
विनयेजनताबन्धुर्विलीनाशेषकल्मषः ।
वियोगो योगविद्विद्वान्विधाता सुविधिः सुधीः ॥४॥
क्षान्तिभाक्पृथिवीमूर्तिः शान्तिभाक् सलिलात्मकः ।
वायुमूर्तिरसङ्गात्मा वह्निमूर्तिरधर्मधुक् ॥ ५ ॥
सुयज्वा यजमानात्मा सुत्वा सुत्रामपूजितः ।
ऋत्विग्यज्ञपतिर्यज्ञो यज्ञाङ्गममृतं हविः ॥ ६ ॥
व्योममूर्तिरमूर्तात्मा निर्लेपो निर्मलोऽचलः ।
सोममूर्तिः सुसौम्यात्मा सूर्यमूर्तिर्महाप्रभः ॥ ७ ॥
मन्त्रविन्मन्त्रकृन्मन्त्री मन्त्रमूर्तिरनन्तगः ।
स्वतन्त्रस्तन्त्रकृत्स्वन्तः कृतान्तान्तः कृतान्तकृत् ॥८॥
कृती कृतार्थः सत्कृत्यः कृतकृत्यः कृतक्रतुः ।
नित्यो मृत्युञ्जयो मृत्युरमृतात्माऽमृतोद्भवः ॥ ९ ॥
ब्रह्मनिष्ठः परंब्रह्म ब्रह्मात्मा ब्रह्मसम्भवः ।
महाब्रह्मपतिर्ब्रह्मेट् महाब्रह्मपदेश्वरः ॥१०॥
सुप्रसन्नः प्रसन्नात्मा ज्ञानधर्मदमप्रभुः ।
प्रशमात्मा प्रशान्तात्मा पुराणपुरुषोत्तमः ॥११॥

इति स्थविष्ठादिशतम् ॥ ३ ॥ अर्घम् ।

महाशोकध्वजोऽशोकः कः स्रष्टा पद्मविष्टरः ।
पद्मेशः पद्मसम्भूतिः पद्मनाभिरनुत्तरः ॥ १ ॥
पद्मयोनिर्जगद्योनिरित्यः स्तुत्यः स्तुतीश्वरः ।
स्तवनार्हो हृषीकेशो जितजेयः कृतक्रियः ॥ २ ॥
गणाधिपो गणज्येष्ठो गण्यः पुण्यो गणाग्रणीः ।
गुणाकरो गुणाम्भोधिर्गुणज्ञो गुणनायकः ॥ ३ ॥

गुणादरी गुणोच्छेदी निर्गुणः पुण्यगीर्गुणः।
शरण्यः पुण्यवाक्पूतो वरेण्यः पुण्यनायकः ॥ ४ ॥
अगण्यः पुण्यधीगुण्यः पुण्यकृत्पुण्यशासनः।
धर्मारामो गुणग्रामः पुण्यापुण्यनिरोधकः ॥ ५ ॥
पापापेतो विपापात्मा विपाप्मा वीतकल्मषः।
निर्द्वन्द्वो निर्मदः शान्तो निर्मोहो निरुपद्रवः ॥ ६ ॥
निर्निमेषो निराहारो निष्क्रियो निरुपप्लवः।
निष्कलङ्को निरस्तैना निर्धूतागो निरास्रवः ॥ ७ ॥
विशालो विपुलज्योतिरतुलोऽचिन्त्यवैभवः।
सुसंवृतः सुगुप्तात्मा सुवृत् सुनयतत्त्ववित् ॥ ८ ॥
एकविद्यो महाविद्यो मुनिः परिवृढः पतिः।
धीशो विद्यानिधिः साक्षी विनेता विहतान्तकः ॥९॥
पिता पितामहः पाता पवित्रः पावनो गतिः।
त्राता भिषग्वरो वर्यो वरदः परमः पुमान् ॥१०॥
कविः पुराणपुरुषो वर्षीयान्वृषभः पुरुः।
प्रतिष्ठाप्रसवो हेतुर्भुवनैकपितामहः ॥११॥

इति महाशोकध्वजादिशतम् ॥ ४ ॥ अर्घम्।

श्रीवृक्षलक्षणः श्लक्ष्णो लक्षण्यः शुभलक्षणः।
निरक्षः पुण्डरीकाक्षः पुष्कलः पुष्करेक्षणः ॥ १ ॥
सिद्धिदः सिद्धसङ्कल्पः सिद्धात्मा सिद्धसाधनः।
बुद्धबोध्यो महाबोधिर्वर्धमानो महर्द्धिकः ॥ २ ॥
वेदाङ्गो वेदविद्वेद्यो जातरूपो विदांवरः।
वेदवेद्यः स्वसंवेद्यो विवेदो वदतांवरः ॥ ३ ॥
अनादिनिधनोऽव्यक्तो व्यक्तवाग्व्यक्तशासनः।
युगादिकृद्युगाधारो युगादिर्जगदादिजः ॥ ४ ॥

अतीन्द्रोऽतीन्द्रियो धीन्द्रो महेन्द्रोऽतीन्द्रियार्थदृक्
अनिन्द्रियोऽहमिन्द्रार्च्यो महेन्द्रमहितो महान् ॥५॥
उद्भवः कारणं कर्ता पारगो भवतारकः ।
अग्राह्यो गहनं गुह्यं परार्घ्यः परमेश्वरः ॥ ६ ॥
अनन्तर्द्धिरमेयर्द्धिरचिन्त्यर्द्धिः समग्रधीः ।
प्राग्र्यः प्राग्रहरोऽभ्यग्रः प्रत्यग्रोऽग्र्योऽग्रिमोऽग्रजः ॥७॥
महातपा महातेजा महोदर्को महोदयः ।
महायशा महाधामा महासत्त्वो महाधृतिः ॥ ८ ॥
महाधैर्यो महावीर्यो महासम्पन्महाबलः ।
महाशक्तिर्महाज्योतिर्महाभूतिर्महाद्युतिः ॥ ९ ॥
महामतिर्महानीतिर्महाक्षान्तिर्महोदयः ।
महाप्राज्ञो महाभागो महानन्दो महाकविः ॥१०॥
महामहा महाकीर्तिर्महाकान्तिर्महावपुः ।
महादानो महाज्ञानो महायोगो महागुणः ॥११॥
महामहपतिः प्राप्तमहाकल्याणपञ्चकः ।
महाप्रभुर्महाप्रातिहार्याधीशो महेश्वरः ॥ १२ ॥

इति श्रीवृक्षादिशतम् ॥ ५ ॥ अर्घम् ।

महामुनिर्महामौनी महाध्यानी महादमः ।
महाक्षमो महाशीलो महायज्ञो महामखः ॥१॥
महाव्रतपतिर्मह्यो महाकान्तिधरोऽधिपः ।
महामैत्री महामेयो महोपायो महोदयः ॥२॥
महाकारुण्यको मन्ता महामन्त्रो महायतिः ।
महानादो महाघोषो महेज्यो महसांपतिः ॥३॥
महाध्वरधरो धुर्यो महौदार्यो महिष्ठवाक् ।
महात्मा महसांधाम महर्षिर्महितोदयः ॥४॥

महाक्लेशाङ्कुशः शूरो महाभूतपतिर्गुरुः।
महापराक्रमोऽनन्तो महाक्रोधरिपुर्वशी ॥५॥
महाभवाब्धिसन्तारिर्महामोहाद्रिसूदनः।
महागुणाकरः क्षान्तो महायोगीश्वरः शमी ॥६॥
महाध्यानपतिर्ध्याता महाधर्मा महाव्रतः।
महाकर्मारिहाऽऽत्मज्ञो महादेवो महेशिता ॥७॥
सर्वक्लेशापहः साधुः सर्वदोषहरो हरः।
असंख्येयोऽप्रमेयात्मा शमात्मा प्रशमाकरः ॥८॥
सर्वयोगीश्वरोऽचिन्त्यः श्रुतात्मा विष्टरश्रवाः।
दान्तात्मा दमतीर्थेशो योगात्मा ज्ञानसर्वगः ॥९॥
प्रधानमात्मा प्रकृतिः परमः परमोदयः।
प्रक्षीणबन्धः कामारिः क्षेमकृत्क्षेमशासनः ॥१०॥
प्रणवः प्रणयः प्राणः प्राणदः प्रणतेश्वरः।
प्रमाणं प्रणिधिर्दक्षो दक्षिणोऽध्वर्युरध्वरः ॥११॥
आनन्दो नन्दनो नन्दो वन्द्योऽनिन्द्योऽभिनन्दनः।
कामहा कामदः काम्यः कामधेनुररिञ्जयः ॥१२॥

इति महामुन्यादिशतम् ॥६ ओम्।

असंस्कृतसुसंस्कारः प्राकृतो वैकृतान्तकृत्।
अन्तकृत्कान्तगुः कान्तश्चिन्तामणिरभीष्टदः ॥१॥
अजितो जितकामारिरमितोऽमितशासनः।
जितक्रोधो जितामित्रो जितक्लेशो जितान्तकः ॥२॥
जिनेन्द्रः परमानन्दो मुनीन्द्रो दुन्दुभिस्वनः।
महेन्द्रवन्द्यो योगीन्द्रो यतीन्द्रो नाभिनन्दनः ॥३॥
नाभेयो नाभिजोऽजातः सुव्रतो मनुरुत्तमः।
अभेद्योऽनत्ययोऽनाश्वानधिकोऽधिगुरुः सुधीः ॥४॥

सुमेधा विक्रमी स्वामी दुराधर्षो निरुत्सुकः ।
विशिष्टः शिष्टभुक् शिष्टः प्रत्ययः कामनोऽनघः ॥५॥
क्षेमी क्षेमङ्कराऽक्षय्यः क्षेमधर्मपतिः क्षमी ।
अग्राह्यो ज्ञाननिग्राह्यो ध्यानगम्यो निरुत्तरः ॥६॥
सुकृती धातुरिज्यार्हः सुनयश्चतुराननः ।
श्रीनिवासश्चतुर्वक्त्रश्चतुरास्यश्चतुर्मुखः ॥ ७ ॥
सत्यात्मा सत्यविज्ञानः सत्यवाक्सत्यशासनः ।
सत्याशीः सत्यसन्धानः सत्यः सत्यपरायणः ॥८॥
स्थेयान्स्थवीयान्नेदीयान्दवीयान् दूरदर्शनः ।
अणोरणीयाननणुर्गुरुराद्यो गरीयसा ॥९॥
सदायोगः सदाभोगः सदातृप्तः सदाशिवः ।
सदागतिः सदासौख्यः सदाविद्यः सदोदयः ॥१०॥
सुघोषः सुमुखः सौम्यः सुखदः सुहितः सुहृत् ।
सुगुप्तो गुप्तिभृद् गोप्ता लोकाध्यक्षो दमीश्वरः ॥११॥

इति असस्कृतादिशतम् ॥७॥ अर्घम् ।

बृहद्बृहस्पतिर्वाग्मी वाचस्पतिरुदारधीः ।
मनीषी धिषणो धीमांञ्छेमुषीशो गिरांपतिः ॥१॥
नैकरूपो नयोत्तुङ्गो नैकात्मा नैकधर्मकृत् ।
अविज्ञेयोऽप्रतर्क्यात्मा कृतज्ञः कृतलक्षणः ॥२॥
ज्ञानगर्भो दयागर्भो रत्नगर्भः प्रभास्वरः ।
पद्मगर्भो जगद्गर्भो हेमगर्भः सुदर्शनः ॥३॥
लक्ष्मीवांस्त्रिदशाध्यक्षो दृढीयानिन ईशिता ।
मनोहरो मनोज्ञाङ्गो धीरो गम्भीरशासनः ॥४॥
धर्मयूपो दयायागो धर्मनेमिर्मुनीश्वरः ।
धर्मचक्रायुधो देवः कर्महा धर्मघोषणः ॥५॥

अमोघवागमोघाज्ञो निर्मलोऽमोघशासनः ।
सुरूपः सुभगस्त्यागी समयज्ञः समाहितः ॥६॥
सुस्थितः स्वास्थ्यभाक्स्वस्थो नीरजस्को निरुद्धवः ।
अलेपो निष्कलङ्कात्मा वीतरागो गतस्पृहः ॥७॥
वश्येन्द्रियो विमुक्तात्मा निःसपत्नो जितेन्द्रियः ।
प्रशान्तोऽनन्तधामर्षिर्मङ्गलं मलहानघः ॥८॥
अनीदृगुपमाभूतो दृष्टिर्दैवमगोचरः ।
अमूर्तो मूर्तिमानेको नैको नानैकतत्त्वदृक् ॥९॥
अध्यात्मगम्यो गम्यात्मा योगविद्योगिवन्दितः ।
सर्वत्रगः सदाभावी त्रिकालविषयार्थदृक् ॥१०॥
शङ्करः शंवदो दान्तो दमी क्षान्तिपरायणः ।
अधिपः परमानन्दः परात्मज्ञः परात्परः ॥११॥
त्रिजगद्वल्लभोऽभ्यर्च्यस्त्रिजगन्मङ्गलोदयः ।
त्रिजगत्पतिपूज्याङ्घ्रिस्त्रिलोकाग्रशिखामणिः ॥१२॥

इति बृहदादिशतम् ॥ ८ ॥ अर्घम् ।

त्रिकालदर्शी लोकेशो लोकधाता दृढव्रतः ।
सर्वलोकातिगः पूज्यः सर्वलोकैकसारथिः ॥१॥
पुराणः पुरुषः पूर्वः कृतपूर्वाङ्गविस्तरः ।
आदिदेवः पुराणाद्यः पुरुदेवोऽधिदेवता ॥२॥
युगमुख्यो युगज्येष्ठो युगादिस्थितिदेशकः ।
कल्याणवर्णः कल्याणः कल्यः कल्याणलक्षणः ॥३॥
कल्याणप्रकृतिर्दीप्तकल्याणात्मा विकल्मषः ।
विकलङ्कः कलातीतः कलिलघ्नः कलाधरः ॥४॥
देवदेवो जगन्नाथो जगद्बन्धुर्जगद्विभुः ।
जगद्धितैषी लोकज्ञः सर्वगो जगदग्रजः ॥५॥

चराचरगुरुर्गोप्यो गूढात्मा गूढगोचरः ।
सद्योजातः प्रकाशात्मा ज्वलज्ज्वलनसप्रभः ॥६॥
आदित्यवर्णो भर्माभः सुप्रभः कनकप्रभः ।
सुवर्णवर्णो रुक्माभः सूर्यकोटिसमप्रभः ॥७॥
तपनीयनिभस्तुङ्गो बालार्काभोऽनलप्रभः ।
सन्ध्याभ्रबभ्रुर्हेमाभस्तप्तचामीकरच्छविः ॥ ८ ॥
निष्टप्तकनकच्छायः कनत्काञ्चनसन्निभः ।
हिरण्यवर्णः स्वर्णाभः शातकुम्भनिभप्रभः ॥ ९ ॥
द्युम्नाभो जातरूपाभस्तप्तजाम्बूनदद्युतिः ।
सुधौतकलधौतश्रीः प्रदीप्तो हाटकद्युतिः ॥ १० ॥
शिष्टेष्टः पुष्टिदः पुष्टः स्पष्टः स्पष्टाक्षरः क्षमः ।
शत्रुघ्नोऽप्रतिघोऽमोघः प्रशास्ता शासिता स्वभूः ॥११॥
शान्तिनिष्ठो मुनिज्येष्ठः शिवतातिः शिवप्रदः ।
शान्तिदः शान्तिकृच्छान्तिः कान्तिमान्कामितप्रदः ॥१२॥
श्रेयोनिधिरधिष्ठानमप्रतिष्ठः प्रतिष्ठितः ।
सुस्थिरः स्थावरः स्थाणुः प्रथीयान्प्रथितः पृथुः ॥१३॥

इति त्रिकालदर्श्यादिशतम् ॥ ६ ॥ अर्घम् ।

दिग्वासा वातरशनो निर्ग्रन्थेशो निरम्बरः ।
निष्किञ्चनो निराशंसो ज्ञानचक्षुरमोमुहः ॥ १ ॥
तेजोराशिरनन्तौजा ज्ञानाब्धिः शीलसागरः ।
तेजोमयोऽमितज्योतिर्ज्योतिर्मूर्तिस्तमोपहः ॥ २ ॥
जगच्चूडामणिर्दीप्तः सर्वविघ्नविनायकः ।
कलिघ्नः कर्मशत्रुघ्नो लोकालोकप्रकाशकः ॥ ३ ॥
अनिद्रालुरतन्द्रालुर्जागरूकः प्रमामयः ।
लक्ष्मीपतिर्जगज्ज्योतिर्धर्मराजः प्रजाहितः ॥ ४ ॥

मुमुक्षुर्बन्धमोक्षज्ञो जिताक्षो जितमन्मथः ।
प्रशान्तरसशैलूषो भव्यपेटकनायकः ॥ ५ ॥
मूलकर्ताऽखिलज्योतिर्मलघ्नो मूलकारणम् ।
आप्तो वागीश्वरः श्रेयाञ्छ्रायसोक्तिर्निरुक्तवाक् ॥६॥
प्रवक्ता वचसामीशो मारजिद्विश्वभाववित् ।
सुतनुस्तनुनिर्मुक्तः सुगतो हतदुर्नयः ॥ ७ ॥
श्रीशः श्रीश्रितपादाब्जो वीतभीरभयङ्करः ।
उत्सन्नदोषो निर्विघ्नो निश्चलो लोकवत्सलः ॥ ८ ॥
लोकोत्तरो लोकपतिर्लोकचक्षुरपारधीः ।
धीरधीर्बुद्धसन्मार्गः शुद्धः सूनृतपूतवाक् ॥ ९ ॥
प्रज्ञापारमितः प्राज्ञो यतिर्नियमितेन्द्रियः ।
भदन्तो भद्रकृद्भद्रः कल्पवृक्षो वरप्रदः ॥ १० ॥
समुन्मूलितकर्मारिः कर्मकाष्ठाशुशुक्षणिः ।
कर्मण्यः कर्मठः प्रांशुर्हेयादेयविचक्षणः ॥ ११ ॥
अनन्तशक्तिरच्छेद्यस्त्रिपुरारिस्त्रिलोचनः ।
त्रिनेत्रस्त्र्यम्बकस्त्र्यक्षः केवलज्ञानवीक्षणः ॥१२॥
समन्तभद्रः शान्तारिर्धर्माचार्यो दयानिधिः ।
सूक्ष्मदर्शी जितानङ्गः कृपालुर्धर्मदेशकः ॥१३॥
शुभंयुः सुखसाद्भूतः पुण्यराशिरनामयः ।
धर्मपालो जगत्पालो धर्मसाम्राज्यनायकः ॥१४॥
इति दिग्वासाद्यष्टोत्तरशतम् ॥ १० ॥ अर्घम् ।
धाम्नां पते तवामूनि नामान्यागमकोविदैः ।
समुच्चितान्यनुध्यायन्पुमान्पूतस्मृतिर्भवेत् ॥ १ ॥
गोचरोऽपि गिरामासां त्वमवाग्गोचरो मतः ।
स्तोता तथाप्यसंदिग्धं त्वत्तोऽभीष्टफलं भजेत् ॥२॥

त्वमतोऽसि जगद्बन्धुः त्वमतोऽसि जगद्भिषक् ।
त्वमतोऽसि जगद्धाता त्वमतोऽसि जगद्धितः ॥३॥
त्वमेकं जगतां ज्योतिस्त्वं द्विरूपोपयोगभाक् ।
त्वं त्रिरूपैकमुक्त्यङ्गः स्वोत्थानन्तचतुष्टयः ॥४॥
त्वं पञ्चब्रह्मतत्त्वात्मा पञ्चकल्याणनायकः ।
षड्भेदभावतत्त्वज्ञस्त्वं सप्तनयसंग्रहः ॥५॥
दिव्याष्टगुणमूर्तिस्त्वं नवकेवललब्धिकः ।
दशावतारनिर्धार्यो मां पाहि परमेश्वर ॥६॥
युष्मन्नामावलीदृब्धविलसत्स्तोत्रमालया ।
भवन्तं परिवस्यामः प्रसीदानुगृहाण नः ॥७॥
इदं स्तोत्रमनुस्मृत्य पूतो भवति भाक्तिकः ।
यः सपाठं पठत्येनं स स्यात्कल्याणभाजनम् ॥८॥
ततः सदेदं पुण्यार्थी पुमान्पठति पुण्यधीः ।
पौरुहूतीं श्रियं प्राप्तुं परमामभिलाषुकः ॥९॥
स्तुत्वेति मघवा देवं चराचरजगद्गुरुम् ।
ततस्तीर्थविहारस्य व्यधात्प्रस्तावनामिमाम् ॥१०॥
स्तुतिः पुण्यगुणोत्कीर्तिः स्तोता भव्यः प्रसन्नधीः ।
निष्ठितार्थो भवांस्तुत्यः फलं नैश्रेयसं सुखम् ॥११॥
यः स्तुत्यो जगतां त्रयस्य न पुनः स्तोता स्वयं कस्यचित्
ध्येयो योगिजनस्य यश्च नितरां ध्याता स्वयं कस्यचित् ॥
यो नेतॄन् नयते नमस्कृतिमलं नन्तव्यपक्षेक्षणः
स श्रीमान् जगतां त्रयस्य च गुरुर्देवः पुरुः पावनः ॥१२॥
तं देवं त्रिदशाधिपार्चितपदं घातिक्षयानन्तरं-
प्रोत्थानन्तचतुष्टयं जिनमिमं भव्याब्जिनीनामिनम् ।
मानस्तम्भविलोकनानतजगन्मान्यं त्रिलोकीपतिं
प्राप्ताचिन्त्यबहिर्विभूतिमनघं भक्त्या प्रवन्दामहे ॥१३॥
[पुष्पाञ्जलिं क्षिपामि ।]

महावीराष्टकस्तोत्रम्

[कविवर भागचन्द]

शिखरिणी

यदीये चैतन्ये मुकुर इव भावाश्चिदचितः
समं भान्ति ध्रौव्य-व्यय-जनि-लसन्तोऽन्तरहिताः ।
जगत्साक्षी मार्ग-प्रकटन-परो भानुरिव यो
महावीरस्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे ॥ १ ॥

अताम्रं यच्चक्षुः कमल-युगलं स्पन्द-रहितं
जनान्कोपापायं प्रकटयति वाभ्यन्तरमपि ।
स्फुटं मूर्तिर्यस्य प्रशमितमयी वातिविमला
महावीर-स्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे ॥ २ ॥

नमन्नाकेन्द्राली-मुकुट-मणि-भा-जाल-जटिलं
लसत्पादाम्भोज-द्वयमिह यदीयं तनुभृताम् ।
भवज्ज्वाला-शान्त्यै प्रभवति जलं वा स्मृतमपि
महावीर-स्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे ॥ ३ ॥

यदर्चा-भावेन प्रमुदित-मना दर्दुर इह
क्षणादासीत्स्वर्गी गुण-गण-समृद्धः सुख-निधिः ।
लभन्ते सद्भक्ताः शिव-सुख-समाजं किमु तदा
महावीर-स्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे ॥ ४ ॥

कनत्स्वर्णाभासोऽप्यपगत-तनुर्ज्ञान-निवहो
विचित्रात्माप्येको नृपति-वर-सिद्धार्थ-तनयः ।
अजन्मापि श्रीमान् विगत-भव-रागोद्भुत-गतिः
महावीर-स्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे ॥ ५ ॥

यदीया वाग्गङ्गा विविध-नय-कल्लोल-विमला
बृहज्ज्ञानाम्भोभिर्जगति जनतां या स्नपयति ।
इदानीमप्येषा बुध-जन-मरालैः परिचिता
महावीर-स्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे ॥ ६ ॥

अनिर्वारोद्रेकस्त्रिभुवन-जयी काम-सुभटः
कुमारावस्थायामपि निज-बलाद्येन विजितः ।
स्फुरन्नित्यानन्द-प्रशम-पद-राज्याय स जिनः
महावीर-स्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे ॥ ७ ॥

महामोहातङ्क-प्रशमन-पराकस्मिक-भिषक्
निरापेक्षो बन्धुर्विदित-महिमा मङ्गलकरः ।
शरण्यः साधूनां भव-भयभृतामुत्तमगुणो
महावीर-स्वामी नयन-पथ-गामी भवतु मे ॥ ८ ॥

महावीराष्टकं स्तोत्रं भक्त्या 'भागेन्दु'ना कृतम् ।
यः पठेच्छृणुयाच्चापि स याति परमां गतिम् ॥ ९ ॥

वचन बल

- जिनमें वचन बल था उन्हीं के द्वारा आज तक मोक्ष-मार्ग की पद्धति का सुप्रकाश हो रहा है और उन्हीं की अकाट्य युक्तियों और तर्कों द्वारा बड़े-बड़े वादियों का गर्व दूर हुआ है ।

- वचन बल की ही ताक्त है कि एक वक्ता व गायक अपने भाषण या गायन से श्रोताओं को मुग्ध कर के अपनी ओर आकर्षित कर लेता है । जिसके वचन बल नहीं, वह मोक्षमार्ग को प्राप्त करने में अक्षम होता है ।

—'वर्णी वाणी' से

निर्वाणकांड [गाथा]

अट्ठावयम्मि उसहो चंपाए वासुपुज्ज जिणणाहो ।
उज्जंते णेमि-जिणो पावाए णिव्वुदो महावीरो ॥१॥
वीसं तु जिण-वरिंदा अमरासुर-वंदिदा धुद-किलेसा ।
सम्मेदे गिरि-सिहरे णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥
वरदत्तो य वरंगो सायरदत्तो य तारवरणयरे ।
आहुट्ठयकोडीओ णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥
णेमि-सामी पज्जुण्णो संवुकुमारो तहेव अणिरुद्धो ।
बाहत्तरि-कोडीओ उज्जंते सत्त-सया वंदे ॥
राम-सुआ विण्णि जणा लाड णरिंदाण पंच कोडीओ ।
पावाए गिरि-सिहरे णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥
पंडु-सुआ तिण्णि जणा दविड-णरिंदाण अट्ठ कोडीओ ।
सत्तुंजय-गिरिसिहरे णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥
संते य बलभद्दा जदुव-णरिंदाण अट्ठ कोडीओ ।
गजपंथे गिरि-सिहरे णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥
राम-हणू सुग्गीवो गवय गवक्खो य णील महणीलो ।
णवणवदी कोडीओ तुंगीगिरि-णिव्वुदे वंदे ॥
अंगाणंगकुमारा विक्खा-पंचद्ध-कोडि-रिसिसहिया ।
सुवण्णगिरि-मत्थयत्थे णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥
दहमुह-रायस्स सुआ कोडी-पंचद्ध-मुणिवरे सहिया ।
रेवा-उहयम्मि तीरे णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥
रेवा-णइए तीरे पच्छिम-भायम्मि सिद्धवर-कूडे ।
दो चक्की दह कप्पे आहुट्ठय-कोडि-णिव्वुदे वंदे ॥

वडवाणी-वर-णयरे दक्खिण-भायम्मि चूलगिरि-सिहरे ।
इंदजिय-कुंभयण्णो णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥
पावागिरि-वर-सिहरे सुवण्णभद्दाइ-मुणिवरा चउरो ।
चलणा-णई-तडग्गे णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥
फलहोडी-वर-गामे पच्छिम-भायम्मि दोणगिरि-सिहरे ।
गुरुदत्ताइ-मुणिंदा णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥
णायकुमार-मुणिंदो वालि महावालि चेव अज्झेया ।
अट्ठावय-गिरि-सिहरे णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥
अचलपुर-वर-णयरे ईसाणभाए मेढगिरि-सिहरे ।
आहुट्ठय-कोडीओ णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥
वंसत्थल-वण-णियरे पच्छिम-भायम्मि कुंथुगिरि-सिहरे ।
कुल-देसभूसण-मुणी णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥
जसरह-रायस्स सुआ पंचसया कलिंग-देसम्मि ।
कोडिसिलाए कोडि-मुणी णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥
पासस्स समवसरणे गुरुदत्त-वरदत्त-पंच-रिसिपमुहा ।
रिसिंदे गिरिसिहरे णिव्वाण गया णमो तेसिं ॥
जे जिणु जित्थु तत्था जे दु गया णिव्वुदिं परमं ।
ते वंदामि य णिच्चं तिरयण-सुद्धो णमंसामि ॥
सेसाणं तु रिसीणं णिव्वाणं जम्मि जम्मि ठाणम्मि ।
ते हं वंदे सव्वे दुक्खक्खय-कारणट्ठाए ॥

भक्तामरस्तोत्र [भाषा]

[हेमराज]

आदिपुरुष आदीश जिन, आदि सुविधि करतार।
धरम-धुरंधर परमगुरु, नमो आदि अवतार॥

सुर-नत-मुकुट रतन-छवि करैं, अंतर पाप-तिमिर सब हरैं।
जिनपद वंदों मन वच काय, भव-जल-पतित उधरन-सहाय॥

श्रुत-पारग इंद्रादिक देव, जाकी थुति कीनी कर सेव।
शब्द मनोहर अरथ विशाल, तिस प्रभुकी वरनों गुन-माल॥

विबुध-वंद्य-पद मैं मति-हीन, हो निलज्ज थुति-मनसा कीन।
जल-प्रतिबिंब बुद्ध को गहै, शशि-मंडल बालक ही चहै॥

गुन-समुद्र तुम गुन अविकार, कहत न सुर-गुरु पावैं पार।
प्रलय-पवन-उद्धत जल-जंतु, जलधि तिरै को भुज बलवंतु॥

सो मैं शक्ति-हीन थुति करूं, भक्ति-भाव-वश कछु नहिं डरूं।
ज्यों मृगि निज-सुत पालन हेत, मृगपति सन्मुख जाय अचेत॥

मैं शठ सुधी हँसनको धाम, मुझ तव भक्ति बुलावै राम।
ज्यो पिक अंब-कली-परभाव, मधु-ऋतु मधुर करै आराव॥

तुम जस जंपत जन छिनमाहिं, जनम जनमके पाप नशाहिं।
ज्यों रवि उगै फटै ततकाल, अलिवत नील निशा-तम-जाल॥

तव प्रभावतैं कहूँ विचार, होसी यह थुति जन-मन-हार।
ज्यों जल-कमल पत्रपै परै, मुक्ताफलकी दुति विस्तरै॥

तुम गुन-महिमा हत-दुख-दोष, सो तो दूर रहो सुख-पोष।
पाप-विनाशक है तुम नाम, कमल-विकाशी ज्यों रवि-धाम॥

नहिं अचंभ जो होहि तुरंत, तुमसे तुम गुण वरणत संत ।
जो अधनीको आप समान, करै न सो निंदित धनवान ॥
इकटक जन तुमको अविलोय, अवरविषै रति करै न सोय ।
को करि छीर-जलधि जल पान, खार नीर पीवै मतिमान ॥
प्रभु तुम वीतराग गुन लीन, जिन परमानु देह तुम कीन ।
हैं तितने ही ते परमानु, यातैं तुम सम रूप न आनु ॥
कहँ तुम मुख अनुपम अविकार, सुर-नर-नाग-नयन-मनहार ।
कहां चंद्र-मंडल सकलंक, दिनमें ढाक-पत्र सम रंक ॥
पूरन-चंद-ज्योति छविवंत, तुम गुन तीन जगत लंघंत ।
एक नाथ त्रिभुवन आधार, तिन विचरत को करै निवार ॥
जो सुर-तिय विभ्रम आरम्भ, मन न डिग्यो तुम तौ न अचंभ ।
अचल चलावै प्रलय समीर, मेरु-शिखर डगमगै न धीर ॥
धूमरहित बाती गत नेह, परकाशै त्रिभुवन-घर एह ।
बात-गम्य नाहीं परचंड, अपर दीप तुम बलो अखंड ॥
छिपहु न लुपहु राहुकी छांहि, जग-परकाशक हो छिनमांहि ।
घन अनवर्त्त दाह विनिवार, रवितैं अधिक धरो गुणसार ॥
सदा उदित विदलित मनमोह, विघटित नेह राहु अविरोह ।
तुम मुख-कमल अपूरव चंद, जगत-विकाशी जोति अमंद ॥
निश-दिन शशि रविको नहिं काम, तुम मुख-चंद हरै तम-धाम ।
जो स्वभावतैं उपजै नाज, सजल मेघ तौ कौनहु काज ॥
जो सुबोध सोहै तुममाहिं, हरि हर आदिकमें सो नाहिं ॥
जो दुति महा-रतन में होय, कांच-खंड पावै नहिं सोय ॥

नाराच छंद

सराग देव देख मैं भला विशेष मानिया ।
स्वरूप जाहि देख वीतराग तू पिछानिया ॥

कछू न तोहिं देखके जहाँ तुही विशेखिया।
मनोग चित्त-चोर और भूल हूँ न पेखिया॥
अनेक पुत्रवंतिनी नितंबिनी सपूत हैं।
न तो समान पुत्र और माततै प्रसूत हैं॥
दिशा धरंत तारिका अनेक कोटिको गिनै।
दिनेश तेजवंत एक पूर्व ही दिशा जनै॥
पुरान हो पुमान हो पुनीत पुन्यवान हो।
कहैं मुनीश अंधकार-नाशको सुभान हो॥
महंत तोहि जानके न होय वश्य कालके।
न और तोहि मोखपंथ देय तोहि टालके॥
अनंत नित्य चित्तकी अगम्य रम्य आदि हो।
असंख्य सर्वव्यापि विष्णु ब्रह्म हो अनादि हो॥
महेश कामकेतु योग ईश योग ज्ञान हो।
अनेक एक ज्ञानरूप शुद्ध संतमान हो॥
तुही जिनेश बुद्ध है सुबुद्धिके प्रमानतैं।
तुही जिनेश शंकरो जगत्त्रये विधानतैं॥
तुही विधात है सही सुमोखपंथ धारतैं।
नरोत्तमो तुही प्रसिद्ध अर्थके विचारतैं॥
नमों करूं जिनेश तोहि आपदा निवार हो।
नमो करूं सु भूरि भूमि-लोकके सिंगार हो॥
नमों करूं भवाब्धि-नीर-राशि-शोष-हेतु हो।
नमो करूं महेश तोहि मोखपंथ देतु हो॥

चौपाई

तुम जिन पूरन गुन-गन भरे, दोष गर्वकरि तुम परिहरे।
और देव-गण आश्रय पाय, स्वप्न न देखे तुम फिर आय॥
तरु अशोक-तर किरन उदार, तुम तन शोभित है अविकार।
मेघ निकट ज्यों तेज फुरत, दिनकर दिपै तिमिर निहनत॥
सिंहासन मनि-किरन-विचित्र, तापर कंचन-वरन पवित्र।
तुम तन शोभित किरन-विथार, ज्यों उदयाचल रवि तम-हार॥
कुंद-पुहुप-सित-चमर ढुरंत, कनक-वरन तुम तन शोभंत।
ज्यों सुमेरु-तट निर्मल कांति, झरना झरै नीर उमगांति॥
ऊँचे रहैं सूर दुति लोप, तीन छत्र तुम दिपैं अगोप।
तीन लोककी प्रभुता कहैं, मोती-झालरसों छवि लहैं॥
दुंदुभि-शब्द गहर गंभीर, चहुँदिशि होय तुम्हारे धीर।
त्रिभुवन-जन शिव-संगम करै, मानूँ जय जय रव उच्चरै॥
मंद पवन गंधोदक इष्ट, विविध कल्पतरु पुहप-सुवृष्ट।
देव करैं विकसित दल सार, मानों द्विज-पकति अवतार॥
तुम तन-भामंडल जिनचंद, सब दुतिवंत करत है मंद।
कोटि शंख रवि तेज छिपाय, शशि निर्मल निशि करे अछाय॥
स्वर्ग-मोख-मारग-संकेत, परम-धरम उपदेशन हेत।
दिव्य वचन तुम खिरैं अगाध, सब भाषागर्भित हित साध॥

दोहा

विकसित-सुवरन-कमल-दुति, नख-दुति मिलि चमकाहिं।
तुम पद पदवी जहँ धरो, तहँ सुर कमल रचाहिं॥
ऐसी महिमा तुम विषै, और धरै नहिं कोय।
सूरजमें जो जोत है, नहिं तारा-गण होय॥

षट्पद

मद-अवलिप्त-कपोल-मूल अलि-कुल झंकारैं।
तिन सुन शब्द प्रचंड क्रोध उद्धत अति धारैं॥
काल-वरन विकराल, कालवत सनमुख आवै।
ऐरावत सो प्रबल सकल जन भय उपजावै॥
देखि गयंद न भय करैं तुम पद-महिमा लीन।
विपतिरहित संपतिसहित वरतै भक्त अदीन॥
अति मद-मत्त-गयंद कुंभथल नखन विदारै।
मोती रक्त समेत डारि भूतल सिंगारै॥
बांकी दाढ विशाल वदनमें रसना लोलै।
भीम भयानक रूप देखि जन थरहर डोलै॥
ऐसे मृगपति पगतलैं जो नर आयो होय।
शरण गये तुम चरणकी बाधा करै न सोय॥
प्रलय-पवनकर उठी आग जो तास पटंतर।
वमै फुलिंग शिखा उतंग पर जलैं निरंतर॥
जगत समस्त निगल्ल भस्मकर हैगी मानों।
तडतडाट दव-अनल जोर चहुंदिशा उठानो॥
सो इक छिनमें उपशमें नाम-नीर तुम लेत।
होय सरोवर परिनमैं विकसित कमल समेत॥
कोकिल-कंठ-समान श्याम-तन क्रोध जलंता।
रक्त-नयन फुंकार मार विष-कण उगलंता॥
फणको ऊंचो करै वेग ही सन्मुख धाया।
तव जन होय निशंक देख फणिपतिको आया॥
जो चांपै निज पगतलै व्यापै विष न लगार।

नाग-दमनि तुम नामकी है जिनके आधार ॥
जिस रनमाहिं भयानक रव कर रहे तुरंगम ।
घनसे गज गरजाहिं मत्त मानों गिरि जंगम ॥
अति कोलाहलमाहिं बात जहँ नाहिं सुनीजे ।
राजनको परचंड देख बल धीरज छीजे ॥
नाथ तिहारे नामतैं सो छिनमाहिं पलाय ।
ज्यों दिनकर परकाशतैं अंधकार विनशाय ॥
मारै जहा गयंद कुंभ हथियार विदारै ।
उमगै रुधिर प्रवाह वेग जलसम विस्तारै ॥
होय तिरन असमर्थ महाजोधा बल पूरे ।
तिस रनमें जिन तोर भक्त जे हैं नर सूरे ॥
दुर्जय अरिकुल जीतके जय पावैं निकलंक ।
तुम पद-पंकज मन बसै ते नर सदा निशंक ॥
नक्र चक्र मगरादि मच्छकरि भय उपजावै ।
जामैं बडवा अग्नि दाहतैं नीर जलावै ॥
पार न पावै जास थाह नहिं लहिये जाकी ।
गरजै अतिगंभीर लहरिकी गिनति न ताकी ॥
सुखसों तिरैं समुद्रको जे तुम गुन सुमराहिं ।
लोलक-लोलनके शिखर पार यान ले जाहिं ॥
महा जलोदर रोग, भार पीड़ित नर जे हैं ।
वात पित्त कफ कुष्ट आदि जो रोग गहै हैं ॥
सोचत रहैं उदास नाहिं जीवनकी आशा ।
अति घिनावनी देह धरैं दुर्गंधि-निवासा ॥
तुम पद-पंकज-धूलको जो लावैं निज-अंग ।

ते नीरोग शरीर लहि छिनमें होय अनंग ॥
पांव कंठतें जकर बांध सांकल अति भारी।
गाढी बेड़ी पैरमांहि जिन जांघ विदारी ॥
भूख प्यास चिंता शरीर दुख जे विललाने।
सरन नाहि जिन कोय भूपके बंदीखाने ॥
तुम सुमरत स्वयमेव ही बंधन सब खुल जाहि।
छनमें ते संपति लहैं चिंता भय विनसाहिं ॥
महामत्त गजराज और मृगराज दवानल।
फणपति रण परचंड नीर-निधि रोग महाबल ॥
बंधन ये भय आठ डरपकर मानों नाशै।
तुम सुमरत छिनमाहिं अभय थानक परकाशै ॥
इस अपार संसारमें शरन नाहिं प्रभु कोय।
यातैं तुम पद-भक्तको भक्ति सहाई होय ॥
यह गुनमाल विशाल नाथ तुम गुनन सँवारी।
विविध-वर्णमय-पुहुप गूँथ मैं भक्ति विथारी ॥
जे नर पहिरें कंठ भावना मनमें भावैं।
'मानतुंग' ते निजाधीन शिव-लछमी पावैं ॥
भाषा भक्तामर कियो 'हेमराज' हित हेत।
जे नर पढ़ै सुभावसों ते पावैं शिव-खेत ॥

वर्णी-वाणी की डायरी से

■ मन की शुद्धि बिना काय शुद्धि का कोई महत्व नहीं।

दोहा—परमज्योति परमात्मा, परमज्ञान परवीन।
बन्दूं परमानन्दमय, घटघट अन्तर लीन ॥ १ ॥

निर्भय करन परम परधान, भवसमुद्र जल तारण यान।
शिवमंदिर अघहरण अनिन्द, बंदहुँ पासचरण अरविन्द॥
कमठमान भञ्जन वरवीर, गरिमा सागर गुण गम्भीर।
सुरगुरु पार लहैं नहिं जास, मैं अजान जपहूं जस तास॥
प्रभुस्वरूप अति अगम अथाह, क्यों हमसेती होय निवाह।
ज्यों दिन अन्ध उलूको पोत, कहि न सकै रवि-किरण उदोत
मोहहीन जानै मनमाहिं, तोहु न तुम गुण वरणे जाहिं।
प्रलय पयोधि करै जल वौन, प्रगटहिं रतन गिनै तिहिं कौन॥
तुम असंख्य निर्मल गुणखान, मैं मतिहीन कहूं निज बान।
ज्यों बालक निज बांह पसार, सागर परमित कहै विचार॥
जे जोगीन्द्र करहिं तपखेद, तऊ न जानहिं तुम गुणभेद।
भक्तिभाव मुझ मन अभिलाष, ज्यों पंछी बोलैं निजभाष॥
तुमजस महिमा अगम अपार, नाम एक त्रिभुवन आधार।
आवै पवन पद्मसर होय, ग्रीषमतपत निवारै सोय॥
तुम आवत भविजन घटमाहिं, कर्म निबंध शिथिल ह्वै जाहिं।

ज्यों चन्दनतरु बोलहि मोर, डरहिं भुजंग लगे चहुँओर ॥
तुम निरखत जन दीन दयाल, संकटतैं छूटैं तत्काल ।
ज्यों पशु घेर लेहिं निशि चोर, ते तज भागहिं देखत भोर ॥
तू भविजन तारक किमि होहि, ते चित धार तिरहिं ले तोहि।
यह ऐसे कर जान स्वभाव, तिरहिं मसक ज्यों गर्भित वाव ॥
जिहं सब देव किये वश बाम, तैं छिनमें जीत्यो सो काम ।
ज्यों जल करै अगनिकुल हान, बड़वानल पावै सो पान ॥
तुम अनन्त गरवागुण लिये, क्योंकर भक्ति धरौं निज हिये।
है लघुरूप तिरहिं संसार, यह प्रभु महिमा अगम अपार।
क्रोध निवार कियो मन शांत, कर्मसुभट जीते किहि भांत।
यह पटतर देखहु संसार, नील विरछ ज्यों दहै तुषार ॥
मुनिजन हिये कमल निज टोहि, सिद्ध रूप सम ध्यावहिं तोहि
कमलकरणिका बिन नहिं और, कमल बीज उपजनकी ठौर॥
जब तुव ध्यान धरैं मुनि कोय, तब विदेह परमातम होय।
जैसे धातु शिलातनु त्याग, कनकस्वरूप धवै जब आग ॥
जाके मन तुम करहु निवास, विनशि जाय क्यों विग्रह तास।
ज्यों महन्त बिच आवै कोय, विग्रहमूल निवारै सोय ॥
करहिं विबुध जे आतमध्यान, तुम प्रभावतैं होय निदान।

जैसे नीर सुधा अनुमान, पीवत त्रिषविकार की हान ॥
तुम भगवंत विमल गुण लीन, समलरूप मानहिं मति हीन।
ज्यों पीलिया रोग दृग गहै, वर्ण विवर्ण शंखसों कहै ॥
दोहा–निकट रहत उपदेश सुन तरुवर भयो अशोक।
ज्यों रवि ऊगत जीव सब, प्रगट होत भुविलोक ॥
सुमनवृष्टि ज्यों सुर करहिं, हेठ बीठमुख सोहि।
त्यों तुम सेवत सुमनजन बन्ध अधोमुख होहिं ॥
उपजी तुम होय उदधितैं, वाणी सुधा समान।
जिहं पीवत भविजन लहहि, अजर अमरपद थान।
कहहिं सार तिहुँ लोक को, ये सुर चामर दोय।
भावसहित जो जिन नमैं, तिहुँगति ऊरध होय ॥
सिंघासन गिरिमेरुसम, प्रभु धुनि गरजत घोर।
श्याम सु तनु घनरूप लखि, नाचत भविजन मोर ॥
छविहत होत अशोक दल, तुम भामण्डल देख।
वीतराग के निकट रह, रहत न राग विशेष ॥
सीख कहै तिहुँ लोक को, ये सुरदुन्दुभिनाद।
शिवपथसारथिवाहजिन, भजहु तजहु परमाद ॥
तीन छत्र त्रिभुवन उदित, मुक्तागण छविदेत।
त्रिविधरूप धर मनहु शशि, सेवत नखत समेत ॥

पद्धडी छन्द ।

प्रभु तुम शरीर दुति रतन जेम, परतापपुञ्ज जिम शुद्ध हेम ।
अतिधवल सुजस रूपा समान, तिनके गढ तीन विराजमान ॥
सेवहिं सुरेन्द्र कर नमत भाल, तिन शीश मुकुट तज देहिं माल ।
तुम चरणलगत लहलहैं प्रीति, नहिं रमहि और जन सुमन रीति ॥
प्रभु भोगविमुख तन गरमदाह, जन पार करत भवजल निवाह ।
ज्यों माटी कलश सुपक्क होय, ले भार अधोमुख तिरहि तोय ॥
तुम महाराज निरधन निराश, तज विभव-विभव सब जग प्रकाश ।
अक्षर स्वभाव सुलिखै न कोय, महिमा भगवन्त अनन्त सोय ॥
कर कोप कमठ निज वैर देख, तिन करी धूलि वर्षा विशेष ।
प्रभु तुम छाया नहि भई हीन, सो भयो पापि लंपट मलीन ॥
गरजन्त घोर घन अन्धकार, चमकन्त विज्जु जल मुसलधार ।
वरषन्त कमठ धर ध्यान रुद्र, दुस्तर करन्त निज भव समुद्र ॥

वास्तु छन्द ।

मेघमाली मेघमाली आप बल फोरि ।
भेजे तुरत पिशाचगण, नाथ पास उपसर्ग कारण ।
अग्नि जाल झलकन्त मुख, धुनि करत जिमि मत्तवारण ॥
कालरूप विकराल तन, मुण्डमाल हित कण्ठ ।

चौपाई ।

जे तुम चरणकमल तिहुँकाल, सेवहिं तज माया जंजाल ।
भाव भगतिमन हरष अपार, धन्य-धन्य जग तिन अवतार ॥
भवसागर में फिरत अजान, मैं तुव सुजस सुन्यो नहिं कान ।
जो प्रभु नाम मन्त्र मन धरै, तासों विपति भुजंगम डरै ॥

मनवांछित फल जिनपदमाहिं, मैं पूरव भव पूजे नाहिं।
मायामगन फिर्यो अज्ञान, करहि रंकजन मुझ अपमान ॥
मोहतिमिर छायो दृग मोहि, जन्मान्तर देख्यो नहिं तोहि।
तौ दुर्जन मुझ संगति गहैं, मरमछेद के कुवचन कहैं ॥
सुन्यो कान जस पूजे पाय, नैनन देख्यो रूप अघाय।
भक्तिहेतु न भयो चित्त चाव, दुःखदायक किरिया बिन भाव ॥
महाराज शरणागत पाल, पतित उधारण दीनदयाल।
सुमिरण करहुं नाय निज शीश, मुझ दुःख दूर करहु जगदीश ॥
कर्म निकन्दन महिमा सार, अशरणशरण सुजस विस्तार।
नहिं सेये प्रभु तुमरे पाय, तो मुझ जन्म अकारथ जाय ॥
सुरगणवन्दित दयानिधान, जगतारण जगपति अनजान।
दुःख सागरतैं मोहि निकासि, निर्भयथान देहु सुखरासि ॥
मैं तुम चरणकमल गुणगाय, बहुविधि भक्ति करी मनलाय।
जनम-जनम प्रभु पाऊं तोहि, यह सेवाफल दीजै मोहि ॥

बेसरी छन्द।

इह विधि श्रीभगवन्त, सुजस जे भविजन भाषहिं।
ते जिन पुण्य भण्डार, संचि चिरपाप प्रणाशहिं ॥
रोम-रोम हुलसन्ति, अंग प्रभु गुणमन ध्यावहिं।
स्वर्ग सम्पदा भुञ्ज वेग पञ्चमगति पावहिं ॥
यह कल्याणमन्दिर कियो, कुमुदचन्द्र की बुद्धि।
भाषा कहत 'बनारसी' कारण समकित शुद्धि ॥४४॥

एकीभाव स्तोत्र भाषा

दोहा—वादिराज मुनिराजके, चरणकमल चितलाय।
भाषा एकीभाव की, करूं स्वपरसुखदाय ॥१॥

चाल—"अहो जगत गुरुदेव सुनियो अर्ज हमारी"

जो अति एकीभाव भयो मानो अनिवारी।
सो मुझ कर्म प्रबन्ध करत भव भव दुःख भारी ॥
ताहि तिहारी भक्ति जगतरवि जो निरवारै।
तो अब और कलेश कौन सो नाहिं विदारै ॥ १ ॥
तुम जिन जोतिस्वरूप दुरित अंधियारि निवारी।
सो गणेश गुरु कहैं तत्व विद्याधन धारी ॥
मेरे चितघर माहिं बसौ तेजोमय यावत।
पापतिमिर अवकाश तहां सो क्योंकरि पावत ॥ २ ॥
आनन्द आंसूवदन धोय तुमसों चित सानै।
गदगद सुरसों सुयश मन्त्र पढ़ि पूजा ठानै ॥
ताके बहुविधि व्याधि व्याल चिरकाल निवासी।
भाजैं थानक छोड़ देह बांबइ के वासी ॥ ३ ॥
दिविसे आवनहार भये भविभाग उदयबल।
पहले ही सुर आय कनकमय कीय महीतल ॥
मनगृह ध्यान दुवार आय निवसो जगनामी।
जो सुवरण तन करो कौन यह अचरज स्वामी ॥ ४ ॥

प्रभु सब जग के बिना हेतु बांधव उपकारी।
निरावरण सर्वज्ञ शक्ति जिनराज तिहारी॥
भक्ति रचित ममचित्त सेज नित वास करोगे।
मेरे दुःख सन्ताप देख किम धीर धरोगे॥ ५ ॥
भववनमें चिरकाल भ्रम्यो कछु कहिय न जाई।
तुम थुति कथा पियूषवापिका भागन पाई॥
शशि तुषार घन सार हार शीतल नहिं जा सम।
करत न्हौन तामाहिं क्यों न भवताप बुझै मम॥ ६ ॥
श्रीविहार परिवाह होत शुचि रूप सकल जग।
कमलकनक आभाव सुरभि श्रीवास धरत पग॥
मेरो मन सर्वंग परस प्रभु को सुख पावै।
अब सो कौन कल्याण जो न दिन दिन ढिग आवै॥ ७ ॥
भवतज सुखपद बसे काममद सुभट संहारे।
जो तुमको निरखन्त सदा प्रियदास तिहारे॥
तुम वचनामृतपान भक्ति अंजुलिसों पीवै।
तिन्हैं भयानक क्रूररोगरिपु कैसे छीवै॥ ८ ॥
मानथम्भ पाषाण आन पाषाण पटन्तर।
ऐसे और अनेक रतन दीखें जग अन्तर॥
देखत दृष्टिप्रमाण नाममद तुरत मिटावै।
जो तुम निकट न होय शक्ति यह क्योंकर पावै॥ ९ ॥

प्रभुतन पर्वतपरस पवन उर में निवहै है।
तासों ततछिन सकल रोगरज बाहिर ह्वै है॥
जाके ध्यानाहूत बसो उर अम्बुज माहीं।
कौन जगत उपकार करन समरथ सो नाहीं॥ १० ॥
जनम-जनम के दुःख सहे सब ते तुम जानो।
याद किये मुझ हिये लगैं आयुध से मानो॥
तुम दयाल जगपाल स्वामि मैं शरण गही है।
जो कछु करनो होय करो परमाण वही है॥ ११ ॥
मरन समय तुम नाम मन्त्र जीवकतैं पायो।
पापाचारी श्वान प्राण तज अमर कहायो॥
जो मणिमाला लेय जपै तुम नाम निरन्तर।
इन्द्र सम्पदा लहै कौन संशय इस अन्तर॥१२॥
जो नर निर्मल ज्ञान मान शुचि चारित साधै।
अनवधि सुखकी सार भक्ति कूची नहिं लाधै॥
सो शिववांछक पुरुष मोक्षपट केम उघारै।
मोह मुहर दिढ करी मोक्ष मन्दिर के द्वारे॥१३॥
शिवपुर केरो पंथ पापतमसों अति छायो।
दुःखसरूप बहु कूप खाड सों विकट बतायो॥
स्वामी सुख सों तहां कौन जन मारग लागैं।
प्रभु प्रवचनमणिदीप जोन के आगैं आगैं॥१४॥

कर्मपटल भूमाहिं दबी आतमनिधि भारी।
देखत अतिसुख होय विमुख जन नाहिं उघारी॥
तुम सेवक ततकाल ताहि निहचै कर धारै।
थुति कुदालसों खोद बन्द भू कठिन विदारै॥१५॥
स्यादवादगिरि उपज मोक्ष सागर लौं धाई।
तुम चरणांबुज परस भक्ति गंगा सुखदाई॥
मो चित निर्मल थयो न्होन रुचिपूरव तामैं।
अब वह हो न मलीन कौन जिन संशय यामैं॥१६॥
तुम शिवसुखमय प्रगट प्रभु चिंतन तेरो।
मैं भगवान समान भाव यों वरतै मेरो॥
यद्यपि झूठ है तदपि तृप्ति निश्चल उपजावै।
तुव प्रसाद सकलंक जीव वांछित फल पावै॥१७॥
वचन जलधि तुम देव सकल त्रिभुवन में व्यापै।
भंग तरंगिनि विकथवादमल मलिन उथापै॥
मनसुमेरुसों मथै ताहि जे सम्यकज्ञानी।
परमामृत सों तृपत होहिं ते चिरलौं प्रानी॥१८॥
जो कुदेव छवि हीन वसन भूषण अभिलाखै।
वैरी सों भयभीत होय सो आयुध राखै॥
तुम सुन्दर सर्वंग शत्रु समरथ नहिं कोई।
भूषण वसन गदादि ग्रहण काहे को होई॥१९॥

सुरपति सेवा करै कहा प्रभु प्रभुता तेरी।
सो सलाघना लहै मिटै जगसों जगफेरी॥
तुम भवजलधि जिहाज तोहि शिवकन्त उचरिये।
तुही जगत-जनपाल नाथ थुति की थुति करिये॥२०॥
वचन जाल जडरूप आप चिन्मूरति सांई।
तातैं थुति आलाप नाहिं पहुँचै तुम तांई॥
तो भी निष्फल नाहिं भक्तिरस भीने वायक।
सन्तनको सुरतरु समान वांछित वर दायक॥२१॥
कोप कभी नहिं करो प्रीति कबहू नहिं धारो।
अति उदास बेचाह चित्त जिनराज तिहारो॥
तदपि आन जग बहै बैर तुम निकट न लहिये।
यह प्रभुता जग तिलक कहाँ तुम बिन सरदहिये॥२२॥
सुरतिय गावें सुरनि सर्वगति ज्ञान स्वरूपी।
जो तुमको थिर होहिं नमैं भवि आनन्दरूपी॥
ताहि छेमपुर चलनवाट बाकी नहिं हो है।
श्रुतके सुमरन माहिं सो न कबहूँ नर मोहै॥२३॥
अतुल चतुष्टयरूप तुमें जो चित में धारै।
आदरसों तिहुँकाल माहिं जग थुति विस्तारै॥
सो सुकृत शिवपंथ भक्ति रचना कर पूरै।
पञ्चकल्याणक ऋद्धि पाय निहचै दुःख चूरै॥२४॥

अहो जगतपति पूज्य अवधिज्ञानी मुनि हारे।
तुम गुणकीर्तन माहिं कौन हम मन्द विचारे॥
थुति छलसों तुम विषै देव आदर विस्तारे।
शिवसुख पूरणहार कलपतरु यही हमारे॥२५॥
वादिराज मुनितैं अनु, वैय्याकरणी सारे।
वादिराज मुनितैं अनु तार्किक विद्यावारे॥
वादिराज मुनितैं अनु हैं काव्यन के ज्ञाता।
वादिराज मुनितैं अनु हे भविजन के त्राता॥२६॥
दोहा—मूल अर्थ बहुविधि कुसुम, भाषा सूत्र मंझार।
भक्तिमाल 'भूधर' करी करो कण्ठ सुखकार॥

श्री नेमिनाथ के पूर्वभव—छप्पय

पहले भव वन भील, दुतिय अभिकेतु सेठघर।
तीजै सुर सौधर्म, चौथ चिंतागति नभचर॥
पंचम चौथे स्वर्ग, छठैं अपराजित राजा।
अच्युतेन्द्र सातवैं अमरकुलतिलक विराजा॥
सुप्रतिष्टराय आठम नवैं जन्म जयन्त विमान धर।
फिर भये नेमिहरि वंशशशि ये दशभव सुधिकरहु नर॥

विषापहार स्तोत्र भाषा

दोहा—नमो नाभिनन्दन बली, तत्त्वप्रकाशनहार।
तुर्यकाल की आदि में, भये प्रथम अवतार॥

रोला छन्द

निज आतम में लीन ज्ञानकरि व्यापत सारे।
जानत सब व्यापार संग नहिं कछू तिहारे॥
बहुत काल हो पुनि जरा न देह तिहारी।
ऐसे पुरुष पुरान करहु रक्षा जु हमारी॥ १॥
परकरिकैं जु अचिन्त्य भार जग को अतिभारो।
सो एकाकी भयो वृषभ कीनों निसतारो॥
करि न सके जोगीन्द्र स्तवन मैं करिहों ताको।
भानु प्रकाश न करै दीप तम हरे गुफा को॥ २॥
स्तवन करनको गर्व तज्यो शक्री बहु ज्ञानी।
मैं नहिं तजों कदापि स्वल्पज्ञानी शुभध्यानी॥
अधिक अर्थकौ कहूँ यथा विधि बैठि झरोके॥
जालान्तर धरि अक्ष भूमिधर को जु विलोकै॥ ३॥
सकल जगतकों देखत अर सबके तुम ज्ञायक।
तुमकौं देखत नाहिं नाहि जानत सुखदायक॥
हो किसाक तुम नाथ और कितनाक बखानै।
तातैं थुति नहि बनै अशक्ति भये सयानै॥ ४॥

बालकवत निजदोष थकी इहलोक दुखी अति।
रोगरहित तुम कियो कृपाकरि देव भुवनपति॥
हित अनहितकी समझि मांहि है मन्दमती हम।
सब प्राणिन के हेत नाथ तुम बालवैद सम॥ ५॥
दाता हरता नाहिं भानु सबको बहकावत।
आजकालके छलकरि नित प्रति दिवस गुमावत॥
हे अच्युत जो भक्त नमैं तुम चरण कमलको।
छिनक एकमैं आप देत मनवांछित फलको॥ ६॥
तुमसों सन्मुख रहै भक्तिसौं सो सुख पावै।
जो सुभावतैं विमुख आपतैं दुःखहि बढ़ावै॥
सदा नाथ अवदात एक द्युति रूप गुसांई।
इन दोन्यों के हेत स्वच्छ दरपणवत झांई॥ ७॥
है अगाध जलनिधि समुद्रजल है जितनो ही।
मेरु तुङ्गसुभाव शिखरलौं उच्च भन्यो ही॥
वसुधा अर सुरलोक एहु इस भांति सई है।
तेरी प्रभुता देव! भुवनिकूं लंघि गई है॥ ८॥
है अनवस्था धर्म परम सो तत्त्व तुमारे।
कह्यो न आवागमन प्रभू मतमांहिं तिहारे॥
दृष्ट पदारथ छांडि आप इच्छति अदृष्टकौं।
विरुध वृद्धि तव नाथ समंजस होय सृष्टकौं॥ ९॥

कामदेव को किया भस्म जगत्राता थे ही।
लीनी भस्म लपेट नाम शम्भू निजदेही॥
सूतो होय अचेत विष्णु वनिताकरि हार्यो।
तुमकौं काम न गहै आप घट सदा उजार्यो ॥१०॥
पापवान वा पुण्यवान सो देव बतावै।
तिनके औगुण कहै नाहिं तू गुणी कहावै॥
निज सुभावतैं अम्बुराशि निज महिमा पावै।
स्तोक सरोवर कहे कहा उपमा बढ़ि जावै॥ ११ ॥
कर्मन की थिति जन्तु अनेक करै दुःख कारी।
सो थिति बहु परकार करै जीवन की ख्वारी॥
भवसमुद्र के मांहि देव दोन्यों के साखी।
नाविक नाव समान आप वाणी में भाखी॥ १२ ॥
सुखकौं तो दुःख कहै गुणनकूं दोष विचारै।
धर्मकरन के हेत पाप हिरदै बिच धारै॥
तेल निकासन काज धूलिकों पेलै घानी।
तेरे मतसों वाह्य इसे जे जीव अज्ञानी॥ १३ ॥
विष मोचै ततकाल रोगकौं हरै ततच्छन।
मणि औषधी रसांण मन्त्र जो होय सुलच्छन॥
ए सब तेरे नाम सुबुद्धी यों मन धरिहैं।
भ्रमत अपर जन वृथा नहीं तुम सुमिरन करिहैं॥१४॥

किंचित भी चितमाहिं आप कछु करो न स्वामी।
जे राखैं चितमाहिं आपको शुभ परिणामी॥
हस्तामलवत लखैं जगत की परिणति जेती।
तेरे चित के बाह्य तोउ जीवै सुखसेती॥ १५॥
तीनलोक तिरकालमाहिं तुम जानत सारी।
स्वामी इनकी संख्या थी तितनीहिं निहारी॥
जो लोकादिक हुते अनन्ते साहिब मेरा।
तेऽपि झलकते आनि ज्ञान का ओर न तेरा॥१६॥
है अगम्य तवरूप करै सुरपति प्रभु सेवा।
ना कछु तुम उपकार हेत देवन के देवा॥
भक्ति तिहारी नाथ इन्द्र के तोषित मन को।
ज्यों रवि सन्मुख छत्र करै छाया निज तन को॥१७॥
वीतरागता कहां - कहां उपदेश सुखाकर।
सो इच्छा प्रतिकूल वचन किम होय जिनेसर॥
प्रतिकूली भी वचन जगतकूं प्यारे अतिही।
हम कछु जानी नाहिं तिहारी सत्यासतिही॥१८॥
उच्च प्रकृति तुम नाथ संग किंचित न धरनतैं।
जो प्रापति तुम थकी नाहि सो धनेसुरनतैं॥
उच्च प्रकृति जल विना भूमिधर धुनी प्रकाशै।
जलधि नीरतैं भर्यो नदी ना एक निकासै॥१९॥

तीनलोक के जीव करो जिनवर की सेवा।
नियम थकी करदन्ड धस्यो देवन के देवा॥
प्रातिहार्य तौ बनै इन्द्र के बनै न तेरे।
अथवा तेरे बनै तिहारे निमित्त परेरे॥ २०॥
तेरे सेवक नाहिं इसे जे पुरुषहीन धन।
धनवानों की ओर लखत वे नाहिं लखतपन॥
जैसैं तमथिति किये लखत परकास थितीकूं।
तैसैं सूझत नाहिं तमथिति मन्दमतीकूं॥२१॥
निज वृध स्वासोच्छास प्रगट लोचन टमकारा।
तिनको वेदत नाहिं लोकजन मूढ विचारा॥
सकल ज्ञेय ज्ञायक जु अमूरति ज्ञान सुलच्छन।
सो किमि जान्यो जाय देव रूप विचच्छन॥२२॥
नाभिराय के पुत्र पिता प्रभु भरततने हैं।
कुलप्रकाशिकैं नाथ तिहारो स्तवन भनैं हैं॥
ते लघु धी असमान गुणनकों नाहिं भजे हैं।
सुवरण आयो हाथि जानि पाषाण तजै हैं॥२३॥
सुरासुरन को जीति मोहने ढोल बजाया।
तीनलोक में किये सकल वशि यों गरभाया।
तुम अनन्त बलवन्त नाहिं ढिग आवन पाया।
करि विरोध तुम थकी मूलतैं नाश कराया॥२४॥

एक मुक्ति का मार्ग देव तुमने परकास्या।
गहन चतुरगतिमार्ग अन्य देवनकूं भास्या॥
हम सव देखन हार, इसी विधि भाव सुमिरिकैं।
भुज न विलोको नाथ कदाचित गर्भ जु धरिकैं॥२५॥
केतु विपक्षी अर्कतनो फुनि अग्नितनो जल।
अम्बुनिधि अरि प्रलय कालको पवन महावल॥
जगतमांहिं जे भोग वियोग विपक्षी है निति।
तेरो उदयो है विपक्षतै रहित जगतपति॥२६॥
जाने विन हू नवत आपको शुभ फल पावै।
नमत अन्य को देव जानि सो हाथ न आवै॥
हरित मणीकूं कांच, कांचकूं मणी रटत हैं।
ताकी वुधि में भूल, मूल मणि को न घटत हैं॥२७॥
जे विवहारी जीव वचन मैं कुशल सयानै।
ते कपायकरि दग्ध नरनकों देव वखानैं॥
ज्यों दीपक वुझि जाय ताहि कह 'नन्दि' भयो है।
भग्न घड़े को कहैं कलश ए मंगल गयो है॥२८॥
स्यादवाद संयुक्त अर्थ का प्रगट वखानत।
हितकारी तुम वचन श्रवणकरि को नहिं जानत॥
दोषरहित ए देव शिरोमणि वक्ता जगगुर।
जो ज्वरसेती मुक्त भयो सो कहत सरल सुर॥२९॥

विन वांछा ए वचन आपके खिरें कदाचित
है नियोग एकोपि जगत को करत सहज हित।
करे न वांछा इसो चन्द्रमा पूरो जलनिधि
सीतरश्मिकूं पाय उदधि जल वढे स्वयं सिधि
तेरे गुण गम्भीर परम पावन जगमाईं
वहु प्रकार प्रभु है अनन्त कछु पार न पाईं॥
तिन गुणन को अन्त एक याही विधि दीसे।
ते गुण तुझ ही मांहि और में नाहिं जगीसे।
केवल थुति ही नाहिं भक्तिपूर्वक हम ध्यावत।
सुमरण प्रणमन तथा भजनकर तुम गुण गावत॥
चितवन पूजन ध्यान नमनकरि नित आराधें।
को उपावकरि देव सिद्धि फल को हम साधें।
त्रैलोकी नगराधि देव नित ज्ञान प्रकाशी।
परम ज्योति परमातम शक्ति अनन्ती भासी॥
पुण्य पापतैं रहित पुण्य के कारण स्वामी।
नमो नमों जगवन्द्य अवन्द्यक नाथ अकामी।
रस सपरस अर गन्ध रूप नहि शब्द तिहारे।
इनके विषय विचित्र भेद सब जाननहारे॥
सब जीवन प्रतिपाल अन्य करि है अगम्यगन।
[illegible]मरण गोचर नाहि करो जिन तेरो सुमिरन॥

तुम अगाध जिनदेव चित्त के गोचर नाहीं।
निःकिंचन भी प्रभू धनेश्वर जाचत सांई॥
भये विश्व के पार दृष्टिसों पार न पावै।
जिनपति एम तिहारि जगजन शरणै आवै ॥३५॥
नमों नमौं जिनदेव जगतगुरु शिक्षादायक।
निज गुण सेती भई उन्नति महिमा लायक॥
पाहनखण्ड पहार पछै ज्यो होत और गिर।
त्यों कुलपर्वत नाहिं सनातन दीर्घ भूमिधर ॥३६॥
स्वयं प्रकाशी देव रैन दिनकूं नहिं वाधित।
दिवस रात्रि भी छतैं आपकी प्रभा प्रकाशित॥
लाघव गौरव नाहिं एकसो रूप तिहारो।
कालकलातैं रहित प्रभूसूँ नमन हमारो ॥३७॥
इहविधि वहु परकार देव तव भक्ति करी हम।
जाचूँ वर न कदापि दीन है रागसहित तव॥
छाया वैठत सहज वृक्ष के नीचे है है।
फिर छाया को जाचत यामें प्रापति है है ॥३८॥
जो कुछ इच्छा होय देन की तौ उपगारी।
द्यो वुधि ऐसी करूँ प्रीतिसौं भक्ति तिहारी॥
करो कृपा जिनदेव हमारे परि है तोषित।
सनमुख अपनो जानि कौन पण्डित नहिं पोषित ॥३९॥

यथा कथंचित भक्ति रचे विनयीजन केई।
तिनकूं श्रीजिनदेव मनोवांछित फल देही ॥
फुनि विशेष जो नमत सन्तजन तुमको ध्यावै।
सो सुख जस 'धन-जय' प्रापति है शिवपद पावै ॥४०॥
श्रावक माणिकचन्द सुबुद्धी अर्थ बताया।
सो कवि 'शान्तिदास' सुगमकरि छन्द बनाया ॥
फिर फिरिकै ऋषि रूपचन्द ने करी प्रेरणा।
भाषा स्तोत्र 'विषापहार' की पढ़ो भविजना ॥४१॥

सुख

- हम ही अपनी शान्ति में बाधक है। जितने भी पदार्थ ससार में हैं उन में से एक भी पदार्थ शान्त स्वभाव का बाधक नहीं बर्त्तन में रक्खी हुई मदिरा अथवा डिब्बे में रक्खा हुआ पान पुरुषों में विकृति का कारण नहीं। पदार्थ हमें बलात् विकारी नहीं बनाता, हम स्वय मिथ्या विकल्पों से इष्टानिष्ट कल्पना कर सुखी और दु खी होते हैं। कोई भी पदार्थ न तो सुख देता है और न दु ख देता है, इसलिये जहाँ तक बने आभ्यन्तर परिणामों की विशुद्धि पर सदैव ध्यान रखना चाहिए।
- सुखी होने का सर्वोत्तम उपाय तो यह है कि पर पदार्थों में स्वत्व को त्याग दो।

— 'वर्णी वाणी' से

पार्श्वनाथ स्तोत्र (भूधरकृत)

दोहा—कर जिन पूजा अष्ट विधि, भाव भक्ति जिन भाय।
अब सुरेश परमेश थुति, करौं शीश निज नाय।

चौपाई

प्रभु इस जग समरथ ना कोय, जासों तुम यश वर्णन होय।
चार ज्ञानधारी मुनि थकें, हमसे मन्द कहा कर सकैं॥
यह उर जानत निश्चय कीन, जिन महिमा वर्णन हम कौन।
पर तुम भक्ति थकी वाचाल, तिस वश होय कहूं गुण माल॥
जय तीर्थङ्कर त्रिभुवन धनी, जय चन्द्रोपम चूडामणी।
जय जय परम धाम दातार, कर्मकुलाचल चूरणहार॥
जय शिवकामिनि कन्त महन्त, अतुल अनन्त चतुष्टय वन्त।
जय जय आशभरण बड़भाग, तप लक्ष्मी के सुभग सुहाग॥
जय जय धर्मध्वजाधर धीर, स्वर्ग मोक्ष दाता वरवीर।
जय रत्नत्रय रत्नकरण्ड, जय जिन तारण तरण तरण्ड॥
जय जय समवशरण शृङ्गार, जय संशय वन दहन तुषार।
जय जय निर्विकार निर्दोष, जय अनन्त गुण माणिक कोष॥
जय जय ब्रह्मचर्यदल साज, काम सुभट विजयी भटराज।
जय जय मोहमहातरु करी, जय जय मदकुञ्जर केहरी।
क्रोधमहानल-मेघ प्रचण्ड, मान मोह धर दामिन दण्ड।
माया-बेल-धनञ्जय दाह, लोभ सलिल शोषण-दिननाह॥
तुम गुणसागर अगम अपार, ज्ञान जहाज न पहुँचे पार।
तट ही तट पर डोलें सोय, कारण सिद्ध यहा ही होय॥
तुमरी कीर्तिबेल बहु बढ़ी, यत्न विना जगमण्डप चढी।
अवर कुदेव सुयस निज चहैं, प्रभु अपने थल ही यश लहैं॥

जगति जीव घूमै विन ज्ञान, कीना मोह महाविष पान।
तुम सेवा विषनाशक जरी, तिहुँ मुनिजन मिल निश्चय करी॥
जन्म-जरा मिथ्या-मत मूल, जन्म मरण लागे तिहँ फूल।
सो कबहूँ विन भक्त कुठार, कटै नहीं दुःख फल दातार॥
कल्प सरोवर चित्रा बेल, काम पोरवा नवनिधि मेल।
चिन्तामणि पारस पाषान. पुण्य पदारथ और महान॥
ये सब एक जन्म-संयोग, किंचित सुखदातार नियोग।
त्रिभुवननाथ तुम्हारी सेव, जन्म-जन्म सुखदायक देव॥
तुम जग बांधव तुम जगतात, अशरणशरण विरद विख्यात।
तुम सब जीवनके रखवाल, तुम दाता तुम परम दयाल॥
तुम पुनीत तुम पुरुष प्रमान, तुम समदर्शी तुम सब जान।
जय मुनि-यज्ञ-पुरुष परमेश, तुम ब्रह्मा तुम विष्णु महेश॥
तुम जगभर्त्ता तुम जगजान, स्वामि स्वयम्भू तुम अमलान।
तुम विन तीनकाल तिहुँ लोय, नाहो शरण जीवका होय॥
यातैं अब करुणानिधि नाथ, तुम सन्मुख हम जोडैं हाथ।
जबलों निकट होय निर्वान, जग निवास छूटै दुःखदान॥
तबलौं तुम चरणांवुज वास, हम उर होय यही अर दास।
और न कछु वांछा भगवान, हे दयालु दीजै वरदान॥

दोहा—इहिविधि इन्द्रादिक अमर, कर बहु भक्ति विधान।
निज कोठे बैठे सकल, प्रभु सन्मुख सुख मान॥
जीति कर्मरिपु जे भये, केवल लब्धि निवास।
सो श्री पार्श्व प्रभु सदा, करो विघ्नघन नाश॥

निर्वाणकाण्ड भाषा

दोहा- वीतराग वंदौ सदा, भावसहित सिरनाय ।
कहूँ कांड निर्वाणकी, भाषा सुगम बनाय ॥

चौपाई

अष्टापद आदीश्वर स्वामि, वासुपूज्य चंपापुरि नामि ॥
नेमिनाथ स्वामी गिरनार, वंदो भाव-भगति उर धार ॥
चरम तीर्थंकर चरम-शरीर, पावापुरि स्वामी महावीर ।
शिखरसमेद जिनेसुर बीस, भावसहित वंदौं निश-दीस ॥
वरदत्तराय रु इंद मुनिंद, सायरदत्त आदि गुणवृंद ।
नगर तारवर मुनि उठकोडि, वंदौं भावसहित कर जोडि ॥
श्रीगिरनार शिखर विख्यात, कोडि बहत्तर अरु सौ सात ।
संबु प्रद्युम्न कुमर द्वै भाय, अनिरुध आदि नमूं तसु पाय ॥
रामचंद्रके सुत द्वै वीर, लाटनरिंद आदि गुणधीर ।
पाच कोटि मुनि मुक्ति मझार, पावागिरि वंदौ निरधार ॥
पांडव तीन द्रविड-राजान, आठ कोडि मुनि मुकति पयान ।
श्रीशत्रुंजयगिरिके शीस, भावसहित वंदौ निश-दीस ॥
जे बलभद्र मुकतिमें गये, आठ कोडि मुनि औरहु भये ।
श्रीगजपंथ शिखर सुविशाल, तिनके चरण नमूं तिहुं काल ॥
राम हणू सुग्रीव सुडील, गव गवाख्य नील महानील ।
कोटि निन्याणव मुक्ति पयान, तुंगीगिरि वंदौ धरि ध्यान ॥
नंग अनंग कुमार सुजान, पाँच कोडि अरु अर्ध प्रमान ।
मुक्ति गये सोनागिरि-शीश, ते वंदौं त्रिभुवनपति ईस ॥
रावणके सुत आदिकुमार, मुक्ति गये रेवा-तट सार ।

कोटि पंच अरु लाख पचास, ते वंदौ धरि परम हुलास ॥
रेवानदी सिद्धवर कूट, पश्चिम दिशा देह जहँ छूट ।
द्वै चक्री दश कामकुमार, ऊठकोडि वंदौ भव पार ॥
वडवानी वडनयर सुचंग, दक्षिण दिशि गिरि चूल उतंग ।
इंद्रजीत अरु कुंभ जु कर्ण, ते वंदौ भव-सायर-तर्ण ॥
सुवरणभद्र आदि मुनि चार, पावागिरि-वर-शिखरमँझार ।
चेलना-नदी-तीरके पास, मुक्ति गये वंदौ नित तास ॥
फलहोडी वड़गाम अनूप, पश्चिम दिशा द्रोणगिरि रूप ।
गुरुदत्तादि मुनीसुर जहाँ, मुक्ति गये वंदौ नित तहाँ ॥
बाल महाबाल मुनि दोय, नागकुमार मिले त्रय होय ।
श्रीअष्टापद मुक्ति मँझार, ते वंदौ नित सुरत सँभार ॥
अचलापुरकी दिश ईसान, तहाँ मेंढ़गिरि नाम प्रधान ।
साढे तीन कोडि मुनिराय, तिनके चरण नमूं चित लाय ॥
वंसस्थल वनके ढिग होय, पश्चिम दिशा कुंथुगिरि सोय ।
कुलभूषण दिशिभूषण नाम, तिनके चरणनि करूँ प्रणाम ॥
जसरथ राजाके सुत कहे, देश कलिंग पाँचसौ लहे ।
कोटिशिला मुनि कोटि प्रमान, वंदन करूँ जोर जुग पान ॥
समवसरण श्रीपार्श्व-जिनंद, रेसिंदीगिरि नयनानंद ।
वरदत्तादि पंच ऋषिराज, ते वंदौ नित धरम-जिहाज ॥
मथुरापुर पवित्र उद्यान जम्बू स्वामी जी निरवान ।
चरम केवली पंचमकाल, ते वंदो नित दीन दयाल ॥

तीन लोकके तीरथ जहाँ, नित प्रति वंदन कीजै तहाँ ।
मन-वच-कायसहित सिर नाय, वंदन करहि भविक गुण गाय ॥
संवत सतरहसौ इकताल, आश्विन सुदि दशमी सुविशाल ।
'भैया' वंदन करहि त्रिकाल, जय निर्वाणकाड गुणमाल ॥

आलोचनापाठ

दोहा — वंदों पांचों परम-गुरु, चौवीसों जिनराज ।
करूं शुद्ध आलोचना, शुद्धिकरनके काज ॥१॥

सखीछन्द

सुनिये जिन अरज हमारी, हम दोष किये अति भारी ।
तिनकी अब निर्वृत्ति काज, तुम सरन लही जिनराज ॥
इक बे ते चउ इंद्री वा, मनरहित सहित जे जीवा ।
तिनकी नहिं करुणा धारी, निरदई ह्वै घात विचारी ॥
समरंभ समारंभ आरंभ, मन वच तन कीने प्रारंभ ।
कृत कारित मोदन करिकैं, क्रोधादि चतुष्टय धरिकैं ॥
शत आठ जु इमि भेदनतैं, अघ कीने परछेदनतैं ।
तिनकी कहुं कोलों कहानी, तुम जानत केवलज्ञानी ॥
विपरीत एकांत विनयके, संशय अज्ञान कुनयके ।
वश होय घोर अघ कीने, वचतैं नहिं जाय कहीने ॥
कुगुरुनकी सेवा कीनी, केवल अदयाकरि भीनी ।
याविधि मिथ्यात भ्रमायो, चहुंगति मधि दोष उपायो ॥
हिंसा पुनि झूठ जु चोरी, पर-वनितासों दृग जोरी ।
आरंभ परिग्रह भीनो, पन पाप जु या विधि कीनो ॥
सपरस रसना घ्राननको, चखु कान विषय-सेवनको ।
बहु करम किये मनमाने, कछु न्याय अन्याय न जाने ॥
फल पंच उदंबर खाये, मधु मांस मद्य चित चाये ।
नहिं अष्ट मूलगुण धारी, सेये कुविसन दुखकारी ॥
दुइवीस अभख जिन गाये, सो भी निस दिन भुंजाये ।
कछु भेदाभेद न पायो, ज्यों त्यों करि उदर भरायो ॥
अनंतानु जु बंधी जानो, प्रत्याख्यान अप्रत्याख्यानो ।
संज्वलन चौकड़ी गुनिये, सब भेद जु षोडश मुनिये ॥
परिहास अरति रति शोग, भय ग्लानि त्रिवेद संयोग ।

पनवीस जु भेद भये इम, इनके वश पाप किये हम ॥
निद्रावश शयन कराई, सुपने मधि दोष लगाई।
फिर जागि विषय-वन धायो, नानाविध विष-फल खायो ॥
कियेऽहार निहार विहारा, इनमें नहिं जतन विचारा।
विन देखी धरी उठाई, विन शोधी वस्तु जु खाई ॥
तब ही परमाद सतायो, बहुविधि विकलप उपजायो।
कछु सुधि बुधि नाहिं रही है, मिथ्या मति छाय गयी है ॥
मरजादा तुम ढिंग लीनी, ताहूमें दोष जु कीनी।
भिन भिन अब कैसें कहिये, तुम ज्ञानविषैं सब पइये ॥
हा हा! मैं दुठ अपराधी, त्रस-जीवन-राशि विराधी।
थावरकी जतन न कीनी, उरमें करुना नहिं लीनी ॥
पृथिवी बहु खोद कराई, महलादिक जागां चिनाई।
पुनि विन गाल्यो जल ढोल्यो, पंखातैं पवन विलोल्यो ॥
हा हा! मैं अदयाचारी, बहु हरितकाय जु विदारी।
तामधि जीवनके खंदा, हम खाये धरि आनंदा ॥
हा हा! परमाद बसाई, विन देखे अगनि जलाई।
तामध्य जीव जे आये, ते हू परलोक सिधाये ॥
बीध्यो अन राति पिसायो, ईंधन बिन सोध जलायो।
झाड़ू ले जागां बुहारी, चिंउटी आदिक जीव विदारी ॥
जल छानि जिवानी कीनी, सो हू पुनि डारि जु दीनी।
नहिं जल-थानक पहुँचाई, किरिया विन पाप उपाई ॥
जल मल मोरिन गिरवायो, कृमि-कुल बहु घात करायो।
नदियन बिच चीर धुवाये, कोसनके जीव मराये ॥
अन्नादिक शोध कराई, तामैं जु जीव निसराई।

तिनका नहिं जतन कराया, गलियारै धूप डराया ॥
पुनि द्रव्य कमावन काजै, बहु आरंभ हिंसा साजै ।
किये अघ तिसनावश भारी, करुना नहिं रंच विचारी ॥
इत्यादिक पाप अनंता, हम कीने श्री भगवंता ।
संतति चिरकाल उपाई, वानी तें कहिय न जाई ॥
ताको जु उदय अब आयो, नानाविध मोहि सतायो ।
फल भुंजत जिय दुख पावै, वचनैं कैसें करि गावै ॥
तुम जानत केवलज्ञानी, दुख दूर करो शिवथानी ।
हम तो तुम शरण लही है, जिन तारन विरद सही है ॥
जो गांवपती इक होवे, सो भी दुखिया दुख खोवै ।
तुम तीन भुवनके स्वामी, दुख मेटहु अंतरजामी ॥
द्रोपदिको चीर बढ़ायो, सीताप्रति कमल रचायो ।
अंजनसे किये अकामी, दुख मेटो अंतरजामी ॥
मेरे अवगुन न चितारो, प्रभु अपनो विरद सम्हारो ।
सब दोषरहित करि स्वामी, दुख मेटहु अंतरजामी ॥
इंद्रादिक पदवी नहिं चाहूं, विषयनिमें नाहिं लुभाऊँ ।
रागादिक दोष हरीजै, परमातम निज-पद दीजै ॥

दोहा

दोषरहित जिनदेवजी, निजपद दीज्यो मोय ।
सब जीवनके सुख बढ़ै, आनंद मंगल होय ॥
अनुभव माणिक पारखी, 'जौहरि' आप जिनन्द ।
यही वर मोहि दीजिये, चरन शरन आनन्द ॥

सामायिक पाठ भाषा

प्रथम प्रतिक्रमण कर्म

काल अनन्त भ्रम्यो जग में सहिये दुःख भारी।
जन्म मरण नित किये पाप को है अधिकारी॥
कोटि भवान्तर मांहि मिलन दुर्लभ सामायिक।
धन्य आज मैं भयो जोग मिलियो सुखदायिक॥ १॥
हे सर्वज्ञ जिनेश! किये जे पाप जु मैं अब।
ते सब मनवचकाय योग की गुप्ति बिना लभ॥
आप समीप हजूर मांहि मैं खड़ो-खड़ो सब।
दोष कहूँ सो सुनो करो नठ दुःख देहि जब॥ २॥
क्रोध मान मद लोभ मोह मायावशि प्रानी।
दुःख सहित जे किये दया तिनकी नहिं आनी॥
बिना प्रयोजन एकेन्द्रिय बितिचउपंचेन्द्रिय।
आप प्रसादहिं मिटै दोष जो लग्यो मोहि जिय॥ ३॥
आपस में इकठौर थाप करि जे दुःख दीने।
पेलि दिए पगतलै दावि करि प्राण हरीने॥
आप जगतके जीव जिते तिन सबके नायक।
अरज करूँ मैं सुनो दोष मेटो दुःखदायक॥ ४॥
अशन आदिक चोर महा घनघोर पाप मय।
तिनके जे अपराध भये ते क्षमा-क्षमा किय॥
मेरे जे अब दोष भये ते क्षमहु दयानिधि।

यह पडिकोणो कियो आदि षट्कर्म मांहि विधि ॥ ५ ॥

इसके आदि वा अन्त में आलोचना पाठ बोल कर फिर द्वितीय प्रत्याख्यान कर्म का पाठ करना चाहिये।

द्वितीय प्रत्याख्यान कर्म

जो प्रमादवशि होय विराधे जीव घनेरे।
तिनको जो अपराध भयो मेरे अघ ढेरे॥
सो सब झूठो होउ जगतपति के परसादै।
जा प्रसाद तैं मिलै सर्व सुख दुःख न लाधै॥ ६ ॥
मैं पापी निर्लज्ज दया करि हीन महाशठ।
किये पाप अघ ढेर पापमति होय चित्त दुठ॥
निन्दू हूं मैं बार-बार निज जिय को गरहूं।
सब विधि धर्म उपाय पाय फिर पाप न करहूं॥ ७ ॥
दुर्लभ है नर-जन्म तथा श्रावक कुल भारी।
सतसंगति संयोग धर्म जिन श्रद्धा धारी॥
जिन वचनामृत धार समावर्ते जिनवानी।
तोहू जीव संघारे धिक धिक धिक हम जानी॥ ८ ॥
इन्द्रिय लंपट होय खोय निज ज्ञान जमा सब।
अज्ञानी जिमि करै तिसी विधि हिंसक ह्वै अब॥
गमना गमन करन्तो जीव विराधे भोले।
ते सब दोष किये निन्दूं अब मन वच तोले॥ ९ ॥
आलोचन विधि थकी दोष लागे जु घनेरे।
ते सब दोष विनाश होउ तुम तैं जिन मेरे॥
बार-बार इस भांति मोह मद दोष कुटिलता।

ईर्षादिकतैं भये निंदिये जे भयभीता ॥१०॥

तृतीय सामायिक भाव-कर्म

सब जीवन में मेरे समता भाव जग्यो है।
सब जिय मो सम समता राखो भाव लग्यो है॥
आर्त्त रौद्र द्वय ध्यान छांड़ि करिहूं सामायिक।
संजम मो कब शुद्ध होय यह भाव बधायिक ॥११॥
पृथिवी जल अरु अग्नि वायु चउकाय वनस्पति।
पंचहि थावर मांहि तथा त्रस जीव बसैं जिति॥
बे इन्द्रिय तिय चउ पंचेन्द्रिय मांहि जीव सब।
तिनतैं क्षमा कराऊँ मुझ पर क्षमा करौ अब ॥१२॥
इस अवसर में मेरे सब सम कञ्चन अरु तृण।
महल मसान समान शत्रु अरु मित्रहिं समगण॥
जामन मरण समान जानि हम समता कीनी।
सामायिक का काल जितै यह भाव नवीनी ॥१३॥
मेरो है इक आतम तामैं ममत जु कीनो।
और सबै मम भिन्न जानि समता रस भीनो॥
मात पिता सुत बन्धु मित्र तिय आदि सबै यह।
मोतैं न्यारे जानि जथारथ रूप कर्यो गह ॥१४॥
मैं अनादि जगजाल मांहि फँसि रूप न जाण्यो।
एकेन्द्रिय दे आदि जन्तु को प्राण हराण्यो॥
ते सब जीव समूह सुनो मेरी यह अरजी।
भव-भव को अपराध छिमा कीज्यो कर मरजी ॥१५॥

चतुर्थ स्तवन-कर्म

नमौं ऋषभ जिनदेव अजित जिन जीति कर्मको।
सम्भव भवदुःखहरण करण अभिनन्दन शर्मको॥
सुमति सुमति दातार तार भवसिंधु पार कर।
पद्मप्रभ पद्माभ भानि भवभीति प्रीति धर॥१६॥
श्रीसुपार्श्व कृतपाश नाश भव जास शुद्ध कर।
श्रीचन्द्रप्रभ चन्द्रकान्ति सम देह कान्तिधर॥
पुष्पदन्त दमि दोषकोश भविपोष रोषहर।
शीतल शीतल करण हरण भवताप दोषकर॥१७॥
श्रेय रूप जिन श्रेय ध्येय नित सेय भव्यजन।
वासुपूज्य शतपूज्य वासवादिक भवभयहन॥
विमल विमलमति देय अन्तगत है अनन्तजिन।
धर्म-शर्म शिवकरण शान्तिजिन शान्तिविधायिन॥१८॥
कुंथु कुंथुमुख जीवपाल अरनाथ जालहर।
मल्लि मल्लसम मोहमल्लमारण प्रचार धर॥
मुनिसुव्रत व्रतकरण नमत सुरसंघहि नमिजिन।
नेमिनाथ जिन नेमि धर्मरत मांहि ज्ञानघन॥१९॥
पार्श्वनाथ जिन पार्श्व उपलसम मोक्ष रमापति।
वर्द्धमान जिन नमूं वमूं भवदुःख कर्मकृत॥
या विधि मैं जिन संघ रूप चउवीस संख्यधर।
स्तवूं नमूं हूँ बार-बार वंदूं शिव सुखकर॥२०॥

पंचम वन्दना-कर्म

वंदूं मैं जिनवीर धीर महावीर सुसनमति ।
वर्द्धमान अतिवीर वंदि हूं मनवचतन कृत ॥
त्रिशला तनुज महेश धीश विद्यापति वंदूं ।
वंदौं नित प्रति कनकरूप तनु पापनिकन्दूं ॥२१॥
सिद्धारथ नृपनन्द द्वन्द दुःख दोष मिटावन ।
दुरितदवानल ज्वलित ज्वाल जगजीव उधारन ॥
कुण्डलपुर करि जन्म जगत जिय आनंद कारन ।
वर्ष बहत्तर आयु पाय सबही दुःख टारन ॥२२॥
सप्तहस्त तनु तुङ्ग भगकृत जन्म मरण भय ।
बालब्रह्ममय ज्ञेय हेय आदेय ज्ञानमय ॥
दे उपदेश उधारि तारि भवसिंध जीवघन ।
आप बसे शिवमांहि ताहि वंदौं मन वच तन ॥२३॥
जाके वन्दनथकी दोष दुःख दूरहि जावै ।
जाके वन्दनथकी मुक्ति तिय सन्मुख आवै ॥
जाके वन्दनथकी वंद्य होवैं सुरगनके ।
ऐसे वीर जिनेश वंदि हूँ क्रमयुग तिनके ॥२४॥
सामायिक षट्कर्समांहि वन्दन यह पञ्चम ।
वन्दौं वीर जिनेन्द्र इन्द्रशत वंद्य वंद्य मम ॥
जन्ममरणभय हरो करो अघशान्ति शान्तिमय ।
मैं अघकोष सुपोष दोषको दोष विनाशय ॥२५॥
कायोत्सर्ग विधान करूँ अन्तिम सुखदाई ।

काय त्यजन मय होय काय सबको दुःखदाई ॥
पूरब दक्षिण नमूँ दिशा पश्चिम उत्तर मैं ।
जिनगृह वन्दन करूँ हरूँ भवतापतिमिर मैं ॥२६॥
शिरोनती मैं करूँ नमूँ मस्तक कर धरिकैं ।
आवर्तादिक क्रिया करूँ मन वच मद हरिकैं ॥
तीनलोक जिनभवन मांहि जिन हैं जु अकृत्रिम ।
कृत्रिम हैं द्वय अर्द्ध द्वीप नाहीं वन्दौं जिम ॥२७॥
आठकोडि परि छप्पन लाख जु सहस सत्याणूं ।
च्यारि शतक पर असीएक जिनमन्दिर जाणूं ॥
व्यन्तर ज्योतिष मांहिं संख्य रहिते जिनमन्दिर ।
ते सब वन्दन करूँ हरहुँ मम पाप संघकर ॥२८॥
सामायिक सम नाहिं और कोऊ वैर मिटायक ।
सामायिक सम नाहिं और कोऊ मैत्रीदायक ॥
श्रावक अणुव्रत आदि अन्त सप्तम गुणथानक ।
यह आवश्यक किये होय निश्चय दुःखहानक ॥२६॥
जे भवि आतमकाज-करण उद्यम के धारी ।
ते सब काज विहाय करो सामायिक सारी ॥
राग रोष मदमोहक्रोध लोभादिक जे सब ।
बुध 'महाचन्द्र' विलाय जाय तातैं कीज्यो अब ॥३०॥

इति सामायिक पाठ समाप्त ।

पं० भूधरकृत स्तुति

पुलकन्त नयन चकोर पक्षी, हँसत उर इन्दीवरो।
दुर्बुद्धि चकवी विलख विछुड़ी, निविड़ मिथ्यातम हरो॥
आनन्द अम्बुज उमगि उछर्यो, अखिल आतम निरदले।
जिन वदन पूरणचन्द्र निरखत, सकल मनवांछित फले॥
मम आज आतम भयो पावन, आज विघन विनाशिया।
संसार सागर नीर निवट्यो, अखिल तत्व प्रकाशिया॥
अब भई कमला किंकरी, मम उभय भव निर्मल ठये।
दुःख जर्यो दुर्गति वास निवर्यो, आज नव मंगल भये॥
मन हरण मूरति हेरि प्रभु की, कौन उपमा लाइये।
मम सकल तनके रोम हुलसे, हर्ष और न पाइये॥
कल्याण काल प्रत्यक्ष प्रभुको, लखे जो सुर नर घने।
तिह समयकी आनन्द महिमा, कहत क्यों मुखसों बने॥
भर नयन निरखे नाथ तुमको, और वांछा ना रही।
मम सब मनोरथ भये पूरण, रंक मानो निधि लही॥
अब होऊ भव-भव भक्ति तुम्हरी, कृपा ऐसी कीजिये।
कर जोर 'भूधरदास' विनवै, यही वर मोहि दीजिये॥

तव विलंब नहि कियो—स्तुति

दोहा—जासु धर्म परभावसों, संकट कटत अनन्त।
मंगल मूरति देव सो, जैवन्तौ अरहन्त॥
हे करुणानिधि सुजन को, कष्ट विषैं लखि लेत।
तजि विलंब दुःख नष्ट किय, अब विलंब किह हेत॥
तव विलंब नहिं कियो, दियो नमिको रजताचल।
तव विलंब नहिं कियो, मेघवाहन लङ्का थल॥
तव विलंब नहिं कियो, सेठ सुत दारिद भंजै।
तव विलंब नहिं कियो, नागजुग सुरपद रंजै॥
इमि चूर भूरि दुःख भक्तके, सुख पूरे शिवतिय वरन।
प्रभु मोर दुःख नाशनविषै, अब विलंब कारण कवन॥
तव विलंब नहि कियो, सिया पावक जल कीन्हौं।
तव विलंब नहिं कियो, चन्दना शृङ्खल छीन्हौं॥
तव विलंब नहिं कियो, चीर द्रौपदी को वाढ्यो।
तव विलंब नहिं कियो, सुलोचना गंगा काढ्यो॥ इमि
तव विलंब नहि कियो, सांप कियो कुसुम सुमाला।
तव विलंब नहिं कियो, उर्मिला सुरथ निकाला॥
तव विलंब नहिं कियो, शीलवल फाटक खुल्ले।
तव विलंब नहिं कियो, अञ्जना वन मन फुल्ले॥ इमि
तव विलंब नहिं कियो, सेठ सिंहासन दीन्हौं।
तव विलंब नहिं कियो, सिंधु श्रीपाल कढ़ीन्हों॥

तब विलंब नहिं कियो, प्रतिज्ञा वज्रकर्ण पल।
तब विलंब नहिं कियो, सुधन्ना काढ़ि वापि थल॥ इमि०
तब विलंब नहिं कियो, कंस भय त्रिजग उबारे।
तब विलंब नहिं कियो, कृष्णसुत शिला उधारे॥
तब विलंब नहिं कियो, खड्ग मुनिराज बचायो।
तब विलंब नहिं कियो, नीर मातंग उचायो॥ इमि०
तब विलंब नहिं कियो, सेठसुत निर विष कीन्हों।
तब विलंब नहिं कियो, मानतुंग बंध हरीन्हों॥
तब विलंब नहि कियो, वादिमुनि कोढ़ मिटायो।
तब विलंब नहिं कियो, कुमुद निज पास कटायो॥ इमि०
तब विलंब नहिं कियो, अञ्जना चोर उबार्यो।
तब विलंब नहिं कियो, पूरवा भील सुधार्यो॥
तब विलंब नहिं कियो, गृद्ध पक्षी सुन्दर तन।
तब विलंब नहिं कियो, भेक दिय सुर अद्भुत तन॥ इमि०
इहविधि दुःख निरवार, सारसुख प्रापति कीन्हों।
अपनो दास निहारि, भक्तवत्सल गुण चीन्हों॥
अब विलंब किहिं हेत. कृपा कर इहां लगाई।
कहा सुनो अरदास नाहिं, त्रिभुवन के राई॥
जनवृन्द सु मनवचतन अबै, गही नाथ तुम पदशरन।
सुधि ले दयाल मम हाल पै, कर मंगल मंगलकरन॥ इमि०

स्तुति

[कविवर दौलतरामजी]

दोहा

सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि, निजानन्द-रस-लीन ।
सो जिनेन्द्र जयवंत नित, अरि-रज-रहस-विहीन ॥१॥

जय वीतराग विज्ञान-पूर, जय मोह-तिमिरको हरन सूर ।
जय ज्ञान अनंतानंत धार, दृग-सुख-वीरज-मण्डित अपार ॥
जय परम शांत मुद्रा समेत, भवि-जनको निज अनुभूति हेत ।
भवि-भागनवश जोगे वशाय, तुम धुनि ह्वै सुनि विभ्रम नशाय ॥
तुम गुण चिंतत निज-पर-विवेक, प्रगटै विघटै आपद अनेक ।
तुम जग-भूषण दूषण-वियुक्त, सब महिमायुक्त विकल्प-मुक्त ॥
अविरुद्ध शुद्ध चेतनस्वरूप, परमातम परम पावन अनूप ।
शुभ अशुभ विभाव अभाव कीन, स्वाभाविक परिणतिमय अछीन
अष्टादश दोष विमुक्त धीर, स्व चतुष्टयमय राजत गभीर ।
मुनि गणधरादि सेवत महंत, नव केवल-लब्धि-रमा धरंत ॥
तुम शासन सेय अमेय जीव, शिव गये जाहिं जैंहै सदीव ।
भव-सागरमें दुख छार वारि, तारनको अवर न आप टारि ॥
यह लखि निज दुख-गद-हरण-काज, तुम ही निमित्त कारण इलाज
जाने तातें मैं शरण आय, उचरों निज दुख जो चिर लहाय ॥
मैं भ्रम्यो अपनपो विसरि आप, अपनाये विधि-फल-पुण्य-पाप
निजको परको करता पिछान, परमें अनिष्टता इष्ट ठान ॥

आकुलित भयो अज्ञान धारि, ज्यों मृग मृग-तृष्णा जानि वारि
तन-परणतिमें आपो चितार, कबहूं न अनुभवो स्व-पदसार ॥
तुमको विन जाने जो क्लेश, पाये सो तुम जानत जिनेश ।
पशु-नारक-नर-सुर-गति-मझार, भव धर धर मर्‍यो अनंत बार॥
अब काललब्धि बलतैं दयाल, तुम दर्शन पाय भयो खुशाल।
मन शांत भयो मिटि सकल द्वन्द, चाख्यो स्वातमरस दुखनिकंद ॥
तातैं अब ऐसी करहु नाथ, बिछुरै न कभी तुअ चरण साथ ।
तुम गुणगणको नहिं छेव देव, जग तारन को तुम विरद एव ॥
आतमके अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय ।
मैं रहूं आपमें आप लीन, सो करो होउं ज्यों निजाधीन ॥
मेरे न चाह कछु और ईश, रत्नत्रय-निधि दीजे मुनीश ।
मुझ कारजके कारन सु आप, शिव करहु हरहु मम मोह-ताप ॥
शशि शांतिकरन तप हरन हेत, स्वयमेव तथा तुम कुशल देत।
पीवत पियूष ज्यों रोग जाय, त्यों तुम अनुभवतैं भव नशाय॥
त्रिभुवन तिहुंकाल मंझार कोय, नहि तुम बिन निज सुखदाय होय
मो उर यह निश्चय भयो आज, दुखजलधि उतारन तुम जिहाज॥

दोहा —

तुम गुणगण-मणिगणपती, गणत न पावहिं पार ।
'दौल' स्वल्प-मति किमि कहै, नमूं त्रियोग संभार ॥

दुःखहरण स्तुति

श्रीपति जिनवर करुणा यतनं, दुःखहरण तुम्हारा बाना है।
मत मेरी बार अबार करो, मोहि देहु विमल कल्याना है ॥ टेक॥
त्रैकालिक वस्तु प्रत्यक्ष लखो, तुमसों कछु बात न छाना है।
मेरे उर आरत जो वर्तं, निहचै सब सो तुम जाना है॥
अवलोक विथा मत मौन गहो, नहीं मेरा कहीं ठिकाना है।
हो राजिवलोचन सोचविमोचन, मैं तुमसों हित ठाना है॥ श्री०
सब ग्रन्थनि में निरग्रन्थनि ने, निरधार यही गणधार कही।
जिननायक ही सब लायक है, सुखदायक क्षायक ज्ञानमही ॥
यह बात हमारे कान परी, तब आन तुमारी शरण गही।
क्यों मेरी बार विलंब करो, जिननाथ सुनो यह बात सही॥ श्री०
काहू को भोग मनोग करो, काहू को स्वर्ग विमाना है।
काहू को नाग नरेशपति, काहू को ऋद्धि निधाना है॥
अब मो पर क्यों न कृपा करते, यह क्या अन्धेर जमाना है।
इनसाफ करो मत देर करो, सुखवृन्द भजो भगवाना है॥ श्री०
खल कर्म मुझे हैरान किया, तब तुम सों आन पुकारा है।
तुम ही समरथ नहीं न्याय करो, तब बन्देका क्या चारा है॥
खल घातक पालक बालक का, नृप नीति यही जगसारा है।
तुम नीतिनिपुण त्रैलोकपती, तुमही लगि दौर हमारा है॥ श्री०
जबसे तुमसे पहिचान भई, तबसे तुमही को माना है।
तुमरे ही शासन का स्वामी, हमको सच्चा सरधाना है॥
जिनको तुमरी शरणागत है, तिनसों जमराज डराना है।
यह सुजस तुम्हारे सांचे का, सब गावत वेद पुराना है॥ श्री०

जिसने तुमसे दिलदर्द कहा, तिसका तुमने दुःख हाना है।
अघ छोटा मोटा नाशि तुरत, सुख दिया तिन्हें मनमाना है॥
पावकसों शीतल नीर किया, और चीर बढ़ा असमाना है।
भोजन था जिसके पास नहीं, सो किया कुबेर समाना है॥ श्री०
चिंतामण पारस कल्पतरु, सुखदायक ये परधाना है।
तव दासन के सब दास यही, हमरे मन में ठहराना है॥
तुम भक्तन को सुरइन्द्रपदी, फिर चक्रवर्तिपद पाना है।
क्या बात कहौं विस्तार बढ़े, वे पावैं मुक्ति ठिकाना है॥ श्री०
गति चार चौरासी लाख विषैं, चिन्मूरत मेरा भटका है।
हो दीनबन्धु करुणा-निधान, अबलौं न मिटा वह खटका है॥
जब जोग मिला शिव साधनका, तब विघन कर्मने हटका है।
अब विघन हमारे दूर करो, सुख देहु निराकुल घटका है॥ श्री०
गजग्राहग्रसित उद्धार लिया, ज्यों अंजन तस्कर तारा है।
ज्यों सागर गोपदरूप किया, मैना का संकट टारा है॥
ज्यों शूलीतैं सिंहासन, और बेडी को काट विडारा है।
त्यों मेरा संकट दूर करो, प्रभु मोकूं आस तुम्हारा है॥ श्री०
ज्यों फाटक टेकत पाय खुला, और साँप सुमन कर डारा है।
ज्यों खड्ग कुसुमका माल किया, बालकका जहर उतारा है॥
ज्यों सेठ विपति चकचूरपूर, घर लक्ष्मी सुख विस्तारा है।
त्यों मेरा संकट दूर करो, प्रभु मोकू आस तुम्हारा है॥ श्री०
यद्यपि तुमरे रागादि नहीं, यह सत्य सर्वथा जाना है।
चिन्मूरति आप अनन्तगुणी, नित शुद्ध दशा शिव थाना है॥
तदपि भक्तन की पीर हरो, सुख देत तिन्हें जु सुहाना है।

यह शक्ति अचिन्त्य तुम्हारी का, क्या पावे पार सयाना है ॥ श्री०
दुःखखण्डन श्री सुखमण्डन का, तुमरा प्रण परम प्रमाणा है।
वरदान दया जस कीरत का, तिहुँ लोक धुजा फहराना है ॥
कमलाधरजी ! कमलाकरजी, करिये कमला अमलाना है।
अब मेरी विथा अवलोकि रमापति, रंच न वार लगाना है ॥ श्री०
हो दीनानाथ अनाथ हितू, जन दीन अनाथ पुकारी है।
उदयागत कर्मविपाक हलाहल, मोह विथा विस्तारी है ॥
ज्यों आप और भवि जीवनकी, ततकाल विथा निरवारी है।
त्यों 'वृन्दावन' यह अर्ज करै, प्रभु आज हमारी बारी है ॥ श्री९

दौलत पद

अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ,
ज्यों शुक नभचाल विसरि नलिनी लटकायो । अपनी०
चेतन अविरुद्ध शुद्ध दरशबोधमय विशुद्ध,
तजि जड-रसफरस रूप, पुद्गल अपनायो ॥ अपनी०
इन्द्रिय सुख-दुख में नित्त, पाग रागरुखमें चित्त,
दायक भवविपतिवृन्द, बन्धको बढ़ायो । अपनी०
चाहदाह दाहै, त्यागौ न ताह चाहै,
समता-सुधा न गाहै जिन, निकट जो बतायौ । अपनी०
मानुषभव सुकुल पाय, जिनवरशासन लहाय
'दौल' निजस्वभाव भज अनादि जो न ध्यायौ। अपनी०

समाधिमरण भाषा

गौतम स्वामी बन्दौं नामी मरण समाधि भला है ।
मैं कब पाऊँ निशिदिन ध्याऊँ गाऊँ वचन कला है ॥
देव धर्म गुरु प्रीति महा दृढ़ सप्त व्यसन नहिं जाने ।
त्यागि बाइस अभक्ष संयमी बारह व्रत नित ठाने ॥ १ ॥
चक्की उखरी चूलि बुहारी पानी त्रस न विराधै ।
बनिज करै पर द्रव्य हरै नहिं छहों करम इमि साधै ॥
पूजा शास्त्र गुरुन की सेवा संयम तप चहुँ दानी ।
पर उपकारी अल्प अहारी सामायक विधि ज्ञानी ॥ २ ॥
जाप जपै तिहुँ योग धरै दृढ़ तनकी ममता टारै ।
अन्त समय वैराग्य सम्हारै ध्यान समाधि विचारै ॥
आग लगै अरु नाव डूबै जब धर्म विघन जब आवै ।
चार प्रकार आहार त्यागि के मन्त्र सु मनमें ध्यावै ॥ ३ ॥
रोग असाध्य जहां बहु देखै कारण और निहारै ।
बात बड़ी है जो बनि आवै भार भवनको टारै ॥
जो न बनै तो घरमें रह करि सबसों होय निराला ।
मात पिता सुत त्रियको सौंपै निज परिग्रह इहिकाला ॥४॥
कुछ चैत्यालय कुछ श्रावकजन कुछ दुःखिया धन देई ।
क्षमा क्षमा सबहीं सों कहिके मनकी शल्य हनेई ॥
शत्रुन सों मिल निज कर जोरै मैं बहु करिहै बुराई ।

तुमसे प्रीतमको दुःख दीने ते सब छमियो भाई ॥ ५ ॥
धन धरती जो मुखसों मांगै सो सब दे सन्तोषै ।
छहों कायके प्राणी ऊपर करुणा भाव विशेषै ॥
ऊँच नीच घर बैठ जगह इक कुछ भोजन कुछ पय लै ।
दूधाहारी क्रम क्रम तजिके छाछ आहार गहे लै ॥ ६ ॥
छाछ त्यागिके पानी राखै पानी तजि संथारा ।
भूमि मांहि थिर आसन मांडै साधर्मी ढिग प्यारा ॥
जब तुम जानो यह न जपै है तब जिनवाणी पढ़िये ।
यों कहि मौन लियौ सन्यासी पंच परम पद गहिये ॥ ७ ॥
चौ आराधन मनमें ध्यावै बारह भावन भावै ।
दशलक्षण मुनि धर्म विचारै रत्नत्रय मन ल्यावै ॥
पैंतीस सोलह षट् पन चारों दुइ इक वरण विचारै ।
काया तेरी दुःख की ढेरी ज्ञानमयी तूं सारे ॥ ८ ॥
अजर अमर निज गुणसों पूरे परमानन्द सु भावै ।
आनन्द कन्द चिदानन्द साहब तीन जगपति ध्यावै ॥
क्षुधा तृषादिक होय परीषह सहै भावसम राखै ।
अतीचार पांचों सब त्यागे ज्ञान सुधारस चाखै ॥९॥
हाड़ मांस सब सूख जाय जब धर्मलीन तन त्यागै ।
अद्भुत पुण्य उपाय स्वर्ग में सेज उठै ज्यों जागै ॥
तहँतै आवै शिव पद पावै विलसै सुक्ख अनन्तो ।
'द्यानत' यह गति होय हमारी जैन-धर्म जयवन्तो ॥१०॥

वैराग्य भावना

दोहा—बीज राख फल भोगवै, ज्यों किसान जगमांहिं।
त्यो चक्री नृप सुख करै, धर्म विसारै नाहिं॥

योगीरासा छन्द।

इह विधि राज करै नरनायक, भोगै पुण्य विशालो।
सुखसागर में रमत निरन्तर, जात न जान्यो कालो॥
एक दिवस शुभ कर्म संजोगे, क्षेमंकर मुनि वन्दे।
देखे श्रीगुरु के पदपङ्कज, लोचन अलि आनन्दे॥
तीन प्रदक्षिणा दे शिर नायो, करि पूजा थुति कीनी।
साधु समीप विनय करि बैठ्यो, चरणनमें दिठि दीनी॥
गुरु उपदेश्यो धर्म-शिरोमणि, सुन राजा वैरागे।
राजरमा वनितादिक जे रस, ते रस बेरस लागे॥
मुनि सूरज कथनी किरणावलि, लगत भरम बुधि भागी।
भवतन भोगस्वरूप विचारो, परम धरम अनुरागी॥
इह संसार महावन भीतर, भ्रमते ओर न आवै।
जामन मरण जरा दौं दाझै, जीव महा दुःख पावै॥
कबहूँ जाय नरक थिति भुंजै, छेदन भेदन भारी।
कबहूँ पशु परजाय धरै तहँ, वध बन्धन भयकारी॥
सुरगति में परसम्पति देखे, राग उदय दुःख होई।
मानुष योनि अनेक विपतिमय, सर्व सुखी नहिं कोई॥
कोई इष्ट वियोगी बिलखै, कोई अनिष्ट संयोगी।
कोई दीन दरिद्री विगुचे, कोई तन के रोगी॥
किसही घर कलिहारी नारी कै वैरी सम भाई।

किसही के दुःख बाहिर दीसै, किसही उर दुचिताई ॥
कोई पुत्र बिना नित झूरै, होय मरै तब रोवै ।
खोटी संततिसों दुःख उपजै, क्यों प्राणी सुख सोवै ॥
पुण्य उदय जिनके तिनके भी, नाहिं सदा सुखसाता ।
यह जगवास जथारथ देखे, सब दीखै दुःखदाता ॥
जो संसार विषै सुख होतो. तीर्थंकर क्यों त्यागै ।
काहे को शिव साधन करते, संजम सों अनुरागै ॥
देह अपावन अथिर घिनावन, यामैं सार न कोई ।
सागर के जलसों शुचि कीजै, तो भी शुद्ध न होई ॥
सात कुधातु भरी मल मूरति, चाम लपेटी सोहै ।
अन्तर देखत या सम जगमें, और अपावन को है ॥
नवमलद्वार स्रवै निशिवासर, नाम लिये घिन आवै ।
व्याधि उपाधि अनेक जहाँ तहँ, कौन सुधी सुख पावै ॥
पोषत तो दुःख दोष करै अति, सोषत सुख उपजावै ।
दुर्जन देह स्वभाव बराबर, मूरख प्रीति बढ़ावै ॥
राचनजोग स्वरूप न याको, विरचन जोग सही है ।
यह तन पाय महा तप कीजै, यामैं सार यही है ॥
भोग बुरे भव रोग बढ़ावै, बैरी है जग जीके ।
बेरस होय विपाक समय अति, सेवत लागै नीके ॥
वज्र अग्नि विषसे विषधरसे. ये अधिके दुःखदाई ।
धर्मरतन के चोर चपल अति, दुर्गति पंथ सहाई ॥
मोह उदय यह जीव अज्ञानी, भोग भले कर जानै ।
ज्यों कोई जन खाय धतूरा. सो सब कञ्चन मानै ॥

ज्यों-ज्यो भोग संयोग मनोहर, मनवांछित जन पावै।
तृष्णा नागिन त्यों त्यों डंकै, लहर जहर की आवे॥
मैं चक्रीपद पाय निरन्तर, भोगे भोग घनेरे।
तौ भी तनक भये नहिं पूरण, भोग मनोरथ मेरे॥
राज समाज महा अघकारण, वैर बढ़ावन हारा।
वेश्यासम लछमी अति चञ्चल, याका कौन पत्यारा॥
मोह महारिपु वैर विचार्यो, जगजिय सङ्कट डारे।
घर कारागृह वनिता वेड़ी, परिजन जन रखवारे॥
सम्यक्दर्शन ज्ञानचरण तप, ये जिय के हितकारी।
येही सार असार और सब, यह चक्री चितधारी॥
छोड़े चौदह रत्न नवोंनिधि अरु छोड़े संग साथी॥
कोड़ि अठारह घोड़े छोड़े, चौरासी लख हाथी॥
सहस छियानवे रानी छोडी, अरु छोडा घर बारा।
सकल अवस्था ऐसे त्यागी, ज्यो जल बीच बतासा॥
इत्यादिक सम्पत्ति बहुतेरी, जीरणतृण सम त्यागी।
नीति विचार नियोगी सुतको, राज दियो बड़भागी॥
होय निःशल्य अनेक नृपति संग, भूषणवसन उतारे।
श्रीगुरु चरण धरी जिन मुद्रा, पंच महाव्रत धारे॥
धनि यह समझ सुबुद्धि जगोत्तम, धनि यह धीरज धारी।
ऐसी सम्पति छोड़ बसे वन, तिनपद धोक हमारी॥
दोहा—परिग्रह पोट उतार सब, लीनों चारित पंथ।
निज स्वभावमें थिर भये, बज्रनाभि निरग्रन्थ॥

मेरी भावना

जिसने राग दोष कामादिक जीते सब जग जान लिया।
सब जीवोंको मोक्षमार्गका निस्पृह हो उपदेश दिया॥
बुद्ध वीर जिन हरि हर ब्रह्मा या उसको स्वाधीन कहो।
भक्ति-भावसे प्रेरित हो यह चित्त उसीमें लीन रहो॥
विषयोंकी आशा नहिं जिनके साम्य-भाव धन रखते हैं।
निज-परके हित-साधनमें जो निश-दिन तत्पर रहते हैं॥
स्वार्थ-त्यागकी कठिन तपस्या बिना खेद जो करते हैं।
ऐसे ज्ञानी साधु जगतके दुख-समूहको हरते हैं॥
रहे सदा सत्संग उन्हींका ध्यान उन्हींका नित्य रहे।
उनहीं जैसी चर्यामें यह चित्त सदा अनुरक्त रहे॥
नहीं सताऊँ किसी जीवको झूठ कभी नहिं कहा करूँ।
परधन-वनितापर न लुभाऊँ, संतोषामृत पिया करूँ॥
अहंकारका भाव न रक्खूँ नहीं किसीपर क्रोध करूँ।
देख दूसरोंकी बढ़तीको कभी न ईर्षा-भाव धरूँ॥
रहे भावना ऐसी मेरी सरल-सत्य-व्यवहार करूँ।
बने जहां तक इस जीवनमें औरोंका उपकार करूँ॥
मैत्रीभाव जगतमें मेरा सब जीवोंसे नित्य रहे।
दीन-दुखी जीवोंपर मेरे उरसे करुणा-स्रोत बहे॥
दुर्जन-क्रूर-कुमार्गरतों पर क्षोभ नही मुझको आवे।
साम्यभाव रक्खूँ मै उनपर, ऐसी परिणति हो जावे॥
गुणी जनोंको देख हृदयमें मेरे प्रेम उमड आवे।
बने जहांतक उनकी सेवा करके यह मन सुख पावे॥

होऊँ नहीं कृतघ्न कभी मैं द्रोह न मेरे उर आवे।
गुण-ग्रहणका भाव रहै नित दृष्टि न दोषोंपर जावे॥
कोई बुरा कहो या अच्छा लक्ष्मी आवे या जावे।
लाखों वर्षों तक जीऊ या मृत्यु आज ही आ जावे॥
अथवा कोई कैसा ही भय या लालच देने आवे।
तो भी न्याय-मार्गसे मेरा कभी न पद डिगने पावे॥
होकर सुखमें मग्न न फूले दुखमें कभी न घबरावे।
पर्वत-नदी श्मशान भयानक अटवीसे नहिं भय खावे॥
रहै अडोल-अकम्प निरंतर यह मन दृढ़तर बन जावे।
इष्टवियोग-अनिष्टयोगमें सहन-शीलता दिखलावे॥
सुखी रहै सब जीव जगतके कोई कभी न घबरावे।
वैर-पाप अभिमान छोड़ जग नित्य नये मंगल गावे॥
घर-घर चर्चा रहै धर्मकी दुष्कृत दुष्कर हो जावे।
ज्ञान-चरित उन्नत कर अपना मनुज-जन्म-फल सब पावे॥
ईति भीति व्यापै नहि जगमे वृष्टि समयपर हुआ करै।
धर्मनिष्ठ होकर राजा भी न्याय प्रजाका किया करै॥
रोग मरी दुर्भिक्ष न फैले प्रजा शांतिसे जिया करै।
परम अहिंसा—धर्म जगतमें फैल सर्व-हित किया करै॥
फैले प्रेम परस्पर जगमें मोह दूर ही रहा करै।
अप्रिय कटुक कठोर शब्द नहिं कोई मुखसे कहा करै॥
बनकर सब 'युगवीर' हृदयसे देशोन्नति रत रहा करैं।
वस्तु-स्वरूप-विचार खुशीसे सब दुख-संकट सहा करै॥

भजन

श्रीसिद्धचक्रकापाठकरोदिनआठ,ठाटसेप्राणी,फलपायोमैनारानी।। टेक

मैना सुन्दरि एक नारी थी, कोढ़ी पति लखि दुःखियारी थी।
नहि पडे चैन दिन रैन व्यथित अकुलानी, फल पायो मैना रानी ॥
जो पति का कष्ट मिटाऊंगी, तो उभय लोक सुख पाऊँगी।
नहि अजागलस्तनवत निष्फल जिन्दगानी, फल पायो मैना रानी ॥
इक दिवस गई जिन मन्दिर मे, दर्शन करि अति हर्षी उर मे।
फिर लखे साधु निर्ग्रन्थ दिगम्बर ज्ञानी, फल पायो मैना रानी ॥
बैठी मुनि को कर नमस्कार, निज निन्दा करती बार-बार।
भरि अश्रु नयन कहि मुनिसो दुःखद कहानी, फल पायो मैना रानी ॥
बोले मुनि पुत्री धैर्य धरो, श्री सिद्धचक्र का पाठ करो।
नहि रहे कुष्ट की तन मे नाम निशानी, फल पायो मैना रानी ॥
सुनि साधु वचन हर्षी मैना, नहि होय झूठ मुनि के बैना।
करिके श्रद्धा श्री सिद्धचक्र की ठानी, फल पायो मैना रानी ॥
जब पर्व अठाई आया है, उत्सवयुक्त पाठ कराया है।
सबके तन छिड़का यन्त्र न्हवन का पानी, फल पायो मैना रानी ॥
गन्धोदक छिड़कत वसु दिन मे, नहि रहा कुष्ट किंचित तन मे।
भई सात शतक की काया स्वर्ण समानी, फल पायो मैना रानी ॥
भव भोगि-भोगि योगेश भये, श्रीपाल कर्म हनि मोक्ष गये।
दूजे भव मैना पावे शिव रजधानी, फल पायो मैना रानी ॥
जो पाठ करे मन वच तन से, वे छूटि जाय भव बन्धन से।
'मक्खन' मत करो विकल्प कहा जिनवानी, फल पायो मैना रानी ॥

आराधना पाठ

मै देव नित अरहन्त चाहूं, सिद्ध का सुमिरण करौ।
मै सूर गुरु मुनि तीन पद, मैं साधुपद हिरदय धरौ॥
मैं धर्म करुणामयी चाहूँ, जहा हिंसा रञ्च ना।
मैं शास्त्र ज्ञान विराग चाहूं, जासु मे परपञ्च ना॥ १॥

चौबीस श्रीजिनदेव चाहूं, और देव न मन वसै।
जिन बीस क्षेत्र विदेह चाहूँ, वन्दिते पातिक नसै॥
गिरिनार शिखर सम्मेद चाहूं, चम्पापुरी पावापुरी।
कैलाश श्रीजिन-धाम चाहूँ, भजत भाजे भ्रम जुरी॥ २॥

नवतत्व का सरधान चाहूं, और तत्व न मन धरौ।
षट् द्रव्य गुण परिजाय चाहूँ, ठीक तासो भय हरौ॥
पूजा परम जिनराज चाहूँ, और देव नही सदा।
तिहुँकाल की मैं जाप चाहूँ, पाप नहि लागे कदा॥ ३॥

सम्यक्त दरशन ज्ञान चारित, सदा चाहूं, भावसो।
दशलक्षणी मैं धर्म चाहूं, महा हर्ष उछावसो॥
सोलह जु कारण दुःख निवारण, सदा चाहूं प्रीतिसो।
मै चित्त अठाई पर्व चाहूं, महा मङ्गल रीतिसो॥ ४॥

मै वेद चारो सदा चाहूँ, आदि अन्त निवाहसो।
पाए धरम के चार चाहूँ, अधिक चित्त उछाहसो॥
मैं दान चारो सदा चाहूँ, भुवन वशि लाहो लहूँ।
आराधना मैं चारि चाहूँ, अन्त मे जेई गहूँ॥ ५॥

भावना बारह सदा भाऊँ, भाव निर्मल होत है।
मैं व्रत जु बारह सदा चाहूँ, त्याग भाव उद्योत हैं॥
प्रतिमा दिगम्बर सदा चाहूँ, ध्यान आसन सोहना।
वसुकर्म तें मैं छुटा चाहूँ, शिव लहूँ जहं मोहना॥ ६॥

मैं साधुजन को संग चाहूँ, प्रीति तिनही सों करो।
मैं पर्व के उपवास चाहूँ, सब आरम्भै परिहरौं॥
इस दुःख पंचमकाल माहीं, कुल श्रावक मैं लहो।
अरु महाव्रत धरि सकों नाहीं, निबल तन मैंने गहो॥ ७॥

आराधना उत्तम सदा चाहूँ, सुनो जिनरायजी।
तुम कृपानाथ अनाथ 'द्यानत', दया करना नाथजी॥
वसुकर्म नाश विकाश ज्ञान, प्रकाश मोको कीजिये।
करि सुगति गमन समाधिमरण, सुभक्ति चरणन दीजिए॥ ८॥

मरण भय

मरण क्या है? दस प्राणों का वियोग हो जाना ही तो मरण है। पाँच इन्द्रिय, तीन बल, एक आयु और एक श्वासोच्छ्वास इनका वियोग होते ही मरण होता है। परन्तु यह अनाद्यनन्त, नित्योद्यत और ज्ञानस्वरूपी अपने को चिन्तवन करता है। एक चेतना ही उसका प्राण है। तीन काल में उसका वियोग नहीं होता। अतः चेतनामयी ज्ञानात्मा के ध्यान से उसे मरण का भी भय नहीं होता। इस प्रकार सात भयों में से यह किसी प्रकार भय नहीं करता। अतः सम्यग्दृष्टि पूर्णतया निर्भय है।

—'वर्णी वाणी' से

अठाईरासा

प्राणी वरत अठाई जे करै, ते पावें भव पार ॥ प्राणी०

जम्बूद्वीप सुहावनो, लख योजन विस्तार ।
भरतक्षेत्र दक्षिण दिशा, पोदनपुर हित सार ॥ प्राणी०
विद्यापति विद्या धरी, सोमा रानी राय ।
समकित श्रावक व्रत धरै, धर्म सुने अधिकाय ॥ प्राणी०
चारण मुनि तहा, पारणे आये राजा गेह ।
सोमा राणी आहार दे, पुण्य बढ़ो अति नेह ॥ प्राणी०
तिस समय नभ मे देवता, चले जात विमान ।
जय जय शब्द भयो, घनो मुनिवर पूछो ज्ञान ॥ प्राणी०
मुनिवर बोले राय सुनि, नन्दीश्वर सुर जात ।
जे नर करहि स्वभाव सो, ते होवे शिवकन्त ॥ प्राणी०
यही वचन रानी सुने, मन मे भयो आनन्द ।
नन्दीश्वर पूजा करै, ध्यावै आदि जिनेन्द्र ॥ प्राणी०
कार्तिक फाल्गुन षाढ़ मे, पालौ मन वच देह ।
बसु दिन बसु पूजा करै, तीन भवान्तर लेह ॥ प्राणी०
विद्यापति सुनि चालियौ, रच्यो विमान अनूप ।
रानी वरजै राय को, तुम तो मानुष भूप ॥ प्राणी०

मानुषोत्तर लघंत नहीं, मानुष जाती जात ।
जिनवाणी निश्चय सही, तीन भुवन विख्यात ॥ प्राणी०

सो विद्यापति ना रहो, चलो नन्दीश्वर द्वीप ।
मानुषोत्तर गिरिसो मिलो, जायो न जाय महीप ॥ प्राणी०

मानुषोत्तर से भेंटते, परो धरणि सिर भार ।
विद्यापति मद झरियो, देव भयो सुरसार ॥ प्राणी०

द्वीप नन्दीश्वर छिनक मे, पूजा वसु विधि ठान ।
करी सुमन वच काय से, माला पहनी आन ॥ प्राणी०

विद्यापति को रूप धरि, परखन रानी वात ।
आनन्द सो घर आइयो, नन्दीश्वर करि जात ॥ प्राणी०

रानी बोले रायसों, यह तो कबहुं न होय ।
जिनवाणी मिथ्या नहीं, निश्चय मन में सोय ॥ प्राणी०

नन्दीश्वर जयमाल को, राय दिखाई आणि ।
अब सांचों मोहि जानियो, पूजा करी बहुमान ॥ पाणी०

रानी फिर तासों कहै, यह भव परसै नाहिं ।
पश्चिम सूरज ऊगई, हो विष अमृत माहिं ॥ प्राणी०

चन्द अंगारा जो भरे, निशा कमल उपजन्त ।
रवि अन्धेरा जो करे, बालू घी निकलन्त ॥ प्राणी०

पुनि रानी सो नृप कहे, बावन भवन जिनाल।
तेरह चोका बन्दि कर, पूज करी तत्काल ॥ प्राणी० ॥
जयमाला तहाँ मो मिली, आयो हूँ तुम पास।
अब तू मिथ्या मत कहे, पूज करी तज आस ॥ प्राणी० ॥
पूरब दक्षिण वन्दि कर, पश्चिम उत्तर जान।
मिथ्या भाषौ हूँ नहो, मोहि जिनवर की आन ॥ प्राणी० ॥
सुन राजा तैं सच कही, जिनवाणी शुभसार।
ढाई दीप न लघई, मानुष गिरि विस्तार ॥ प्राणी० ॥
विद्यापति से सुर भयो, रूप धारि यह सोय।
रानी की तब स्तुति करी, निश्चय समकित तोय ॥ प्राणी० ॥
देव कहे रानो सुनो, मानुषोत्तर गिरि जाय।
तहँ ते चय मैं सुर भयो, पूजि नन्दीश्वर आय ॥ प्राणी० ॥
एक भवान्तर मो रहो, जिन शासन परमाण।
मिथ्याती माने नहीं, श्रावक निश्चय आण ॥ प्राणी० ॥
सुरचय तहाँ हथनापुरी, राज कियो भरपूर।
परिग्रह तज सयम लियो, कर्म महागिरि चूर ॥ प्राणी० ॥
केवलज्ञान उपाय कर, मोक्ष गयो मुनिराय।
शाश्वत सुख विलसे सदा, जामन मरण मिटाय ॥ प्राणी० ॥
अब रानो की सुन कथा, सयम लीनो सार।
तप करके वह सुर भई, विलसे सुख विस्तार ॥ प्राणी० ॥

गजपुर नगरी अवतरी, राज करे बहु भाय।
सोलह कारण भाइयो, धर्म सुनो अधिकाय ॥ प्राणी० ॥

मुनि संघाटक आइयो, माली सार जनाय।
राजा वन्दे भावसो, पुण्य बढ़ो अधिकाय ॥ प्राणी० ॥

राजा मन वैरागियो, संयम लीनो सार।
आठ सहस नृप साथ ले, यह ससार असार ॥ प्राणी० ॥

केवलज्ञान उपाय के, दोय सहस निर्वाण।
दोय सहस सुख स्वर्ग के, भोगे भोग सुथान ॥ प्राणी० ॥

चार सहस भूलोक मे भोगे बहु ससार।
काल पाय शिव जायेंगे, उत्तम धर्म विचार ॥ प्राणी० ॥

याही मानुष लोक में, तीन जनम परमाण।
लोकालोक सुजान ही, सिद्धारथ कुल ठाण ॥ प्राणी० ॥

भव समुद्र के तरण को, बावन नौका जान।
जे जिय करे स्वभावसो, जिनवर साच बखान ॥ प्राणी० ॥

मन वच काया जे पढे, ते पावे भव पार।
विनय कीर्ति सुख सो भणे, जनम सफल ससार ॥
प्राणी बरत अठाई जे करे, ते पावें भव पार ॥ प्राणी० ॥



बारहभावना मंगतरायकृत

दोहा—वन्दू श्री अरहन्तपद, वीतराग विज्ञान।
वरणूँ बारह भावना, जगजीवनहित जान ॥ १ ॥

छन्द—कहाँ गये चक्री जिन जीता, भरतखण्ड सारा।
कहाँ गये वह रामरु लछमन, जिन रावन मारा ॥
कहाँ कृष्ण रुक्मिणि सतभामा, अरु संपति सगरी।
कहाँ गये वह रङ्गमहल अरु, सुवरन की नगरी ॥ २ ॥

नहीं रहे वह लोभी, कौरव जूझ मरे रन में।
गये राज तज पांडव वन को, अगनि लगी तन में ॥
मोहनींद से उठ रे चेतन, तुझे जगावन को।
हो दयाल उपदेश करैं गुरु, बारह भावन को ॥ ३ ॥

१ अथिर भावना।

सूरज चाँद छिपै निकलै ऋतु, फिर-फिर कर आवै।
प्यारी आयू ऐसी बीतै, पता नहीं पावै ॥
पर्वत पतित नदी सरिता, जल वहकर नहीं हटता।
स्वास चलत यों घटै काठ ज्यों, आरेसों कटता ॥ ४ ॥

ओसबूंद ज्यों गलै धूप में, वा अंजुलि पानी।
छिन-छिन यौवन छीन होत है, क्या समझै प्रानी ॥
इन्द्रजाल आकाश नगर सम, जगसंपति सारी।
अथिर रूप संसार विचारो, सब नर अरु नारी ॥ ५ ॥

२ अशरण भावना।

कालसिंह ने मृगचेतन को, घेरा भव वन मे।
नहीं बचावनहारा कोई, यों समझो मन मे॥
मन्त्र यन्त्र सेना धन सपति, राज पाट छूटै।
वश नहिं चलता काल लुटेरा, काय नगरि लूटै॥ ६॥
चक्ररतन हलधरसा भाई, काम नहीं आया।
एक तीर के लगत कृष्ण की, विनश गई काया॥
देव धर्म गुरु शरण जगत में, और नहीं कोई।
भ्रम से फिरै भटकता चेतन, युँही उमर खोई॥ ७॥

३ संसार भावना।

जनम मरन अरु जरा रोग से, सदा दुःखी रहता।
द्रव्य क्षेत्र अरु कालभाव भव, परिवर्तन सहता॥
छेदन भेदन नरक पशुगति, बध बन्धन सहता।
राग उदय से दुःख सुरगति में, कहां सुखी रहता॥ ८॥
भोगि पुण्यफल हो इकइन्द्री, क्या इसमें लाली।
कुतवाली दिन चार वही फिर, खुरपा अरु जाली॥
मानुप जन्म अनेक विपतिमय, कहीं न सुख देखा।
पञ्चमगति सुख मिलै शुभाशुभ को, मेटो लेखा॥ ९॥

४ एकत्व भावना।

जन्मै मरै अकेला चेतन, सुख दुःख का भोगी।
और किसीका क्या इक दिन यह, देह जुदी होगी॥

कमला चलत न पैंड जाय, मरघट तक परिवारा।
अपने-अपने सुख को रोवैं, पिता पुत्र दारा॥ १०॥
ज्यों मेले में पथीजन, मिलि नेह फिरै धरते।
ज्यों तरुवर पै रैन वसेरा, पंछी आ करते॥
कोस कोई दो कोस कोई, उड फिर थक-थक हारै।
जाय अकेला हंस सग में, कोई न पर मारै॥ ११॥

५ भिन्न (अन्यत्व) भावना।

मोहरूप मृगतृष्णा जग में, मिथ्या जल चमकै।
मृग चेतन नित भ्रम में उठ-उठ, दौडैं थक-थककै॥
जल नहिं पावै प्राण गमावै, भटक-भटक मरता।
वस्तु पराई मानै अपनी, भेद नहीं करता॥ १२॥
तू चेतन अरु देह अचेतन, यह जड तू ज्ञानी।
मिले अनादि यतनतैं बिछुडै, ज्यों पय अरु पानी॥
रूप तुम्हारा सबसों न्यारा, भेद ज्ञान करना।
जौलों पौरुष थकैं न तौलों, उद्यमसों चरना॥ १३॥

६ अशुचि भावना।

तू नित पोखै यह सूखै ज्यों, धोवै त्यों मैली।
निश दिन करै उपाय देह का, रोगदशा फैली॥
मात-पिता रज वीरज मिल कर, बनी देह तेरी।
मास हाड़ नश लहू राधकी, प्रगट व्याधि घेरी॥ १४॥

काना पौंडा पडा हाथ, यह, चूसै तौ रोवै।
फलै अनन्त जु धर्म ध्यान की, भूमिविषै बोव ॥
केसर चन्दन पुष्प सुगन्धित, वस्तु देख सारी।
देह परसते होय अपावन, निशदिन मल जारी ॥ १५ ॥

७ आस्रव भावना।

ज्यों सरजल आवत मोरी त्यों, आस्रव कर्मन को।
दर्वित जीव प्रदेश गहै जब, पुद्गल भरमन को ॥
भावित आस्रव भाव शुभाशुभ, निशदिन चेतन को।
पाप पुण्य के दोनों करता, कारण बन्धन को ॥ १६ ॥
पँन मिथ्यात योग पन्द्रह, द्वादश अविरत जानो।
पंचरु बीस कषाय मिले सब, सत्तावन मानो ॥
मोहभाव की ममता टारै, पर परणत खोते।
करै मोक्ष का यतन निरास्रव, ज्ञानी जन होते ॥ १७ ॥

८ सवर भावना।

ज्यों मोरी में डाट लगावै, तब जल रुक जाता।
त्यों आस्रव को रोकै सवर, क्यों नहिं मन लाता ॥
पञ्च महाव्रत समिति गुप्तिकर, वचन काय मन को।
दश विध धर्म परीषह बाइस, बारह भावन को ॥ १८ ॥
यह सब भाव सतावन मिलकर, आस्रव को खोते।
सुपन दशा से जागो चेतन, कहा पड़े सोते ॥
भाव शुभाशुभ रहित, शुद्ध भावन संवर पावै।
डाट लगत यह नाव पड़ी, मझधार पार जावै ॥ १९ ॥

९ निर्जरा भावना।

ज्यों सरवर जल रुका सूखता, तपन पड़े भारी।
संवर रोकै कर्म निर्जरा, ह्वै सोखनहारी॥
उदय भोग सविपाक समय, पक जाय आम डाली।
दूजी है अविपाक पकावै, पालविषै माली॥ २०॥
पहली सबके होय नहीं, कुछ सरै काम तेरा।
दूजी करै जु उद्यम करके, मिटै जगत फेरा॥
संवर सहित करो तप प्रानी, मिलै मुकत रानी।
इस दुलहिन की यही सहेली, जानै सब ज्ञानी॥ २१॥

१० लोक भावना।

लोक अलोक आकाश माहिं थिर, निराधार जानो।
पुरुषरूप कर कटी भये षट्, द्रव्यनसो मानों॥
इसका कोइ न करता हरता, अमिट अनादी है।
जीवरु पुद्गल नाचै यामें, कर्म उपाधी है॥ २२॥
पाप पुन्यसों जीव जगत में, नित सुख दुःख भरता।
अपनी करनी आप भरै शिर, औरन के धरता॥
मोहकर्म को नाश मेटकर, सब जग की आसा।
निज पद मे थिर होय, लोक के, शीश करो बासा॥ २३॥

११ बोधिदुर्लभ भावना।

दुर्लभ है निगोद से थावर, अरु त्रसगति प्रानी।
नरकाया को सुरपति तरसै, सो दुर्लभ प्रानी॥

उत्तम देश सुसंगति दुर्लभ, श्रावककुल पाना।
दुर्लभ सम्यक दुर्लभ संयम, पञ्चम गुण ठाना॥ २४॥
दुर्लभ रत्नत्रय आराधन दीक्षा का धरना।
दुर्लभ मुनिवर को व्रत पालन, शुद्ध भाव करना॥
दुर्लभ से दुर्लभ है चेतन, बोधिज्ञान पावै।
पाकर केवलज्ञान नहीं फिर, इस भव में आवै॥ २५॥

१२ धर्म भावना।

षट दरशन अरु बौद्ध रु नास्तिक ने, जग को लूटा।
मूसा ईसा और मुहम्मद का, मजहब झूठा॥
हो सुछन्द सब पाप करें सिर, करता के लावें।
कोई छिनक कोई करता से, जग में भटकावें॥ २६॥
वीतराग सर्वज्ञ दोष बिन, श्रीजिन की वानी।
सप्त तत्व का वर्णन जामें, सबको सुखदानी॥
इनका चितवन बार-बार कर, श्रद्धा उर धरना।
'मंगत' इसी जतन तें इकदिन, भवसागर तरना॥ २७॥

॥ इति सुनत नगर निवासी मंगतरायजीकृत बारह भावना समाप्त ॥

वर्णी-वाणी की डायरी से

- मन की शुद्धि बिना काय शुद्धि का कोई महत्व नहीं।
- जो मनुष्य अपने मनुष्यपने की दुर्लभता की ओर देखता है, वही संसार से पार होने का उपाय अपने आप खोज लेता है।

तत्वार्थसूत्र पूजा

षट् द्रव्य को जामें कह्यो जिनराज-वाक्य प्रमाण सों।
क्रिय तत्त्व सातों का कथन जिन-आप्त-आगम मान सों॥
तत्वार्थ-सूत्रहि शास्त्र सो पूजो भविक मन धारि के।
लहि ज्ञान तत्त्व विचार भवि शिव जा भवोदधि पार के॥

दोहा—जामें षट् द्रव्यहिं कह्यो, कह्यो तत्त्व पुनि सात।
सो दश सूत्रहि थापि के, जजें कर्म कटि जात॥

सुरसरी कर नीर सुलाय के, करि सुप्रासुक कुम्भ भराय के।
जजत सूत्रहिं शास्त्रहिको करो, लहि सुतत्त्व-ज्ञानहि शिववरो।

मलयदारू पवित्र मंगायके, घसि कपूरवरेण मिलायके। ज०

सुनवशालि सुगंधित लायके, खंड विवर्जित थाल भरायके। ज०

सुमन वेल चमेलिहि केवरा, जिन सुगंधदशों दिश विस्तरा। ज०

वर सुहाल सुफेनिहिं मोदका, रसगुला रसपूरित ओदका। ज०

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भवद्वादशांगसारभूताय श्रीतत्वार्थसूत्राय क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्य०।

घृत कपूर मणीकर दीयरा, करि उद्योत हरौ तम हीयरा। ज०

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भवद्वादशांगसारभूताय श्रीतत्वार्थसूत्राय मोहान्धकारविनाशनाय दीपं०

बहु सुगंधित धूप दशांगहीं, धरि हुताशन धूम उठावहीं। ज०

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भवद्वादशांगसारभूताय श्रीतत्वार्थसूत्राय अष्टकर्मदहनाय धूपं०।

क्रमुकदाख बदामअनारला, नरंगनीबूहिं आमहिं श्रीफला। ज०

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भवद्वादशांगसारभूताय श्रीतत्वार्थसूत्राय मोक्षफलप्राप्तये फलं०।

जल सुचंदन आदिक द्रव्य ले, अरघके भरि थालहिंलेभले। ज०

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भवद्वादशांगसारभूताय श्रीतत्वार्थसूत्राय अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घं०।

सवैया

विमल विमल वाणी, श्री जिनवर बखानी।
सुन भये तत्वज्ञानी ध्यान-आत्म पाया है॥
सुरपति मनमानी, सुरगण सुखदानी।
सुभव्य उर आना, मिथ्यात्व हटाया है॥
समझहिं सब नीके, जीव समवशरण के।
निज-निज भाषा मांहि, अतिशय दिखानी है॥
निरअक्षर अक्षर के, अक्षरन सों शब्द के।
शब्द सों पद बने, जिन जु बखानी है॥

पादाकुलक छन्द—

संसार मोह में मोह तरा, प्रगटी जिनवाणी मोह हरा।
ऊद्दरत हो तम नाश करा, प्रणमामि सूत्र जिनवाणि वरा॥
अति मानसरोवर झील खरा, करुणारस पूरित नीर भरा।
दश-धर्म वहे शुभ हंस तरा, प्रणमामि सूत्र जिनवाणि वरा॥
कल्पद्रुम के सम जानतरा, रत्नत्रय के शुभ पुष्ट वरा।
गुण तत्त्व पदार्थन पात्र करा, प्रणमामि सूत्र जिनवाणि वरा॥
वसुकर्म महारिपु दुष्ट खरा, तसु उपजी फैली वेली वरा।
तसु नाशन वाहि कुठार करा, प्रणमामि सूत्र जिनवाणि वरा॥
मद मायर लोभऽरु क्रोध धरा, ए कषाय महादुःखदाय तरा।
तिन नाशि भवोदधि पार करा, प्रणमामि सूत्र जिनवाणि वरा॥
वर षोडश कारण भाव धरा, षट् कायन रक्षण नियम करा।
मद आठहु मदि के गर्द करा, प्रणमामि सूत्र जिनवाणि वरा॥
जिनवाणि न जाने त्रिजगत फिरा, जड़ चेतन भाव न भिन्न वरा।
नहिं पायो आतम बोध वरा, प्रणमामि सूत्र जिनवाणि वरा॥
शुभ-कर्म उद्योत कियो हियरा, जिनवाणिहि ज्ञान जग्यो जियरा।
भवसर मणहर शिव मार्ग धरा, प्रणमामि सूत्र जिनवाणि वरा॥
सुत कन्हैयालाल परणाम करा, भगवानदास जिहि नाम धरा।
जिनवाणि वसो नित तिहि हियरा, प्रणमामि सूत्र जिनवाणि वरा॥

घत्ता।

जिनवाणी माता सब सुख दाता.भवभ्रमहर मुक्तिकरा।
शुभ सूत्रहिं शास्त्रहिं,वारहि वारहि दासजोरिकरनमनकरा

ॐ ह्रीं श्रीजिनमुखोद्भवस्याद्वादनयगर्भित श्रीतत्त्वार्थसूत्राय अर्घ्यं निर्वपामीति०।

जे पूजें ध्यावें भक्ति बढावै जिनवाणी सेती।
ते पावहिं धन धान्य सम्पदा पुत्र पौत्र जेती॥
निरोग शरीर लहैं कीरति जग हरें भ्रमण फेरी।
अनुक्रम सेती लहैं मोक्षथल तहं के होय वसेरी॥

इति श्रीतत्त्वार्थसूत्र पूजा समाप्त।

श्रीऋषभदेवके पूर्वभव

कवित्त मनहर।

आदि जयवर्मा दूजे महाबलभूप तीजे,
सुरग ईशान ललितांग देव थयो है।
चौथे वज्रजंघ एह पांचवें जुगल देह
सम्यक ले दूजे देवलोक फिर गयो है॥
सातवें सुबुद्धिराय आठवें अच्युतइन्द्र,
नवमे नरेन्द्र वज्रनाभ नाम भयो है।
दशें अहमिन्द्र जान ग्यारवें ऋषभ-भानु,
नाभिनंद-भूधरके, सीस जन्म लयो है॥ ८२॥

सुगन्ध दशमी व्रत कथा

भादों सुदी दशमी के दिन सुगन्धित धूप खेने के बाद स्त्री-पुरुषों को सुयोग्य वक्ता द्वारा सुगन्ध दशमी व्रत कथा का श्रवण करना चाहिये।

चौपाई।

पञ्च परम गुरु वन्दन करूं, ताकर मम अघ बन्धन हरूं।
सार सुगन्ध दशैं व्रत कथा, भाषत हूं भाषी जिन यथा ॥ १ ॥
अर गुरु शारद के परसादि, कहस्यूं भेद सार पूजादि।
जे भवि इह व्रत करिहैं सही, तिन स्वर्गादिक पदवी लही ॥ २ ॥
सन्मति जिन गौतम मुनिराय, तिनके पद नमि श्रेणिक राय।
करत भयो इम थुति सुखकार, बिन कारण जग बन्धु करार ॥ ३ ॥
भव्य कमल प्रतिबोधन सूर्य, मुक्ति पन्थ निरवाहन धूर्य।
श्रुतिवारिधि को पोत समान, इन्द्रादिक तुम सेवक जान ॥ ४ ॥
व्रत सुगन्धदशमी इह सार, कीन्हूं किनि किमि विधि विस्तार।
अरु याको फल कैसो होय, मोकूं उपदेशो मुनि सोय ॥ ५ ॥
गौतम बोले सुन भूपाल, पुण्य कथा यह व्रत की माल।
भूप प्रश्न तुम उत्तम कर्यो, मैं भाषूं जो जिन उच्चर्यो ॥ ६ ॥
सुनत मात्र व्रत को विस्तार, पाप अनन्त हरै तत्काल।
जे कर्ता क्रमतैं शिव जाय, और कहा कहिये अधिकाय ॥ ७ ॥

दोहा—जम्बू द्वीप विषै यहां, भरत क्षेत्र सु जान।
तहां देश काशी लसै, पुर वाराणसी मान ॥ ८ ॥

चौपाई।

पद्मनाभ जाको भूपाल, कीन्हूं वसुमद को परिहार।
सप्त व्यसन तजि गुण उपजाय, ऐसे राज करे सुखदाय ॥ ९ ॥

श्रीमती जाके पर नारि, निज पतिकूं अति ही सुखकारि।
एक समय वन क्रीड़ा हेत, जात हतो निज सैन्य समेत ॥ १० ॥
निज पुरमें से जब ही गयो, तब मन माहीं आनन्द लयो।
तबही एक मुनीश्वर सार, मास वास करिके भवतार ॥ ११ ॥
असन काजि आते मुनि जोय, राणीसों भाखे नृप सोय।
तुम जावो घो भोजन सार, कीजो मुनिकी भक्ति अपार ॥ १२ ॥
इम सुणि राणी मन इम भयो, भोगोंमें मुनि अन्तर करो।
दुःखदानी पापी मुनि आय, मेरे सुख इन दियो गमाय ॥ १३ ॥
मनहीं में दुःखी अति घणी, आज्ञा मान नहीं पति तणी।
आप दियो भोजन ततकाल, जाणे ओर सुनो भूपाल ॥ १४ ॥
मुनि भूपतिकूं ही घर गयो, राणी प्रसन महानिन्द दयो।
कर्ण्णतुंबडी को जु अहार, दियो मुनीश्वरकू दुःखकार ॥ १५ ॥
भोजन करि चाले मुनिराय, मारग माहिं गहल अति आय।
परगो भूमि पर तब मुनिराज, किथो श्रावकां देखि इलाज ॥ १६ ॥
नैंटे एक जिनालय सार, तहां ले गये करि उपचार।
फेरि गहल ऐसे बन करी, राणी खोटो भोजन दयो ॥ १७ ॥
सोंल गमी महा दुःख पाय, शून्य हो गये हैं अधिकाय।
धिग-धिग है ताको अति घणू, दुष्ट स्वभाव अधिक जा तणू ॥ १८ ॥
तबही वनसों आयो राय, सुणी बात राजा दुःख पाय।
रानीसों खोटे वच कहे, वस्त्राभरण खोसि करि लये ॥ १९ ॥
काढ़ि दई घर बाहरि जबै, दुःखी भई अति ही सो तबै।
कुष्टातुर है आरत कियो, प्राण छोरि महिषी तन लियो ॥ २० ॥

याकी मात भैंस मर गई, तब ये अति दुर्बलता लई।
एक समय कर्दम मधि जाय, मग्न भई नाना दुःख पाय ॥ २१ ॥
तहां थकी देख्यो मुनि कोय, सीग हलाये क्रोधित होय।
तबही पक विषैं गडि गई, प्राण छोरि खरणी उपजई ॥ २२ ॥
भई पाँगुरी पिछले पाय, तबही एक मुनीश्वर आय।
पूरब वैर सु मन मे ठयो, तहां कलुष परिणाम जु भयो ॥ २३ ॥

दोहा—कियो क्रोध मन में घणू, दई दुलाती जाय।
प्राण छोरि निज पापतैं, लई सूकरी काय ॥ २४ ॥
स्वानादिक के दुःखतैं, भूखी प्यासी होय।
मरिकर चण्डाली सुता, उपजी निन्दित सोय ॥ २५ ॥

चौपाई—गर्भ आवतां विनस्यो तात, उपजता तन त्यागो मात।
पालै सुजन मरै फुनि सोय. अरु आवत तन में बदबोय ॥
इक योजनलों आवै बांस, ताहि थकी आवै नहिं श्वांस।
पञ्च अभख फल खावो करै, ऐसी विधि वन में सो फिरै ॥
यहां एक मुनि शिष्य जु देख, राग द्वेष तजि शुद्ध विशेष।
ता वन में आये गुण भरे, लघु मुनि गुरुसों प्रश्न जु करै ॥
बासनिन्द्य आवे अधिकाय, स्वामी कारण मोहि बताय।
मुनि भाषैं सुनि मनवचकाय, जो प्राणी ऋषि को दुःखदाय ॥
ते नाना दुःख पावै सही, मुनि निन्दा सम अघको नही।
कन्या ईनि पूरब भवमांहिं, मुनि दुःखायो थो अधिकाहिं ॥
ता करि तिरजगमे दुःख पाय, भई बधिकके कन्या जाय।
सो इह देखि फिरतु है बाल, मुनि सशय भागो ततकाल ॥

दोहा—पुनि गुरुसे इम शिष कहै, सब किमि इनि अघ जाय।
मुनि बोले जिन-धर्म को, धारे पाप पलाय ॥३२॥

चौपाई—गुरु शिष वचन सुता इम सुन्यो, उपशम भाव सुखाकर गुन्यो।
पञ्च अभक्ष फल त्यागे जबै, अमन मिलै लागो शुभ तबै ॥
गुरु भाषमों छोरे प्रान, नगर उज्जैनी श्रेणिक जान।
तहा दरिद्री द्विज इक रहै, पाप उदै करि बहु दुःख लहै ॥
वा द्विज के यह पुत्री भई, पिता मात जम के बसि थई।
सब यह दुःखवती अति होय, पाप समान न वैरी कोय ॥
कष्ट-कष्ट करि वृद्धि जु भई, एक समय सो वन में गई।
तहा सुदर्शन थे मुनिराय, अजितसेन राजा तिहि जाय ॥
धर्म सुन्यो भूपति सुखकार, इह पुनि गई तहां तिहि बार।
अधिक लोक कन्या कूं जोय, पाप थकी ऐसो फल होय ॥

दोहा—आन तभै इह कन्यका, घासपुञ्ज सिरधारि।
खड़ी मुनि वच सुनत थी, पुनि निज भार उतारि ॥३८॥

चौपाई—मुनि मुखतें सुण कन्या भाय, पूरव भव सुमरण जब थाय।
याद करी पिछली वेदना, मूर्छा खाय परी दुःख घना ॥
तब राजा उपचार कराय, चेत करी फुनि पूछि बुलाय।
पुत्री तूं ऐसे क्यूं भई, सुणि कन्या तब यू बरनई ॥
पूरब भव विरतन्त बताय, मैं जु दुःखायो थो मुनिराय।
करीतु चिना को जु आहार, दियो मुनिकू अति दुःखकार ॥
सो अघ अबलों पणि मुझ दहै, इम सुनि नृप मुनिवर सों कहै।
इह किन विधि सुख पावै अबै, तब मुनिराज बखान्यू तबै ॥

जब सुगन्ध दशमी व्रत धरै, तब कन्या अघ सचय हरै।
कैसी विधि याकी मुनिराय, तब ऋषि भादवमास बताय॥
सुदि पञ्चमि दिनसों आचरै, यथाशक्ति नवमीलों करै।
दशमी दिन कीजै उपवास, ता करि होय अधिक अघनास॥
शुक्ल पक्ष दशमी दिन सार, दश पूजा करि वसु परकार।
दश स्तोत्र पढ़िये मनलाय, दश मुख का घटसार बनाय॥
ता में पावक उत्तम धरै, धूप दशांग खेय अघ हरै।
सप्त धान्य को साथ्यो सार, करि तापरि दश दीपक धार॥
ऐसे पूज करै मनलाय, सुखकारी जिनराज बताय।
तातैं इह विधि पूजा करै, सो भवि जीव भवोदधि तरै॥

दोहा—जिनकी पूज समान फल, हुवो न ह्वैसी कोय।
स्वर्गादिक पद को करै, पुनि देहै शिव जोय॥ ४८॥

चौपाई—दश संवत्सरलों जो करै, ताही कै जिन गुण अवतरै।
करै बहुरि उद्यापन राय, सुनहु सुविधि तुम मन वचकाय॥
महाशान्तिक अभिषेक करेय, जिनवर आगै पुहुप धरेय।
जो उपकरण धरे जिन थान, ताको भेद सुणू चित आन॥
दश जु वर्णको चन्दवो लाय, सो जिन विम्ब उपरि तणवाय।
और पताका दश ध्वज सार, बाजै घण्टानाद अपार॥
मुक्ति माल की शोभा करै, चमर युगल छवि अनुपम धरै।
और सुणूं आगैं मनलाय, प्रभु की भक्ति किये सुख थाय॥
धूपदहन दश आरति आनि, सिंह पीठि आदिक पहचानि।
इत्यादिक उपकरण मंगाय, भक्ति भाव जुत भव्य चढ़ाय॥

दान आहार आदि उच देय, ताकरि भवि अधिकौ फल लेय।
आर्याकौ अम्बर दीजिये, कुण्डी श्रुत नजरे कीजिये ॥
यथा योग्य मुनि को दे दान, इत्यादिक उद्यापन जान।
जो नहिं इतनी शक्ति लगार, थोरो ही कीजे हितधार ॥
जो न सर्वथा घर में होय, तो दूणू कीजे व्रत सोय।
पणि व्रत तौ करिये मनलाय, जो सुर मोक्ष सुथानक दाय ॥

दोहा—शाक पिण्ड के दानतैं, रतन वृष्टि ह्वै राय।
यहां द्रव्य लागो कहां, भावनिकौ अधिकाय ॥ ५७ ॥
तातैं भक्ति उपायकै, स्वातम हित मनलाय।
व्रत कीजै जिनवर कह्यो, इम सुणि करि तब राय ॥ ५८ ॥

चौपाई—द्विज कन्या को भूप बुलाय, व्रत सुगन्ध दशमी बतलाय।
राय सहाय थकी व्रत करयो, पूरब पाप सकल तब हरयो ॥
उद्यापन करि मन वच काय, और सुणू आगे मन लाय।
एक कनकपुर जाणो सार, नाम कनकप्रभु तसु भूपाल ॥
नारि कनकमाला अभिराम, राजसेठ इक जिनदत्त जु नाम।
जाकै जिनदत्ता वर नारि, तिहि ताकै लीन्हूं अवतारि ॥
तिलकमती नामा गुण भरी, रूप सुगन्ध महा सुन्दरी।
क्यूं इक पाप उदै पुनि आय, प्राण तजे ताकी तब माय ॥
जननी बिन दुःख पावै बाल, और सुणू श्रेणिक भूपाल।
जिनदत्त यौवनमय थौ जबै, अपनो व्याह विचारो तबै ॥
इक गौर्धनपुर नगर सुजान, वृषभदत्त वाणिज तिहिं थान ॥
ताकै एक सुता शुभ भई, बन्धुमती तसु संज्ञा दई ॥

तासों कीन्हूं सेठ विवाह, बाजा बाजे अधिक उछाह।
परणि सुघर लायो सुख भार, आगै और सुणू विस्तार॥

दोहा—भोग शर्म करती भई, कन्या इक लखि माय।
नाम धर्यो तब मोदतैं, तेजोमती सुभाय॥ ६६॥

छन्द—प्यारी माताकू लागै, नहिं तिलकमती सों रागै।
नाना विधि करि दुःख द्यावे, ताकै मनसा नहीं भावै॥६७॥
तब तात सुतासु निहारी, कन्या इह दुःखित विचारी।
तब दासी आदिक नारी, तिनसों इमि सेठ उचारी॥६८॥
याकी सेवा सुख कारी, कीज्यो तुम भक्ति विथारी।
ऐसे सुणि सो सुख पावै, तब नीकी भांति खिलावै॥६९॥

चौपाई—एक समय कञ्चन प्रभ राय, दीपान्तर जिन दत्त पठाय।
नारीसों तब भाखै जाय, हमकू राजा दीपि भिजाय॥
तातैं एक सुनो तुम बात, इह दो परणाज्यो हरषात।
अष्ट गुणां युत जो वर होय, इनकौ करि दीज्यो अब लोय॥
इम कहि दीपि चल्यो तत्काल, और सुणू श्रेणिक भूपाल।
आवै करन सगाई कोय, तिलकमती जाचै तब सोय॥
बन्धुमती भाखै जब आय, यामें अवगुण हैं अधिकाय।
मम पुत्री गुणवन्ती घणी, रूप आदि शुभ लक्षण भणी॥
तातैं मो कन्या शुभ जान, वर नक्षत्र व्याहौ तुम आन।
इनकी मानै नाहीं बात, तिलकमती जाचै शुभ गात॥
व्याह समय कन्या मम सार, करदेस्यूं व्याहित जिहिंवार।
करी सगाई आनन्द होय, व्याह समै आये तब सोय॥

बन्धुमती फेरांकी वार, तिलकमती बहु भांति सिंगार।
घडी दोय रजनी जब गई, तिलकमतीकूं निज संग लई॥
जबहि मसाण भूमि मधि जाय, पुत्रीकूं तिहि थान बैठाय।
तहां दीप जोये शुभ चारि, पूरे तेल उद्योत अपारि॥
चौगिरधा दीपक चउधरे, मध्य तिलकमती थिरता करे।
तिलकमतीसों भाषी जहां, तौ भरता आवैगो यहां॥
ताहि विवाहि आवजे बाल, इमि कहि कर चाली तत्काल।
आधी रात गये तब राय, महल थकी लखि वितरक लाय॥
नृप ने मन इम निश्चय कियो, अवशि देखिये जो कछु भयो।
देवसुता वा यक्षिन कोय, ना जानै वा किन्नर होय॥
कै इह नारी इहां को आय, ऐसी विधि चितवन करि राय।
हस्त खड्गले चालो तहां, तिलकमती तिष्ठे थी जहां॥

दोहा—जाय पूछियो रायजी, तूं कुण है इनि थान।
तिलकमती सुण के तबै, ऐसी भांति बखानि॥ ८२॥
भूपति मेरे तातकूं, रतन सुदीप पठाय।
सोकूं मम माता इहां, थापि गई अब आय॥ ८३॥

चौपाई—भाखि गई इनि थानिक कोय, आवेगो ते भरता सोय।
यातैं तुम आये अब धीर, मैं नारी तुम नाथ गहीर॥
सुणि राजा तब व्याहसु कर्यो, रैनि रह्यो तैंठे सुख भर्यो।
राजा प्रात समै अब लोय, निज मन्दिरकूं आवनि होय॥
तिलकमती ऐसे तब कही, अब तो तुम मेरे पति सही।
सर्प जेमि डसि जावो कहां, सुनि इमि भाषैं भूपति तहां॥

मैं निशि-निशि आस्यू तुझि पास, तू तो महा शर्म की राशि।
तिलकमती पूछै सिरनाय, कहा नाम तुम मोहि बताय॥
राजा गोप कह्यो निज नाम, इम सुणि तिय पायो सुखधाम।
यू कहि अपने थानिक गयो, तबसे ही परभात सु भयो॥
बन्धुमती कहि कपट विचार, तिलकमती है अति दुःखकार।
ब्याह समय उठि गई किनि थान, जन जनसे पूछे दुःखमान॥

दोहा—देखो ऐसी पापिनी, गई कहां दुःखदाय।
ढूढत-ढूढ़त कन्यका, लखी मसाणां जाय॥ ९० ॥
जाय कहै दुःखदा सुता, इनि थानिक किमि आय।
भूत प्रेत लागो कहां, ऐसी विधि बतलाय॥ ९१ ॥

चौपाई—तिलकमती भाषै उमगाय, तैं भाख्यो सो कीन्हूं माय।
बन्धुमती कहि त्यङ्ग पुकार, देखो तो इह असत्य उचार॥
जानूं कहा करै इह आय, व्याह समै दुःख दिया अघाय।
तेजोमती विवाहित करी, सावा की समये नहिं टरी॥
पुनि भाषी उठि चल घर अबै, ले आई अपने घर जबै।
तिलकमती सों पूछैं मात, तै कैसो वर पायो रात॥
सुता कह्यो वरियो हम गोप, रैनि परणि परभात अलोप।
बन्धुमती भाषी ततकाल, री! तैं वर पायौ गोपाल॥

दोहा—घर इक गेह समीपथो, सो दीन्हों दुःखपाय।
नित प्रति रजनी के विषै, आवै तहां सुराय॥ ९६ ॥
दीप निमित्त नही तेल दे, तबही अन्धेरे मांहि।
राजा तैठेही रहै, सुख पावै अधिकांहि॥ ९७ ॥

चौपाई—कछुइक दिन पुनि ऐसे गये, बन्धुमती तब यूं वच कहे ।
तोहि गुवाल्या तैं कहि जाय, दोय बुहारी तो दे लाय ॥
तिलकमती आरे करि लई, रात्रि भये निज पतिपै गई ।
करि क्रीड़ा सुख वचन उचार, नाथ सुणूं अरदास हमार ॥
जुगल बुहारी मेरी माय, जाची हैं तुमपै हरपाय ।
यातैं ला दीज्यो तुम देव, अङ्गी कीन्हूं भूप स्वमेव ॥
सभा जाय बैठ्यो तब राय, स्वर्णकार तब सार बुलाय ।
तिनतैं कही बुहारी दोय, अब करयो जो उत्तम होय ॥
इम सुनि तबहीं कञ्चनकार, लागि गये गढ़ने अधिकार ।
स्वर्णसींक सबके मन मोहि, रत्न जड़ित मूठ्यो अति सोहि ॥
पोड़श भूषण और मंगाय, डाबा में धरि चाल्यो राय ।
एक वेश उत्तम करि लियो, रजनी समय नारि ढिग गयो ॥
रतन जड़ित की कोर जु सार, शोभै सारी के अधिकार ।
भूषण वेश दये नृप जाय, दोय बुहारी लखित सुहाय ॥
नारि चरण नृप के तब धोय, सिरकेशनि से पूछत धोय ।
क्रीड़ा करि बहुते सुख पाय, प्रात भये नृप तो घरि जाय ॥
तिलकमती अति हर्पित होय, जाय दई सु बुहारी दोय ।
और दिखाये भूषण वेश, माहीं देख्यो सार जु वेश ॥
मन में दुःखित वचन इमि कह्यो, तेरो भरता तस्कर भयो ।
राजा के भूषण अरु वेश, लाय दये तोकू जु अशेष ॥
हम सबकूं दुःखद्यासी सोय, इम कहि खोसि लये दुःखि होय ।
यह दलगीर भई अधिकाय, रात विषै पति सों कहि जाय ॥

भूषण वेश खोसि लये माय, निज पासे राखे दुःख पाय।
राय तबै सम्बोधी जोय, मन चिन्ता राखो मति कोय ॥
और घणेही देहूं लाय, इम सुणि तिलकमती सुख पाय।
द्वीप थकी जिनदत्त जु आय, बन्धुमती पतिसों बतलाय ॥
तिलकमती के अवगुण घणां, कहा कहूँ पति अब वा तणां।
व्याह समै उठिगी किनि थान, परण्यो चोर तहां सुख ठान ॥
सो तस्कर भूपति कै जाय, भूषण वेश चोर कर लाय।
याकूं वह दीन्हें तब राय, खोसि रखे मौ ढिग में लाय ॥
सेठ देख कम्पित मन मांहि, तब ही राज स्थानक जाय।
धरे जाय राजा के पाय, सब विरतन्त कह्यो सुणि राय ॥
कह्यो वेश भूषण तौ आय, परि वह चोर आनियौ लाय।
इहि विधि सेठ सुणी नृप बात, चाल्यो निज घर कम्पित गात ॥
साह सुतासों इह वच कह्यो, तू हमकू यह कुण दुःख दियो।
पतिकूं जाणे है अकि नाहिं, कह्यो द्वीप विन जाणूं काहि ॥
कबहूं दीपक हेति सनेह, मोकू मम माता नहिं देह।
सेठ कहैं किसही विधि जान, तिलकमती जब बहुरि बखान ॥
इक विधि कर मैं जानू तात, सो इह सुण हमारी बात।
जब पति आवे मो ढिग यहां, तब उनि पद धोवत थी तहां ॥
धोवत चरण पिछानू सही, और इलाज इहां अब नहीं।
सेठ कही भूपतिसों जाय, कन्या तौ इस भांति बताय ॥
ऐसे सुणि तब बोल्यो भूप, इहतौ विधि तुम जाणि अनूप।
तस्कर ठीक करण के काज, तुम घर आवेंगे हम आज ॥
सेठ तबै अति प्रसन्न भयौ, जाय तैयारी करतो भयो।
तब राजा परिवार बुलाय, तबही सेठ तणैं घर जाय ॥

प्रजा जु सकल इकट्ठी भई, तिलकमती बुलवाय सु लई।
नेत्र मूंदि पद धोवत जाय, यह भी नहीं नहीं पति आय ॥
जब नृप के चरणाम्बुज धोय, कहती भई यही पति होय।
राजा हंसि इम कहतो भयो, इनि हमकूं तस्कर कर दियो ॥
तिलकमती पुनि ऐसे कही, नृप हो वा अन्य होई सही।
लोक हसन लागे जिहि वार, भूप मने कीन्हे ततकार ॥
वृथा हास्य लोकां मति करो, मैं ही पति निश्चय मन धरो।
लोक कहैं कैसे इह वणी, आदि अन्तलौं भूपति भणी ॥
तबही लोक सकल इम कह्यो, कन्या धन्य भूप पति लह्यो।
पूरब इन व्रत कीन्हूं सार, ताको फल इह फल्यो अबार ॥
भोजन अन्तर कर उत्साह, सेठ कियो सब देखत व्याह।
ताकूं पटराणी नृप करी, भूपति मन में साता धरी ॥
एक समै पतियुत मो नार, गई सु जिनके गेह मझार।
वीतराग मुख देख्यो सार, पुन्य उपायो सुखदातार ॥
सभा विषै श्रुतिसागर मुनी, बैठे ज्ञान निधी बहु गुनी।
तिनको प्रणमि परम सुख पाय, पूछै मुनिवर सों इमि राय ॥
पूरब भव मेरी पट नार, कहा सुव्रत कीन्हु विधि धार।
जाकर रूपवती इह भई, अधिक सम्पदा शुभ करि लई ॥
योगी पूरब सब विरतन्त, मुनि निन्दादिक सर्व कहन्त।
अरु सुगन्ध दशमी व्रत सार, सो इनि कीन्हूं सुखदातार ॥
ताको फल इह जाणूं सही, ऐसे मुनि श्रुति सागर कही।
तबही आयो एक विमान, जिन श्रुत गुरु वन्दे तजि मान ॥
मुनिकूं नमस्कार करि सार, फेर तहां नृप देवि निहार।
तिलकमती के पांवा पर्यो, अरु ऐसे सु वचन उच्चर्यो ॥

दोहा—स्वामिनी ! तुम परसाद तैं मैं पायो फल सार ।
व्रत सुगन्ध दशमी कियो, पूरव विद्या धार ॥ १३३ ॥
ता व्रत के परभावतैं, देव भयो मैं जाय ।
तुम मेरी साधर्मिणी, जुग क्रम देखनि आय ॥ १३४ ॥
इमि कहि वस्त्राभरण तैं, पूज करी मनलाय ।
अरु सुर पुनि ऐसे कहो, तुम मेरी वर माय ॥ १३५ ॥
चौपाई—थुतिकर सुर निज थानिक गयो, लोकां इह निश्चय लखि लियो ।
धन्य सुगन्ध दशमी व्रत सार, ताको फल है अनन्त अपार ॥
तब सबही जन यह व्रत धर्यो, अपनू कर्म महाफल हरयो ।
तिलकमती कञ्चन प्रभु राय, मुनिकू नमि अपने घरि जाय ॥
देती पात्रनि को शुभ दान, करती सज्जन जन सन्मान ।
नित प्रति पूजै श्री जिनराय, अरु उपवास करै मनलाय ॥
पति व्रत गुण की पालनहार, पुनि सुगन्ध दशमी व्रत धार ।
अन्त समाधि थकी तजि प्रान, जाय लयो ईशान सु थान ॥
सागर दोय जहां थिति लई, शुभ तैं भयो सुरोत्तम सही ।
नारी लिङ्ग निन्द्य छेदियो, चय शिववासी जिनवर्णयो ।
जहां देव सेवा बहु करे, निरमल चमर तहां शिर ढरै ।
और विभव अधिकौ जिहिं जान, पूरव पुन्य भये तिहि आन ॥
इह लखि सुगन्ध दशैं व्रत सार, कीजै हो ! भवि शर्म विचार ।
जे भवि नर-नारी व्रत करैं, ते संसार समुद्र सों तिरैं ॥
दोहा—श्रुतसागर ब्रह्मचारी को, ले पूरव अनुसार ।
भाषा सार बनाय के, सुखित 'खुशाल' अपार ॥ १४३ ॥

रविव्रत कथा

श्री सुखदायक पार्श्व जिनेश, सुमति सुगति दाता परमेश।
सुमरो शारदपद अरविन्द, तिनकर व्रत प्रगट्यो सानन्द ॥ १ ॥
वाणारसि नगरी सु विशाल, प्रजापाल प्रगट्यो भूपाल।
मतिसागर तहं सेठ सु जान, ताको भूप करे सन्मान ॥ २ ॥
तासु तिया गुण सुन्दरी नाम, सात पुत्र ताके अभिराम।
षट् सुत भोग करें परणीत, बालरूप गुणधर सु विनीत ॥ ३ ॥
सहस्रकूट शोभित जिन धाम, आये यतिपति खण्डित काम।
सुनि मुनि आगम हर्षित भये, सर्व लोग वन्दन को गये ॥ ४ ॥
गुरु वाणी सुनि के गुणवती, सेठनि तबै करे विनती।
प्रभो सुगम व्रत देहु बताय, जासों रोग शोक भय जाय ॥ ५ ॥
करुणानिधि भाषहि मुनिराय, सुनो भव्य तुम चित्त लगाय।
जब आषाढ़ शुक्ल पक्ष विचार, तब कीजे अन्तिम रविवार ॥ ६ ॥
अनशन अथवा अल्प अहार, लवणादिक जु करै परिहार।
नव फल घृत पञ्चामृत धार, बहु प्रकार पूजा भवहार ॥ ७ ॥
उत्तम फल स्वयामी जान, नव श्रावक घर दीजे आन।
या विधि कर नव वर्ष प्रमाण, जातैं होय सर्व कल्याण ॥ ८ ॥
अथवा एक वर्ष इस सार, कीजे रविव्रत मनहि विचार।
सुनि साफल निज घरको गई, व्रत निन्दा करि निन्दित भई ॥ ९ ॥
व्रत निन्दातैं निर्धन भये, सातहि पुत्र अवधपुर गये।
तहां जिनदत्त सेठ घर रहैं, पूरब दुष्कृत का फल लहैं ॥१०॥
मात-पिता गृह दुःखित सदा, अवध सहित मुनि पूछे तदा।
दयावन्त मुनि ऐसे कह्यो, व्रत निन्दा से तुम दुःख लह्यो ॥११॥
सुनि गुरु वचन बहुरि व्रत लयो, पुण्य थयो घरमें धन भयो।
भविजन सुनो कथा सम्बन्ध, जहं रहते थे वे सब नन्द ॥१२॥

एक दिवस गुणधर सुकुमार, घास लेन आयो गृह द्वार।
क्षुधावन्त भावज पै गयो, दन्त बिना नहिं भोजन दयो ॥१३॥
बहुरि गयो जहाँ भूल्यो दन्त, देख्यो तासों अहि लिपटन्त।
फणिपति की तहं विनती करी, पद्मावति प्रगटी तिहिं घरी ॥१४॥
सुन्दर मणिमय पारसनाथ, प्रतिमा एक दई तिहिं हाथ।
देकर कह्यो कुंवर कर भोग, करो क्षणक पूजा संयोग ॥१५॥
आनबिंब निज घर में धरयो, दिहंकर तिनको दारिद्र हरयो।
सुख विलास सेवें सब नन्द, नित प्रति पूजें पाइ जिनन्द ॥१६॥
साकेता नगरी अभिराम, सुन्दर बनवायो जिन-धाम।
करी प्रतिष्ठा पुण्य संयोग, आये भविजन सब सु लोग ॥१७॥
सङ्घ चतुर्विधि का सनमान, कियो दियो मनवांछित दान।
देख सेठ तिनकी सम्पदा, जाय कही भूपतिसों तदा ॥१८॥
भूपति तब पूछ्यो विरतन्त, सत्य कह्यो गणधर गुणवन्त।
देख सुलक्षण ताको रूप, अति आनन्द भयो सो भूप ॥१९॥
भूपति गृह तनुजा सुन्दरी, गुणधर को दीनों गुण भरी।
कर विवाह मङ्गल सानन्द, हय गज पुरजन परमानन्द ॥२०॥
मनवांछित पाये सुख भोग, विस्मित भये सकल पुर लोग।
सुखसों रहत बहुत दिन भये, तब सब बंधु बनारस गये ॥२१॥
मात-पिता के परसे पाँय, अति आनन्द हिरदे न समाय।
विघट्यो सबको विपय वियोग, भयो सकल पुरजन संयोग ॥२२॥
आठ सात सोलह के अङ्क, रविव्रत कथा रची अकलङ्क।
थोड़ो अर्थ ग्रन्थ विस्तार, कहे कवीश्वर ओ गुणसार ॥२३॥
यह व्रत जो नर-नारी करें, कबहूं दुर्गति में नहिं परें।
भाव सहित ते शिवसुख लहै, भानु कीर्ति मुनिवर इमि कहैं ॥२४॥

श्री वासुपूज्य जिन-पूजा

(वृन्दावन कृत)

छन्द रूप कवित्त

श्रीमत वासुपूज्य जिनवर-पद, पूजन हेतु हिये उमगाय।
धारो मन-वच-तन सुचि करिके, जिनकी पाटल-देव्यामाय॥
महिप-चिह्न पद लसे मनोहर, लाल-वरन-तन समता-दाय।
सो करुना-निधि-कृपा-दृष्टि, करितिष्ठहु सुपरितिष्ठ यहँआय॥

ॐ ह्रीं श्री वासुपूज्यजिनेन्द्र ! अत्र अवतर अवतर सवौषट्।

ॐ ह्रीं श्री वासुपूज्यजिनेन्द्र ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठ ठ स्थापन।

ॐ ह्रीं श्री वासुपूज्यजिनेन्द्र ! अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् सन्निधीकरण।

अष्टक

छन्द जोगीरासा

गंगा-जल भरि कनक-कुंभ में, प्रासुक गन्ध मिलाई,
करम-कलंक विनाशन कारन, धार देत हरषाई।
वासुपूज्य वसु-पूज-तनुज-पद, वासव सेवत आई,
बाल ब्रह्मचारी लखि जिनको, शिव-तिय सनमुख धाई।

ॐ ह्रीं श्री वासुपूज्यजिनेन्द्राय जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा।

कृष्णागरु मलयागिरि चंदन, केशरसंग घसाई,
भव आताप विनाशन कारन, पूजों पद चितलाई॥ वासु० ॥

ॐ ह्रीं श्री वासुपूज्यजिनेन्द्राय भवातापविनाशनाय चन्दनं निर्वपामीति स्वाहा।

देवजीर सुखदास शुद्ध वर, सुवरन-थार भराई,
पुंज धरत तुम चरनन आगैं, तुरित अखय-पद पाई।
वासुपूज्य वसु-पूज-तनुज-पद, वासव सेवत आई,
बाल ब्रह्मचारी लखि जिनको, शिव-तिय सनमुख धाई॥

ॐ ह्रीं श्री वासुपूज्यजिनेन्द्राय अक्षयपदप्राप्तये अक्षतानि निर्वपामीति स्वाहा।

पारिजात संतान कल्पतरु, जनित सुमन बहु लाई,
मीनकेतु-मद-भंजन-कारन तुम पद-पद्म चढाई॥ वासु०॥

ॐ ह्रीं श्री वासुपूज्यजिनेन्द्राय कामबाणविध्वंसनाय पुष्पाणि निर्वपामीति स्वाहा।

नव्य गव्य आदिक रस-पूरित, नेवज तुरित उपाई,
क्षुधा-रोग-निरवारन-कारन, तुम्हे जजों शिर-नाई॥ वासु०॥

ॐ ह्रीं श्री वासुपूज्यजिनेन्द्राय क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्य निर्वपामीति स्वाहा।

दीपक-जोत उदोत होत वर, दश दिशमे छवि छाई।
तिमिर-मोह-नाशक तुमको लखि, जजो चरन हरषाई॥ वासु०॥

ॐ ह्रीं श्री वासुपूज्यजिनेन्द्राय मोहान्धकार विनाशनाय दीप निर्वपामीति स्वाहा।

दशविध गंध मनोहर लेकर, वातहोत्र मे डाई।
अष्ट करम ये दुष्ट जरतु हैं, धूम सु धूम उडाई॥ वासु०॥

ॐ ह्रीं श्री वासुपूज्यजिनेन्द्राय अष्टकर्मदहनाय धूप निर्वपामीति स्वाहा।

सुरस सुपक्व सुपावन फल ले, कञ्चन-थार भराई।
मोक्ष-महाफल-दायक लखि प्रभु, भेंट धरों गुन गाई॥ वासु०॥

ॐ ह्रीं श्री वासुपूज्यजिनेन्द्राय मोक्षफलप्राप्तये फल निर्वपामीति स्वाहा।

सित भादव चौदशि लीनो, निरवार सुथान प्रवीनों ।
पुर चपा थानकसेती, हम पूजत निज-हित हेती ॥ ५ ॥

ॐ ह्री श्री भाद्रपदशुक्लचतुर्दश्या मोक्षमगलप्राप्ताय श्री वासुपूज्यजिनेन्द्राय अर्घ निर्वपामीति स्वाहा ।

जयमाला

दोहा—चपापुर मे पचवर, कल्याणक तुम पाय ।
सत्तर धनु तन शोभनो, जे जे जे जिनराय ॥ १ ॥

छन्द मोतियादाम वर्ण १२

महासुख-सागर आगर ज्ञान, अनत-सुखामृत-भुक्त महान् ।
महाबल-मडित खडत-काम, रमा-शिव-संग सदा विसराम ॥
सुरिंद फनिंद खगिंद नरिंद, मुनिंद जजे नित पादरविंद ।
प्रभू तुव अन्तर-भाव विराग, सुबालहते व्रत-शीलसो राग ॥
कियो नहिं राज उदास-सरूप, सुभावन भावत आतम-रूप ।
अनित्य शरीर प्रपच समस्त, चिदातम नित्य सुखाश्रित वस्त ॥
अशर्न नही कोउ शर्न सहाय, जहांजिय भोगत कर्म-विपाय ।
निजातमके परमेसुर शर्न, नही इनके विम आपद-हर्न ॥
जगत्त जथा जलबुदबुद येव, सदा जिय एक लहै फलमेव ।
अनेक-प्रकार धरी यह देह, भ्रमें भव-कानन आन न नेह ॥
अपावन सात कुधात भरीय, चिदातम शुद्ध-सुभाव धरोय ।
धरै इनसो जब नेह तबेव, सुआवत कर्म तबे वसुभेव ॥

जबै तन-भोग-जगत्त-उदास, धरे तब संवर-निर्जर-आस।
करै जब कर्म कलंक विनाश, लहै तब मोक्ष महासुखराश॥
तथा यह लोक नराकृत नित्त, विलोकिय ते षट द्रव्य-विचित्त।
सु आतम-जानन-बोध-विहीन, धरे किन तत्त्व-प्रतीत प्रवीन॥
जिनागम-ज्ञान रु संजम भाव, सबै निज ज्ञान बिना विरसाव।
सुदुर्लभ द्रव्य सुक्षेत्र सुकाल, सुभाव सबै जिहतैं शिव हाल॥
लयो सब जोग सुपुन्य वशाय, कहो किमि दीजिय ताहि गँवाय।
विचारत यों लवकांतिक आय, नमे पद-पंकज पुष्प चढाय॥
कह्यो प्रभु धन्य कियो सुविचार, प्रबोधि सु येम कियो जु विहार।
तबै सब धर्म तनो हरि आय, रच्यो शिविका चढ़ि आप जिनाय॥
धरे तप पाय सुकेवल-बोध, दियो उपदेश सुभव्य संबोध।
लियो फिर मोक्ष महासुख-राश, नमैं नित भक्त सोई सुख आश॥

घत्तानन्द

नित वासव-वंदत, पाप-निकंदत, वासुपूज्य व्रत-ब्रह्म-पती।
भव संकट खंडित, आनंद मंडित, जै जै जै जैवंत जती॥

ॐ ह्रीं श्री वासुपूज्यजिनेन्द्राय पूर्णार्घं निर्वपामीति स्वाहा।

वासुपूज-पद सार, जजौ दरवविधि भावसों।
सो पावै सुखसार, भुक्ति मुक्ति को जो परम॥

[इत्याशीर्वादः । परिपुष्पांजलिं क्षिपामि]

भक्तामर-भाषा

(लेखक—हजारीलाल 'काका' बुन्देलखण्डी)

(वीरवाणी, पाक्षिक पत्र के वर्ष ३५, अक ८ एव ६ से सामार उद्धृत)

देवों के मुकुटो की मणियाँ, जिन चरणो में जगमगा रही,
जो पाप रूप अँधियारे को दिनकर बन कर के भगा रही,
जो भव सागर में पडे हुये जीवो के लिये सहारे हैं,
मन-वच-तन से उन श्री जिन के चरणो में नमन हमार हैं ॥ १ ॥

श्रुतज्ञानी सुरपति लोकपति जिनके गुण गाते हर प्रकार,
स्तोत्र विनय पूजन द्वारा वन्दन करते हैं वार-वार,
आश्चर्य आज मैं मन्द बुद्धि उन आदिनाथ के गुण गाता,
उनकी भक्ति में भक्तामर भाषा मे लिख कर हर्षाता ॥ २ ॥

जो देवो द्वारा पूज्य प्रभु, मैं उनके गुण गाने आया,
होकर अल्पज्ञ ढीठता ही, अपनी दिखलाने को लाया,
मतिमद हूँ उस बालक समान जिसके कुछ हाथ न आता है,
प्रतिबिम्ब चन्द्र का जल में लख लेने को हाथ डुबाता है ॥ ३ ॥

जब प्रलयकाल की वायु से सागर लहराता जोरो से,
तिस पर भी मगरमच्छ घूमें मुँह बाये चारो ओरो से
ऐसे सागर का पार भुजाओ से क्या कोई पा सकता,
बस इसी तरह मैं मन्द बुद्धि प्रभु के गुण कैसे गा सकता ॥ ४ ॥

जिस तरह सिंह के पजे मे बच्चा लख हिरणी जाती है,
ममता वश सिंह समान बली को अपना रोष जताती है,
बस इसी तरह से शक्ति मेरी मुनिनाथ न स्तुति करने को,
जो कहा भक्तिवश ही स्वामी है शक्ति न भक्ति करने की ॥ ५ ॥

ज्यों आम्र मजरी को लख कर कोयल मधुराग सुनाती है,
वैसे ही तेरी भक्ति प्रभु जबरन गुण गान कराती है,
है अल्प ज्ञान विद्वानो के सन्मुख यह दास हँसी का है,
तेरी भक्ति की शक्ति ने जो कहा ये काम उसी का है ॥ ६ ॥

जब जग के ऊपर छा जाता भँवरे-सा काला अंधकार,
सूरज की एक किरण उसको क्षण में कर देती छार-छार,
वैसे ही भव भव के पातक जो भी सञ्चय हो जाते हैं,
तेरी स्तुति के द्वारा ही सब क्षण में क्षय हो जाते हैं । ७ ।

ज्यों कमल पत्र के ऊपर पड़ जल की बूँदें मन हरती हैं
मोती समान आभा पाकर जो जगमग-जगमग करती हैं,
बस उसी तरह यह स्तुति भी तेरे चरणों का बल पाकर,
विद्वानों का मन हर लेगी मुझ अल्प बुद्धि द्वारा गाकर । ८ ।

हे जिनवर तेरी कथा ही जब हर व्यथा दूर कर देती है,
फिर स्तुति का कहना ही क्या जो कोटि पाप हर लेती है,
जैसे सूरज की उजयाली जग का हर काम चलाती है,
पर उससे पहिले की लाली कमलों के झुण्ड खिलाती है । ९ ।

हे भुवनरत्न ! हे त्रिभुवनपति जो तेरी स्तुति गाते हैं,
आश्चर्य नहीं इसमें कुछ भी वो तुम जैसे बन जाते हैं,
जैसे उदार स्वामी पाकर सेवक धनवाले बन जाते,
है जन्म व्यर्थ जग मे उनका जो पर के काम नहीं आते । १० ।

जो चन्द्र किरण सम उज्ज्वल जल मीठा क्षीरोदधि पान करे,
वह लवणोदधि का खारा जल पीने का कभी न ध्यान करे,
वैसे ही तेरी वीतराग मुद्रा जो नेत्र देख लेते,
तो उन्हें सरागी देव कभी अन्तर में शान्ति नहीं देते । ११ ।

जितने परमाणु शुद्ध जग में उनसे निर्मित तेरी काया,
इसलिये आप जैसा सुन्दर दूजा न कोई नजर आया
देवा की अति सुन्दर कान्ति जो नेत्रों में गड़ जाती है
पर वही कान्ति तेरे सन्मुख आते फीकी पड़ जाती है । १२ ।

हे नाथ आप का मुख मण्डल सुर नर के नेत्र हरण करता,
दुनिया की सुन्दर उपमायें कर सकें नहीं जिसकी समता,
जो कान्तिहीन चन्दा दिन में बस ढाक पत्र-सा लगता है,
वह भी जिन के सुन्दर मुख की उपमा कैसे पा सकता है । १३ ।

है त्रिभुवनपति तुम में सब ही उत्तम गुण दिये दिखाई हैं,
हैं पूर्ण चन्द्र से कलावान जो त्रिभुवन को सुखदाई हैं,
इसलिये उन्हे इच्छानुसार विचरण से कौन रोक सकता,
जो त्रिभुवनपति के आश्रय हैं उनको फिर कौन टोक सकता ॥ १४ ॥

जो प्रलयकाल की तेज वायु पर्वत करती कम्पायमान,
वह पर्वतपति सुमेर राज कर सकती नही चलायमान,
बस उसी तरह से जो देवी देवों का मन हर सकती है,
वह सभी देवियाँ मिल प्रभु को विचलित न जरा कर सकती हैं ॥ १५ ॥

हे नाथ दीप जितने जग के जो नजर हमारी आते हैं,
जलते जो तेल बाति द्वारा वायु लगते बुझ जाते हैं,
पर नाथ आप वह दीपक हैं जो त्रिभुवन के प्रकाशक हो,
निर्धूम जला करते निशदिन त्रिभुवन के तभी उपासक हो ॥ १६ ॥

हैं स्तत् प्रकाशी सूर्य आप ग्रस सके न राहू पाप रूप,
इक समय एक सग तीन लोक का प्रकाशित होता स्वरूप,
यह सूर्य मेघ से आच्छादित होकर दिन मे छिप जाता है,
पर हे मुनीन्द्र वह सूर्य आप जो सदा प्रकाश दिखाता है ॥ १७ ॥

मुखचन्द्र आप का है स्वामी मोहान्धकार का नाश करे,
राहू मेघो से दूर सदा नित त्रिभुवन में प्रकाश करे,
पर यह साधारण चन्द्र प्रभु राहू मेघो से घिर जाता,
इतने पर भी यह सिर्फ रात में ही प्रकाश कुछ दे पाता ॥ १८ ॥

जब धान्य खेत में पक जाता जल की रहती परवाह नही,
जल भरे बादलों की जग को रहती फिर किंचित चाह नही,
बस उसी तरह मुखचन्द्र तेरा अज्ञान तिमिर जब हर लेता,
तो सूर्य चन्द्रमा को पाने पर कोई ध्यान नही देता ॥ १९ ॥

मणियो पर पडने से प्रकाश की आभा जितनी बढ़ जाती,
वह छटा काँच के टुकड़ों पर पड़ने से कभी न आ पाती,
बस उसी तरह हे देव आपका स्वपर प्रकाशक तत्व ज्ञान,
वह अन्य देवताओ से है कितना उज्ज्वल कितना महान ॥ २० ॥

उन्नत अशोक तरु के नीचे निर्मल शरीर अतिशय कारी,
अति कान्तिवान जगमगा रहा झाँकी लगती है अति प्यारी,
यह हृदय देख लगता मानो तम ने उजियाला पाया हो,
या फिर मेघों को चीर सूर्य का बिम्ब निकल आया हो ॥ २८ ॥

हे प्रभु ये मणिमय सिंहासन जिसकी किरणें जगमगा रही,
सुवरण से ज्यादा कान्तिवान तन की शोभा अति बढ़ा रही,
ऐसा लगता उदयाचल पर सोने का सूरज बना हुआ,
जिस पर किरणों का कांतिवान सुन्दर चन्दोवा तना हुआ ॥ २६ ॥

जब समोशरण मे भगवन के सोने समान सुन्दर तन पर,
ढुरते हैं अति रमणीक चँवर जो कुन्द पुष्प जैसे मनहर,
तब ऐसा लगता है सुमेर पर जल की धारा बहती हो,
चन्द्रमा समान उज्ज्वल राशि झरझर झरनों से झरती हो ॥ ३० ॥

शशि के समान सुन्दर मन हर रवि ताप नाश करनेवाले,
मोती मणियो से जड़े हुये शोभा महान देनेवाले,
प्रभु के सर पर शोभायमान त्रय छत्र सभी को बता रहे,
ये तीनलोक के स्वामी हैं जगमग कर जग को बता रहे ॥ ३१ ॥

गम्भीर उच्च रुचिकर ध्वनि से जो चारो दिशा गुंजाते हैं,
सत्संग की महिमा तीनलोक के जीवो को बतलाते हैं,
जो तीर्थङ्कर की विजय घोषणा का यश गान सुनाते हैं,
गुंजायमान जो नभ करते वह दुन्दुभि देव बजाते हैं ॥ ३२ ॥

जो पारिजात के दिव्य पुष्प मन्दार आदि से लेकर के,
करते हैं सुरगण पुष्पवृष्टि गन्दोदबिन्दु को दे कर के,
ठण्डी बयार में कुसमावलि जब कल्प वृक्ष से गिरती है,
तब लगता प्रभु की दिव्यध्वनि ही पुष्प रूप मे खिरती है ॥ ३३ ॥

जो त्रिभुवन में दैदीप्यमान की दीप्ति जीतनेवाली है,
जो कोटि सूर्य की आभा को भी लज्जित करनेवाली है,
जो शशि समान हो शान्ति सुधा जग को वर्षानेवाली है,
उस भामण्डल की दिव्य चाँदनी से भी छटा निराली है ॥ ३४ ॥

हे प्रभु आप की दिव्य-ध्वनि जब समवशरण में खिरती है,
तब सभी मोक्ष प्रेमी जीवों का अनायास मन हरती है,
परिणमन आप की वाणी का खुद हो जाता हर बोली में,
जो भी प्राणी आकर सुनता है समवशरण की टोली में ॥ ३५ ॥

नूतन कमलों-सी कान्तिवान चरणों की शोभा प्यारी है,
नख की किरणों का तेज स्वर्ण जैसा लगता मनहारी है,
ऐसे मनहारी चरणों को जिस जगह प्रभुजी धरते हैं,
उस जगह देव उनके नीचे कमलों की रचना करते हैं ॥ ३६ ॥

हे श्री जिनेन्द्र तेरी विभूति सचमुच ही अतिशयकारी है,
धर्मोपदेश की सभा आप जैसी न और ने धारी है,
जैसे सूरज का उजियाला सारा अम्बर चमकाता है,
वैसे नक्षत्र अनेकों पर सूरज को एक न पाता है ॥ ३७ ॥

मदमस्त कली के गण्डस्थल पर जब भौंरे मँडराते हैं,
उस समय क्रोध से हाथी के दोउ नयन लाल हो जाते हैं,
इतने विकराल रूपवाला हाथी जब सन्मुख जाता है,
ऐसे सङ्कट के समय आप का भक्त नहीं घबराता है ॥ ३८ ॥

जो सिंह मदान्ध हाथियों के सिर को विदीर्ण कर देता है,
शोणित से लथपथ गज मुक्ता पृथ्वी को पहिना देता है,
ऐसा क्रूर वनराज शत्रुता छोड़ मित्रता धरता है,
जब उसके पंजे में भगवन कोई भक्त आप का पड़ता है ॥ ३९ ॥

हे प्रभो प्रलय का पवन जिसे धू-धू कर के धधकाता हो,
ऐसी विकराल अग्नि ज्वाला जो क्षण में नाश कराती हो,
उसको तेरे वचनामृत जल पल भर में शान्ति प्रदान करे,
जो भक्तिभाव कीर्तन रूपी तेरा पवित्र जल पान करे ॥ ४० ॥

हे प्रभु नागदमनी से ज्यों सर्पों की एक न चल पाती,
विषधर की डँसने की सारी शक्ति क्षण में क्षय हो जाती,
बस उसी तरह श्रद्धा से जो तेरा गुण गान किया करते,
वह डरते नहीं क्रुद्ध काले नागों पर कभी पैर धरते ॥ ४१ ॥

'जैसे सूरज की किरणो से अँधियारा नजर नही आता,
भीषण से भीषण अन्धकार का कोई पता नही पाता,
बस उसी तरह से हे जिनवर जो गाता तेरी गुण गाथा,
उसको सशक्त हय गज वाले राजा टेका करते माथा ॥ ४२ ॥

रण मे भाले से अरियो का जब रुधिर वेग से बहता है,
वह रुधिर धार कर पार वेग से हर योद्धा तत्पर रहता है,
ऐसे दुर्जय शत्रु पर भी वह विजय पताका फहराते,
हे प्रभु आप के चरण कमल जिनके द्वारा पूजे जाते ॥ ४३ ॥

सागर की भीषण लहरो से जब नैया डगमग करती है,
या फिर प्रलयकारी स्वरूप अग्नि जब अपना धरती है,
उस वक्त आपका ध्यान मात्र जो भक्त हृदय से करते हैं,
इन आकस्मिक विपदाओ में हर समय देव गण रहते हैं ॥ ४४ ॥

हे प्रभो जलोदर से जिनकी काया निर्बल हो जाती है,
जीने की आशा छोड़ दशा जब शोचनीय हो जाती है,
उस समय आपके चरणों की रज जो बीमार लगाते हैं,
वह फिर से कामदेव जैसा सुन्दर स्वरूप पा जाते हैं ॥ ४५ ॥

जो लौह शृङ्खलाओ द्वारा पग से गर्दन तक जकड़ा हो,
जकड़न से जङ्घाओं पर का चमड़ा भी कुछ-कुछ उखड़ा हो,
ऐसा मानव भी बन्धन से पल में मुक्ति पा जाता है,
'जो तेरे नाम मन्त्र को प्रभु अपने अन्तर मे ध्याता है ॥ ४६ ॥

हे प्रभु आप की यह विनती जो भक्ति भाव से गाते हैं,
दावानल सिंह सर्प हाथी हर विघ्न दूर हो जाते हैं,
तिर जाते गहरे सागर से तन के बन्धन कट जाते हैं,
हर रोग दूर हो जाते जो भक्तामर पाठ रचाते हैं ॥ ४७ ॥

यह शब्द सुमन से गूथी है श्री जिनवर के गुण की माला,
वह मोक्ष लक्ष्मी पाता है जिसने भी इसे गले डाला,
श्री मानतुङ्ग मुनिवर ने ये स्तोत्र रचा सुखदाई है,
कवि 'काका' ने भाषा द्वारा हर कण्ठो तक पहुँचाई है ॥ ४८ ॥

दोहा—

भक्तामर स्तोत्र का करे भव्य जो जाप, मनोकामना पूर्ण हो मिटे सभी संताप ।
विघ्न हरन मगल करन सभी सिद्धि दातार, 'काका' भक्तामर नमो भव दधि तारनहार ।

समाधिमरण भाषा

वन्दों श्री अरहत परमगुरु, जो सबको सुखदाई,
इस जग मे दुःख जो मैं भुगते, सो तुम जानो राई।

अब मैं अरज करू प्रभु तुमसे, कर समाधि उर मांही।
अन्त समय मैं यह वर मांगू, सो दीजे जग-राई ॥ १ ॥

भव भव में तनधार नया मैं, भव भव शुभ सग पायो,
भव भव मे नृपरिद्धि लई मैं, मात पिता सुत थायो।
भव भव में तन पुरुषतनों धर, नारी हूँ तन लीनो,
भव भव मे मैं भया नपुंसक, आतम गुण नहि चीन्हो ॥ २ ॥

भव भव मे सुरपदवी पाई, ताके सुख अति भोगे,
भव भव मे गति नरकतनो धर, दुःख पायो विधि योगे।
भव भव में तिर्यञ्च योनिधर, पायो दुःख अति भारी,
भव भव मे साधर्मीजनको, सग मिल्यो हितकारी ॥ ३ ॥

भव भव मे जिनपूजन कीनी, दान सुपात्रहिं दीनो,
भव भव में मैं समवसरण मे, देखो जिनगुण भीनो।
एती वस्तु मिली भव भव में, सम्यकगुण नहिं पायो,
नहिं समाधियुत मरण कियो मैं, तातैं जग भरमायो ॥ ४ ॥

काल अनादि भयो जग भ्रमतैं, सदा कुमरणहि कीनो,
एकबार हूँ सम्यकयुत मैं, निज आतम नहिं चीनो।
जो निज पर को ज्ञान होय तो, मरण समय दुःख कोई,
देह विनासी मे निज भासो, ज्योति स्वरूप सदाई ॥ ५ ॥

विषय कषायन के वश होकर, देह आपनो जान्यो,
कर मिथ्या सरधान हिये विच, आतम नाहि पिछान्यो।
यों कलश हियधार मरणकर, चारों गति भरमायो,
सम्यकदर्शन-ज्ञान-चरन ये हिरदे मे नहिं लायो ॥ ६ ॥

अब या अरज करू प्रभु सुनिये, मरण समय यह मांगो,
रोगजनित पीडा मत होवे, अरु कषाय मत जागो।
ये मुझ मरण समय दुखदाता, इन हर साता कीजे,
जो समाधियुत मरण होय मुझ, अरु मिथ्यामद छीजे ॥ ७ ॥

यह सब मद मोह बढ़ावनहारे, जियकी दुर्गति दाता,
इनसे ममत निवारो जियरा, जो चाहो सुख साता।
मृत्युकल्पद्रुम पाय सयाने, मांगो इच्छा जेती,
समता धरकर मृत्यु करो तो, पावो सम्पत्ति तेती ॥१५॥

चौआराधन सहित प्राण तज, तो या पदवी पावो,
हरि प्रतिहरि चक्री तीर्थेश्वर, स्वर्गमुक्ति में जावो।
मृत्युकल्पद्रुम सम नहिं दाता, तीनो लोक मझारे,
ताको पाय कलेश करो मत, जन्म जवाहर हारे ॥१६॥

इस तन मे क्या राचे जियरा, दिन दिन जीरन हो है,
तेजकांति बल नित्य घटत है, या सम अथिर सु को है।
पांचो इन्द्री शिथिल भई अब, स्वास शुद्ध नहिं आवे,
तापर भी ममता नहिं छोडे, समता उर नहि लावे ॥१७॥

मृत्युराज उपकारी जियको, तनसौं तोहि छुड़ावे,
नातर या तन बन्दीगृह में, परयो परयो बिललावे।
पुद्गल के परमाणु मिलके, पिण्डरूपतन भासी,
याही मूरत में अमूरती, ज्ञानजोति गुणवासी ॥१८॥

रोगशोक आदिक जो वेदन, ते सब पुद्गल लारे,
में तो चेतन व्याधि विना नित, है सो भाव हमारे।
या तनसों इस क्षेत्रसम्बन्धी, कारन आन बन्यो है,
खान-पान दे याको पोष्यो, अब सम भाव ठन्यो है ॥१९॥

मिथ्यादर्शन आत्मज्ञान बिन, यह तन अपनो मान्यो,
इन्द्री भोग गिने सुख मैंने, आपो नाहिं पिछान्यो।
तन विनशनतें नाश जानि निज, यह अयान दुखदाई,
कुटुम्ब आदि को अपनो जान्यो, भूल अनादि छाई ॥२०॥

अब निज भेद जथारथ समझयो, मैं हूँ ज्योतिस्वरुपी,
उपजे विनसे सो यह पुद्गल, जान्यो याको रूपी।
इष्ट अनिष्ट जेते सुख-दुख हैं, सो सब पुद्गल लागैं,
मैं जब अपनो रूप विचारो, तब वे सब दुख भागैं ॥२१॥

मन थिरता करके तुम चिन्तो, चौ आराधन भाई,
वे ही ताको सुख की दाता, और हितु कोउ नाही।
आगे बहु मुनिराज भये है, तिन गहि थिरता भारी,
बहु उपसर्ग सहै शुभ भावन, आराधन उर धारी ॥२९॥

तिनमे कछुइक नाम कहूँ मैं, सुनो जिया चित लाके,
भावसहित अनुमोदे तासे, दुर्गति होय न जाके।
अरु समता निज उर में आवे, भाव अधीरज जावे,
यो निशदिन जो उन मुनिवर को, ध्यान हिये बिच लावे ॥३०॥

धन्य-धन्य सुकुमाल महामुनि, कैसे धीरज धारी,
एक श्यालनी युगबच्चायुत, पांव भख्यो दुखकारी।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चित धारी,
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु महोत्सव बारी ॥३१॥

धन्य-धन्य जु सुकौशल स्वामी, व्याघ्री ने तन खायो,
तो भी श्रीमुनि नेक डिगो नहि, आतमसो हित लायो।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चित धारी,
तो तुमरे जिय कौन दुःख है। मृत्यु महोत्सव बारी ॥३२॥

देखो गजमुनि के सिर ऊपर, विप्र अगिनि बहु बारी,
शीश जलै जिमि लकडी तनको, तो भी नाहि चिगारी।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चित धारी,
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु महोत्सव बारी ॥३३॥

सनतकुमार मुनि के तन मे, कुष्ठ वेदना व्यापी,
छिन्नभिन्न तन तासो हूवो, तब चिन्त्यो गुण आपो।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी,
तो तुमरे जिय कौन दुःख है, मृत्यु महोत्सव बारी ॥३४॥

श्रेणिकसुत गगा में डूब्यो, तब जिन नाम चितारचो,
धर सलेखना परिग्रह छोड्यो, शुद्ध भाव उर धारचो।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी,
तो तुमरे जिये कौन दुःख है? मृत्यु महोत्सव बारी ॥३५॥

समन्तभद्र मुनिवर के तन मे क्षुधावेदना आई,
तो दु ख मे मुनि नेक न डिगियो, चित्यो निजगुण भाई ।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी,
तौ तुमरे जिय कौन दु ख है ? मृत्यु महोत्सव बारी ॥३६॥

ललितघटादिक तीस दोय मुनि, कौशाम्बीतट जानो,
नदी मे मुनि बहकर डूबे, सो दु ख उन नहि मानो ।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी,
तौ तुमरे जिय कौन दु ख है ? मृत्यु महोत्सव बारी ॥३७॥

धर्मकोष मुनि चम्पानगरी, बाह्य ध्यान धर ठाढ़ो,
एक मास की कर मर्यादा, तृषा दु ख सह गाढ़ो ।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी,
तौ तुमरे जिय कौन दु ख है ? मृत्यु महोत्सव बारी ॥३८॥

श्रीदत्तमुनि के पूर्व जन्म को, बैरी देव सु आके,
विक्रिय कर दु ख शीततनो, सो सह्यो साधु मनलाके ।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी,
तौ तुमरे जिय कौन दु ख है ? मृत्यु महोत्सव बारी ॥३९॥

वृषभसेन मुनि उष्ण शिला पर, ध्यान धरयो मनलाई,
सूर्य धाम अरु उष्ण पवन की, वेदन सहि अधिकाई ।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी,
तौ तुमरे जिय कौन दु ख है ? मृत्यु महोत्सव बारी ॥४०॥

अभयघोष मुनि काकदीपुर, महावेदना पाई,
बैरी चन्डने सब तन छेद्यो, दु ख दीनो अधिकाई ।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी,
तौ तुमरे जिय कौन दु ख है ? मृत्यु महोत्सव बारी ॥४१॥

विद्युत चर ने बहु दु ख पायो, तो भी धीर न त्यागी,
शुभ भावना से प्राण तजे निज, धन्य और बड़भागी ।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी,
तौ तुमरे जिय कौन दु ख है ? मृत्यु महोत्सव बारी ॥४२॥

पुत्र चिलाती नामा मुनि को, बैरी ने तन घातो,
मोटे-मोटे कीट पडे तन, तापर निज गुण रातो।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी,
तो तुमरे जिय कौन दुख है? मृत्युमहोत्सव बारी ॥४३॥

दण्डकनामा मुनि की देही, बाणन कर अति भेदी,
तापर नेक डिगे नहिं वे मुनि, कर्म महारिपु छेदी।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी,
तो तुमरे जिय कौन दुख है? मृत्यु महोत्सव बारी ॥४४॥

अभिनन्दन मुनि आदि पांच सौ, घानि पेलि जु मारे,
तो भी श्रीमुनि समता धारी, पूरब कर्म विचारे।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी,
तो तुमरे जिय कौन दुख है? मृत्यु महोत्सव बारी ॥४५॥

चाणक मुनि गोधर के मांही, मन्द अगनि पर जाल्यो,
श्रीगुरु उर समभाव धारके, अपनो रूप सम्हाल्यो।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी,
तो तुमरे जिय कौन दुख है? मृत्यु महोत्सव बारी ॥४६॥

सात शतक मुनिवर ने पायो, हस्तनापुर मे जानो,
बलिब्राह्मण कृत घोर उपद्रव, सो मुनिवर नहि मानो।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी,
तो तुमरे जिय कौन दुख है? मृत्यु महोत्सव बारी ॥४७॥

लोहमयी आभूषण गढके, ताते कर पहराये,
पांचो पाण्डव मुनि के तन में, तो भी नाहि चिगाये।
यह उपसर्ग सह्यो धर थिरता, आराधन चितधारी,
तो तुमरे जिय कौन दुख है? मृत्यु महोत्सव बारी ॥४८॥

और अनेक भये इस जग मे, समता रस के स्वादी,
वे ही हमको हो सुखदाता, हर हैं टेव प्रमादी।
सम्यक्-दर्शन ज्ञान चरन तप, ये आराधन चारो,
ये ही मोक्ष सुख के दाता, इन्हे सदा उर धारो ॥४९॥

यो समाधि उरमाही लावो, अपनो हित जो चाहो,
तज ममता अरु आठों मदको, जोतिस्वरूपी ध्यावो।
जो कोई नित करत पयानो, ग्रामान्तर के काजे,
सो भी शकुन विचारै नीके, शुभ के कारण साजे ॥५०॥

मातादिक अरु सर्व कुटुम्ब सो, नीको शकुन बनावे,
हलदी धनिया पुङ्गी अक्षत, दूब दही फल लावे।
एक ग्राम के कारण एते, करैं शुभाशुभ सारे,
जब परगति को करत पयानो, तब नहि सोचे प्यारे ॥५१॥

सर्व कुटुम्ब जब रोवन लागे, तोहि रुलावे सारे,
ये अपशकुन करैं सुन तोको, तू यो क्यो न विचारे।
जब परगति को चालत बिरिया, धर्मध्यान उर आनो,
चारो आराधन आराधो, मोहतनो दुख हानो ॥५२॥

ह्वै निःशल्य तजो सब दुविधा आतमराम सुध्यावो,
जब परगति को करहु पयानो, परम तत्व उर लावो।
मोह जालको काट पियारे, अपनो रूप विचारो,
मृत्यु मित्र उपकारी तेरो, यो उर निश्चय धारो ॥५३॥

दोहा—मृत्युमहोत्सव पाठको पढो सुनो बुधिवान।
सरधा धर नित सुख लहो, सूरचन्द्र शिवथान॥
पञ्च उभव नव एक नभ, सवतें सो सुखदाय।
आश्विन श्यामा सप्तमी, कह्यो पाठ मनलाय॥



श्री शांतिनाथ जिन पूजा

(कवि श्री रामचन्द्रजी कृत)

अडिल्ल

शान्ति जिनेश्वर नमूँ तीर्थ वसु दुगुण ही,
पचमचक्री अनग दुविध षट् सुगुण ही ।
तृणवत रिधि सब छारि धारि तप शिव वरी,
आह्वाननविधि करू वारत्रय उच्चरी ॥ १ ॥

ॐ ह्रीं श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्र ! अत्र अवतर अवतर सवौषट् ।
ॐ ह्रीं श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्र ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठ ठ स्थापन ।
ॐ ह्रीं श्री शान्तिनाथजिनेन्द्र ! अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् ।

नाराच छन्द

शैल हेमतैं पतत आपिका सुव्योमही ।
रत्नभृन्गधारि नीर सोत आग सो मही ॥
रोग सोग आधि व्याधि पूजते नसाय हैं ।
अनत सौख्यसार शांतिनाथ सेय पाय हैं ॥१॥

ॐ ह्रीं श्री शान्तिनाथजिनेन्द्राय जन्मजरामृत्युविनाशनाय जल नि०

चदनादि कुकमादि गधसार ल्यावही
भृग वृद गुजतैं समीर सग ध्यावही ॥ रोग सोग० ॥२॥

ॐ ह्रीं श्री शान्तिनाथजिनेन्द्राय ससारतापविनाशनाय चन्दन निर्व०

इदु कुद हारतैं अपार स्वेत साल ही ।
दुति खडकार पुज धारिये विशाल ही ॥ रोग सोग० ॥३॥

ॐ ह्रीं श्री शान्तिनाथभगवज्जिनेन्द्राय अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान्०

पचवरन पुष्पसार ल्याइये मनोग्य ही ।
स्वर्न थाल धारिये मनोज नास जोग्यही ॥ रोग सोग० ॥४॥

ॐ ह्री श्री शान्तिनाथभगवज्जिनेन्द्राय कामबाणविध्वसनाय पुष्प०

जेठ असित चउदसि धरचो, तप तजि राज महान ।
सुर नर खगपति पद जजैं, है जज हूँ भगवान ।। ३ ।।

ॐ ह्रीं श्री ज्येष्ठकृष्णचतुर्दश्या तपोमगलमडिताय श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्राय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ।

पोस सुकल ग्यारसि हने, घाति कर्म सुखदाय ।
केवल लहि वृष भाखियौ, जजू शांति पद ध्याय ।। ४ ।।

ॐ ह्री श्री पौषशुक्लैकादश्या ज्ञानमगलमडिताय श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्राय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ।

कृष्ण चतुरदसि जेठकी, हनि अघाति सिवथान ।
गये समेदाचल थकी, जजू मोक्ष कल्यान ।। ५ ।।

ॐ ह्रीं श्री ज्येष्ठकृष्णाचतुर्दश्या मोक्षमगलमडिताय श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्राय अर्घं निर्वपामीति स्वाहा ।

जयमाला

सोरठा—शांति जिनेश्वर पाय, बदू मन बच कायतै ।
देहु सुमति जिनराय, ज्यौ विनती रुचिौं करौं ।। १ ।।

(चाल ससार सासरियो भाई दोहिलो)

शांति करम वसुहानिकै, सिद्ध भये सिव जाय ।
शांति करो सब लोक मे, अरज यहै सुखदाय ।।
शांति करो जगशांतिजी ।। १ ।।

धन्य नयरि हथनापुरी, धन्य पिता विश्वसेन ।
धन्य उदर अयरा सतो, शांति भये सुख देन ।। शांति० ।।२।।

भादव सप्तमि स्यामहि, गर्भकल्याणक ठानि ।
रतन धनद वरषाइये, षट नव मास महान ।। शांति० ।।३।।

जेठ असित चउजस विषैं, जनम कल्याणक इद ।
मेरु करचौ अभिषेककैं, पूजि नचे सुरवृन्द ।। शांति० ।।४।।

हेम वरन तन सोहना, तुग धनुष चालीस ।
आयुवरसलख नरपति, सेवत सहस बतीस ।। शांति० ।।५।।

षटखंड नवविधि तियसवे, चउदहरतन भडार ।
कछुकारण लखिके तजे, पणचव असिय अगार ॥ शांति० ॥ ६ ॥

देव रिषि सब आयकैं, पूजि चले जिन वोधि ।
लेय सुरा सिवका धरी, विरछ नदीश्वर सोधि ॥ शांति० ॥ ७ ॥

कृष्ण चतुरदसि जेठकी, मनपरजै लहि ज्ञान ।
इद कल्याणक तप करलो, ध्यान धरचा भगवान ॥ शांति० ॥ ८ ॥

षष्ठम करि हित असनकै, पुर सोमनस मझार ।
गये दयो पय मित्तजी, वरषे रतन अपार ॥ शांति० ॥ ९ ॥

मौनसहित वसु दुगुणही, बरस करे तप ध्यान ।
पौष सुकल ग्यारसि हने, घाति लह्यो प्रभु ज्ञान ॥ शांति० ॥१०॥

समवसरन धनपति रच्यौ, कमलासनपर देव ।
इन्द्र नरा षटद्रव्यकी, सुति थिति श्रुति करि एव ॥ शांति० ॥११॥

धन्य जगलपद सो तनो, आयौ तुम दरबार ।
धन्य उभ चक्षि ये भये, वदन जिनन्द निहारि ॥ शांति० ॥१२॥

आज सफल कर ये भये, पूजत श्रीजिन पाय ।
सीस सफल अब ही भयो, धोक्यो तुम प्रभु आय ॥ शांति० ॥१३॥

आज सफल रसना भई, तुम गुणगान करन्त ।
धन्य भयौ हिय मो तनौं, प्रभुपदध्यान धरन्त ॥ शांति० ॥१४॥

आज सफल जग मो तनौं, श्रवन सुनत तुमवैन ।
धन्य भये वसु अग ये, नमत लयौ अति चैन ॥ शांति० ॥१५॥

राम कहै तुम गुणतणा, इन्द लहै नहि पार ।
मैं मति अलप अजान हूँ, होय नही विसतार ॥ शांति० ॥१६॥

बरस सहस पचीसही, षोडस कम उपदेश ।
देय समेद पधारिये, मास रहे इक सेस ॥ शांति० ॥१७॥

जेठ असित चउदसि गये, हनि अघाति सिवथान ।
सुरपति उत्सव अति करे, मगल मोछि कल्यान ॥ शांति० ॥१८॥

सेवक अरज करै सुनो, हो करुणानिधि देव।
दुखमय भवदधि तैं मुझै, तारि करू तुम सेव ॥ शांति० ॥१६॥

घत्ता छन्द

इति जिन गुणमाला अमल रसाला जो भविजन कंठे धरई।
हुय दिवि अमरेस्वर, पृहमि नरेस्वर, शिवसुन्दरि ततछिन वरई ॥
ॐ ह्री श्री शातिनाथजिनेन्द्राय पूर्णार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा।

षोडशकारण व्रत जाप

समुच्चय — ॐ ह्री श्री दर्शनविशुद्धयादि षोडशकारण भावनाभ्यो नम ।

(१) ॐ ह्री श्री दर्शन विशुद्धये नम (२) ॐ ह्री श्री विनय सम्पन्नतायै नम (३) ॐ ह्री श्री शीलव्रतेष्वनतिचाराय नम (४) ॐ ह्री श्री अभीक्ष्णज्ञानो पयोगाय नम (५) ॐ ह्री श्री सवेगाय नम (६) ॐ ह्री श्री शक्तितस्त्यागाय नम (७) ॐ ह्री श्री शक्तितस्तपसे नम (८) ॐ ह्री श्री साधुसमाधये नम (९) ॐ ह्री श्री वैयाव्रत्य करणाय नम (१०) ॐ ह्री श्री अर्हद्भक्त्यै नम (११) ॐ ह्री श्री आचार्य भक्त्यै नम (१२) ॐ ह्री श्री बहुश्रुतभक्त्यै नम (१३) ॐ ह्री श्री प्रवचनभक्त्यै नम (१४) ॐ ह्री श्री आवश्यकापरिहाणयै नम (१५) ॐ ह्री श्री मार्गप्रभावनायै नम -(१) ॐ ह्री श्री प्रवचन-वत्सलत्वाय नम ।

* भजन *

सांवलिया पारसनाथ शिखर पर भले विराजे जी।
भले विराजे, भले विराजे, भले विराजे जी ॥ साव० ॥१॥
टोंक टोंक पर ध्वजा विराजे झालर घंटा बाजे जी।
झालर की झंकार सुनो जब अनहद बाजे बाजे जी ॥ साव० ॥२॥
दूर दूर से यात्री आवें मन में लेकर चाव।
अष्ट द्रव्य से पूजा कीनी, पुष्प दिये चढाय ॥ सांव० ॥३॥
पैंड पैंड पर सिंह दहाडे जहाँ भीलों का वासा।
जहाँ प्रभु तुम मोक्ष गये थे वहाँ लियो निरवासा ॥ साव० ॥४॥
दूर दूर से भील भी आये जिनकी मोटी चोटी।
जिन के दया धर्म नहीं मन में उनकी किस्मत खोटी ॥ सांव० ॥५॥

❀ आरती ❀

इह विधि मंगल आरती कीजे, पच परमपद्भज सुख लीजे। टेक।
पहली आरती श्री जिनराजा, भवदधि पार उतार जिहाजा। यह०।
दूसरी आरती सिद्धन केरो, सुमरन, करत मिटे भव फेरो। यह०।
तीजी आरती सूर मुनिन्दा, जनम मरण दु:ख दूर करिन्दा। यह०।
चौथी आरती श्री उवज्झाया, दर्शन देखत पाप पलाया। यह०।
पाचवीं आरती साधु तिहारी, कुमति विनाशन शिव अधिकारी॥
छट्ठी ग्यारह प्रतिमा धारी, श्रावक बन्दौं आनन्दकारी। यह०।
सातवीं आरती श्री जिनवाणी, 'द्यानत' स्वर्ग मुक्ति सुखदानी।
सध्या करके आरती कीजे, अपनो जनम सफल कर लीजे।
जो कोई आरती करे करावे, सो नर नारी अमर पद पावे॥

❀ चौबीसों भगवान की आरती ❀

ऋषभ अजित संभव अभिनन्दन, सुमति पदम सुपार्श्व की जय हो।
जिनराजा, दीनदयाला, श्री महाराज की आरती। टेक।
चन्द्र पहुप शीतल श्रेयाशा, वासुपूज्य महाराज की जय हो। जिन०
विमल अनन्त धर्म जस उज्ज्वल, शान्तिनाथ महाराज की जय हो। जिन०
कुंथुनाथ, अरि, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमिनाथ महाराज की जय हो। जिन०
नेमिनाथ प्रभु पार्श्व शिरोमणि, वर्द्धमान महाराज की जय हो। जिन०
जिन चौबीसों की आरती करो, म्हारो आवागमन, म्हारो जामण मरण
मिटावो महाराज जी, जय हो जिनराजा,
दीनदयाला श्री महाराज की आरती।

॥ श्री महावीर स्वामी की आरती ॥

जय महावीर प्रभो स्वामी जय महावीर प्रभो ।
कुण्डलपुर अवतारी, त्रिशलानन्द विभो ॥
ओम जय महावीर प्रभो ॥

सिद्धारथ घर जन्मे, वैभव था भारी स्वामी वैभव था भारी
बाल ब्रह्मचारी, व्रत पाल्यो तपधारी । १ । ओम जय

आतम ज्ञान विरागी, सम दृष्टि धारी ।
माया मोह विनाशक, ज्ञान ज्योति जारी । २ । ओम जय

जग में पाठ अहिंसा, आपही विस्तार्यो ।
हिंसा पाप मिटा कर, सुधर्म परिचार्यो । ३ । ओम जय

यहि विधि चांदनपुर में अतिशय दरशार्यो ।
ग्वाल मनोरथ पुर्यो दूध गाय पायो । ४ । ओम जय

अमरचन्द को स्वपना, तुमने प्रभु दीना ।
मन्दिर तीन शिखिर का, निर्मित है कीना । ५ । ओम जय

जयपुर नृप भी तेरे, अतिशय के सेवी ।
एक ग्राम तिन दिनों, सेवा हित यह भी । ६ । ओम जय

जो कोई तेरे दर पर, इच्छा कर आवे ।
मनवांछित फल पावे, संकट मिट जावे । ७ । ओम जय

निशि दिन प्रभु मन्दिर में जगमग ज्योति जरे ।
सेवक प्रभु चरणों में, आनन्द मोद भरे । ८ ।
ओम जय महावीर प्रभो ॥

पार्श्वनाथ की आरती

रचयिता—जियालाल जैन

जय पारस देवा प्रभु जय पारस देवा।
सुर नर मुनि जन तव चरनन की करते नित सेवा ॥ टेक

पौष बदी ग्यारसी, काशी मे आनन्द अति भारी।
अश्वसेन घर वामा के उर लीनो अवतारी ॥ जय० ॥ १ ॥

श्याम वरण नव हाथ काय पग उरग लखन सोहै।
सुरकृत अति अनुपम पट भूषण सबका मन मोहै ॥ जय० ॥ २ ॥

जलते देख नाग नागिनी को पच नवकार दिया।
हरा कमठ का मान ज्ञान का भानु प्रकाश किया ॥ जय० ॥ ३ ॥

मात-पिता तुम स्वामी मेरे आश करूँ किसकी।
तुम बिन दूजा और न कोई शरण गहूँ जिसकी ॥ जय० ॥ ४ ॥

तुम परमातम तुम अध्यातम तुम अन्तर्यामी।
स्वर्ग मोक्ष पदवी के दाता त्रिभुवन के स्वामी ॥ जय० ॥ ५ ॥

दीनबन्धु दुखहरण जिनेश्वर तुम ही हो मेरे।
दो शिवपुर का वास दास हम द्वार खड़े तेरे ॥ जय० ॥ ६ ॥

विषय विकार मिटाओ मन का अर्ज सुनो दाता।
'जियालाल' कर जोड प्रभु के चरणो चित लाता ॥ जय० ॥ ७ ॥

अथ शांति मंत्र प्रारभ्यते

ॐ नमः सिद्धेभ्यः । श्री वीतरागाय नमः । ॐ नमोऽर्हते भगवते, श्रीमते पार्श्वतीर्थङ्कराय द्वादशगणपरिवेष्टिताय, शुक्लध्यान पवित्राय, सर्वज्ञाय स्वयम्भुवे, सिद्धाय, बुद्धाय, परमात्मने, परमसुखाय, त्रैलोकमहोव्याप्ताय, अनन्तससारचक्रपरिमर्दनाय, अनन्तदर्शनाय, अनन्तवीर्याय, अनन्तसुखाय, सिद्धाय, बुद्धाय, त्रैलोक्यवशङ्कराय, सत्यज्ञानाय, सत्यब्रह्मणे, धरणेन्द्रफणामण्डलमण्डिताय, ऋष्यायिका श्रावक श्राविका प्रमुख चतुस्सङ्घोपसर्गविनाशनाय, घातिकर्म विनाशनाय, अघातिकर्म विनाशनाय । अपवाय छिधि-छिधि भिधि-भिधि । मृत्युं छिधि-छिधि भिधि-भिधि । अतिकामछिधि २ भिधि २ । रतिकाम छिधि-छिधि भिधि भिधि । क्रोध छिधि-छिधि भिधि-भिधि । अग्नि छिधि-छिधि भिधि-भिधि । सर्वशत्रु छिधि २ भिधि २ । सर्वोपसर्ग छिधि २ भिधि २ । सर्वविघ्न छिधि २ भिधि २ । सर्वभय छिधि २ भिधि २ । सर्वराजभय छिधि २ भिधि २ । सर्वचौरभय छिधि २ भिधि २ । सर्वदुष्टभय छिधि २ भिधि २ । सर्वमृगभय छिधि २ भिधि २ । सर्वमात्मचक्रभय छिधि २ भिधि २ । सर्वपरमन्त्र छिन्धि २ भिन्धि २ । सर्वशूलरोग छिन्धि २ भिन्धि २ । सर्वक्षयरोग छिन्धि २ भिन्ध २ । सर्वकुष्ठरोग छिन्धि २ भिन्धि २ । सर्वक्रूररोग छिन्धि २ भिन्धि २ । सर्वनरमारीं छिन्धि २ भिन्धि २ । सर्वगजमारीं छिन्धि २ भिन्धि २ । सर्वाश्वमारीं छिन्धि २ भिन्धि २ । सर्वगोमारी छिन्धि २ भिन्धि २ । सर्वमहिषमारिं छिन्धि २ भिन्धि २ । सर्वधान्यमारिं छिन्धि २ भिन्धि २ । सर्ववृक्षमारिं छिन्धि २

भिन्धि २। सर्वगलमारि छिन्धि २ भिन्धि २। सर्वपत्रमारि छिन्धि २ भिन्धि २। सर्वपुष्पमारि छिन्धि २ भिन्धि २ सर्वफलमारि छिन्धि २ भिन्धि २। सर्वराष्ट्रमारि छिन्धि २ भिन्धि २। सर्वदेशमारि सिन्धि २ भिन्धि २। सर्वविषमारि छिन्धि २ भिन्धि २। वेतालशाकिनीभय छिन्धि २ भिन्धि २ सर्ववेदनीय छिन्धि २ भिन्धि २। सर्वमोहनीय छिन्धि २ भिन्धि २ सर्वकर्माष्टक छिन्धि २ भिन्धि २।

ॐ सुदर्शन महाराज चक्रविक्रम तेजोबल शौर्यवीर्य शान्ति कुरुकुरु। सर्वजनानन्दन कुरुकुरु। सर्वभव्यानन्दन कुरुकुरु। सर्व गोकुलानन्दन कुरुकुरु। सर्वग्राम नगरखेट कर्वटमट बपत्तनद्रोण मुख सवाहानन्दन कुरुकुरु। सर्वलोकानन्दन कुरुकुरु। सर्वदेशानन्दन कुरुकुरु सर्वजयमानानन्दन कुरुकुरु। सर्वदु ख हन हन, दह दह, पच कुट कुट, शीघ्र शीघ्र । यत्सुख त्रिषुलोकेषु व्याधिव्यसनवर्जित।

अभय क्षेममारोग्य स्वतिरस्तुविधीयते॥ शिवमस्तु। कुलगोत्रधन धान्य सदास्तु। चन्द्रप्रभु वासुपूज्य मल्लिवर्द्धमान पुष्पदन्तशीतल मुनिसुव्रत नेमिनाथ पार्श्वनाथ इत्येभ्यो नमः॥ इत्यनेन मन्त्रेण नवग्रहार्थ गन्दोध धारा वर्षणम्॥

अष्टाह्निका व्रत जाप

समुच्चय — ॐ ह्री श्री नन्दीश्वर द्वीपस्थद्वापचाशज्जिन चैत्यालयेभ्यो नम ।

(१) ॐ ह्री श्री नन्दीश्वर सज्ञाय नम (२) ॐ ह्री श्री अष्टमहाविभूति सज्ञाय नम
(३) ॐ ह्री श्री त्रिलोकसार सज्ञाय नम (४) ॐ ह्री श्री चतुर्मुख सज्ञाय नम
(५) ॐ ह्री श्री स्वर्गसोपान सज्ञाय नम (६) ॐ ह्री श्री सिद्धचक्र सज्ञाय नम
(७) ॐ ह्री श्री पञ्चमहालक्षण सज्ञाय नम (८) ॐ ह्री श्री इन्द्रध्वज सज्ञाय नम

श्री चौबीस तीर्थङ्करों के पञ्च-कल्याणक तिथियां

श्रावकों को नीचे लिखे दिनों में पूजन और स्वाध्याय करना चाहिये, ऐसा करने से पुण्य बंध होता है।

स०	नाम तीर्थङ्कर	गर्भ	जन्म	तप	ज्ञान	मोक्ष
१	श्री आदिनाथ जी	आषाढ़ कृष्ण २	चैत्र वदी ९	चैत्र वदी ९	फाल्गुन वदी ११	माघ वदी १४
२	श्री अजितनाथ जी	ज्येष्ठ वदी १५	माघ सुदी १०	माघ सुदी १०	पौष सुदी ४	चैत्र सुदी ५
३	श्री सम्भवनाथ जी	फाल्गुन सुदी ८	कातिक सुदी १५	मगसिर सुदी १५	कातिक वदी ४	चैत्र सुदी ६
४	श्री अभिनन्दननाथ जी	वैसाख सुदी ६	माघ वदी १२	माघ सुदी १२	पौष सुदी १४	वैसाख सुदी ६
५	श्री सुमतिनाथ जी	श्रावण सुदी २	चैत्र सुदी ११	चैत्र सुदी ११	चैत्र सुदी ११	चैत्र सुदी ११
६	श्री पद्मप्रभु जी	माघ वदी ६	कातिक सुदी १३	कातिक सुदी १३	चैत्र सुदी १५	फाल्गुन वदी ४
७	श्री सुपार्श्वनाथ जी	भादों सुदी ६	ज्येष्ठ सुदी १२	ज्येष्ठ सुदी १२	फाल्गुन वदी ६	फाल्गुन वदी ७
८	श्री चन्द्रप्रभु जी	चैत्र वदी ५	पौष वदी ११	पौष वदी ११	फाल्गुन वदी ७	फाल्गुन सुदी ७
९	श्री पुष्पदन्त जी	फाल्गुन वदी ९	मगसिर सुदी १	मगसिर सुदी १	कातिक सुदी २	आसोज सुदी ८
१०	श्री शीतलनाथ जी	चैत्र वदी ८	माघ वदी १२	माघ वदी १२	पौष वदी १४	आसोज सुदी ८
११	श्री श्रेयांसनाथ जी	ज्येष्ठ वदी ८	फाल्गुन वदी ११	फाल्गुन वदी ११	माघ वदी १	श्रावण सुदी १५
१२	श्री वासुपूज्य जी	आषाढ़ वदी ६	फाल्गुन वदी ११	फाल्गुन वदी १४	भादों वदी २	भादों सुदी १४

सं०	नाम तीर्थङ्कर	गर्भ		जन्म		तप		ज्ञान		मोक्ष	
१३	श्री विमलनाथ जी	ज्येष्ठ वदी	१०	माघ सुदी	१४	माघ सुदी	१४	माघ सुदी	[illegible]	आषाढ़ वदी	[illegible]
१४	श्री अनन्तनाथ जी	कार्तिक वदी	१	ज्येष्ठ वदी	१२	ज्येष्ठ वदी	१२	चैत्र वदी	१	चैत्र वदी	४
१५	श्री धर्मनाथ जी	वैसाख सुदी	८	माघ सुदी	१३	माघ सुदी	१३	पौष सुदी	१५	ज्येष्ठ सुदी	१४
१६	श्री शान्तिनाथ जी	भादों वदी	७	ज्येष्ठ वदी	४	ज्येष्ठ वदी	१४	पौष सुदी	१०	ज्येष्ठ वदी	१४
१७	श्री कुन्थुनाथ जी	श्रावण वदी	१०	वैसाख सुदी	१	वैसाख सुदी	१	चैत्र सुदी	३	वैसाख सुदी	१
१८	श्री अरहनाथ जी	फाल्गुन सुदी	३	मगसिर सुदी	१४	मगसिर सुदी	१४	कार्तिक सुदी	१२	चैत्र सुदी	११
१९	श्री मल्लिनाथ जी	चैत्र सुदी	१	मगसिर सुदी	११	मगसिर सुदी	११	पौष वदी	२	फाल्गुन सुदी	५
२०	श्री मुनिसुव्रतनाथ जी	श्रावण वदी	२	वैसाख वदी	१०	वैसाख वदी	१०	वैसाख वदी	९	फाल्गुन वदी	१२
२१	श्री नमिनाथ जी	आसोज वदी	२	आषाढ़ वदी	१०	आषाढ़ वदी	१०	मगसिर सुदी	११	वैसाख वदी	१४
२२	श्री नेमिनाथ जी	कार्तिक सुदी	६	श्रावण सुदी	६	श्रावण सुदी	६	आसोज सुदी	१	आषाढ़ सुदी	८
२३	श्री पार्श्वनाथ जी	वैसाख वदी	२	पौष वदी	११	पौष वदी	११	चैत्र वदी	४	श्रावण सुदी	१
२४	श्री महावीर जी	आषाढ़ सुदी	६	चैत्र सुदी	१३	मगसिर वदी	१०	वैसाख सुदी	१०	कार्तिक वदी	१५

लोभसे नही, सन्तोष और उदारतासे जीतना चाहिए। वैर, घृणा, दमन, उत्पीडन, अहकार आदि सभीका प्रभाव कर्त्तापर पडता है। जिस प्रकार कुएँमे की गयी ध्वनि प्रतिध्वनिके रूपमे वापस लौटती है, उसी प्रकार हिंसात्मक क्रियाओका प्रतिक्रियात्मक प्रभाव कर्त्तापर ही पडता है।

अहिंसाद्वारा हृदयपरिवर्त्तन सम्भव होता है। यह मारनेका सिद्धान्त नही, सुधारनेका है। यह ससारका नही, उद्धार एव निर्माणका सिद्धान्त है। यह ऐसे प्रयत्नोका पक्षधर है, जिनके द्वारा मानवके अन्तस्मे मनोवैज्ञानिक परिवर्त्तन किया जा सकता है और अपराधकी भावनाओको मिटाया जा सकता है। अपराध एक मानसिक बीमारी है, इसका उपचार प्रेम, स्नेह, सद्भावके माध्यमसे किया जा सकता है।

घृणा या द्वेष पापसे होना चाहिए, पापीसे नही। बुरे व्यक्ति और बुराईके बीच अन्तर स्थापित करना ही कर्त्तव्य है। बुराई सदा बुराई है, वह कभी भलाई नही हो सकती; परन्तु बुरा आदमी यथाप्रसग भला हो सकता है। मूलमे कोई आत्मा बुरी है ही नही। असत्यके बीचमे सत्य, अन्धकारके बीचमे प्रकाश और विषके भीतर अमृत छिपा रहता हैं। अच्छे बुरे सभी व्यक्तियोमे आत्मज्योति जल रही है। अपराधी व्यक्तिमे भी वह ज्योति है किन्तु उसके गुणोका तिरोभाव है। व्यक्तिका प्रयास ऐसा होना चाहिए, जिससे तिरोहित गुण आविर्भूत हो जाये।

इस सन्दर्भमे कर्त्तव्यपालनका अर्थ मन, वचन और कायसे किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना, न किसी हिंसाका समर्थन करना और न किसी दूसरे व्यक्तिके द्वारा किसी प्रकारकी हिंसा करवाना है। यदि मानवमात्र इस कर्त्तव्यको निभानेकी चेष्टा करे, तो अनेक दु खोका अन्त हो सकता है और मानवमात्र सुख एव शान्तिका जीवन व्यतीत कर सकता है। जबतक परिवार या समाजमे स्वार्थोका सघर्ष होता रहेगा, तबतक जीवनके प्रति सम्मानकी भावना उदित नही हो सकेगी। यह अहिंसात्मक कर्त्तव्य देखनेमे सरल और स्पष्ट प्रतीत होता है, किन्तु व्यक्ति यदि इसी कर्त्तव्यका आत्मनिष्ठ होकर पालन करे, तो उसमे नैतिकताके सभी गुण स्वत उपस्थित हो जायँगे।

मूलरूपमे कर्त्तव्योको निम्नलिखित रूपमे विभक्त किया जा सकता है—

१ स्वतन्त्रताका सम्मान।

२ चरित्रके प्रति सम्मान।

३. सम्पत्तिका सम्मान।

४ परिवारके प्रति सम्मान।

५. समाजके प्रति सम्मान।

चरित्रके प्रति सम्मान

प्रत्येक परिवारके सदस्यको अन्य सदस्यके चरित्रका सम्मान करना चरित्रके प्रति सम्मान है। जीवनसम्बन्धी कर्त्तव्य हिंसाका निषेधक है, तो स्वतन्त्रता सम्बन्धी कर्त्तव्य अन्य व्यक्तियोंकी स्वतन्त्रताका दमन न करनेका संकेत करता है। यह कर्त्तव्य अन्य व्यक्तियोंको हानि पहुँचानेका निषेध तो करता ही है, साथ ही इस बातकी विधि भी करता है कि हमें दूसरोंके व्यक्तित्वके विकासको प्रोत्साहित करना है। यह विधेयात्मक कर्त्तव्य अन्य व्यक्तियोंके चारित्रिक विकासके लिए अनुप्रणित करता है। जो व्यक्ति परिवार और समाजके समस्त सदस्योंको चारित्र-विकासका अवसर देता है, वह परिवारकी उन्नति करता है और सभी प्रकारसे जीवनको सुखी-समृद्ध बनाता है।

सम्पत्तिका सम्मान

सम्पत्तिके सम्मानका अर्थ व्यक्तियोंके सम्पत्तिसम्बन्धी अधिकारको स्वीकृत करना। यह कर्त्तव्य भी एक निषेधात्मक कर्त्तव्य है, क्योंकि यह अन्य व्यक्तियो

के सम्पत्तिसम्बन्धी अपहरणका निषेध करता है। यह 'अस्तेय' के नामसे अभिहित किया जा सकता है। आध्यात्मिक व्यक्तित्वके विकासके लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति शुद्ध अहिंसात्मक जीवन व्यतीत करे। इस कर्त्तव्यका आधार सत्य और अहिंसा है। यदि अहिंसाका अर्थ किसी भी व्यक्तिको मन, वचन और कर्मसे मानसिक और शारीरिक क्षति पहुँचाना है, तो यह स्पष्ट है कि दूसरेकी सम्पत्तिका अपहरण न करना अहिंसाका अंग है। किसीकी सम्पत्तिका अपहरण करनेका अर्थ निस्सन्देह उस व्यक्तिका मानसिक और शारीरिक क्षति पहुँचाना है और उसके व्यक्तित्व-विकासको अवरुद्ध करना है। यह कर्त्तव्य हमे इस बातके लिए प्रेरित करता है कि हम भोगोपभोगकी वस्तुओका अमर्यादित रूपसे सेवन न करें। अपव्ययको भी यह कर्त्तव्य रोकता है। परिवारके लिए मितव्ययता अत्यावश्यक है। मितव्ययता समस्त वस्तुओको मध्यम मार्गके रूपमे ग्रहण करनेमे है। सम्पत्तिका अपव्यय या अनुचित अवरोध ये दोनो ही कर्त्तव्यके बाहर हैं, जब भौतिक वस्तुओ या मानसिक शक्तिका अपव्यय किया जाता है, तो कुछ दिनोमे व्यक्ति शक्तिहीन हो जाता है, जिससे व्यक्ति, परिवार और समाज ये तीनो विनाशको प्राप्त होते हैं। जो सम्पत्तिसम्मान का आचरण करता है, वह निम्नलिखित वस्तुओमे मध्यम मार्ग या मित-व्ययताका प्रयोग करता है—

१ सम्पत्ति।
२ आहार-विहार।
३. वस्त्र और उपस्कर।
४ मनोरञ्जनके साधन।
५ विलास और आरामकी वस्तुएँ।
६ समय।
७. शक्ति।

अर्थका प्रतीक सिक्का परिवर्तनका मानदण्ड है और उससे हमारी क्रय शक्तिका बोध होता है। जो व्यक्ति सम्पत्ति प्राप्त करना चाहता है और ऋणसे बचना चाहता है, वह व्ययको आयके अनुरूप बनाकर अभिवृद्धि प्राप्त कर सकता है। विलास और आरामकी वस्तुओ के क्रय करनेमे अपव्यय होता है।

इस अपव्ययका रोकना परिवारके हितके लिए अत्यावश्यक है। अपव्यय ऐसा मानसिक रोग है जिसके कारण अनुचित लाभ और स्तेयसम्बन्धी क्रिया-प्रतिक्रियाएँ सम्पादित करनी पडती है। वह अनुचित रीतिसे किसीकी

सम्पत्ति, क्षेत्र, भवन आदिपर अपना अधिकार करता है। चोरीके अन्तरग कारणोपर विचार करनेसे ज्ञात होता है कि जब द्रव्यकी लोलुपता बढ जाती है, तो तृष्णा वृद्धिगत होती है, जिससे व्यक्ति येन केन प्रकारेण धनसचय करनेकी ओर झुकता है। यहाँ विवेक और ईमानदारीके न रहनेसे व्यक्ति अपनी प्रामाणिकता खो बैठता है, जिससे उसे अनैतिकरूपमे धनार्जन करना पड़ता है।

अपव्यय चोरी करना भी सिखलाता है। एक बार हाथके खुल जाने पर फिर अपनेको मर्यादित रखना कठिन हो जाता है। अपव्ययीके पास धन स्थिर नही रहता और वह निर्धन होकर चौर्यकर्मकी ओर प्रवृत्त होता है। कुछ व्यक्ति मान-प्रतिष्ठाके हेतु धनव्यय करते हैं और अपनेको बड़ा दिखलानेके प्रयासमे व्यर्थ खर्च करते है, परिणामस्वरूप उन्हे अनीति और शोषणको अपनाना पड़ता है। अतएव सम्पत्तिके सम्मान-कर्त्तव्यका आचरण करते हुए चिन्ता, उद्विग्नता निराशा, क्रोध, लोभ, माया आदिसे बचनेका भी प्रयास करना चाहिए।

परिवारके प्रति सम्मान

परिवारके प्रति सम्मानका अर्थ है पारिवारिक समस्याओके सुलझानेके लिए विवाह आदि कार्योका सम्पन्न करना। सन्यास या निवृत्तिमार्ग वैयक्तिक जीवनोत्थानके लिए आवश्यक है, पर संसारके बीच निवास करते हुए पारिवारिक दायित्वोका निर्वाह करना और समाज एवं सघकी उन्नतिके हेतु प्रयत्नशील रहना भी आवश्यक है। वास्तवमे श्रावक-जीवनका लक्ष्य दान देना, देवपूजा करना और मुनिधर्मके सरक्षणमे सहयोग देना है। साधु-मुनियोको दान देनेकी क्रिया श्रावक-जीवनके बिना सम्पन्न नही हो सकती। नारीके बिना पुरुष और पुरुषके बिना अकेली नारी दानादि क्रिया सम्पादित करनेमे असमर्थ है। अत चतुर्विध सघके सरक्षण एव कुलपरम्पराके निर्वाहकी दृष्टिसे पारिवारिक कर्तव्योका निर्वाह अत्यावश्यक है। सातावेदनीय और चारित्रमोहनीयके उदयसे विवहन—कन्यावरण विवाह कहलाता है। यह जीवनमे धर्म, अर्थ, काम आदि पुरुषार्थोका नियमन करता है। अतएव पारिवारिक कर्त्तव्यो तथा सस्कारोके प्रति जागरूकता अपेक्षित है।

सस्कारशब्द धार्मिक क्रियाओके लिए प्रयुक्त है। इसका अभिप्राय बाह्य धार्मिक क्रियाओ, व्यर्थ आडम्बर, कोरा कर्मकाण्ड, राज्य द्वारा निर्दिष्ट नियम एव औपचारिक व्यवहारोसे नही है; बल्कि आत्मिक और आन्तरिक सौन्दर्यसे

है। सस्कारशब्द व्यक्तिके दैहिक, मानसिक और बौद्धिक परिष्कारके लिए किये जानेवाले अनुष्ठानोसे सम्बद्ध है। सस्कार तीन वर्गोंमे विभक्त हैं—

१. गर्भान्वय क्रियाएँ।
२. दीक्षान्वय क्रियाएँ।
३. क्रियान्वय क्रियाएँ।

इन क्रियाओ द्वारा पारिवारिक कर्त्तव्योका सम्पादन किया जाता हैं।

समाजके प्रति सम्मान

सामाजिक व्यवस्थाको सुचारुरूपसे सचालित करनेके लिए समाज और व्यक्ति दोनोके अस्तित्वकी आवश्यकता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसके सभी अधिकार उसे समाजका सदस्य होनेके कारण ही प्राप्त हैं। अत वह समाज, जो कि उसके अधिकारोका जनक और रक्षक है, व्यक्तिसे आशा रखता है कि वह सामाजिक सस्थाके सरक्षणको अपना प्रधान कर्त्तव्य समझे। समाजके प्रति आदर एव सम्मानकी भावना वह भावना है जो व्यक्तिको परम्परागत प्रथाओको भङ्ग करनेसे रोकती है। चाहे वे परम्पराएँ समाजकी इकाई कुटुम्बसे सम्बन्ध रखती हो, चाहे वे सम्प्रदायसे सम्बन्ध रखती हो अथवा राज्य या राष्ट्रसे। समाजमे प्रचलित अन्धविश्वासो और रूढिवादी परम्पराओका निर्वाह कर्त्तव्यके अन्तर्गत नही है। कर्त्तव्य वह विवेकबुद्धि है जो समाजकी बुराइयोको दूर कर उसके विकासके प्रति श्रद्धा या निष्ठा उत्पन्न करे। इसमे सन्देह नही कि व्यक्तिका समाजके प्रति बहुत बडा दायित्व है। उसे समाजको सुगठित, नैतिक और आचारनिष्ठ बनाना है।

सत्यके प्रति सम्मान

सत्यके प्रति सम्मान या सत्यनिष्ठा व्यक्ति और समाजके विकासके लिए आवश्यक है। सत्य और अहिंसाको साथ-साथ लिया जाता है और इनके आचरणसे सामाजिक कल्याण माना जाता है। सत्यके प्रति सम्मान या कर्त्तव्यकी भावना क्रियाशीलताके लिए प्रेरित करती है और सत्यपरायण जीवन व्यतीत करनेका आदेश देती है। इस आदेशका अर्थ यह है कि हमे अपने वचनोके अनुसार ही व्यवहार करना है। जो व्यक्ति अपने जीवनको सत्यके आधार पर चलाता है, उसे व्यावहारिक कठिनाइयोका सामना अवश्य करना पडता है, पर सत्यपरायण व्यक्तिको जीवनमे सफलता प्राप्त होती है। यदि व्यक्ति अपना कर्त्तव्य कर्त्तव्यभावसे सम्पादित करता है, तो उसका यह

कर्त्तव्य-सम्पादन विधायक तत्त्व माना जाता है। सत्यके आधार पर सम्पादित आचार-व्यवहार व्यक्ति और समाज दोनोंके लिए हितकर होते हैं।

मनुष्य जब लोभ-लालचमें फँस जाता है, वासनाके विषसे मूच्छित हो जाता है और अपने जीवनके महत्त्वको भूल जाता है, उस जीवनकी पवित्रता-का स्मरण नहीं रहता, तब उसका विवेक समाप्त हो जाता है और वह यह सोच नही पाता कि उसका जन्म ससारसे कुछ लेनेके लिए नही हुआ है बल्कि कुछ देनेके लिए हुआ है। जो कुछ प्राप्त हुआ है, वह अधिकार है और जो समाजके प्रति अर्पित किया जाता है वह कर्त्तव्य है। मनुष्यकी इस प्रकारकी मनोवृत्ति ही उसके मनको विशाल एव विराट् बनाती है। जिसके मनमे ऐसी उदारभावना रहती है वही अपने कर्त्तव्य-सम्पादन द्वारा परिवार और समाज-को सुखी, समृद्ध बनाता है। अहकार, क्रोध, लोभ और मायाका विष सत्याचरण द्वारा दूर होता है। जिसका जीवन सत्याचरणमे घुलमिल गया है, वही निश्छल और सच्चे व्यवहारद्वारा क्षुद्रताओंको दूर करता है।

सहजभावसे अपने कर्त्तव्यको निभानेवाला व्यक्ति केवल अपने आपको देखता है। उसकी दृष्टि दूसरोंकी ओर नहीं जाती। वह अपनी निन्दा और स्तुतिकी परवाह नहीं करता, पर भद्रता, सरलता और एकरूपताको छोडता भी नही। वास्तवमे यदि मनुष्य अपने व्यवहारको उदार और परिष्कृत बना ले, तो उसे सघर्ष और तनावोंसे टकराना न पडे। जीवनमे सघर्ष, तनाव और कुण्ठाएँ असत्याचरणके कारण ही उत्पन्न होती हैं।

प्रगतिके प्रति सम्मान

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार प्रत्येक वस्तुमे निरन्तर परिवर्तन होता है। परिवर्तन प्रगतिरूप भी सम्भव है और अप्रगतिरूप भी। जिस व्यक्तिके विचारोंमें उदारता और व्यवहारमे सत्यनिष्ठा समाहित है, वह सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक कर्त्तव्योका हृदयसे पालन करता है। सकटके समय व्यक्तिको किस प्रकारका आचरण करना चाहिए और परिस्थिति एव वातावरण द्वारा प्रादुर्भूत प्रगतियोको किस रूपमे ग्रहण करना चाहिए, यह भी कर्त्तव्यमार्गके अन्तर्गत है।

एकाकी मनुष्यकी धारणा निसन्देह कल्पनामात्र है। अत कर्त्तव्योका महत्त्व नैतिक और सामाजिक दृष्टिसे कदापि कम नही है। कर्त्तव्योंका सबध अधिकारोंके समान सामाजिक विकाससे भी है। कर्त्तव्योकी विशेषता जीवनके दो मुख्य अगोंसे सम्बद्ध है—

१. जीवनका आर्थिक अंग।
२. जीवनका सामाजिक अग।

आर्थिक दृष्टिसे मनुष्यके सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार और कर्त्तव्यविशेष महत्त्वपूर्ण हैं और सामाजिक दृष्टिसे मनुष्यके परिवार तथा समाज-सम्बन्धी अधिकार और कर्त्तव्य भी कम महत्त्वपूर्ण नही हैं। अधिकारो तथा कर्त्तव्योका आर्थिक दृष्टिसे सतुलित रूपमे प्रयोग अपेक्षित है। पुरुषार्थो के क्रममे अर्थ-पुरुषार्थको इसीलिए द्वितीय स्थान प्राप्त है कि इसके बिना धर्माचरण एव कामपुरुषार्थका सेवन सम्भव नही है। आज आर्थिक प्रगतिके अनेक साधन विकसित है पर कर्त्तव्यपरायण व्यक्तिको अपनी नैतिकता बनाये रखना आवश्यक है। जीवनकी आवश्यकताओके वृद्धिगत होने और आर्थिक समस्याओके जटिल होने पर भी उत्पादन, वितरण और उपयोग सम्बन्धी नैतिक नियम जीवनको मर्यादित रखते है। सुरक्षा और आत्मानुभूति ये दोनो ही नैतिक जीवनके लिए अपेक्षित हे। श्रम-सिद्धान्त भी प्रगतिके नियमोंको अनुशासित करता है। अत सम्पत्तिके प्रति दो मुख्य कर्त्तव्य हैं—१ सम्पत्ति प्राप्त करनेके लिए कर्म करना और २. उपलब्ध सम्पत्तिका सदुपयोग करना। जो व्यक्ति किसी भी प्रकारका कर्म नही करता, उसका कोई अधिकार नही कि वह निष्क्रिय होते हुए भी सामाजिक सम्पत्तिका भोग करे। इस कर्त्तव्यके आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यके लिए श्रम करना अत्यावश्यक है। श्रम करनेसे ही श्रमणत्वकी प्राप्ति होती है और इसी श्रम द्वारा आश्रमधर्मका निर्वाह होता है। जो व्यक्ति अन्यके श्रम पर जीवित रहता है और स्वय श्रम नही करता ऐसे व्यक्तिको समाजसे कुछ लेनेका अधिकार नही। जो कर्त्तव्यपरायण है वही समाजसे अपना उचित अश प्राप्त करनेका अधिकारी है।

विवेक, साहस, सयम और न्याय ये ऐसे गुण हैं जो सामाजिक कल्याणकी ओर व्यक्तिको प्रेरित करते हैं। इन गुणोके अपनानेसे परिवार और समाजकी विषमता दूर होकर प्रगति होती है तथा समानताका तत्त्व प्रादुर्भूत होता है। समाजके गतिशील होने पर साहस, सयम और विवेकका आचरण करते हुए कर्त्तव्यकर्मो का निर्वाह अपेक्षित होता है। ज्यो-ज्यो समाजिक विकास होता है, अधिकारो और कर्त्तव्योका स्वरूप स्वतः ही परिवर्तित होता चला जाता है। इसी कारण प्रत्येक समाजमे व्यवस्था, विधान और अनुशासनकी आवश्यकता रहती है। यदि अधिकार और कर्त्तव्योमे सतुलन स्थापित हो जाय, तो समाजमे अनुशासन उत्पन्न होते विलम्ब न हो।

सहिष्णुता

पारिवारिक दायित्वोंके निर्वाहके लिए सहिष्णुता अत्यावश्यक है। परिवार-में रहकर व्यक्ति सहिष्णु न बने और छोटी-सी छोटी बातके लिए उत्तावला हो जाय, तो परिवारमे सुख-शान्ति नही रह सकती। सहिष्णु व्यक्ति शान्त-भावसे परिवारके अन्य सदस्योंकी बातो और व्यवहारोको सहन कर लेता है, जिसके फलस्वरूप परिवारमे शान्ति और सुख सर्वदा प्रतिष्ठित रहता है। अभ्युदय और नि श्रेयसकी प्राप्ति सहनशीलता द्वारा ही सम्भव है। जो परिवार-मे सभी प्रकारकी समृद्धिका इच्छुक है तथा इस समृद्धिके द्वारा लोकव्यवहारको सफलरूपमे संचालित करना चाहता है ऐसा व्यक्ति समाज और परिवारका हित नही कर सकता है। विकारी मन शरीर और इन्द्रियोंपर अधिकार प्राप्त करनेके स्थान पर उनके वश होकर काम करता है, जिससे सहिष्णुताकी शक्ति घटती है। जिसने आत्मालोचन आरम्भ कर दिया है और जो स्वय अपनी बुराईयोका अवलोकन करता है वह समाजमे शान्तिस्थापनका प्रयास करता है। सहिष्णुताका अर्थ कृत्रिम भावुकता नही और न अन्याय और अत्याचारोको प्रश्रय देना ही है, किन्तु अपनी आत्मिक शक्तिका इतना विकास करना है, जिससे व्यक्ति, समाज और परिवार निष्पक्ष जीवन व्यतीत कर सके। पूर्वाग्रहके कारण असहिष्णुता उत्पन्न होती है, जिससे सत्यका निर्णय नही होता। जो शान्त-चित्त है, जिसकी वासनाएँ सयमित हो गई है और जिसमे निष्पक्षता जागृत हो गई है वही व्यक्ति सहिष्णु या सहनशील हो सकता है। सहनशील या सहिष्णु होनेके लिए निम्नलिखित गुण अपेक्षित है—

१ दृढता।
२. आत्मनिर्भरता।
३ निष्पक्षता।
४. विवेकशीलता।
५ कर्त्तव्यकर्मके प्रति निष्ठा।

अनुशासन

मानवताके भव्य भवनका निर्माण अनुशासनद्वारा ही सम्पन्न किया जा सकता है। वास्तवमे जहाँ अनुशासन है, वही अहिंसा है। और जहाँ अनुशासन-हीनता है वही हिंसा है। पारिवारिक और सामाजिक जीवनका विनाश हिंसा द्वारा होता है। यदि धर्म मनुष्यके हृदयकी क्रूरताको दूर कर दे और अहिंसा द्वारा उसका अन्त करण निर्मल हो जाय तो जीवनमे सहिष्णुताकी साधना सरल हो जाती है। वास्तवमे अनुशासित जीवन ही समाजके लिए उपयोगी

है। जिस समाजमे अनुशासनका अभाव रहता है वह समाज कभी भी विकसित नही हो पाता। अनुशासित परिवार ही समाजको गतिशील बनाता है, प्रोत्साहित करता है और आदर्शकी प्रतिष्ठा करता है। संघर्षोंका मूलकारण उच्छृखलता या उदण्डता है। जबतक जीवनमे उदण्डता आदि दुर्गुण समाविष्ट रहेंगे, तबतक सुगठित समाजका निर्माण सम्भव नही है। समाज और परिवारकी प्रमुख समस्याओंका समाधान भी अनुशासन द्वारा ही सम्भव है। शासन और शासित सभीका व्यवहार उन्मुक्त या उच्छृङ्खलित हो रहा है। अत अतिचारी और अनियन्त्रित प्रवृत्तियोको अनुशासित करना आवश्यक है।

अनुशासनका सामान्य अर्थ है कतिपय नियमो, सिद्धान्तो आदिका परिपालन करना और किसी भी स्थितिमे उसका उलघन न करना। सक्षेपमे वह विधान, जो व्यक्ति, परिवार और समाजके द्वारा पूर्णत. आचरित होता है, अनुशासन कहा जाता है। जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमे सुव्यवस्थाकी अनिवार्य आवश्यकताको कोई भी अस्वीकार नही कर सकता। इसके बिना मानव-समाज बिलकुल विघटित हो जायगा और उसकी कोई भी व्यवस्था नही बन सकेगी। जो व्यक्ति स्वेच्छासे अनुशासनका निर्वाह करता है, वह परिवार और समाजके लिए एक आदर्श उपस्थित करता है। जीवनके विशाल भवनकी नीव अनुशासनपर हो अवलम्बित है।

पारस्परिक द्वेषभाव, गुटबन्दी, वर्गभेद, जातिभेद आदि अनुशासनहीनताको बढावा देते हैं और सामाजिक सगठनको शिथिल बनाते हैं। अतएव सहज और स्वाभाविक कर्त्तव्यके अन्तर्गगत अनुशासनको प्रमुख स्थान प्राप्त है। अनुशासन जीवनको कलापूर्ण, शान्त और गतिशील बनाता है। इसके द्वारा परिवार और समाजकी अव्यवस्थाएँ दूर होती हैं।

पारिवारिक चेतनाका सम्यक् विकास, अहिंसा, करुणा, समर्पण, सेवा, प्रेम, सहिष्णुता आदिके द्वारा होता है। मनुष्य जन्म लेते ही पारिवारिक एव सामाजिक कर्तव्य एव उत्तरदायित्वसे बध जाता है। प्राणीमात्र एक दूसरेसे उपकृत होता है। उसका आधार और आश्रय प्राप्त करता है। जब हम किसीका उपकार स्वीकार करते हैं, तो उसे चुकानेका दायित्व भी हमारे ही ऊपर रहता है। यह आदान-प्रदानकी सहजवृत्ति ही मनुष्यको पारिवारिकता और सामाजिकताका मूलकेन्द्र है। उसके समस्त कर्त्तव्यो एव धर्माचरणोका आधार है। राग और मोह आत्माके लिए त्याज्य हैं, पर परिवार और समाज सचालनके लिए इनकी उपयोगिता है। जीवन सर्वथा पलायनवादी नही है। जो कर्मठ बनकर श्रावकाचारका अनुष्ठान करना चाहता है उसे अहिंसा, सत्य, करुणा

सेवा समर्पण आदिके द्वारा परिवार और समाजको दृढ करना चाहिए। यह दृढीकरणकी क्रिया ही दायित्वो या कर्त्तव्योकी शृङ्खला है।

समाजगठनकी आधारभूत भावनाएँ

समाज-गठनके लिए कुछ मौलिक सूत्र हैं, जिन सूत्रोके आधारपर समाज एकरूपमे बधता है। कुछ ऐसे सामान्य नियम या सिद्धान्त है, जो सामाजिकता-का सहजमे विकास करते है। संवेदनशील मानव समाजके बीच रहकर इन नियमोके आधारपर अपने जीवनको सुन्दर, सरल, नम्र और उत्तरदायी बनाता है। मानव-जीवनका सर्वागीण विकास अपेक्षित है। एकागरूपसे किया गया विकास जीवनको सुन्दर, शिव और सत्य नही बनाता है। कर्मके साथ मनका सुन्दर होना और मनके साथ वाणीका मधुर होना विकासकी सीढो है। जीवनमे धर्म और सत्य ऐसे तत्त्व हैं, जो उसे शाश्वतरूप प्रदान करते है। समाज-सगठनके लिए निम्नलिखित चार भावनाएँ आवश्यक है:—

१. मैत्री भावना।
२ प्रमोद भावना।
३. कारुण्य भावना।
४. माध्यस्थ्य भावना।

मैत्री भावना मनकी वृत्तियोंको अत्यधिक उदात्त बनाती है। यह प्रत्येक प्राणीके साथ मित्रताकी कल्पना ही नही, अपितु सच्ची अनुभूतिके साथ एकात्म-भाव या तादात्मभाव समाजके साथ उत्पन्न करती है। मनुष्यका हृदय जब मैत्रीभावनासे सुसस्कृत हो जाता है, तो अहिंसा और सत्यके बीरुध स्वय उत्पन्न हो जाते हैं। और आत्माका विस्तार होनेसे समाज स्वर्गका नन्दन-कानन बन जाता है। जिस प्रकार मित्रके घरमे हम और मित्र हमारे घरमे निर्भय और नि कोच स्नेह एव सद्भावपूर्ण व्यवहार कर सकता हे उसी प्रकार यह समस्त विश्व भी हमे मित्रके घरके रूपमे दिखलाई पडता हे। कही भय, सकोच एव आतकको वृत्ति नही रहती। कितनी सुखद और उदात्त भावना है यह मैत्री-की। व्यक्ति, परिवार और समाज तथा राष्ट्रको सुगठित करनेका एकमात्र साधन यह मैत्री-भावना है।

इस भावनाके विकसित होते ही पारस्परिक सौहार्द, विश्वास, प्रेम, श्रद्धा एव निष्ठाकी उत्पत्ति हो जाती है। चोरी, धोखाधडी लूट-खसोट, आदि सभी विभीषिकाएँ समाप्त हो जाती हैं। विश्वके सभी प्राणियोके प्रति मित्रताका भाव जागृत हो जाय तो परिवार और समाजगठनमे किसी भी प्रकारका दुराव-

छिपाव नही रह सकता है। वस्तुत मैत्री-भावना समाजकी परिधिको विकसित करती है, जिससे आत्मामे समभाव उत्पन्न होता है।

प्रमोद-भावना

गुणीजनोको देखकर अन्त करणका उल्लसित होना प्रमोद-भावना है। किसीकी अच्छी बातको देखकर उसकी विशेषता और गुणोका अनुभव कर हमारे मनमे एक अज्ञात ललक और हर्षानुभूति उत्पन्न होती है। यही आनन्दकी लहर परिवार और समाजको एकताके सूत्रमे आबद्ध करती है। प्राय देखा जाता है कि मनुष्य अपनेसे आगे बढे हुए व्यक्तिको देखकर ईर्ष्या करता है और इस ईर्ष्यासे प्रेरित होकर उसे गिरानेका भी प्रयत्न करता है। जब तक इस प्रवृत्तिका नाश न हो जाय, तबतक अहिंसा और सत्य टिक नही पाते। प्रमोद-भावना परिवार और समाजमे एकता उत्पन्न करती है। ईर्ष्या और विद्वेष पर इसी भावनाके द्वारा विजय प्राप्त की जा सकती है। ईर्ष्याकी अग्नि इतना विकराल रूप धारण कर लेती है कि मनुष्य अपने भाई और पुत्रके भी उत्कर्ष को फूटी आँखो नहीं देख पाता। यही ईर्ष्याकी परिणति एव प्रवृत्ति ही परिवार और समाजमे खाई उत्पन्न करती है। समाज और परिवारकी छिन्न-भिन्नता ईर्ष्या, घृणा और द्वेषके कारण ही होती है। प्रतिस्पर्धावश समाज विनाशके कगारकी ओर बढता है। अत 'प्रमोद-भावना'का अभ्यास कर गुणोके पारखी बनना और सही मूल्याकन करना समाजगठनका सिद्धान्त है। जो स्वय आदर-सम्मान प्राप्त करना चाहता है, उसे पहले अन्य व्यक्तियोका आदर-सम्मान करना चाहिए। अपने गुणोके साथ अन्य व्यक्तियोके गुणोकी भी प्रशसा करनी चाहिए। यह प्रमोदकी भावना मनमे प्रसन्नता, निर्भयता एव आनन्दका संचार करती हे और समाज तथा परिवारको आत्मनिर्भर, स्वस्थ और सुगठित बनाती है।

करुणा-भावना

करुणा मनकी कोमल वृत्ति है, दु खी और पीडित प्राणीके प्रति सहज अनुकम्पा और मानवीय सवेदना जाग उठती है। दु खीके दु खनिवारणार्थ हाथ बढते है और यथाशक्ति उसके दु खका निराकरण किया जाता है।

करुणा मनुष्यकी सामाजिकताका मूलाधार है। इसके सेवा, अहिंसा, दया, सहयोग, विनम्रता आदि सहस्रो रूप सभव है। परिवार और समाजका आलम्बन यह करुणा-भावना ही है।

मात्राके तारतम्यके कारण करुणाके प्रमुख तीन भेद है—१ महाकरुणा, २ अतिकरुणा और, ३ लघुकरुणा। महाकरुणा नि स्वार्थभावसे प्रेरित

होती है और इस करुणाका धारी प्राणिमात्रके कष्ट-निवारणके लिए प्रयास करता है। इस श्रेणीकी करुणा किसी नेता या महान् व्यक्तिमे ही रहती है। इस करुणा द्वारा समस्त मानव-समाजको एकताके सूत्रमे आबद्ध किया जाता है और समाजके समस्त सदस्योको सुखी बनानेका प्रयास किया जाता है।

अतिकरुणा भी जितेन्द्रिय, सयमी और नि स्वार्थ व्यक्तिमे पायी जाती है। इस करुणाका उद्देश्य भी प्राणियोमे पारस्परिक सौहार्द उत्पन्न करना है। दूसरेके प्रति कैसा व्यवहार करना और किस वातावरणमे करना हितप्रद हो सकता है, इसका विवेक भी महाकरुणा और अतिकरुणा द्वारा होता है। प्रतिशोध, सकीर्णता और स्वार्थमूलकता आदि भावनाएँ इसी करुणाके फलस्वरूप समाज-से निष्कासित होती हैं। वास्तवमे करुणा ऐसा कोमल तन्तु है, जो समाजको एकतामे आबद्ध करता है।

लघुकरुणाका क्षेत्र परिवार या किसी आधारविशेषपर गठित सघ तक ही सीमित है। अपने परिवारके सदस्योके कष्टनिवारणार्थ चेष्टा करना और करुणावृत्तिसे प्रेरित होकर उनको सहायता प्रदान करना लघुकरुणाका क्षेत्र है।

मनुष्यमे अध्यात्म-चेतनाकी प्रमुखता है, अतः वह शाश्वत आत्मा एवं अपरिवर्तनीय यथार्थताका स्वरूप सत्य-अहिंसासे सम्बद्ध है। कलह, विषयभोग, घृणा, स्वार्थ, सचयशीलवृत्ति आदिका त्याग भी करुणा-भावना द्वारा सभव है। अतएव सक्षेपमे करुणा-भावना समाज-गठनका ऐसा सिद्धान्त है जो अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषोसे रहित होकर समाजको स्वस्थ रूप प्रदान करता है।

माध्यस्थ्य-भावना

जिनसे विचारोका मेल नही बैठता अथवा जो सर्वथा सस्कारहीन हैं, किसी भी सद्वस्तुको ग्रहण करनेके योग्य नही हैं, जो कुमार्गपर चले जा रहे हैं तथा जिनके सुधारने और सही रास्ते पर लानेके सभी यत्न निष्फल सिद्ध हो गये हैं, उनके प्रति उपेक्षाभाव रखना माध्यस्थ्य-भावना है।

मनुष्यमे असहिष्णुताका भाव पाया जाता है। वह अपने विरोधी और विरोध को सह नही पाता। मतभेदके साथ मनोभेद होते विलम्ब नही लगता। अत इस भावना द्वारा मनोभेदको उत्पन्न न होने देना समाज-गठनके लिए आवश्यक है। इन चारों भावनाओका अभ्यास करनेसे आध्यात्मिक गुणोका विकास तो होता ही है, साथ ही परिवार और समाज भी सुगठित होते हैं।

माध्यस्थ्य-भावनाका लक्ष्य है कि असफलताकी स्थितिमे मनुष्यके उत्साहको

भंग न होने देना तथा बड़ी-से-बड़ी विपत्तिके आनेपर भी समाजको सुदृढ बनाये रखनेका प्रयास करना।

जिजीविषा जीवका स्वभाव है और प्रत्येक प्राणी इस स्वभावको साधना कर रहा है। अतएव माध्यस्थ्य-भावनाका अवलम्बन लेकर विपरीत आचरण करनेवालोके प्रति भी द्वेष, घृणा या ईर्ष्या न कर तटस्थवृत्ति रखना आवश्यक है।

सक्षेपमे समाज-गठनका मूलाधार अहिंसात्मक उक्त चार भावनाएँ हैं। समाजके समस्त नियम और विधान अहिंसाके आलोकमे मनुष्यहितके लिए निर्मित होते है। मानवके दु ख और दैन्य भौतिकवाद द्वारा समाप्त न होकर अध्यात्मद्वारा ही नष्ट होते हैं। समाजके मूल्य, विश्वास और मान्यताएँ अहिंसाके धरातल पर ही प्रतिष्ठित होती हैं। मानव-समाजकी समृद्धि पारस्परिक विश्वास, प्रेम, श्रद्धा, जीवनसुविधाओकी समता, विश्वबन्धुत्व, मैत्री, करुणा और माध्यस्थ्य-भावना पर ही आधृत है। अतएव समाजके घटक परिवार, सघ, समाज, गोष्ठी, सभा, परिषद् आदिकी सुदृढ़ता नैतिक मूल्यो और आदर्शो पर प्रतिष्ठित है।

समाजधर्म · पृष्ठभूमि

मानव-समाजको भौतिकवाद और नास्तिकवादने पथभ्रष्ट किया है। इन दोनोने मानवताके सच्चे आदर्शोंसे च्युत करके मानवको पशु बना दिया है। जबतक समाजका प्रत्येक सदस्य यह नही समझ लेता कि मनुष्मात्रकी समस्या उसकी समस्या है, तबतक समाजमे परस्पर सहानुभूति एव सद्भावना उत्पन्न नही हो सकती है। जातीय अहकार, धर्म, धन, वर्ग, शक्ति, घृणा और राष्ट्रके कृत्रिम बन्धनोने मानव-समाजके बीच खाई उत्पन्न कर दी है, जिसका आत्म-विकासके विना भरना सम्भव नहीं। अत· मानव-समाज और सभ्यताका भविष्य आत्मज्ञान, स्वतन्त्रता, न्याय और प्रेमकी उन गहरी विश्वभावनाओके साथ बधा हुआ है, जो आज भौतिकता, हिंसा, शोषण प्रभृतिसे भाराक्रान्त है।

इसमे सन्देह नही कि समाजकी सकीर्णताएं, धर्मके नामपर की जानेवाली हिंसा, वर्गभेदके नामपर भेद-भाव, ऊच-नीचता आदिसे वर्तमान समाज त्रस्त है। अत. मानवताका जागरण उसी स्थितिमे सम्भव है, जब ज्ञान-विज्ञान, अर्थ, काम, राजनीति-विधान एव समाज-जीवनका समन्वय नैतिकताके साथ स्थापित हो तथा प्राणिमात्रके साथ अहिंसात्मक व्यवहार किया जाय। पशु-पक्षी भी मानवके समान विश्वके लिए उपयोगी एवं उसके सदस्य हैं। अत. उनके साथ

भी प्रेमपूर्ण व्यवहार होना आवश्यक है। विशाल ऐश्वर्य और महान् वैभव प्राप्त करके भी प्रम और आत्मनियन्त्रणके विना शान्ति सम्भव नही। जबतक समाजके प्रत्येक सदस्यका नैतिक और आध्यात्मिक विकास नही हुआ है, तब-तक वह भौतिकवादके मायाजालसे मुक्त नही हो सकता। व्यक्ति और समाज अपनी दृष्टिको अधिकारकी ओरसे हटाकर कर्त्तव्यकी ओर जबतक नही लायेगा, तबतक स्वार्थबुद्धि दूर नहीं हो सकती है।

वस्तुत समाजका प्रत्येक सदस्य नैतिकतासे अनैतिकता, अहिंसासे हिंसा, प्रेमसे घृणा, क्षमासे क्रोध, उत्सर्गसे सघर्ष एव मानवतासे पशुतापर विजय प्राप्त कर सकता है। दासता, बर्बरता और हिंसासे मुक्ति प्राप्त करनेके लिए अहिंसक साधनोका होना अनिवार्य है। यत अहिंसक साधनो द्वारा ही अहिंसामय शाति प्राप्त की जा सकती है। विना किसी भेद-भावके ससारके समस्त प्राणियोके कष्टोका अन्त अहिंसक आचरण और उदारभावना द्वारा ही सम्भव है। भौतिक उत्कर्षकी सर्वथा अवहेलना नही की जा सकती, पर इसे मानव-जीवनका अन्तिम लक्ष्य मानना भूल है। भौतिक उत्कर्ष समाजके लिए वही तक अभिप्रेत है, जहाँतक सर्वसाधारणके नैतिक उत्कर्षमे बाधक नही है। ऐसे भौतिक उत्कर्षसे कोई लाभ नही, जिससे नैतिकताको ठेस पहुँचती हो।

समाज-धर्मका मूल यही है कि अन्यकी गलती देखनेके पहले अपना निरीक्षण करो, ऐसा करनेसे अन्यकी भूल दिखलायी नही पडेगी और एक महान् सघर्षसे सहज ही मुक्ति मिल जायगी। विश्वप्रेमका प्रचार भी आत्मनिरीक्षणसे हो सकता है। विश्वप्रेमके पवित्र सूत्रमे बध जानेपर सम्प्रदाय, वर्ग, जाति, देश एव समाजकी परस्पर घृणा भी समाप्त हो जाती है और सभी मित्रतापूर्ण व्यवहार करने लगते हैं। हमारा प्रेमका यह व्यवहार केवल मानव-समाजके साथ ही नही रहना चाहिए, किन्तु पशु, पक्षी, कीडे और मकोडेके साथ भी होना चाहिए। ये पशु-पक्षी भी हमारे ही समान जानदार हैं और ये भी अपने साथ किये जानेवाले सहानुभूति, प्रेम, क्रूरता और कठोरताके व्यवहारको समझते हैं। जो इनसे प्रेम करता है, उसके सामने ये अपनी भयकरता भूल जाते हैं और उसके चरणोमे नतमस्तक हो जाते हैं; पर जो इनके साथ कठोरता, क्रूरता और निर्दयताका व्यवहार करता है; उसे देखते ही ये भाग जाते हैं अथवा अपनेको छिपा लेते हैं। अत समाजमे मनुष्यके ही समान अन्य प्राणियो-को भी जानदार समझकर उनके साथ भी सहानुभूति और प्रेमका व्यवहार करना आवश्यक है।

समाजको विकृत या रोगी बनानेवाले तत्त्व हैं—(१) शोषण, (२) अन्याय, (३) अत्याचार, (४) पराधीनता, (५) स्वार्थलोलुपता, (६) अविश्वास और,

(७) अहकार। इन विनाशकारी तत्त्वोका आचरण करनेसे समाजका कल्याण या उन्नति नही हो सकती है। समाज भी एक शरीर है और इस शरीरकी पूर्णता सभी सदस्योके समूह द्वारा निष्पन्न है। यदि एक भी सदस्य माया, धोखा, छल-प्रपच और क्रूरताका आचरण करेगा, तो समाजका समस्त शरीर रोगी बन जायगा और शनै शनै सगठन शिथिल होने लगेगा। अत हिंसा, आक्रमण और अहकारकी नीतिका त्याग आवश्यक है। जिस समाजमे नागरिकता और लोकहितकी भावना पर्याप्तरूपमे पायी जाती है वह समाज शान्ति और सुखका उपभोग करता है।

सहानुभूति

समाज-धर्मोकी सामान्य रूपरेखामे सहानुभूतिकी गणना की जाती है। इसके अभावसे अहकार उत्पन्न होता है। वास्तविक सहानुभूति प्रेमके रूपमे प्रकट होती है। अहकारके मूलमे अज्ञान है। अहकार उन्ही लोगोके हृदयमे पनपता है, जो यह सोचते है कि उनका अस्तित्व अन्य व्यक्तियोसे पृथक् है तथा उनके उद्देश्य और हित भी दूसरे सामाजिक सदस्योसे भिन्न है और उनकी विचारधारा तथा विचारधाराजन्य कार्यव्यवहार भी सही हैं। अत वे समाजमे सर्वोपरि हैं, उनका अस्तित्व और महत्त्व अन्य सदस्योसे श्रेष्ठ है।

सहानुभूति मनुष्यको पृथक् और आत्मकेन्द्रित जीवनसे ऊचा उठाती है और अन्य सदस्योके हृदयमे उसके लिए स्थान बनाती हे, तभी वह दूसरोके विचारो और अनुभूतियोमे सम्मिलित होता है। किसी दु खी प्राणीके कष्टके सबधमे पूछ-ताछ करना एक प्रकारका मात्र शिष्टाचार है। पर दु खीके दु खको देखकर द्रवित होना और सहायताके लिए तत्पर होना ही सच्चे सहानुभूतिपूर्ण मनका परिचायक है। सच्ची सहानुभूतिका अहंकार और आत्मश्लाघाके साथ कोई सम्बन्ध नही है। यदि कोई व्यक्ति अपने परोपकारसम्बन्धी कार्योका गुणानुवाद चाहता है और प्रतिदानमे दुर्व्यवहार मिलनेपर शिकायत करता है तो समझ लेना चाहिए कि उसने वह परोपकार नही किया है। विनीत, आत्मनिग्रही और सेवाभावीमे ही सच्ची सहानुभूति रहती है।

यथार्थत सहानुभूति दूसरे व्यक्तियोके प्रयासो और दु खोके साथ एकलयताके भावकी अनुभूति है। इससे मानवके व्यक्तित्वमे पूर्णताका भाव आता है। इसी गुणके द्वारा सहानुभूतिपूर्ण व्यक्ति अपनी निजतामे अनेक आत्माओका प्रतीक बन जाता है। वह समाजको अन्यसदस्योकी दृष्टिसे देखता है, अन्यके कानोसे सुनता है, अन्यके मनसे सोचता है और अन्य लोगोके हृदयके द्वारा ही अनुभूति प्राप्त करता है। अपनी इसी विशेषताके कारण वह अपनेसे भिन्न

व्यक्तियोके मनोभावोको समझ सकता है। अत इसप्रकारके व्यक्तिका जीवन समाजके लिए होता है। वह समाजकी नीद सोता है और समाजकी ही नीद जागता है।

सहानुभूति ऐसा सामाजिक धर्म है, जिसके द्वारा प्रत्येक सदस्य अन्य सामाजिक सदस्योके हृदयतक पहुँचता है और समस्त समाजके मदस्योके साथ एकात्मभाव उत्पन्न हो जाता है। एक सदस्यको होनेवाली पीडा, वेदना अन्य सदस्योकी भी बन जाती हैं और सुख-दु खमे साधारणीकरण हो जाता है। भावात्मक सत्ताका प्रसार हो जाता है और अशेष समाजके साथ उसका रागात्मक सम्वन्ध स्थापित हो जाता है।

सहानुभूति एकात्मकारी तत्त्व है, इसके अपनानेसे कभी दूसरोकी भर्त्सना नही की जाती और सहवर्ती जनसमुदायके प्रति सहृदयताका व्यवहार सम्पादित किया जाता है। इसकी परिपक्वावस्थाको वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है, जिसने जीवनमे सम्पूर्ण हार्दिकतासे प्रेम किया हो, पीडा सही हो और दु खोके गम्भीर सागरका अवगाहन किया हो। जीवनकी आत्यन्तिक अनुभूतियोके ससर्गसे ही उस भावकी निष्पत्ति होती है, जिससे मनुष्यके मनसे अहकार, विचारहीनता, स्वार्थपरता एव पारस्परिक अविश्वासका उन्मूलन हो जाय। जिस व्यक्तिने किसी-न-किसी रूपमे दुःख और पीडा नही सही है, सहानुभूति उसके हृदयमे उत्पन्न नही हो सकती है। दु ख और पीडाके अवसानके वाद एक स्थायी दयालुता और प्रशान्तिका हमारे मनमे वास हो जाता है।

वस्तुत जो सामाजिक सदस्य अनेक दिशाओमे पीडा सहकर परिपक्वताको प्राप्त कर लेता है, वह सन्तोषका केन्द्र बन जाता है और दु खी एव भग्नहृदय लोगोंके लिए प्रेरणा और सवलका स्रोत बन जाता है। सहानुभूतिकी सार्वभौमिक आत्मभाषाको, मनुष्योकी तो बात ही क्या, पशु भी नैसर्गिकरूपसे समझते और पसद करते हैं।

स्वार्थपरता व्यक्तिको दूसरेके हितोका व्याघात करके अपने हितोकी रक्षाकी प्रेरणा करती है, पर सहानुभूति अपने स्वार्थ और हितोका त्यागकर दूसरोके स्वार्थ और हितोकी रक्षा करनेकी प्रेरणा देती है। फलस्वरूप सहानुभूतिको समाज-धर्म माना जाता है और स्वार्थपरताको अधर्म। सहानुभूतिमे निम्नलिखित विशेषताएँ समाविष्ट हैं:—

१ दयालुता—क्षणिक आवेशका त्याग और प्राणियोके प्रति दया—करुणाबुद्धि दयालुतामे अन्तर्हित है। अविश्वसनीय आवेशभावना दयालुतामे परि-

गणित नही है । किसीकी प्रशंसा करना और बादमे उसे गालियाँ देने लगना निर्दयता है । यदि दाता अपने दानका पुरस्कार चाहने लगता है, तो दान निष्फल है, इसीप्रकार कोई व्यक्ति किसी बाहरी प्रेरणासे उदारताका कोई कार्य करता है और कुछ समयके बाद किसी अप्रिय घटनाके कारण बाहरी प्रभावके वशीभूत हो विपरीत आचरण करने लगे, तो इसे भी चरित्रकी दुर्बलता माना जायगा । सच्ची दयालुता अपरिवर्तनीय है और यह बाहरी प्रभावसे अभिव्यक्त नही की जा सकती । प्राणियोके दु:खको देखकर अन्त:करणका आर्द्र हो जाना दयालुता है । यह जीवका स्वभाव है, इससे चरित्रके सौन्दर्यकी वृद्धि होती है और सौम्यभावकी उपलब्धि होती है । सामाजिक सम्बन्धोकी रक्षामे दयाका प्रधान स्थान है ।

२. **उदारता**—हृदयकी विशालताके साथ इसका सम्बन्ध है । जिस व्यक्तिके चरित्रमे औदार्य, दया, सहानुभूति आदि गुण पाये जाते हैं, उसका जीवन आकर्षण और प्रभावयुक्त हो जाता है । चरित्रकी नीचता और भोडापन घृणास्पद है । उदारतावश ही व्यक्ति अपने सहवर्त्ती जनोके प्रति आध्यात्मिक और सामाजिक ऐक्यका अनुभव करते हैं और अपनी उपलब्धियोका कुछ अश समाजके मगल हेतु अन्य सदस्योको भी वितरित कर देते हैं ।

३. **भद्रता**—इस गुणद्वारा व्यक्ति निष्ठुरता और पाशविक स्वार्थपरतासे दूर रहता है । आत्मानुशासनके अभ्याससे इस गुणकी प्राप्ति होती है । अपनी पाशविक वासनाओका दमन और नियन्त्रण करनेसे मनुष्यके हृदयमे भद्रता उत्पन्न होती है । जिस व्यक्तिमे इस भावकी निष्पत्ति हो जायगी, उसके स्वरमे स्पष्टता, दृढता और व्यामोहहीनता आ जाती है । विपरीत और आपत्तिजनक परिस्थितियोमे वह न उद्विग्न होता है और न किसीसे घृणा ही करता है ।

भद्रतामे आत्मसयम, सहिष्णुता, विचारशीलता और परोपकारिता भी सम्मिलित हैं । इन गुणोके सद्भावसे समाजका सम्यक् सचालन होता है तथा समाजके विवाद, कलह और विसवाद समाप्त हो जाते हैं ।

४ **अन्तर्दृष्टि**—सहानुभूतिके परिणामस्वरूप समाजके पर्यवेक्षणकी क्षमता अन्तर्दृष्टि है । वाद-विवादके द्वारा वस्तुका बाह्य रूप ही ज्ञात हो पाता है, पर सहानुभूति अन्तस्तल तक पहुँच जाती है । निश्छल प्रेम एक ऐसी रहस्यपूर्ण एकात्मीयता है, जिसके द्वारा व्यक्ति एक दूसरेके निकट पहुँचते हैं और एक दूसरेसे सुपरिचित होते हैं ।

अन्तर्दृष्टिप्राप्त व्यक्तिके पूर्वाग्रह छूट जाते हैं, पक्षपातकी भावना मनसे निकल जाती है और समाजके अन्य सदस्योके साथ सहयोगकी भावना प्रस्फुटित

हो जाती है। प्रतिद्वन्द्विता, शत्रुता, तनाव आदि समाप्त हो जाते हैं और समाजके सदस्योमे सहानुभूतिके कारण विश्वास जागृत हो जाता है।

सक्षेपमे महानुभूति ऐसा समाज-धर्म है, जो व्यक्ति और समाज इन दोनोका मगल करता है। इस धर्मके आचरणसे समाज-व्यवस्थामे सुदृढता आती है। अपने समस्त दोषोंसे मुक्ति प्राप्तकर मानव-समाज एकताके सूत्रमे बधता है।

अहिंसाका ही रूपान्तर सहानुभूति है और अहिंसा ही सर्वजीव-समभावका आदर्श प्रस्तुत करती है, जिससे समाजमे सगठन सुदृढ होता है। यदि भावनाओ-मे क्रोध, अभिमान, कपट, स्वार्थ, राग-द्वेष आदि हैं, तो समाजमे मित्रताका आचरण सम्भव नही है। वास्तवमे अहिंसा प्राणीकी सवेदनशील भावना और वृत्तिका रूप है, जो सर्वजीव-समभावसे निर्मित है। समाज-धर्मका समस्त भवन इसी सर्वजीव-समभावकी कोमल भावनापर आधारित है। अहिंसा या सहानु-भूति ऐसा गुण है, जो चराचर जगत्‌मे सम्पूर्ण प्राणियोके साथ मैत्रीभावकी प्रतिष्ठा करता है। किसीके प्रति भी वैर और विरोधकी भावना नही रहती। दु खियोके प्रति हृदयमे करुणा उत्पन्न हो जाती है।

जो किसी दूसरेके द्वारा आतङ्कित हैं, उन्हे भी अहिंसक अपने अन्तरकी कोमल किन्तु सुदृढ भावनाओकी सम्पत्ति द्वारा अभयदान प्रदान करता है। उसके द्वारा ससारके समस्त प्राणियोके प्रति समता, सुरक्षा, विश्वास एव सह-कारिताकी भावना उत्पन्न होती हैं। अन्याय, अत्याचार, शोषण, द्वेष, बलात्कार, ईर्ष्या आदिको स्थान प्राप्त नही रहता। यह स्मरणीय है कि हमारे मनके विचार और भावनाओकी तरगें फैलती हैं, इन तरगोमे योग और बल रहता है। यदि मनमे हिंसाकी भावना प्रबल है, तो हिंसक तरगे समाजके अन्य व्यक्तियोंको भी क्रूर, निर्दय और स्वार्थी बनायेंगी। अहिंसाकी भावना रहनेपर समाजके सदस्य सरल, सहयोगी और उदार बनते हैं। अतएव समाज-धर्मकी पृष्ठभूमिमे अहिंसा या सहानुभूतिका रहना परमावश्यक है।

सामाजिक नैतिकताका आधार · आत्मनिरीक्षण

समाज एव राष्ट्रकी इकाई व्यक्तिके जीवनको स्वस्थ—सम्पन्न करनेके लिए स्वार्थत्याग एव वैयक्तिक चारित्रकी निर्मलता अपेक्षित है। आज व्यक्तिमे जो असन्तोष और घबडाहटकी वृद्धि हो रही है, जिसका कुफल विषमता और अपराधोकी बहुलताके रूपमे है, नैतिक आचरण द्वारा ही दूर किया जा सकता है, क्योंकि आचरणका सुधारना ही व्यक्तिका सुधार और आचरणका बिगडना ही व्यक्तिका बिगाड़ है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्योंको मन, वचन और काय द्वारा सम्पन्न करता है तथा अन्य व्यक्तियोसे अपना सम्पर्क भी इन्हीके द्वारा स्थापित करता है। ये तीनो प्रवृत्तियाँ मनुष्यको मनुष्यका मित्र और ये ही मनुष्यको मनुष्यका शत्रु भी बनाती हैं। इन प्रवृत्तियोके सत्प्रयोगसे व्यक्ति सुख और शान्ति प्राप्त करता है तथा समाजके अन्य सदस्योके लिए सुख-शान्तिका मार्ग प्रस्तुत करता है, किन्तु जब इन्ही प्रवृत्तियोका दुरुपयोग होने लगता है, तो वैयक्तिक एव सामाजिक दोनो ही जीवनोमे अशान्ति आ जाती है। व्यक्तिकी स्वार्थमूलक प्रवृत्तियाँ विषय-तृष्णाको बढानेवाली होती हैं; मनुष्य उचित-अनुचितका विचार किये बिना तृष्णाको शान्त करनेके लिए जो कुछ कर सकता है, करता है। अतएव जीवनमे निषेधात्मक या निवृत्तिमूलक आचारका पालन करना आवश्यक है। यद्यपि निवृत्तिमार्ग आकर्षक और सुकर नही है, तो भी जो इसका एकबार आस्वादन कर लेता है, उसे शाश्वत और चिरन्तन शान्तिकी प्राप्ति होती है। विध्यात्मक चारित्रका सम्बन्ध शुभप्रवृत्तियोसे है और अशुभ-प्रवृत्तियोसे निवृत्तिमूलक भी चारित्र संभव है। जो व्यक्ति समाजको समृद्ध एव पूर्ण सुखी बनाना चाहता है, उसे शुभविधिका ही अनुसरण करना आवश्यक है।

व्यक्तिके नैतिक विकासके लिए आत्मनिरीक्षणपर जोर दिया जाता है। इस प्रवृत्तिके बिना अपने दोषोकी ओर दृष्टिपात करनेका अवसर ही नही मिलता। वस्तुत व्यक्तिकी अधिकाश क्रियाएँ यन्त्रवत् होती हैं, इन क्रियाओमे कुछ क्रियाओका सम्बन्ध शुभके साथ है और कुछका अशुभके साथ। व्यक्ति न करने योग्य कार्य भी कर डालता है और न कहने लायक बात भी कह देता है तथा न निचार योग्य बातोकी उलझनमे पड़कर अपना और परका अहित भी कर बैठता है। पर आत्मनिरीक्षणकी प्रवृत्ति द्वारा अपने दोष तो दूर किये ही जा सकते हैं तथा अपने कर्त्तव्य और अधिकारोका यथार्थत परिज्ञान भी प्राप्त किया जा सकता है।

प्राय देखा जाता है कि हम दूसरोंकी आलोचना करते हैं और इस आलोचना द्वारा ही अपने कर्त्तव्यकी समाप्ति समझ लेते हैं। जिस बुराईके लिए हम दूसरोको कोसते हैं, हममे भी वही बुराई वर्तमान है, किन्तु हम उसकी ओर दृष्टिपात भी नही करते। अत. समाज-धर्मका आरोहण करनेकी पहली सीढी आत्म-निरीक्षण है। इसके द्वारा व्यक्ति घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, मान, मात्सर्य प्रभृति दुर्गुणोसे अपनी रक्षा करता है और समाजको प्रेमके धरातल पर लाकर उसे सुखी और शान्त बनाता है।

आत्मनिरीक्षणके अभावमे व्यक्तिको अपने दोषोका परिज्ञान नही होता

और फलस्वरूप वह इन दोषोको समाजमें भी आरोपित करता है, जिससे समाजमे भेदभाव उत्पन्न हो जाते हैं और शनै. शनै. समाज विघटित होने लगता है।

समाजधर्मकी पहली सीढ़ी : विचारसमन्वय—उदारदृष्टि

"मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना" लोकोक्तिके अनुसार विश्वके मानवोमें विचार-भिन्नताका रहना स्वाभाविक है, क्योकि सबकी विचारशैली एक नही है। विचार-भिन्नता ही मतभेद और विद्वेषोकी जननी है। वैयक्तिक और सामाजिक जीवनमे अशान्तिका प्रमुख कारण विचारोमे भेद होना ही है। विचार-भेदके कारण विद्वेष और घृणा भी उत्पन्न होती है। इस विचार-भिन्नताका शमन उदारदृष्टि द्वारा ही किया जा सकता है। उदारदृष्टिका अन्य नाम स्याद्वाद है। यह दृष्टि ही आपसी मतभेद एवं पक्षपातपूर्ण नीतिका उन्मूलन कर अनेकतामे एकता, विचारोमे उदारता एवं सहिष्णुता उत्पन्न करती है। यह विचार और कथनको सकुचित, हठ एव पक्षपातपूर्ण न बनाकर उदार, निष्पक्ष और विशाल बनाती है। वास्तवमे विचारोकी उदारता ही समाजमे शान्ति, सुख और प्रेमकी स्थापना कर सकती है।

आज एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिसे, एक वर्ग दूसरे वर्गसे और एक जाति दूसरी जातिसे इसीलिए संघर्परत है कि उसमे भिन्न व्यक्ति, वर्ग और जातिके विचार उनके विचारोंके प्रतिकूल हैं। साम्प्रदायिकता और जातिवादके नशेमे मस्त होकर निर्मम हत्याएँ की जा रही हैं और अपनेसे विपरीत विचारवालोके ऊपर असंख्य अत्याचार किये जा रहे हैं। साम्प्रदायिकताके नामपर परपस्परमे सघर्ष और क्लेश हो रहे हैं। धर्मकी सकीर्णताके कारण सहस्रो मूक व्यक्तियोको तलवारके घाट उतारा जा रहा है। जलते हुए अग्निकुण्डोमे जीवित पशुओको डालकर स्वर्गका प्रमाणपत्र प्राप्त किया जा रहा है। इस प्रकार विचार-भिन्नताका भूत मानवको राक्षस बनाये हुए है।

उदारताका सिद्धान्त कहता है कि विचार-भिन्नता स्वाभाविक है क्योकि प्रत्येक व्यक्तिके विचार अपनी परिस्थिति, समझ एव आवश्यकताके अनुसार बनते हैं। अत विचारोमे एकत्व होना असम्भव है। प्रत्येक व्यक्तिका ज्ञान एव उसके साधन सीमित हैं। अत एकसमान विचारोका होना स्वभाव-विरुद्ध है।

अभिप्राय यह है कि वस्तुमे अनेक गुण और पर्याय—अवस्थाएँ हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति एव योग्यताके अनुसार वस्तुकी अनेक अवस्थाओमेसे

किसी एक अवस्थाको देखता और विचार करता है। अतः उसका ऐकागिक ज्ञान उसीकी दृष्टि तक सत्य है। अन्य व्यक्ति उसी वस्तुका अवलोकन दूसरे पहलूसे करता है। अतः उसका ज्ञान भी किसी दृष्टिसे ठीक है। अपनी-अपनी दृष्टिसे वस्तुका विवेचन, परीक्षण और कथन करनेमे सभीको स्वतन्त्रता हैं; सभी-का ज्ञान वस्तुके एक गुण या अवस्थाको जाननेके कारण अशात्मक है, पूर्ण नही। जैसे एक ही व्यक्ति किसीका पिता, किसीका भाई, किसीका पुत्र और किसीका भागनेय एक समयमे रह सकता है और उसके भ्रातृत्व, पितृत्व, पुत्रत्व एव भागनेयत्वमे कोई बाधा नही आती। उसी प्रकार ससारके प्रत्येक पदार्थमे एक ही कालमे विभिन्न दृष्टियोसे अनेक धर्म रहते हैं। अतएव उदारनीति द्वारा ससारके प्रत्येक प्राणीको अपना मित्र समझकर समाजके सभी सदस्योके साथ उदारता और प्रेमका व्यवहार करना अपेक्षित है। मतभेदमात्रसे किसीको शत्रु समझ लेना मूर्खताके सिवाय और कुछ नही। प्रत्येक बातपर उदारता और निष्पक्ष दृष्टिसे विचार करना ही समाजमे शान्ति स्थापित करनेका प्रमुख साधन है। यदि कोई व्यक्ति भ्रम या अज्ञानतावश किसी भी प्रकारकी भूल कर बैठता है, तो उस भूलका परिमार्जन प्रेमपूर्वक समझाकर करना चाहिए।

अहवादी प्रकृति, जिसने वर्तमानमे व्यक्तिके जीवनमे बडप्पनकी भावना-की पराकाष्ठा कर दी है, उदारनीतिसे ही दूर की जासकती है। व्यक्ति अपनेको बडा और अन्यको छोटा तभी तक समझता है जबतक उसे वस्तुस्वरूपका यथार्थ बोध नही होता। अपनी ही बाते सत्य और अन्यकी बातें झूठी तभी तक प्रतीत होती है जबतक अनेक गुणपर्यायवाली वस्तुका यथार्थ बोध नही होता। उदारता समाजके समस्त झगडोको शान्त करनेके लिए अमोघ अस्त्र है। विधि, निषेध, उभयात्मक और अवक्तव्यरूप पदार्थोका यथार्थ परिज्ञान सघर्ष और द्वन्द्वोका अन्त करनेमे समर्थ है। यद्यपि विचार-समन्वय तर्कके क्षेत्रमे विशेष महत्त्व रखता है, तो भी लोकव्यवहारमे इसकी उपयोगिता कम नही है। समाजका कोई भी व्यावहारिक कार्य विचारोकी उदारताके बिना चलता ही नही है। जो व्यक्ति उदार है, वही तो अन्य व्यक्तियोके साथ मिल-जुल सकता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि सत्य सापेक्ष होता है, निरपेक्ष नही। हमे वस्तुओके अनन्त रूपो या पर्यायोमेसे एक कालमे उसके एक ही रूप या पर्याय-का ज्ञान प्राप्त होता है और कथन भी किसी एक रूप या पार्यायका ही किया जाता है। अतएव कथन करते समय अपने दृष्टिकोणके सत्य होनेपर भी उस कथनको पूर्ण सत्य नही माना जा सकता, क्योकि उसके अतिरिक्त भी सत्य अवशिष्ट रहता है। उन्हे असत्य तो कहा ही नही जा सकता, क्योकि वे वस्तुका

ही वर्णन करते हैं। अत: उन्हे सत्याश कहा जा सकता है। अतएव एक व्यक्ति जो कुछ कहता है वह भी सत्याश है, दूसरा जो कहता है वह भी सत्याश है। तीसरा कहता है वह भी सत्याश है। इस प्रकार अगणित व्यक्तियोके कथन सत्याश ही ठहरते हैं। यदि इन सब सत्याशोको मिला दिया जाय तो पूर्ण सत्य बन सकता है। इस पूर्ण सत्यको प्राप्त करनेके लिए हमे उन सत्याशो अर्थात् दूसरोके दृष्टिकोणोके प्रति उदार, सहिष्णु और समन्वयकारी बनना होगा और यही सत्यका आग्रह है। जबतक हम उन सत्याशो—दूसरोके दृष्टिकोणोके प्रति अनुदार-असहिष्णु बने रहेगे, समन्वय या सामञ्जस्यकी प्रवृत्ति हमारी नही होगी, हम सत्यको नही प्राप्त कर सकेगे और न हमारा व्यवहार ही समाजके लिए मगलमय होगा। विराट् सत्य असख्य सत्याशोको लेकर बना है। उन सत्याशोकी उपेक्षा करनेसे हम कभी भी उस विराट् सत्यको नही प्राप्त कर सकेगे। आपेक्षिक सत्यको कहने और दूसरोके दृष्टिकोणमे सत्य ढूँढने एव उनके समन्वय या सामजस्य करनेकी पद्धति या शैली उदारता है। यह उदारता समाजको सुगठित, सुव्यवस्थित और समृद्ध बनानेके लिए आवश्यक है।

उदारता सत्यको ढूँढने तथा अपनेसे भिन्न दृष्टिकोणोके साथ समझौता करनेकी प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया द्वारा मनोभूमि विस्तृत होती है और व्यक्ति सत्याशको उपलब्ध करता है। उदार दृष्टिकोण या समन्वयवृत्ति ही सत्यकी उपलब्धिके लिए एकमात्र मार्ग है। आग्रह, हठ, दम्भ और सघर्षोका अन्त इसीके द्वारा सम्भव है। हठ, दुराग्रह और पक्षपात ऐसे दुर्गुण है जो एक व्यक्तिको दूसरे व्यक्तिसे समझौता नही करने देते। जब तक विचारोमे उदारता नही, अपने दृष्टिकोणको यथार्थरूपमे समझनेकी शक्ति नही, तब तक पूर्वाग्रह लगे ही रहते हैं। उदारता यह समझनेके लिए प्रेरित करती है कि किसी भी पदार्थमे अनेक रूप और गुण है। हम इन अनेक रूप और गुणोमेसे कुछको ही जान पाते हैं। अत हमारा ज्ञान एक विशेष दृष्टि तक ही सीमित है। जब तक हम दूसरोके विचारोका स्वागत नही करेंगे, उनमे निहित सत्यको नही पहचानेगे, तबतक हमारी ऐकान्तिक हठ कैसे दूर हो सकेगी। उदारता या विचारसमन्वय वैयक्तिक और सामाजिक गुत्थियोको सुलझाकर समाजमे एकता और वैचारिक अहिंसाकी प्रतिष्ठा करता है।

समाजधर्मकी दूसरी सीढ़ी : विश्वप्रेम और नियन्त्रण

समस्त प्राणियोकी उन्नतिके अवसरोमे समानता होना, समाजधर्मकी दूसरी सीढी है और इस समानताप्राप्तिका साधन विश्वप्रेम या आत्मनियन्त्रण है। जिस व्यक्तिके जीवनमे आत्म-नियन्त्रण समाविष्ट हो गया है वह समाजके

सभी सदस्योंके साथ भाईचारेका व्यवहार करता है। उनके दु:ख-दर्दमे सहायक होता है। उन्हे ठीक अपने समान समझता है। हीनाधिककी भावनाका त्याग-कर अन्य अन्य व्यक्तियोकी सुख-सुविधाओका भी ध्यान रखता है। पाखण्ड और धोखेवाजोकी भावनाओका अन्त भी विश्वप्रेम द्वारा सम्भव है। शोषित और शोषकोका जो सघर्ष चल रहा है, उसका अन्त विश्वप्रेम और आत्म-नियन्त्रणके विना सम्भव नही। विश्वप्रेमकी पवित्र अग्निमे दम्भ, पाखण्ड, हिंसा, ऊँच-नीचकी भावना, अभिमान, स्वार्थबुद्धि, छल-कपट प्रभृति समस्त भावनाएँ जलकर छार वन जाती हैं—और कर्त्तव्य, अहिंसा, त्याग और सेवाकी भावनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

यह एक ऐसा सिद्धान्त है जो व्यक्ति और समाजके वीच अधिकार और कर्त्तव्यकी शृङ्खला स्थापित कर सकता है। समाज एव व्यक्तिके उचित सवधोका सतुलन इसीके द्वारा स्थापित हो सकता है। व्यक्ति सामाजिक हित-की रक्षाके लिए अपने स्वार्थका त्यागकर सहयोगकी भावनाका प्रयोग भी प्रेमसे ही कर सकता है। आज व्यक्ति और समाजके वीचकी खाई सघर्ष और शोषणके कारण गहरी हो गई है। इस खाईको इच्छाओके नियन्त्रण और प्रेमा-चरण द्वारा ही भरा जा सकता है। निजी स्वार्थसाधनके कारण अगणित व्यक्ति भूखसे तडप रहे हैं और असख्यात विना वस्त्रके अर्धनग्न घूम रहे हैं। यदि भोगोपभोगकी इच्छाओके नियन्त्रणके साथ आवश्यकताएँ भी सीमित हो जाये और विश्वप्रेमके जादूका प्रयोग किया जाय, तो यह स्थिति तत्काल समाप्त हो सकती है।

मानवका जीना अधिकार है, किन्तु दूसरेको जीवित रहने देना उसका कर्त्तव्य है। अतः अपने अधिकारोकी माँग करनेवालेको कर्त्तव्यपालनकी ओर सजग रहना अत्यावश्यक है। समाजमे व्याप्त विषमता, अशान्ति और शोषणका मूल कारण कर्त्तव्योकी उपेक्षा है।

समाजधर्मकी दूसरी सीढ़ीके लिए सहायक

अहिंसाके आधारपर सहयोग और सहकारिताकी भावना स्थापित करनेसे समाजधर्मकी दूसरी सीढीको बल प्राप्त होता है। समाजका आर्थिक एव राज-नीतिक ढाँचा लोकहितकी भावनापर आश्रित हो तथा उसमे उन्नति और विकासके लिए सभीको समान अवसर दिये जायें। अहिंसाके आधारपर निर्मित समाजमे शोषण और सघर्ष रह नही सकते। अहिंसा ही एक ऐसा शस्त्र है जिसके द्वारा बिना एक बूँन्द रक्त बहाये वर्गहीन समाजकी स्थापना की जा

सकती है। यद्यपि कुछ लोग अहिंसाके द्वारा निर्मित समाजको आदर्श या कल्पनाकी वस्तु मानते हैं, पर यथार्थत यह समाज काल्पनिक नही, प्रत्युत व्यावहारिक होगा। यतः अहिंसाका लक्ष्य यही है कि वर्गभेद या जातिभेदसे ऊपर उठकर समाजका प्रत्येक सदस्य अन्यके साथ शिष्टता और मानवताका व्यवहार करे। छलकपट या इनसे होनेवाली छीनाझपटी अहिंसाके द्वारा ही दूर को जा सकती है। यह सुनिश्चित है कि बलप्रयोग या हिंसाके आधारपर मानवीय सबधोकी दीवार खडी नही की जा सकती है। इसके लिए सहानुभूति, प्रेम, सौहार्द, त्याग, सेवा एव दया आदि अहिसक भावनाओको आवश्यकता है। वस्तुत अहिंसामे ऐसी अद्भुत शक्ति है जो आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक समस्याओको सरलतापूर्वक सुलझा सकती है। समाजधर्मकी दूसरी सीढीपर चढनेके लिए लोकहितकी भावना सहायक कारण है।

समाजको जर्जरित करनेवाली काले-गोरे, ऊँच-नीच और छुआ-छूतकी भावनाको प्रश्रय देना समाजधर्मकी उपेक्षा करना है। जन्मसे न कोई ऊँचा होता है और न कोई नीचा। जन्मना जातिव्यवस्था स्वीकृत नही की जा सकती। मनुष्य जैसा आचरण करता है, उसीके अनुकूल उसकी जाति हो जाती है। दुराचार करनेवाले चोर और डकैत जात्या ब्राह्मण होनेपर भो शूद्रसे अधिक नही हैं। जिन व्यक्तियोके हृदयमे करुणा, दया, ममताका अजस्र प्रवाह समाविष्ट है, ऐसे व्यक्ति समाजको उन्नत बनाते हैं, जाति-अहकारका विष मनुष्यको अर्धमूर्च्छित किये हुए हैं। अत इस विषका त्याग अत्यावश्यक है।

जिस व्यक्तिका नैतिक स्तर जितना ही समाजके अनुकूल होगा वह उतना ही समाजमे उन्नत माना जायगा, किन्तु स्थान उसका भी सामाजिक सदस्य होनेके नाते वही होगा, जो अन्य सदस्योका है। दलितवर्गके शोषण, जाति और धर्मवादके दुरभिमानको महत्त्व देना मानवताके लिए अभिशाप है। जो समाजको सुगठित और सुव्यवस्थित बनानेके इच्छुक हैं, उन्हे आत्म-नियन्त्रण कर जातिवाद, धर्मवाद, वर्गवादको प्रश्रय नही देना चाहिए।

समाजधर्मकी तीसरी सीढ़ी : आर्थिक सन्तुलन

समाजकी सारी व्यवस्थाएँ अर्थमूलक है और इस अर्थके लिए ही सघर्ष हो रहा है। व्यक्ति, समाज या राष्ट्रके पास जितनी सम्पत्ति बढ जाती है वह व्यक्ति, समाज या राष्ट्र उतना ही असन्तोषका अनुभव करता रहता है। अत धनाभावजन्य जितनी अशान्ति है, उससे भी कही अधिक धनके सद्भावसे है।

धनके असमान वितरणको अशान्तिका सबल कारण माना जाता है, पर यह असमान वितरणकी समस्या विश्वकी सम्पत्तिको बाँट देनेसे नही सुलझ

सकती है। इसके समाधानके कारण अपरिग्रह और सयमवाद हैं। ये दोनो सविधान समाजमेसे शोषित और शोषक वर्गकी समाप्ति कर आर्थिक दृष्टिसे समाजको उन्नत स्तरपर लाते हैं। जो व्यक्ति समस्त समाजके स्वार्थको ध्यानमे रखकर अपनी प्रवृत्ति करता है वह समाजकी आर्थिक विषमताको दूर करनेमे सहायक होता है। यदि विचारकर देखा जाय तो परिग्रहपरिमाण और भोगोपभोगपरिमाण ऐसे नियम हैं, जिनसे समाजकी आर्थिक समस्या सुलझ सकती है। इसी कारण समाजधर्मकी तीसरी सीढी आर्थिक सन्तुलनको माना गया है। स्वार्थ और भोगलिप्साका त्याग इस तीसरी सीढीपर चढनेका आधार है।

परिग्रहपरिमाण आर्थिक सयमन

अपने योग-क्षमके लायक भरण-पोषणकी वस्तुओंको ग्रहण करना तथा परिश्रम कर जीवन यापन करना, अन्याय और अत्याचार द्वारा धनका सचय न करना परिग्रहपरिमाण या व्यावहारिक अपरिग्रह है। धन, धान्य, रुपया-पैसा, सोना-चादी, स्त्री-पुत्र प्रभृति पदार्थोंमे 'ये मेरे हैं', इस प्रकारके ममत्वपरिणामको परिग्रह कहते हैं। इस ममत्व या लालसाको घटाकर उन वस्तुओके सग्रहको कम करना परिग्रहपरिमाण है। बाह्यवस्तु—रुपये-पैसोकी अपेक्षा अन्तरग तृष्णा या लालसाको विशेष महत्त्व प्राप्त है, क्योकि तृष्णाके रहनेसे धनिक भी आकुल रहता है। वस्तुत धन आकुलताका कारण नही है, आकुलताका कारण है तृष्णा। सचयवृत्तिके रहनेपर व्यक्ति न्याय-अन्याय एव युक्त-अयुक्तका विचार नहीं करता।

इस समय ससारमे धनसंचयके हेतु व्यर्थ ही इतनी अधिक हाय-हाय मची हुई है कि सतोष और शान्ति नाममात्रको भी नही। विश्वके समझदार विशेषज्ञोने धनसम्पत्तिके बटवारेके लिए अनेक नियम बनाये हैं, पर उनका पालन आजतक नही हो सका। अनियन्त्रित इच्छाओकी तृप्ति विश्वकी समस्त सम्पत्तिके मिल जानेपर भी नही हो सकती है। आशारूपी गड्ढेको भरनेमे ससारका सारा वैभव अणुके समान है। अत इच्छाओके नियन्त्रणके लिए परिग्रहपरिमाणके साथ भोगोपभोगपरिमाणका विधान भी आवश्यक है। समय, परिस्थिति और वातावरणके अनुसार वस्त्र, आभरण, भोजन, ताम्बूल आदि भोगोपभोगकी वस्तुओके सबधमे भी उचित नियम कर लेना आवश्यक है।

उक्त दोनो व्रतो या नियमोके समन्वयका अभिप्राय समस्त मानव-समाजकी आर्थिक व्यवस्थाको उन्नत बनाना है। चन्द व्यक्तियोको इस बातका कोई अधिकार नही कि वे शोषण कर आर्थिक दृष्टिसे समाजमे विषमता उत्पन्न करे।

इतना सुनिश्चित है कि समस्त मनुष्योमे उन्नति करनेकी शक्ति एक-सी न होनेके कारण समाजमे आर्थिक दृष्टिसे समानता स्थापित होना कठिन है,, तो भी समस्त मानव-समाजको लौकिक उन्नतिके समान अवसर एव अपनी-अपनी शक्ति-के अनुसार स्वतन्त्रताका मिलना आवश्यक है, क्योकि परिग्रहपरिमाण और भोगोपभोगपरिमाणका एकमात्र लक्ष्य समाजकी आर्थिक विषमताको दूर कर सुखी वनाना है। यह पूँजीवादका विरोधी सिद्धान्त है और एक स्थान पर धन सचित होनेकी वृत्तिका निरोध करता है। परिग्रहपरिमाणका क्षेत्र व्यक्तितक ही सीमित नही है, प्रत्युत समाज, देश, राष्ट्र एव विश्वके लिए भी उसका उपयोग आवश्यक है। सयमवाद व्यक्तिकी अनियन्त्रित इच्छाओको नियन्त्रित करता है। यह हिंसा झूठ, चोरी, दुराचार आदिको रोकता है।

परिग्रहके दो भेद हैं—बाह्यपरिग्रह और अन्तरगपरिग्रह। बाह्यपरिग्रहमे धन, भूमि, अन्न, वस्त्र आदि वस्तुएँ परिगणित हैं। इनके सचयसे समाजको आर्थिक विषमताजन्य कष्ट भोगना पड़ता है। अत श्रमार्जित योग-क्षेमके योग्य धन ग्रहण करना चाहिये। न्यायपूर्वक भरण-पोषणकी वस्तुओके ग्रहण करनेसे धन सचित नही हो पाता। अतएव समाजको समानरूपसे सुखी, समृद्ध और सुगठित बनानेके हेतु धनका सचय न करना आवश्यक है। यदि समाजका प्रत्येक सदस्य श्रमपूर्वक आजीविकाका अर्जन करे, अन्याय और बेईमानीका त्याग कर दे, तो समाजके अन्य सदस्योको भी आवश्यकताकी वस्तुओकी कभी कमी नही हो सकती है।

आभ्यन्तरपरिग्रहमे काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि भावनाएँ शामिल हैं। वस्तुत सचयशील वुद्धि—तृष्णा अर्थात् असतोष ही अन्तरगपरिग्रह है। यदि बाह्यपरिग्रह छोड़ भी दिया जाय, और ममत्वबुद्धि बनी रहे, तो समाजकी छीना-झपटी दूर नही हो सकती। धनके समान वितरण होनेपर भी, जो बुद्धिमान हैं, वे अपनी योग्यतासे धन एकत्र कर ही लेंगे और समाजमें विषमता बनी ही रह जायगी। इसी कारण लोभ, माया, क्रोध आदि मानवीय विकारोके त्यागने-का महत्त्व है। अपरिग्रह वह सिद्धान्त है, जो पूँजी और जीवनोपयोगी अन्य आवश्यक वस्तुओके अनुचित सग्रहको रोक कर शोषणको बन्द करता है और समाजमे आर्थिक समानताका प्रचार करता है। अतएव सचयशील वृत्तिका नियन्त्रण परम आवश्यक है। यह वृत्ति ही पूजीवादका मूल है।

तीसरी सीढीका पोषक : संयमवाद

ससारमे सम्पत्ति एव भोगपभोगकी सामग्री कम है। भोगनेवाले अधिक है और तृष्णा इससे भी ज्यादा है। इसी कारण प्राणियोमे मत्स्यन्याय चलता है,

छीना-झपटी चलती है और चलता है संघर्ष। फलत. नाना प्रकारके अत्याचार और अन्याय होते है, जिनसे अहर्निश अशान्ति बढती है। परस्परमे ईर्ष्या-द्वेष-की मात्रा और भी अधिक बढ जाती है, जिससे एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिको आर्थिक उन्नतिके अवसर ही नही मिलने देता। परिणाम यह होता है कि सघर्ष और अशान्तिकी शाखाएँ बढकर विषमतारूपी हलाहलको उत्पन्न करती है।

इस विषको एकमात्र औषध सयमवाद है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छाओ, कषायो और वासनाओ पर नियन्त्रण रखकर छीना-झपटीको दूर कर दे, तो समाजसे आर्थिक विषमता अवश्य दूर हो जाय। और सभी सदस्य शारीरिक आवश्यकताओकी पूर्ति निराकुलरूपसे कर सकते है। यह अविस्मरणीय है कि आर्थिक समस्याका समाधान नैतिकताके विना सम्भव नही है। नैतिक मर्यादाओका पालन हो आर्थिक साधनोमे समीकरण स्थापित कर सकता है। जो केवल भौतिकवादका आश्रय लेकर जीवनकी समस्याओको सुलझाना चाहते हैं, वे अन्धकारमे है। आध्यात्मिकता और नैतिकताके अभावमे आर्थिक समस्याएँ सुलझ नही सकती है।

सयमके भेद और उनका विश्लेषण—सयमके दो भेद हैं—(१) इन्द्रियसयम और (२) प्राणिसयम। सयमका पालनेवाला अपने जीवनके निर्वाहके हेतु कम-से-कम सामग्रीका उपयोग करता है, जिससे अवशिष्ट सामग्री अन्य लोगोके काम आती है और सघर्ष कम होता है। विषमता दूर होती है। यदि एक मनुष्य अधिक सामग्रीका उपभोग करे, तो दूसरोके लिये सामग्री कम पडेगी तथा शोषण-का आरम्भ यहीसे हो जायगा। समाजमे यदि वस्तुओका मनमाना उपभोग लोग करते रहे, सयमका अकुश अपने ऊपर न रखें, तो वर्ग-सघर्ष चलता ही रहेगा। अतएव आर्थिक वैषम्यको दूर करनेके लिये इच्छाओ और लालसाओको नियन्त्रित करना परम आवश्यक है तभी समाज सुखी और समृद्धिशाली बन सकेगा।

अन्य प्राणियोको किंचित् भी दु.ख न देना प्राणिसयम है। अर्थात् विश्वके समस्त प्राणियोकी सुख-सुविधाओका पूरा-पूरा ध्यान रखकर अपनी प्रवृत्ति करना, समाजके प्रति अपने कर्त्तव्यको सुचारूरूपसे सम्पादित करना एव व्यक्तिगत स्वार्थभावनाको त्याग कर समस्त प्राणियोके कल्याणकी भावनासे अपने प्रत्येक कार्यको करना प्राणिसयम है। इतना ध्रुव सत्य है कि जब-तक समर्थ लोग सयम पालन नही करेंगे, तब तक निर्बलोको पेट भर भोजन नही मिल सकेगा और न समाजका रहन-सहन ही ऊँचा हो सकेगा। आत्मशुद्धिके साथ सामाजिक, आर्थिक व्यवस्थाको सुदृढ करना और शासित एव शासक या शोषित एव शोषक इन वर्गभेदोको समाप्त करना भी प्राणिसंयमका लक्ष्य है।

उत्पादन और वितरणजन्य आर्थिक विषमताका सन्तुलन भी अपरिग्रह-वाद और सयमवादद्वारा दूर किया जा सकता है। आज उत्पादनके ऊपर एक जाति, समाज या व्यक्तिका एकाधिकार होनेसे उसे कच्चे मालका सचय करना पड़ता है तथा तैयार किये गये पक्के मालको खपानेके लिए विश्वके किसी भी कोनेके बाजारपर वह अपना एकाधिकार स्थापित कर शोषण करता है। इस शोषणसे आज समाज कराह रहा है। समाजका हर व्यक्ति त्रस्त है। किसीको भी शान्ति नही। स्वार्थपरताने समाजके घटक व्यक्तियोको इतना सकीर्ण बना दिया है, जिससे वे अपने ही आनन्दमे मग्न हैं। अतएव इच्छाओंको नियन्त्रित कर जीवनमे सयमका आचरण करना परम आवश्यक है।

समाजधर्मकी चौथी सीढी : अहिसाकी विराट् भावना

समाजमे सघर्षका होना स्वाभाविक है, पर इस सघर्षको कैसे दूर किया जाय, यह अत्यन्त विचारणीय है। जिस प्रकार पशुवर्ग अपने सघर्षका सामना पशुबलसे करता है, क्या उसी प्रकार मनुष्य भी शक्तिके प्रयोग द्वारा सघर्षका प्रतिकार करे ? यदि मनुष्य भी पशुबलका प्रयोग करने लगे, तो फिर उसकी मनुष्यता क्या रहेगी ? अत. मनुष्यको उचित है कि वह विवेक और शिष्टताके साथ मानवोचित विधिका प्रयोग करे। वस्तुत अत्याचारीकी इच्छाके विरुद्ध अपने सारे आत्मबलको लगा देना ही सघर्षका अन्त करना है, यही अहिंसा है। अहिंसा ही अन्याय और अत्याचारसे दीन-दुर्बलोको बचा सकती है। यही विश्वके लिये सुख-शान्ति प्रदायक है। यही ससारका कल्याण करने वाली है, यही मानवका सच्चा धर्म है और यही है मानवताकी सच्ची कसौटी।

मानवकी यह विकारजन्य प्रवृत्ति है कि वह हिंसाका उत्तर हिंसासे झट दे देता है। यह बलवान्-बलवानकी लडाई है। समाजमे सभी तो बलवान नही होते। अत कमजोरोकी रक्षा और उनके अधिकारोकी प्राप्ति अहिंसाद्वारा ही सम्भव है। यह निर्बल, सबल, धनी, निर्धन, राक्षस और मनुष्य सभीका सहारा है। यह वह साधन है, जिसके प्रयोग द्वारा हिंसाके समस्त उपकरण व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं। पशुबलको पराजित कर आत्मबल अपना नया प्रकाश सर्वसाधारण-को प्रदान करता है।

इसमे सन्देह नही कि हिंसा विश्वमे पूर्ण शान्ति स्थापित करनेमे सर्वथा असमर्थ है। प्रत्येक प्राणीका यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह आरामसे खाये और जीवन यापन करे। स्वय 'जीओ और दूसरोको जीने दो', यह सिद्धान्त समाजके लिये सर्वदा उपयोगी है। पर आजका मनुष्य स्वार्थ और अधिकारके वशीभूत हो वह स्वय तो जीवित रहना चाहता है किन्तु दूसरोके

जीवनकी रंचमात्र भी परवाह नही करता है। आजका व्यक्ति चाहता है कि मैं अच्छे-से-अच्छा भोजन करूँ, अच्छी सवारी मुझे मिले। रहनेके लिये अच्छा भव्य प्रासाद हो तथा मेरी आलमारीमे सोने-चाँदीका ढेर लगा रहे, चाहे अन्य लोगोके लिये खानेको सूखी रोटियाँ भी न मिलें, तन ढकनेको फटे-चिथडे भी न हो। मेरे भोग-विलासके निमित्त सैकड़ोके प्राण जायें, तो मुझे क्या? इसप्रकार हम देखते है कि ये भावनाएँ केवल व्यक्तिकी ही नहीं, किन्तु समस्त समाजकी है। यही कारण है कि समाजका प्रत्येक सदस्य दु खी है।

अविश्वासकी तीव्र भावना अन्य व्यक्तियोका गला घोटनेके लिये प्रेरित किये हुए है। अधिकारापहरण और कर्त्तव्य-अवहेलना समाजमे सर्वत्र व्याप्त हैं। निरकुश और उच्छृंखल भोगवृत्ति मानवकी बुद्धिका अपहरण कर उसका पशुताकी ओर प्रत्यावर्त्तन कर रही है। सुखकी कल्पना स्वार्थ-साधन और वासना पूर्तिमे परिसीमित हो समाजको अशान्त बनाये हुए है। हिंसा-प्रतिहिंसा व्यक्ति और राष्ट्रके जीवनमे अनिवार्य-सी हो गयी है। यही कारण है कि समाजका प्रत्येक सदस्य आज दु खी है।

मनुष्यमे दो प्रकारका बल होता है—(१) आध्यात्मिक और (२) शारीरिक। अहिंसा मनुष्यको आध्यात्मिक बल प्रदान करती है। धैर्य, क्षमा, सयम, तप, दया, विनय प्रभृति आचरण अहिंसाके रूप है। कष्ट या विपत्तिके आ जाने पर उसे समभावसे सहना, हाय हाय नही करना, चित्तवृत्तियोको सयमित करना एव सब प्रकारसे कष्टसहिष्णु बनना अहिंसा है और है यह आत्मबल। यह वह शक्ति है, जिसके प्रकट हो जाने पर व्यक्ति और समाज कष्टोके पहाडोको भी चूर-चूर कर डालते हैं। क्षमाशील बन जाने पर विरोध या प्रतिशोधकी भावना समाजमे रह नही पाती। अतएव अहिंसक आचरणका अर्थ है मनसा, वाचा और कर्मणा प्राणीमात्रमे सद्भावना और प्रेम रखना। अहिंसामे त्याग है, भोग नही। जहाँ राग-द्वेष है, वहाँ हिंसा अवश्य है। अत समाज-धर्मकी चौथी सीढीपर चढनेके लिये आत्मशोधन या अहिंसक भावना अत्यावश्यक है। व्यक्तिका अहिंसक आचरण ही समाजको निर्भय, वीर एव सहिष्णु बनाता है।

समाजधर्मकी पाचवीं सीढ़ी सत्य या कूटनीतित्याग

कूटनीति और धोखा ये दोनो ही समाजमें अशान्ति-उत्पादक हैं। सत्यमे वह शक्ति है, जिससे कूटनीतिजन्य अशान्तिकी ज्वाला शान्त हो सकती है। दूसरेको कष्ट पहुँचानेके उद्देश्यसे कटु वचन बोलना या अप्रिय भाषण करना मिथ्या भाषणके अन्तर्गत है।

यह स्मरणीय है कि सत्ता और धोखा ये दोनो ही समाजके अकल्याणकारक है। इन दोनोका जन्म झूठमे होता है। झूठा व्यक्ति आत्मवचना तो करता ही है, किन्तु समाजको भी जर्जरित कर देता है। प्राय देखा जाता है कि मिथ्या भाषणका आरम्भ स्वार्थकी भावनासे होता है। सर्वात्महितवादकी भावना असत्यभाषणमे बाधक है। स्वच्छन्दता, घृणा, प्रतिशोध जैसी भावनाएँ असत्य-भाषणसे ही उत्पन्न होती है, क्योकि मानव-समाजका समस्त व्यवहार वचनोसे चलता है। वचनोमे दोष आ जानेसे समाजकी अपार क्षति होती है। लोकमे प्रसिद्धि भी है कि इसी जिह्वामे विष और अमृत दोना है। समाजको उन्नत स्तर पर लेजानेवाले अहिंसक वचन अमृत और समाजको हानि पहुँचानेवाले वचन विष है। अश्लील भाषण करना, निन्दा या चुगली करना, कठोर वचन बोलना और हँसी-मजाक करना समाज-हितमे बाधक है। छेदन, भेदन, मारण, शोषण, अपहरण और ताडन सम्बन्धी वचन भी हिंसक होनेके कारण समाजकी शान्तिमे बाधक है। अविश्वास, भयकारक, खेदजनक, सन्तापकारक अप्रिय वचन भी समाजको विघटित करते है। अतएव समाजको सुगठित, सम्बद्ध और प्रिय व्यवहार करनेवाला बनानेके हेतु सत्य वचन अत्यावश्यक है। भोगसामग्रीकी बहुलताके हेतु जो वचनोका असयमित व्यवहार किया जाता है, वह भी अधिकार और कर्त्तव्यके सन्तुलनका विघातक है। समाजमे सच्ची शान्ति, सत्य व्यवहार द्वारा ही उत्पन्न की जा सकती है और इसीप्रकारका व्यवहार जीवनमे ईमानदारी और सच्चाई उत्पन्न कर सकता है। साधारण परिस्थितियोके बीच व्यक्तिका विकास अहिंसक वचनव्यवहार द्वारा सम्भव होता है। यह समस्त मनुष्यसमाज एक वृहत् परिवार है और उस वृहत् परिवारका सन्तुलन साधन और साध्यके सामजस्य पर ही प्रतिष्ठित है। जो नैतिकता, अहिंसा और सत्यको जीवनमे अपनाता है, वह समाजको सुखी और शान्त बनाता है। आत्मविकासके साथ समाजविकासका पूरा सम्बन्ध जुडा हुआ है। मिथ्या मान्यताएँ, धर्मके सकल्प-विकल्प, क्रिया-काण्ड एवं धार्मिक सम्प्रदायोके विभिन्न प्रकार आदि सभी सामाजिक जीवनकी गतिविधिमे बाधक है। अन्धश्रद्धा और मिथ्या विश्वासोका निराकरण भी समाजधर्मकी इस पाँचवी सीढीपर चढनेसे होता है। अनुकम्पा, करुणा और सहानुभूतिका क्रियात्मक विकास भी सत्यव्यवहार द्वारा सम्भव है। जीवनके तनाव, कुण्ठाएँ, सग्रहवृत्ति, स्वार्थपरता आदिका एकमात्र निदान अहिंसक वचन ही है।

समाजधर्मकी छठी सीढ़ी · अस्तेय-भावना

अस्तेयकी भावना समाजके सदस्योके हृदयमे अन्य व्यक्तियोके अधिकारोके

लिए स्वाभाविक सम्मान जागृत करती है। इसका वास्तविक रहस्य यह है कि दूसरेके अधिकारोपर हस्तक्षेप करना उचित नही, बल्कि प्रत्येक अवस्थामें सामाजिक या राष्ट्रीय हितकी भावनाको ध्यानमें रखकर अपने कर्त्तव्यका पालन करना आवश्यक है। यह भूलना न होगा कि अधिकार वह सामाजिक वातावरण है, जो व्यक्तित्वकी वृद्धिके लिए आवश्यक और सहायक होता है। है। यदि इसका दुरुपयोग किया जाय तो समाजका विनाश अवश्यम्भावी हो जाय। अस्तेय-भावना एकाधिकारका विरोधकर समस्त समाजके अधिकारोंको सुरक्षित रखने पर जोर देती है। यह अविस्मरणीय है कि वैयक्तिक जीवनमे जो अधिकार और कर्त्तव्य एक दूसरेके आश्रित हैं वे एक ही वस्तुके दो रूप है। जब व्यक्ति अन्यकी सुविधाओंका ख्यालकर अधिकारका उपयोग करता है, तो वह अधिकार समाजके अनुशासनमे हितकर बन कर्त्तव्य बन जाता है—और जब केवल वैयक्तिक स्वत्व रक्षाके लिए उसका उपयोग किया जाता है, तो उस समय अधिकार अधिकार ही रह जाता है।

यदि कोई व्यक्ति अपने अधिकारोपर जोर दे और अन्यके अधिकारोकी अवहेलना करे, तो उसे किसी भी अधिकारको प्राप्त करनेका हक नही है। अधिकार और कर्त्तव्यके उचित ज्ञानका प्रयोग करना ही सामाजिक जीवनके विकासका मार्ग है। अचौर्यको भावना इस समन्वयकी ओर ही इगित करती है।

मनुष्यकी आवश्यकताएँ बढती जा रही हैं, जिनके फलस्वरूप शोषण और सचयवृत्ति समाजमे असमानता उत्पन्न कर रही है। व्यक्तिका ध्यान अपनी आवश्यकताओकी पूर्ति तक ही है। वह उचित और अनुचित ढगसे धनसचय कर अपनी कामनाओकी पूर्ति कर रहा है, जिससे विश्वमे अशान्ति है। अस्तेयकी भावना उत्तरोत्तर आवश्यकताओको कम करती है। यदि इस भावनाका प्रचार विश्वमे हो जाय, तो अनुचित ढगसे धनार्जनके साधन समाप्त होकर ससारकी गरीबी मिट सकती है।

समाजमे शारीरिक चोरी जितनी की जा सकती है उससे कही अधिक मानसिक। दूसरोकी अच्छी वस्तुओको देखकर जो हमारा मन ललचा जाता है—या हमारे मनमे उनके पानेकी इच्छा हो जाती है, यह मानसिक चोरी है। द्रव्यचोरीकी अपेक्षा भावचोरीका त्याग अनिवार्य है, क्योकि भावनाएँ ही द्रव्यचोरी करानेमे सहायक होती है। भोजन, वस्त्र और निवास आदि आरम्भिक शारीरिक आवश्यकताओसे अधिक सग्रह करना भी चोरीमे सम्मिलित है। यदि समाजका एक व्यक्ति आवश्यकतासे अधिक रखने लग जाय, तो स्वाभाविक ही है कि दूसरोको वस्तुएँ आवश्यकतापूर्तिके लिए भी नही मिल सकेंगी।

यदि दो जोडी कपडोंके स्थानपर यदि कोई पचास जोडी कपडे रखने लग जाय, तो इससे उसे दूसरे चौबीस व्यक्तियोंको वस्त्रहीन करना पडेगा। अत किसी भी वस्तुका सीमित आवश्यकतासे अधिक सचय समाज-हितकी दृष्टिसे अनुचित है।

सस्ता समझकर चोरोके द्वारा लाई गई वस्तुओको खरीदना, चोरीका मार्ग बतलाना, अनजान व्यक्तियोसे अधिक मूल्य लेना, अधिक मूल्यकी वस्तुओमे कम मूल्यवाली वस्तुओको मिलाकर बेचना चोरी है। प्राय. देखा जाता है कि दूध बेचनेवाले व्यक्ति दूधमे पानी डालकर बेचते हैं। कपडा धोनेके सोडेमे चूना मिलाया जाता है। इसी प्रकार अन्य खाद्यसामग्रियोमे लोभवश अशुद्ध और कम मूल्यके पदार्थ मिलाकर बेचना नितान्त वर्ज्य है।

समाजधर्मकी सातवीं सीढी भोगवासना-नियन्त्रण

यो तो अहिंसक आचरणके अन्तर्गत समाजोपयोगी सभी नियन्त्रण सम्मिलित हो जाते है, पर स्पष्टरूपसे विचार करनेके हेतु वासना-नियन्त्रण या ब्रह्मचर्यभावनाका विश्लेषण आवश्यक है। यह आत्माकी आन्तरिक शक्ति है और इसके द्वारा सामाजिक क्षमताओकी वृद्धि की जाती है। वास्तवमे ब्रह्मचर्यकी साधना वैयक्तिक और सामाजिक दोनो ही जीवनोके लिए एक उपयोगी कला है। यह आचार-विचार और व्यवहारको बदलनेकी साधना है। इसके द्वारा जीवन सुन्दर, सुन्दरतर और सुन्दरतम बनता है। शारीरिक सौन्दर्यकी अपेक्षा आचरणका यह सौन्दर्य सहस्रगुणा श्रेष्ठ है। यह केवल व्यक्तिके जीवनके लिए ही सुखप्रद नही, अपितु समाजके कोटि-कोटि मानवोके लिए उपादेय है।

आचरण व्यक्तिकी श्रेष्ठता और निकृष्टताका मापक यन्त्र है। इसीके द्वारा जीवनकी उच्चता और उसके उच्चतम रहन-सहनके साधन अभिव्यक्त होते हैं। मनुष्यके आचार-विचार और व्यवहारसे बढकर कोई दूसरा प्रमाणपत्र नही, है, जो उसके जीवनकी सच्चाईको प्रमाणित कर सके।

आचरणका पतन जीवनका पतन है और आचरणकी उच्चता जीवनकी उच्चता है। यदि रूढिवादवश किसी व्यक्तिका जन्म नीचकुलमे मान भी लिया जाय, तो इतने मात्रसे वह अपवित्र नही माना जा सकता। पतित वह है जिसका आचार-विचार निकृष्ट है और जो दिन-रात भोग-वासनामे डूबा रहता है। जो कृत्रिम विलासिताके साधनोका उपयोगकर अपने सौन्दर्यकी कृत्रिमरूपमे वृद्धि करना चाहते है उनके जीवनमे विलासिता तो बढती ही है, कामविकार भी उद्दीप्त होते हैं, जिसके फलस्वरूप समाज भीतर-ही-भीतर खोखला होता जाता है।

जो वासनाओके प्रवाहमे वहकर भोगोमे अपनेको डुवा देता है, वह व्यक्ति समाजके लिए भी अभिशाप बन जाता है। भोगाधिक्यसे रोग उत्पन्न होते हैं, कार्य करनेकी क्षमता घटती है और समाजकी नीव खोखली होती है। अतएव सामाजिक विकासके लिए वासनाओको नियन्त्रित कर ब्रह्मचर्य या स्वदारसन्तोष-की भावना अत्यावश्यक है।

ब्रह्मचर्य-साधनाके दो रूप सम्भव हैं—(१) वासनाओपर पूर्ण नियन्त्रण और (२) वासनाओका केन्द्रीकरण। समाजके बीच गार्हस्थिक जीवन व्यतीत करते हुए वासनाओपर पूर्ण नियन्त्रण तो सबके लिए सम्भव नही, पर उनका केन्द्रीकरण सभी सदस्योके लिए आवश्यक है। केन्द्रीकरणका अर्थ विवाहित जीवन व्यतीत करते हुए समाजकी अन्य स्त्रियोको माता, बहिन और पुत्रीके समान समझकर विश्वव्यापी प्रेमका रूप प्रस्तुत करना। यहाँ यह विशेषरूपसे विचारणीय है कि अपनी पत्नीको भी अनियन्त्रित कामाचारका केन्द्र बनाना व्रतसे च्युत होना है। एकपत्नीव्रतका आदर्श इसीलिए प्रस्तुत किया गया है कि जो आध्यात्मिक सन्तोष द्वारा अपनी वासनाको नही जीत सकते, वे स्वपत्नीके ही साथ नियन्त्रितरूपसे काम-रोगको शान्त करें। आध्यात्मिक और शारीरिक स्वास्थ्यकी वृद्धिके लिए इच्छाओपर नियन्त्रण रखना परमावश्यक है। सामाजिक और आत्मिक विकासकी दृष्टिसे ब्रह्मचर्यशब्दका अर्थ ही आत्माका आचरण है। अत केवल जननेन्द्रिय-सबधी विषयविकारोको रोकना पूर्ण ब्रह्मचर्य नही है। जो अन्य इन्द्रियोके विषयोके अधीन होकर केवल जननेन्द्रियसबधी विषयोके रोकनेका प्रयत्न करता है, उसका वह प्रयत्न वायुकी भीत होता है। कानसे विकारकी बातें सुनना, नेत्रोसे विकार उत्पन्न करनेवाली वस्तुएँ देखना, जिह्वासे विकारोत्तेजक पदार्थोका आस्वादन करना और घ्राणसे विकार उत्पन्न करनेवाले पदार्थोको सूघना ब्रह्मचर्यके लिए तो बाधक है ही, पर समाज-हितकी दृष्टिसे भी हानिकर है। मिथ्या आहार-विहारसे समाजमे विकृति उत्पन्न होती है, जिससे समाज अव्यवस्थित हो जाता है। सामाजिक अशान्तिका एक बहुत बडा कारण इन्द्रियसबधी अनुचित आवश्यकताओकी वृद्धि है। अभक्ष्य-भक्षण भी इसी इन्द्रियकी चपलताके कारण व्यक्ति करता है।

वस्तुत सामाजिक दृष्टिसे ब्रह्मचर्य-भावनाका रहस्य अधिकार और कर्त्तव्यके प्रति आदर-भावना जागृत करना है। नैतिकता और बलप्रयोग ये दोनो विरोधी हैं। ब्रह्मचर्यकी भावना स्वनिरीक्षण पर जोर देती है, जिसके द्वारा नैतिक जीवन-का आरम्भ होता है। सामाजिक और राष्ट्रीय जीवनमे सगठन-शक्तिकी जागृति भी इसीके द्वारा होती है। सयमके अभावमे समाजकी व्यवस्था सुचारूरूपसे नही की जा सकती। यत सामाजिक जीवनका आधार नैतिकता है। प्राय.

देखा जाता है कि ससारमे छीना-झपटीकी दो ही वस्तुएँ है—१ कामिनी और २ कञ्चन। जबतक इन दोनोके प्रति आन्तरिक सयमकी भावना उत्पन्न नही होगी, तबतक समाजमे शान्ति स्थापित नही होगी। अभिप्राय यह है कि जीवन निर्वाह—शारीरिक आवश्यकताओकी पूर्तिके हेतु अपने उचित हिस्सेसे अधिक ऐन्द्रियिक सामग्रीका उपयोग न करना सामाजिक ब्रह्मभावना है।

आध्यात्म-समाजवाद

समाजवाद शोषणको रोककर वैयक्तिक सम्पत्तिका नियन्त्रण करता है। यह उत्पादनके साधन और वस्तुओके वितरणपर समाजका अधिकार स्थापित कर समस्त समाजके सदस्योको समता प्रदान करता है। प्रत्येक व्यक्तिको जीवित रहने और खाने-पीनेका अधिकार है तथा समाजको, व्यक्तिको कार्य देकर उससे श्रम करा लेना और आवश्यकतानुसार वस्तुओकी व्यवस्था कर देना अपेक्षित है। सम्पत्ति समाजकी समस्त शक्तियोकी उपज है। उसमे सामाजिक शक्तिकी अपेक्षा, वैयक्तिक श्रमको भी कम महत्त्व प्राप्त नही है। सम्पत्ति सामाजिक रीति-रिवाजोपर आधारित है। अतएव सम्पत्तिके हकोकी भी उत्पत्ति सामाजिक रूपसे होती है। यदि सारा समाज सहयोग न दे, तो किसी भी प्रकारका उत्पादन सम्भव नही है। सामाजिक आवश्यकताएँ व्यक्तिकी आवश्यकताएँ हैं। अतएव व्यक्तिको अपनी-अपनी आवश्यकताओकी पूर्तिके साथ सामाजिक आवश्यकताओकी पूर्तिके लिए सचेष्ट रहना चाहिए। प्रत्येक व्यक्तिको उस सीमातक वस्तुओ पर अधिकार करनेका हक है, जहाँ तक उसे अपनेको पूर्ण बनानेमे सहायता मिलती है। उसकी भूख, प्यास आदि उन प्राथमिक आवश्यकताओकी पूर्ति अनिवार्य है, जिनकी पूर्तिके अभावमे वह अपने व्यक्तित्वका विकास नही कर पाता।

उस व्यक्तिको जीवनोपयोगी सामग्री प्राप्त करनेका कोई अधिकार नही, जो जीनेके लिए काम नही करता है। दूसरेकी कमाईपर जीवित रहना अनैतिकता है। जिनकी सम्पत्ति दूसरोके श्रमका फल है, वे समाजके श्रमभोगी सदस्य है। उन वस्तुओके उपभोगका उन्हे कोई अधिकार नही, जिन वस्तुओके अर्जनमे उन्होने सीधे या परम्परारूपमे सहयोग नही दिया है। समाजमे वह अपने भीतर ऐसे वर्गको सुरक्षित रखता है जो केवल स्वामित्वके कारण जिन्दा है। अतएव समाजशास्त्रीय दृष्टिसे प्रत्येक व्यक्तिको श्रमकर अपने अधिकारको प्राप्त करना चाहिए। जो समाजके सचित धनको समान वितरण द्वारा समाजमे समत्व स्थापित करना चाहते हैं, वे अधेरेमे हैं। यदि हम यह मान भी ले कि पूँजीके समान वितरणसे समाजमे समत्व स्थापित होना सम्भव है, तो भी यह आशका निरन्तर बनी रहेगी कि प्रत्येक व्यक्तिमे बुद्धि, क्षमता और शक्ति पृथक्-पृथक्

रहनेके कारण यह ममत्व चिरस्थायी नही हो सकता है। जब भी समाजके इन क्षमतापूर्ण व्यक्तियोको अवसर मिलेगा, समाजमे आर्थिक असमता उत्पन्न हो ही जायगी। अतएव इस सम्भावनाको दूर करनेके लिए आध्यात्मिक समाजवाद अपेक्षित है। भौतिक समाजवादसे न तो नैतिक मूल्योकी प्रतिष्ठा ही सम्भव है और न वैयक्तिक स्वार्थका अभाव ही। वैयक्तिक स्वार्थोका नियन्त्रण आध्यात्मिक आलोकमे ही सम्भव है। रहन-सहनका पद्धतिविशेषमे किसीका स्थान ऊँचा और किसीका स्थान नीचा हो सकता है, पर आध्यात्मिक और नैतिक मूल्योके मानदण्डानुसार समाजके सभी सदस्य समान सिद्ध हो सकते है। परोपजीवी और आक्रामक व्यक्तियोकी समाजमे कभी कमी नही रहती है। कानून या विधिका मार्ग सीमाएँ स्थापित नही कर सकता। जहाँ कानून और विधि है, वहाँ उसके साथ उन्हे तोडने या न माननेकी प्रवृत्ति भी विद्यमान है। अतएव आध्यात्मिक दृष्टिसे नैतिक मूल्योकी प्रतिष्ठा कर समाजमे समत्व स्थापित करना सम्भव है। सभी प्राणियोकी आत्मामे अनन्त शक्ति है, पर वह कर्मावरणके कारण आच्छादित है। कर्मका आवरण इतना विचित्र और विकट है कि आत्माके शुद्ध स्वरूपको प्रकट होने नही देता। जिस प्रकार सूर्यका दिव्य प्रकाश मेघाच्छन्न रहनेसे अप्रकट रहता है उसी प्रकार कर्मोंके आवरणके कारण आत्माकी अनन्त शक्ति प्रकट नही होने पाती। जो व्यक्ति जितना पुरुषार्थ कर अहता और ममताको दूर करता हुआ कर्मावरणको हटा देता है उसकी आत्मा उतनी ही शुद्ध होती जाती है। ससारके जितने प्राणी है सभीकी आत्मामे समान शक्ति है। अत विश्वकी समस्त आत्माएँ शक्तिकी अपेक्षा तुल्य हैं और शक्ति-अभिव्यक्तिकी अपेक्षा उनमे असमानता है। आत्मा मूलत समस्त विकार-भावोसे रहित है। जो इस आत्मशक्तिकी निष्ठा कर स्वरूपकी उपलब्धिके लिए प्रयास करता है उसकी आत्मामे निजी गुण और शक्तियाँ प्रादुर्भूत हो जाती है। अतएव सक्षेपमे आत्माके स्वरूप, गुण और उनकी शक्तियोको अवगत कर नैतिक और आध्यात्मिक मूल्योकी प्रतिष्ठा करनी चाहिए। सहानुभूति, आत्मप्रकाशन एव समताकी साधना ऐसे मूल्योके आधार है, जिनके अन्वयनसे समाजवादको प्रतिष्ठा सम्भव है। ये तथ्य सहानुभूति और आत्मप्रकाशनके पूर्वमे बतलाये जा चुके हैं। समताके अनेक रूप सम्भव है। आचारकी समता अहिसा है, विचारो की समता अनेकान्त है, समाजकी समता भोगनियन्त्रण है और भाषाकी समता उदार नीति है। समाजमे समता उत्पन्न करनेके लिए आचार और विचार इन दोनोकी समता अत्यावश्यक है। प्रेम, करुणा, मैत्री, अहिसा, अस्तेय, अब्रह्म, सत्याचरण समताके रूपान्तर हैं। वैर, घृणा, द्वेष, निन्दा, राग, लोभ, क्रोध विषमतामे सम्मिलित हैं।

सामाजिक आचरणके लिए आत्मौपम्य दृष्टि अपेक्षित है। प्रत्येक आत्मा तात्त्विक दृष्टिसे समान है। अत मन, वचन, और कायसे किसीको न स्वय सन्ताप पहुँचाना, न दूसरेसे सन्ताप पहुँचवाना, न सन्ताप पहुँचानेके लिए प्रेरित करना नैतिक मूल्योकी व्यवस्थामे परिगणित है।

हमारे मनमे किसीके प्रति दुर्भावना है, तो मन अशान्त रहेगा, नाना प्रकारके सकल्प-विकल्प मनमे उत्पन्न होते रहेगे और चित्त क्षुब्ध रहेगा। अतएव समाजवादको प्रतिष्ठाके हेतु प्रत्येक सदस्यका आचरण और कार्य दुर्भावना रहित अत्यन्त सावधानीके साथ होना चाहिए। नैतिक या अहिंसक मूल्योके अभावमे न व्यक्ति जीवित रह सकता है, न परिवार और न समाज ही पनप सकता है। अपने अस्तित्वको सुरक्षित रखनेके लिए ऐसा आचार और व्यवहार अपेक्षित होता है, जो स्वय अपनेको रुचिकर हो। व्यक्ति, समाज और देशके सुख एव शान्तिकी आधारशिला अध्यात्मवाद है। और इसीके साथ अहिसा, मैत्री और समताकी कडी जुडी हुई है। जो अभय देता है वह स्वय भी अभय हो जाता है। जब दूसरोको पर माना जाता है, तब भय उत्पन्न होता है और जब उन्हे आत्मवत् समझ लिया जाता है, तब भय नही रहता। सब उसके बन जाते हैं और वह सबका बन जाता है। अतएव समताकी उपलब्धिके लिए तथा समाजवादको प्रतिष्ठित करनेके लिए निम्नलिखित तीन आधारोपर जीवन-मूल्योकी व्यवस्था स्वीकार करनी चाहिए। मूल्यहीन समाज अत्यन्त अस्थिर और अव्यवस्थित होता है। निश्चयत मूल्योकी व्यवस्था ही समाजवाद-को प्रतिष्ठित कर सकती है।

१. स्वलक्ष्य मूल्य एव अन्तरात्मक मूल्य—शारीरिक, आर्थिक और श्रम सबधी मूल्योके मिश्रण द्वारा जीवनकी मूलभूत प्रवृत्तियोसे ऊपर उठकर तुष्टि, प्रेम, समता और विवेकको दृष्टिमे रखकर मूल्योका निर्धारण।

२. शाश्वत एव स्थायी मूल्य—विवेक, निष्ठा, सद्वृत्ति और विचारसामञ्जस्यकी दृष्टिसे मूल्य निर्धारण। इस श्रेणीमे क्षणिक विषयभोगकी अपेक्षा शाश्वतिक आध्यात्मिक मूल्योका महत्त्व। ज्ञान, कला, धर्म, शिव, सत्य सम्बन्धी मूल्य।

३ सृजनात्मक मूल्य—उत्पादन, श्रम, जीवनोपभोग आदिसे सम्बद्ध मूल्य।

सक्षेपमें समाजवादकी प्रतिष्ठा भौतिक सिद्धान्तोके आधारपर सम्भव न होकर अध्यात्म और नैतिकताके आधारपर ही सम्भव है।

व्यक्ति और समाज : अन्योन्याश्रय सम्बन्ध

व्यक्तियोंके समूह और उनके सम्बन्धोसे समाजका निर्माण होता है। व्यक्ति अनेक सामाजिक समूहोका सदस्य होता है, जो कि उसके बीच पाये जाने वाले सम्बन्धोको प्रतिबिम्बित करते हैं। व्यक्तिके जीवनका प्रभाव समाजपर पडता है। व्यक्ति अपने व्यवहारसे अन्य सदस्योको प्रभावित करता है और अन्य सदस्योके व्यवहारसे स्वय प्रभावित होता है। अत व्यक्तिकी समस्त महत्त्व-पूर्ण क्रियाएँ एव चेतनाकी अवस्थाएँ सामाजिक परिस्थितियोमे जन्म लेती हैं और इन्हीसे सामाजिक व्यक्तित्वका निर्माण होता है।

व्यक्ति और समाज एक ही वस्तुके दो पहलू हैं। अनेक व्यक्ति मिलकर समाजका गठन करते हैं। उन व्यक्तियोकी विचार-धाराओ, सवेगो, आदतो आदिका पारस्परिक प्रभाव पडता है। अत सक्षेपमे यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति और समाज इन दोनोका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। व्यक्तिके बिना समाजका अस्तित्व नही और समाजके अभावमे व्यक्तिके व्यक्तित्वका विकास सम्भव नही। आर्थिक समानता, न्यायिक समानता, मानव समानता, स्व-तन्त्रता आदिका सम्बन्ध व्यक्तियोके साथ है। व्यक्तिगत दक्षता समाजको पूर्णतया प्रभावित करती है। समाज-गठनके सिद्धान्तोमे धर्म, सस्कृति, नैतिक सिद्धान्त, कर्त्तव्य-पालन, जीवनके आदर्श, काम्य-भोग आदि परिगणित हैं। अतएव सुखी, सम्पन्न और आदर्श समाजके निर्माण हेतु वैयक्तिक जीवनकी पवित्रता और आचारनिष्ठा भी अपेक्षित है।

सामान्यत धार्मिक सस्कार और नैतिक विधि-विधान व्यक्तिके व्यक्तित्व-को परिष्कृत करनेके लिये आवश्यक है। जिस समाजके घटक व्यक्ति सच्च-रित्र, ज्ञानी और दृढसकल्पी होगें, उस ससाजका गठन भी उतना ही अधिक सुदृढ होगा। व्यक्तिके समाजमे जन्म लेते ही कुछ दायित्व या ऋण उसके सिरपर आ जाते है, जिन दायित्वों और ऋणोको पूरा करनेके लिये उसे सामाजिक सम्बन्धोके बीच चलना पडता है। शारीरिक, पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धोका निर्वाह करते हुए भी व्यक्ति इन सम्ब्रन्धोमे आसक्त न रहे। जीवनसे सभी प्रकारके कार्य करने पडते है, पर उन कार्योको कर्त्तव्य समझकर ही किया जाय, आसक्ति मानकर नही। यो तो वैयक्तिक जीवनका लक्ष्य निवृत्तिमूलक है। वह त्यागमार्गके बीच रहकर अपनी आत्माका उत्थान या कल्याण करता है। जीवनको उन्नत और समृद्ध बनानेके लिये आत्मशोधन करता है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारोको आत्मासे पृथक् कर वह निष्काम कर्ममे प्रवृत्त होता है। अत व्यक्ति और समाज इन दोनोका पर-

स्परमें अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है और परस्परमे दोनोंके सहयोगसे ही समाजका विकास और उन्नति होती है।

समाजघटक, सामाजिक संस्थाएँ एवं समाजमें नारीका स्थान

सामाजिक जीवनके अनेक घटक हैं। व्यक्ति माँके उदरसे जन्म लेता है। माँ उसका पालन-पोषण करती है। पिता आर्थिक व्यवस्था करता है। भाई-बहन एवं मुहल्लेके अन्य शिशु उसके साथी होते हैं। शिक्षाशालामे वह शिक्षकोंसे विद्याध्ययन करता है। बडा होनेपर उसका विवाह होता है। इस प्रकार एक मनुष्यका दूसरे मनुष्यके साथ अनेक प्रकारका सम्बन्ध स्थापित होता है। इन्ही सम्बन्धोंसे वह बंधा हुआ है। उसका स्वभाव और उसकी आवश्यकताएँ इन सम्बन्धोमे उसे रहनेके लिए बाध्य करती हैं। फलत मनुष्य-को अपनी अस्तित्व-रक्षा और सम्बन्ध-निर्वाहके लिये समाजके बीच रहना पडता है। एकरूपता, सहयोग सहकारिता, सघटन और अन्योन्याश्रितता तो पशुओंके बीच भी पायी जाती है, किन्तु पशुओमे क्रिया-प्रतिक्रियात्मक सम्बन्धो के निर्वाह एव सम्बन्ध-सम्बन्धी प्रतिबोधका अभाव है। सामाजिक सम्बन्धोके घटक अनेक तत्त्व हैं। इनमे निम्नलिखित तत्त्वो की प्रमुखता है—

१ वैयक्तिक लाभके साथ सामूहिक लाभकी ओर दृष्टि
२. न्यायमार्गकी वृत्ति
३. उन्नति और विकासके लिये स्पर्द्धा
४ कलह, प्रेम, एव सघर्षके द्वारा सामाजिक क्रिया-प्रतिक्रिया।
५. मित्रताकी दृष्टि
६ उचित सम्मान-प्रदर्शन
७. परिवारका दायित्व
८. समानता और उदारताकी दृष्टि
९ आत्म-निरीक्षणकी प्रवृत्ति
१०. पाखण्ड-आडम्बरका त्याग
११. अनुशासनके प्रति आस्था
१२ अर्जनके समान त्यागके प्रति अनुराग
१३ कर्त्तव्यके प्रति जागरूकता
१४ एकाधिकारका त्याग और स्वावलम्बनकी प्रवृत्ति
१५ सेवा-भावना

सामाजिक जीवन अर्हाओ और नैतिक नियमोपर अवलम्बित है। रक्षा-विधि और अस्तित्व-निर्वाह समाजके लिये आवश्यक है। सामाजका आर्थिक

एव राजनीतिक ढांचा लोकहितकी भावनापर आश्रित है, तथा सामाजिक उन्नति और विकासके लिये सभीको समान अवसर प्राप्त हैं। अत अहिंसा, दया, प्रम, सेवा और त्यागके आधारपर सामाजिक सम्बन्धोका निर्वाह कुशलतापूर्वक सम्पन्न होता हे।

अपने योग-क्षेमके लायक भरण-पोषणकी वस्तुओंको ग्रहण करना तथा परिश्रम कर जीवन यापन करना, अन्याय, अत्याचार द्वारा धनार्जन करनेका त्याग करना एव आवश्यकतासे अधिक सचय न करना स्वस्थ समाजके निर्माण-मे उपादेय हैं। अहिंसा और सत्यपर आवृत समाजव्यवस्था मनुष्यको केवल जीवित ही नही रखती, बल्कि उसे अच्छा जीवन यापनके लिये प्रेरित करती है। मनुष्यकी शक्तियोका विकास समाजमे ही होता है। कला, साहित्य, दर्शन, संगीत, धर्म आदिकी अभिव्यक्ति मनुष्यकी सामाजिक चेतनाके फलस्वरूप ही होती है। ज्ञानका आदान-प्रदान भी सामाजिक सम्बन्धोके बीच सम्भव होता है। समाजमे ही समुदाय सघ और संस्थाएँ बनती हैं।

निसन्देह समाज एक समग्रता है और इसका गठन विशिष्ट उपादानोके द्वारा होता है। तथा इसके भौतिक स्वरूपका निर्माण भावनोपेत मनुष्यो-के द्वारा होता है। इसका आध्यात्मिक रूप विज्ञान, कला, धर्म, दर्शन आदिके द्वारा सुसम्पादित किया जाता है। अत समाज एक ऐसी क्रियाशील समग्रता है, जिसके पीछे आध्यात्मिकता, नैतिक भावना और सकल्पात्मक वृत्तियोके सश्लेषोका रहना आवश्यक हे।

सामाजिक संस्था : स्वरूप और प्रकार

समाजके विभिन्न आदर्श और नियन्त्रण जनरीतियो, प्रथाओ और रूढियोके रूपमे पाये जाते हैं। अत नियन्त्रणमे व्यवस्था स्थापित करने एव पारस्परिक निर्भयता बनाये रखनेके हेतु यह आवश्यक है कि उनको एक विशेष कार्यके आधारपर सगठित किया जाय। इस सगठनका नाम ही सामाजिक सस्था है। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आवश्यकताकी पूर्तिके हेतु सामाजिक विरासतमे स्थापित सामूहिक व्यवहारोका एक जटिल तथा घनिष्ठ सघटन है। मानव सामूहिक हितोकी रक्षा एव आदर्शोके पालन करनेके लिये सामाजिक सस्थाओको जन्म देता है। इनका मूलाधार निश्चित आचार-व्यवहार और समान हित-सम्पादन है। अधिक समय तक एक ही रूपमे कतिपय मनुष्योके व्यवहार और विश्वासो-का प्रचलन सामाजिक सस्थाओको उत्पन्न करता है। ये मनुष्योकी सामूहिक क्रियाओ, सामूहिक हितो, आदर्शो एव एक ही प्रकारके रीति-रिवाजोपर अव-

लम्बित हैं। सामाजिक सस्थाओमे निम्नलिखित गुण और विशेषताएँ पायी जाती हैं—

१ सामाजिक सस्थाएँ प्रारम्भिक आवश्यकताओकी पूर्तिका साधन होती हैं।

२ सामाजिक सस्थाओ द्वारा सामाजिक नियन्त्रणका कार्य सम्पन्न होता है।

३ सामाजिक अर्हाओ और प्रजातिक व्यवहारोका सम्पादन सामाजिक सस्थाओ द्वारा सम्भव है।

४ अनुशासन और आदर्शकी रक्षा इन्हीके द्वारा होती है।

५. इनका कोई निश्चित उद्देश्य होता है।

६ नैतिक आदर्श और व्यवहारोका सम्पादन इन्हीके द्वारा होता है।

७. सामाजिक सस्थाएँ ऐसे बन्धन हैं, जिनसे समाज मनुष्योको सामूहिक रूपसे अपनी सस्कृतिके अनुरूप व्यवहार करनेके लिये बाध्य कर देता है, अत सामाजिक सस्थाओके आदर्श और धारणाएँ होती हैं, जिन्हे समाज अपनी सस्कृतिकी रक्षाके लिये आवश्यक मानता है।

८ सामाजिक सस्थाओका सचालन आचार-सहिताओके आधारपर होता है।

९. प्रत्येक धर्म सम्प्रदायकी आचार-सहिता भिन्न होती है। अत. सामाजिक सस्थाओका रूपगठन भी भिन्न धरातलपर सम्पन्न होता है।

यो तो सामाजिक सस्थाएँ अनेक हो सकती हैं, पर आध्यात्मिक चेतना और लोक-जीवनके सम्पादनके लिये जिन सामाजिक सस्थाओकी आवश्यकता है, वे निम्नलिखित हैं—

१. चतुर्विध सघ-सस्था
२. आश्रम-सस्था
३ विवाह-सस्था
४. कुल-संस्था
५ सस्कार-सस्था
६ परिवार-सस्था
७ पुरुषार्थ-सस्था
८ चैत्यालय-सस्था
९ गुणकर्माधारपर प्रतिष्ठित वर्णजातिसस्था

इन सस्थाओ के सम्बन्धमे विशेष विवेचन करनेकी आश्यकता नही है। नामसे ही इनका स्वरूप स्पष्ट है।

वर्त्तमानमे समाजमें नारीका स्थान बहुत निम्न श्रेणीका हो रहा है। आज नारी भोगेषणाकी पूर्तिका साधन मात्र रह गयी है। न उसे अध्ययन कर आत्म-विकासके अवसर प्राप्त हैं और न वह धर्म एव समाजके क्षेत्रमे आगे ही आ सकती है। दासीके रूपमे नारीको जीवन यापन करना पडता है, उसके साथ होनेवाले सामाजिक दुर्व्यवहार प्रत्येक विचारशील व्यक्तिको खटकते हैं। नारी-समाजको देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है जैसे युगयुगान्तरसे इनकी आत्मा ही खरीद ली गयी है। अनमेल-विवाहने नारीकी स्थितिको और गिरा दिया है। सामन्तयुगसे प्रभावित रहनेके कारण आज दहेज लेना-देना बड़प्पनका सूचक समझा जाता है। आज नारीका स्वतन्त्र व्यक्तित्व नही रहा है, पुरुषके व्यक्तित्वमे ही उसका व्यक्तित्व मिल गया है। अत इस दयनीय स्थितिको उन्नत बनाना अत्यावश्यक है। यह भूलना न होगा कि नारी भी मनुष्य है और उसको भी अपनी उन्नतिका पूरा अधिकार प्राप्त है।

वर्त्तमान समाजने नारी और शूद्रके लिये वेदाध्ययन वर्जित किया है। यदि कदाचित् ये दोनो वर्ग किसीप्रकार वेदके शब्दोको सुन ले, तो इनके कानमे शीशा गर्म कर डाल देना चाहिये। ऐसे निर्दयता एव क्रूरतापूर्ण व्यवहार समाजके लिये कभी भी उचित नही है। नारी भी पुरुषके समान धर्मसाधन, कर्त्तव्यपालन आदि समाजके कार्योंको पूर्णतया कर सकती है। अतएव वर्त्तमानमे समाज-गठनके लिये लिंग-भेद, वर्ग-भेद, जाति-भेद, धन-भेदके भावको दूर करना परमावश्यक है। नारीको सभी प्रकारके सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक अधिकार प्राप्त होने चाहिये। भेद-भावकी खाई समाजको सम धरातल-पर प्रतिष्ठित नही कर सकती है। नर-नारी, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी मनुष्य है और सबकी अपनी-अपनी उपयोगिता है। जो इनमे भेद-भाव उत्पन्न करते हैं, वे सामाजिक सिद्धान्तोके प्रतिरोधी हैं। अत समाजमे शान्ति-सुखव्यवस्था स्थापित करनेके लिये मानवमात्रको समानताका अधिकार प्राप्त होना चाहिये।

तीर्थंकर महावीरको समाजव्यवस्थाकी आधुनिक उपयोगिता

तीर्थंकर महावीर द्वारा प्रतिपादित समाज-व्यवस्था आधुनिक भारतमे भी उपयोगी है। महावीरने नारीको जो उच्च स्थान प्रदान किया, आजके सविधान-ने भी नारीको वही स्थान दिया है। वर्गभेद और जाति-भेदके विषको दूर करने के लिये महावीरने अपनी पीयूष-वाणी द्वारा सम.जको उद्बोधित किया। उनकी समाज-व्यवस्था भी कर्मकाण्ड, लिंग, जाति, वर्ग आदि भेदोसे मुक्त थी। इनकी

समाज-व्यवस्थाका आधार अध्यात्म, अहिंसा, नैतिक नियम और ऐसे धार्मिक नियम थे, जिनका सम्बन्ध किसी भी जाति, वर्ग या सम्प्रदायसे नही था। महावीरका सिद्धान्त है कि विश्वके समस्त प्राणियोके साथ आत्मीयता, बन्धुता और एकताका अनुभव किया जाय। अहिंसा द्वारा सबके कल्याण और उन्नतिकी भावना उत्पन्न होती है। इसके आचरणसे निर्भीकता, स्पष्टता, स्वतन्त्रता और सत्यता बढती है। अहिंसाकी सीमा किसी देश, काल, और समाज तक सीमित नही है। अपितु इसकी सीमा सर्वदेश और सर्वकाल तक विस्तृत है। अहिंसासे ही विश्वास, आत्मीयता, पारस्परिक प्रेम एव निष्ठा आदि गुण व्यक्त होते हैं। अहकार, दम्भ, मिथ्या विश्वास, असहयोग आदिका अन्त भी अहिंसा द्वारा ही सम्भव है। यह एक ऐसा साधन है जो बड़े-से-बड़े साध्यको सिद्ध कर सकता है।

अहिंसात्मक प्रतिरोध अनेक व्यक्तियोको इसीलिये निर्बल प्रतीत होता है कि उसके अनुयायियोने प्रेमकी उत्पादक शक्तिको पूर्णतया पहचाना नही है। वास्तवमे आत्मीयता और एकताकी भावनासे ही समाजमे स्थायित्व उत्पन्न होता है। यदि भावनाओमे क्रोध, अभिमान, कपट, स्वार्थ. राग-द्वेष आदि हैं, तो ऊपरसे भले ही दया या करुणाका आडम्बर दिखलायी पडे, आन्तरिक विश्वास जागृत नही हो सकता। यदि हृदयमे प्रेम है, रक्षाकी भावना है और है सहानुभूति एव सहयोगकी प्रवृत्ति, तो ऊपरका कठोर व्यवहार भी विश्वासोत्पादक होगा। इसमे सन्देह नही है कि अहिंसाके आधारपर प्रतिष्ठित समाज ही सुख और शान्तिका कारण बन सकता है।

शक्तिप्रयोगसम्बन्धी सिद्धान्तका विश्लेषण इजिनियरिंग कलाके आलोकमे किया जा सकता है। मनुष्यके स्वभाव और समाजमे अपार शक्ति है। इसके क्रोधादिके रूपमे फूट पडनेसे रोकना चाहिये और प्रेमकी प्रणाली द्वारा उपयोगी कार्योंमे लगाना चाहिये। इस सिद्धान्तको यो समझा जा सकता है कि हम भापकी शक्तिको फूट पडनेसे रोक कर वायलर और अन्य वस्तुओकी रक्षा करते हैं और इजिनको शक्तिशाली बनाते हैं। इसीप्रकार हम व्यक्तिके अहकार, काम, क्रोधादि दुर्गुणोको फूट पडनेसे रोक सके और इन गुणोका परिवर्तन अहिंसक शक्तिके रूपमे कर सकें, तो समाजको सचालित करनेके लिये अपार शक्तिशाली व्यक्तिरूपी एजिन प्राप्त होता है।

एकताकी भावना अहिंसाका ही रूप है। कलह, फूट, द्वन्द्व और सघर्ष हिंसा है। ये हिंसक भावनाएँ सामाजिक जीवनमे एकता और पारस्परिक विश्वास उत्पन्न नही कर सकती है।

यदि हम समाजके प्रत्येक सदस्यके साथ समता, सहानुभूति और सहृदयता-का व्यवहार करें, तो समाजके विकासमे अवरोध पैदा नही हो सकता है।

तीर्थंकर महावीरने समाज-व्यवस्थाके लिये दया, सहानुभूति, सहिष्णुता और नम्रताको साधनके रूपमे प्रतिपादित किया है। ये चारो ही साधन वर्त्तमान समाज-व्यवस्थाके लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। समाजके कष्टोके प्रति दया एक अच्छा साधन है। इससे समाजमे एकता और बन्धुत्वकी भावना उत्पन्न होती है। तीर्थंकर महावीरका सिद्धान्त है कि दयाका प्रयोग ऐसा होना चाहिये, जिससे मनुष्यमे दयनीयताकी भावना उत्पन्न न हो और दया करनेवालोमे अभिमानकी भावना जागृत न हो। समाज-व्यवस्थाके लिये दया, दान, सयम और शील आवश्यक तत्त्व हैं। इन तत्त्वो या गुणोसे सहयोगकी वृद्धि होती है। समाजकी समस्त विसगतियाँ एव कठिनाईयाँ उक्त सावनो द्वारा दूर हो जाती है।

सहिष्णुताकी भावनाको भी समाज-गठनके लिये आवश्यक माना गया है। मानव-समाज एक शरीरके तुल्य है। शरीरमे जिस प्रकार अंगोपाग, नस, नाड़ियाँ अवस्थित रहती है, पर उन सबका सम्पोषण हृदयके रक्तसचालन द्वारा होता है, इसी प्रकार समाजमें विभिन्न स्वभाव और गुणधारी व्यक्ति निवास करते हैं। इन समस्त व्यक्तियोकी शारीरिक एव मानसिक योग्यताएँ भिन्न-भिन्न रहती हैं, पर इन समस्त सामाजिक सदस्योको एकताके सूत्रमे अहिंसाके रूप प्रेम, सहानुभूति, नम्रता, सत्यता आदि आबद्ध करते है। नम्रता और सहानुभूतिको कमजोरी, कायरता और दुरभिमान नही माना जा सकता। इन गुणोका अर्थ हीनता नही, किन्तु आत्मिक समानता है। भौतिक बडप्पन, वर्गश्रेष्ठता, कुलीनता, धन और पदवियोका महत्त्व आध्यात्मिक दृष्टिसे कुछ भी नही है। अतएव समाजको अहिंसात्मक शक्तियोके द्वारा ही नियन्त्रित किया जा सकता है। अहिंसक आत्मनिग्रही बनकर समाजको एक निश्चित मार्गका प्रदर्शन करता है। वास्तवमे मानव-समाजको यथार्थ आलोककी प्राप्ति राग-द्वेष और मोहको हटानेपर ही हो सकती है। अहिसक विचारोके साथ आचार, आहार-पान भी अहिंसक होना चाहिए।

कर्त्तव्य-कर्मोका सावधानी पूर्वक पालन करना तथा दुर्व्यसन, द्यूत क्रीडा, मासभक्षग, मदिरापान, आखेट, वेश्यागमन, परस्त्री-सेवन एव चौर्यकर्म आदिका त्याग करना सामाजिक सदस्यताके लिये अपेक्षित हैं।

धन एव भोगोंकी आसुरी लालसाने व्यक्तिको तो नष्ट किया ही है, पर अगणित समाजोको भी बर्बाद कर डाला है। आसुरी वासनाओकी तृप्ति एक

काल तो क्या त्रिकालमे भी सम्भव नही है। अतएव न्याय-अन्याय, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, पुण्य-पाप आदिका विचार कर समाजको अहिंसक नीति द्वारा व्यवस्थित करना चाहिये। इसमे सन्देह नही कि महावीरकी समाज-व्यवस्था आजके युगमे भी उतनी ही उपयोगी है, जितनी उपयोगी उनके समयमे थी। महावीरने श्रमको जीवनका आवश्यक मूल्य बताया है। मानवीय मूल्योमे इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। समाज धन या सम्पत्तिसे पूर्ण सुखका अनुभव नही कर सकता है। पर नीति और अध्यात्मके द्वारा तृष्णा, स्वार्थ और द्वेषका अन्त हो सकता है।



उपसंहार

महावीर : व्यक्तित्व-विश्लेषण

काचन काया

सात हाथ उन्नत शरीर, दिव्य काञ्चन आभा, आजानबाहु, समचतुरस्र-सस्थान, वज्रवृषभनाराचसहनन आदिसे युक्त तीर्थंकर महावीर तन और मन दोनोसे ही अद्भुत सुन्दर थे। उनकी लावण्य-छटा मनुष्योको ही नही, देव, पशु-पक्षी एव कीट-पतगको भी सहजमे अपनी ओर आकृष्ट करती थी। देवेन्द्र भी उनके दिव्य तेजसे आकृष्ट हो चरण-वन्दनके लिये आते, अगणित मनुष्य-सामन्तोकी तो बात ही क्या।

उनके व्यक्तित्वको लोक-कल्याणकी भावनाने सजाया था, सँवारा था। वे अपने भीतर विद्यमान शक्तिका स्फोटन कर प्रतिकूल कण्टकाकीर्ण मार्गको पुष्पावकीर्ण बनानेके लिये सचेष्ट थे। महावीर ऐसे नद थे, जो चट्टानोका भेदन

कर स्वयं अपने लिये पथका निर्माण करते हैं। वे निर्झर थे, कुलिका (नहर) नही। उन्होने कठिन-से-कठिन तप कर, कामनाओ और वासनाओपर विजय पा कर लोक-कल्याणका ऐसा उज्ज्वल मार्ग तैयार किया, जो प्राणिमात्रके लिये सहजगम्य और सुलभ था।

कर्मयोगी

महावीरके व्यक्तित्वमे कर्मयोगको साधना कम महत्त्वपूर्ण नही है। वे स्वयबुद्ध थे, स्वय जागरुक थे और बोधप्राप्तिके लिये स्वय प्रयत्नशील थे। न कोई उनका गुरु था और न किसी शास्त्रका आधार ही उन्होने ग्रहण किया था। वे कर्मठ थे और स्वय उन्होने पथका निर्माण किया था। उनका जीवन भय, प्रलोभन, राग-द्वेष सभीसे मुक्त था। वे नील गगनके नीचे हिंस्र-जन्तुओसे परिपूर्ण निर्जन वनोमे कायोत्सर्ग मुद्रामे ध्यानस्थ हो जाते थे। वे कभी मृत्यु-छायासे आक्रान्त श्मशानभूमिमे, कभी गिरि-कन्दराओमे, कभी गगनचुम्बी उत्तुग पर्वतोके शिखरोपर, कभी कल-कल, छल-छल निनाद करती हुई सरिताओके तटोपर और कभी जनाकीर्ण राजमार्गपर कायोत्सर्ग-मुद्रामे अचल और अडिगरूपसे ध्यानस्थ खडे रहते थे। वे कर्मयोगी शरीरमे रहते हुए शरीरसे पृथक्, शरीरकी अनुभूतिसे भिन्न जीवनकी आशा और मरणके भयसे विप्रमुक्त स्वकी शोधमे सलग्न रहते थे।

कर्मयोगी महावीरने अपने श्रम, साधना और तप द्वारा अगणित प्रकारके उपसर्गोको सहन किया। कही सुन्दरियोने उन्हे साधनासे विचलित करनेका प्रयास किया, तो कही दुष्ट और अज्ञानियोने उन्हे नाना प्रकारकी यातनाएँ दी, पर वे सब मौनरूपसे सहन करते रहे। न कभी मनमे ही विकार उत्पन्न हुआ और न तन ही विकृत हुआ। इस कर्मयोगीके समक्ष शाश्वत विरोधी प्राणी भी अपना वैरभाव छोडकर शान्तिका अनुभव करते थे। धन्य है महावीरका वह व्यक्तित्व, जिसने लौह पुरुषका सामर्थ्य प्राप्त किया और जिस व्यक्तित्वके समक्ष जादू, मणि, मन्त्र-तन्त्र सभी फीके थे।

अद्भुत साहसी

महावीरके व्यक्तित्वमे साहस और सहिष्णुताका अपूर्व समावेश हुआ था। सिंह, सर्प जैसे हिंस्र जन्तुओके समक्ष वे निर्भयतापूर्वक उपस्थित हो उन्हे मौन रूपमे उद्बोधित कर सन्मार्गपर लाते थे। जरा, रोग और शारीरिक अवस्थाओके उस घेरेको, जिसमे फँस कर प्राणी हाहाकार करता रहता है, महावीर साहसी बन मृत्यु-विजेताके रूपमे उपस्थित रहते थे। महावीरने बडे साहसके

साथ परिवर्तित होते हुए मानवीय मूल्योंको स्थिरता प्रदान की और प्राणियोमे निहित शक्तिका उद्घाटन कर उन्हे निर्भय बनाया। उन जैसा अपूर्व साहसी शताब्दियोमे ही एकाध व्यक्ति पैदा होता है। शूलपाणि जैसे यक्षका आंतक और चण्डकौशिक जैसे सर्पकी विषज्वाला इनके साहसके फलस्वरूप ही शमनको प्राप्त हुई। अनार्य देशमे साधना करते हुए महावीरके स्वरूपसे अनभिज्ञ व्यक्तियोने उन्हे गालियाँ दी, पाषाण बरसाए, दण्डोसे पूजा की, दश-मशक और चीटियोने काटा, पर महावीर अपने साहससे विचलित न हुए। उनकी अपूर्व सहिष्णुता और अनुपम शान्ति विरोधियोका हृदय परिवर्तित कर देती थी। वे प्रत्येक कष्टका साहसके साथ स्वागत करते, शरीरको आराम देनेके लिये न वस्त्र धारण करते, न पृथ्वी पर आसन विछाकर शयन करते, न अपने लिये किसी वस्तुकी कामना ही करते। उनके अनुपम धैर्यको देखकर देवराज इन्द्र भी नतमस्तक था। सगमदेवने महावीरके साहसकी अनेक प्रकारसे परीक्षा की, पर वे अडिग हिमालय ही बने रहे।

लोक-प्रदीप

महावीरके व्यक्तित्वमे अनुपम प्रदीप-प्रकाश उपलब्ध है। उन्होने ससारके घनीभूत अज्ञान-अन्धकारको दूरकर सत्य और अनेकान्तके आलोकद्वारा जन-नेतृत्व किया था। घरका दीपक घरके कोनेमे ही प्रकाश करता है, उसका प्रकाश सीमित और धुधला होता है, पर महावीर तो तीन लोकके दीपक थे। लोकत्रयको प्रकाशित किया था। महावीर ऐसे दीपक थे, जिसकी ज्योतिके स्पर्शने अगणित दीपोको प्रज्वलित किया था। अज्ञानअन्धकारको हटा जनता-को आवरण और बन्धनोको तोड़नेका सन्देश दिया था। उन्होने राग-द्वेष विकल्पोको हटाकर आत्माको अखण्ड ज्ञान-दर्शन चैतन्यरूपमे अनुभव करनेका पथ आलोकित किया था। निश्चयसे देखनेपर आत्मापर बन्धन या आवरण है ही नही। अनन्त चैतन्यपर न कोई आवरण है और न कोई बन्धन। ये सब बन्धन और आवरण आरोपित हैं। जिसके घटमे ज्ञान-दीप प्रज्वलित है, उसके बन्धन और आवरण स्वत क्षीण हैं। सकल्प-विकल्पोका जाल स्वयमेव ही विलीन हो जाता है।

करुणामूर्ति

महावीरका सवेदनशील हृदय करुणासे सदा द्रवित रहता था। वे अन्ध-विश्वास, मिथ्या आडम्बर और धर्मके नामपर होनेवाले हिंसा-ताण्डवसे अत्यन्त द्रवीभूत थे। 'यज्ञीयहिंसा हिंसा न भवति' के नारेको वदलनेका सकल्प

कुलभेद, देश और प्रान्तभेद आदि सभी मानवताके विघातक हैं। तनावका वातावरण और अविश्वासकी खाईंको दूर करनेका एकमात्र साधन जन-सामान्यको पारस्परिक सहयोग और कल्याणके लिये प्रेरित करना है।

स्वर्गके देव विभूतिमे कितने ही बडे क्यो न हो, उनका स्वर्ग कितना ही सुन्दर और सुहावना क्यो न हो, पर वे मनुष्यसे महान नही। मनुष्यके त्याग और इन्द्रियसयमके प्रति उन्हे भी नतमस्तक होना पडता है। मानव-मानवताके कारण सभी मनुष्य समान है, जन्मसे कोई भी व्यक्ति न बडा है, न छोटा। कार्य, गुण, परिश्रम, त्याग, सयम ऐसे गुण हैं, जिनकी उपलब्धिसे कोई भी व्यक्ति महान् बन सकता है। जीवनका यथार्थ लक्ष्य आत्मस्वातन्त्र्यकी प्राप्ति है। कालका प्रवाह अनाहत चला आ रहा है। जीवन क्षण, पल, घडियोमे कण-कण विखर रहा है। पार्श्ववर्त्ती स्तब्ध वातावरणमे भी सूक्ष्मरूपसे अतीत और व्यय समाहित है। नव नवीन रूपोमे प्रस्फुटित हो रहा है और वस्तुकी ध्रौव्यता भी यथार्थरूपमे स्थित है। इसप्रकार उत्पादादित्रयात्मकरूप वस्तु आत्मद्रष्टाको तटस्थ वृत्तिकी ओर आकृष्ट करती है और यही उसे जन कल्याणकी ओर ले जाती है।

तीर्थंकर महावीर जन्मजात वीतराग थे। उनके व्यक्तित्वके कण-कणका निर्माण आत्मकल्याण और लोकहितके लिये हुआ था। लोककल्याण ही उनका इष्ट था और यही था उनका लक्ष्य। जीवनके प्रथम चरणसे ही उन्होने जन-कल्याणके लिये सघर्ष आरम्भ किया, पर उनका यह सघर्ष बाह्य शत्रुओसे नही था, अन्तरग काम, क्रोधादि वासनाओंसे था। उन्होने शाश्वत सत्यकी प्राप्तिके लिये राजवैभव, विलास, आमोद-प्रमोद आदिका त्याग किया और जनकल्याणमे सलग्न हो गये।

लोककल्याणके कारण ही तीर्थंकर महावीरने अपूर्व लोकप्रियता प्राप्त की थी। वे जिस नगर या ग्रामसे निकलते थे, जनता उनकी अनुयायिनी बन जाती थी। मनुष्य तो क्या; पशु-पक्षी भी उनसे प्रेम करते थे। हिंसक, क्रूर और पिशाच भी अपनी वृत्तियोका त्यागकर महावीरकी शरण ग्रहण करते थे। वे तत्कालीन समाजकी कायरता, कदाचार और पापाचारको दूर करनेके लिये कटिबद्ध थे। अत लोकप्रियताका प्राप्त होना उन्हे सहज था।

स्वावलम्बी

महावीरके व्यक्तित्वकी अन्य विशेषताओमे स्वावलम्बनकी वृत्ति भी है। 'अपना कार्य स्वय करो' के वे समर्थक थे। जब साधनाकालमे अपरिचयके

कारण कुछ अज्ञ व्यक्ति उनका तिरस्कार करते, अपमान करते, शारीरिक यातनाएँ देते, उस समय महावीर किसीकी सहायताकी अपेक्षा नही करते थे। वे अपने पुरुषार्थ द्वारा ही कर्मोंका नाश करना चाहते थे। जब इन्द्रने उनसे साधनामार्गमे सहायता करनेका अनुरोध किया, तब वे मौन भाषामे हुए कहने लगे—"देवेन्द्र, तुम भूल रहे हो। साधनाका मार्ग अपने-आपपर विजय प्राप्त करनेका मार्ग है। स्वयकृत कर्मका शुभाशुभ फल व्यक्तिको अकेले ही भोगना पडता है। कर्मावरणको छिन्न करनेके लिये किसी अन्यकी सहायता अपेक्षित नही है। यदि किसी व्यक्तिको किसी दूसरेके सुख-दु ख और जीवन-मरणका कर्त्ता माना जाय, तो यह महान् अज्ञान होगा और स्वयंकृत शुभाशुभ फल निष्फल हो जायेंगे। यह सत्य है कि किसी भी द्रव्यमे परका हस्तक्षेप नही चलता है। हस्तक्षेपकी भावना ही आक्रमणको प्रोत्साहित करती है। यदि हम अपने मनसे हस्तक्षेप करनेकी भावनाको दूर कर दे, तो फिर हमारे अन्तस्मे सहजमे ही अनाक्रमणवृत्ति प्रादुर्भूत हो जायगी। आक्रमण प्रत्याक्रमणको जन्म देता है और यह आक्रमण-प्रत्याक्रमणकी परम्परा विश्व-शान्ति और आत्मिक शान्तिमे विघ्न उत्पन्न करती है।" इस प्रकार तीर्थंकर महावीरके व्यक्तित्वमें स्वावलम्बन और स्वतन्त्रताकी भावना पूर्णतया समाहित थी।

अहिंसक

महावीरके व्यक्तित्वका सम्पूर्ण गठन ही अहिंसाके आधारपर हुआ है। मनुष्यको जैसे अपना अस्तित्व प्रिय है, अपना सुख अभीष्ट है, उसी तरह अन्य प्राणियोको भी अपना अस्तित्व और सुख प्रिय है। अहिंसक व्यक्तित्वका प्रथम दृष्टिबिन्दु सहअस्तित्व और सहिष्णुता है। सहिष्णुताके बिना सहअस्तित्व सम्भव नही है। ससारमे अनन्त प्राणी है और उन्हे इस लोकमे साथ-साथ रहना है। यदि वे एक दूसरेके अस्तित्वको आशकित दृष्टिसे देखते रहे, तो अस्तित्वका सघर्ष कभी समाप्त नही हो सकता है। सघर्ष अशान्तिका कारण है और यही हिंसा है।

जीवनका वास्तविक विकास अहिंसाके आलोकमे ही होता है। वैर-वैमनस्य द्वेष, कलह, घृणा, ईर्ष्या, क्रोध, अहकार, लोभ-लालच, शोषण-दमन आदि जितनी भी व्यक्ति और समाजकी ध्वसात्मक विकृतियाँ है, वे सब हिंसाके ही रूप है। मनुष्यका अन्तस् हिंसाके विवध प्रहारोसे निरन्तर घायल होता रहता है। इन प्रहारो का शमन करनेके लिये अहिंसाकी दृष्टि और अहिंसक जीवन ही आवश्यक है। महावीरने केवल अहिंसाका उपदेश हो नही दिया, अपितु उसे अपने जीवनमे उतारकर शत-प्रतिशत यथार्थता प्रदान की। उन्होने अहिंसा-

के सिद्धान्त और व्यवहारपक्षको एक करके दिखला दिया। विरोधीसे विरोधीके प्रति भी उनके मनमे घृण नहीं थी, द्वेष नहीं था वे उत्पीडक एव घातकके प्रति भी मगलकल्याणकी पवित्र भावना रखते थे। सगमदेव और शूलपाणि यक्ष जैसे उपसर्ग देनेवाले व्यक्तियो के प्रति भो उनके नेत्रोमे करुणा थी। तीर्थंकर महावीरका अहिंसक जीवन क्रूर और निर्दय व्यक्तियोके लिये भी आदर्श था।

महावीरका सिद्धान्त था कि अग्निका शमन अग्निसे नही होता, इसके लिये जलकी आवश्यकता होती है। इसीप्रकार हिंसाका प्रतिकार हिंसासे नही, अहिंसासे होना चाहिये। जब तक साधन पवित्र नही, साध्यमे पवित्रता आ नही सकती। हिंसा सूक्ष्मरूपसे व्यक्तिके व्यक्तित्वकी अनन्त पर्तोंमे समाहित है। उसे निकालनेके लिये सभी प्रकारके विकारो, वासनाओका त्याग आवश्यक है। यही कारण है कि महावीरने जगतको बाह्य हिंसासे रोकनेके पूर्व अपने अन्तरमे विद्यमान राग-द्वेषरूप भावहिंसाका त्याग किया और उनके व्यक्तित्वका प्रत्येक अणु अहिसाकी ज्योतिसे जागृत हो उठा। महावीरने अनुभव किया कि समस्त प्राणी तुल्य शक्तिधारी है, जो उनमे भेद-भाव करता है, उनकी शक्तिको समझने मे भूल या किसी प्रकारका पक्षपात करता है, वह हिंसक है। दूसरो को कष्ट पहुँचानेके पूर्व ही, विकृति आ जानेके कारण अपनी ही हिंसा हो जाती है।

सचमुचमे अहिंसाके साधक महावीरका व्यक्तित्व धन्य था और धन्य थी उनकी सचरणशक्ति। वे बारह वर्षोंतक मौन रहकर मोह-ममताका त्याग कर अहिंसाकी साधनामे सलग्न रहे। महावीरके व्यक्तित्वकी प्रमुख विशेषताओमे उनका अहिंसक व्यक्तित्व निर्मल आकाशके समान विशाल और समुद्रके समान अतल स्पर्शी है। उनकी अहिंसामे आग्रह नही था, उद्दण्डता नही थी, पक्षपात नहो था और न किसी प्रकारका दुराव या छिपाव ही था। दया, प्रेम और विनम्रताने उनकी अहिंसक साधनाको सुसस्कृत किया था।

क्रातिद्रष्टा

तीर्थंकर महावीरके व्यक्तित्वमे क्रान्तिकी चिनगारी आरम्भसे ही उपलब्ध होती है। वे व्यवहारकुशल, स्पष्ट वक्ता, निर्भीक साधक, अहिंसक, लोक-कल्याणकारी और जनमानसके अध्येता थे। चाटुकारिताकी नीतिसे वे सदा दूर थे। उनके मनमे आत्मविश्वासका दीपक सदा प्रज्वलित रहता था। धर्मके नामपर होनेवाली हिंसाएँ और समाजके सगठनके नामपर विद्यमान भेद-भाव एव आत्मसाधनाके स्थानपर शरीर-साधनाकी प्रमुखताने महावीरके मनमे किशोरावस्थासे ही क्रान्तिका बीज-वपन किया था। रईसो और अमीरोके यहाँ दास-दासीके रूपमे शोषित नर-नारी महावीरके हृदयका अपूर्व मथन करते

थे। फलतः वे उस युगकी प्रमुख-धर्म-धारणा यज्ञ और क्रिया-काण्डके विरोधी थे। उन दिनोमे नर और नारी नीति और धर्मका आँचल छोड चुके थे। वे दोनो ही कामुकताके पकमें लिप्त थे। नारियोमे पातिव्रत, शील और सकोचकी कमी हो रही थी। वे बन्धनोको तोड और लज्जाके आवरणको फेंक स्वच्छन्द बन चुकी थी। पुरुषोमे दानवी वासनाका प्राबल्य था। वे आचार-विचार-शील-सयमका पल्ला छोड़ वासनापूर्तिको ही धर्म समझते थे। चारो ओर बलात्कार और अपहरणका तूफान उठ खडा हुआ था। चन्दना जैसी कितनी नारियोका अपहरण अहर्निश हो रहा था। जनमानसका धरातल आत्माकी धवलतासे हटकर शरीरपर केन्द्रित हो गया था। भोग-विलास और कृत्रिमताका जीवन ही प्रमुख था। मदिरापान, द्यूतक्रीडा, पशुहिंसा, आदि जीवनकी साधारण बातें थी। बलिप्रथाने धर्मके रूपको और भी विकृत कर दिया था।

भौतिकताके जीवनकी पराकाष्ठा थी। धर्म और दर्शनके स्वरूपको औद्धत्य, स्वैराचार, हठ और दुराग्रहने खण्डित कर दिया था। वर्ग-स्वार्थकी दूषित भावनाओने अहिंसा, मैत्री और अपरिग्रहको आत्मसात् कर लिया था। फलत समाजके लिये एक क्रान्तिकारी व्यक्तिकी आवश्यकता थी। महावीरका व्यक्तित्व ऐसा ही क्रान्तिकारी था। उन्होने मानव-जगतमे वास्तविक सुख और शान्तिकी धारा प्रवाहित की और मनुष्यके मनको स्वार्थ एव विकृतियोसे रोककर इसी धरतीको स्वर्ग बनानेका सन्देश दिया। महावीरने शताब्दियोसे चली आ रही समाज-विकृतियो को दूरकर भारतकी मिट्टीको चन्दन बनाया। वास्तवमे महावीरके क्रान्तिकारी व्यक्तित्वको प्राप्तकर धरा पुलकित हो उठी, शत-शत वसन्त खिल उठे। श्रद्धा, सुख और शान्तिकी त्रिवेणी प्रवाहित होने लगी। उनके क्रान्तिकारी व्यक्तित्वसे कोटि-कोटि मानव कृतार्थ हो गये। निस्सन्देह पतितो और गिरो को उठाना, उन्हे गलेसे लगाना और करस्पर्श द्वारा उनके व्यक्तित्वको परिष्कृत कर देना यही तो क्रान्तिकारीका लक्षण है। महावीरकी क्रान्ति जड नही थी, सचेतन थी और थी गतिशील। जो अनुभव-सिद्ध ज्ञानके शासनमे चल मुक्त चिन्तन द्वारा सत्यान्वेषण करता है, वही समाजमे क्रान्ति ला सकता है।

पुरुषोत्तम

महावीर पुरुषोत्तम थे। उनके बाह्य और आभ्यन्तर दोनो ही प्रकारके व्यक्तित्वोमे अलौकिक गुण समाविष्ट थे। उनका रूप त्रिभुवनमोहक, तेज सूर्य-को भी हतप्रभ बनानेवाला और मुख सुर-नर-नागनयनको मनहर करने वाला था। उनके परमौदारिक दिव्य शरीरकी जैसी छटा और आभा थी,

उससे भी कही अधिक उनकी आत्माका दिव्य तेज था। अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य गुणोके समावेशने उनके आत्मतेजको अलौकिक बना दिया था। निष्कामभावसे जनकल्याण करनेके कारण उनका आत्मबल अनुपम था। वे ससार-सरोवरमे रहते हुए भी कमलपत्रवत् निर्लिप्त थे। उनका यह व्यक्तित्व पुरुषोत्तम विशेषणसे विशिष्ट किया जा सकता है।

यो तो महावीरके व्यक्तित्वमे एक महामानवके सभी गुण प्राप्य थे, पर वे एक सच्चे ज्ञानी, मुक्ति-नेता, कुशल उपदेष्टा और निर्भीक शिक्षक थे। जो भी उनकी वाणी सुनता, वही उनकी ओर आकृष्ट हो जाता। वे ऐसे ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी थे, जिन्हे 'घोरवभचेर' कहा गया है। ब्रह्मचर्यकी उत्कृष्ट साधना और अहिंसक अनुष्ठानने महावीरको पुरुषोत्तम बना दिया था। तप पूत भगवान् महावीर तीर्थंकर पुरुषोत्तम थे। श्रेष्ठ पुरुषोचित सभी गुणोका समवाय उनमे प्राप्त था।

निःस्वार्थ

महावीरके व्यक्तित्वमे निस्वार्थ साधकके समस्त गुण समवेत है। वे तपश्चरण और उत्कृष्ट शुभ अध्यवसायके कारण निरन्तर जागरूक थे। उन्हे सभी प्रकारकी ऋद्धि-सिद्धियाँ ऊपलब्ध थी, पर वे उनसे थे निर्लिप्त, आत्मकेन्द्रित, शान्त और वीतराग। आत्मापर कठोर सयमकी वृत्ति रखनेके कारण उनमे विश्व बन्धुत्व समाहित था।

महावीर न उपसर्गोसे ही घबराते थे और न परीषह सहन करनेसे ही। वे सभी प्रकारके स्वार्थ और विकारोको जीतकर स्वतन्त्र या मुक्त होना चाहते थे। अनादिकालसे चैतन्य-ज्योति आवरणोसे आच्छादित है। जिसने इन आवरणोको हटाकर बन्धनोको तोडा है, जो सकल्प-विकल्पोसे मुक्त हुआ है और जिसने शरीर और इन्द्रियोपर पडी हुई परतोको हटाया है, वही नि स्वार्थ जीवन यापन कर सकता है। तीर्थंकर महावीरके व्यक्तित्वमे यह निस्वार्थकी प्रवृत्ति पूर्णतया वर्त्तमान थी।

वस्तुत तीर्थंकर महावीरके व्यक्तित्वमे एक महामानवके सभी गुण विद्यमान थे। वे स्वयबुद्ध और निर्भीक साधक थे और अहिंसा ही उनका साधनासूत्र था। उनके मनमे न कुण्ठाओको स्थान प्राप्त था और न तनावोको। प्रथम दर्शनमे ही व्यक्ति उनके व्यक्तित्वसे प्रभावित हो जाता था। यही कारण है कि इन्द्रभूति गौतम जैसे तलस्पर्शी ज्ञानी पण्डित भी महावीरके दर्शनमात्रसे प्रभावित हुए और उनके शिष्य बन गये।

यह सार्वजनीन सत्य है कि यदि व्यक्तिके मुखपर तेज, छविमे सौन्दर्य, आँखो मे आभा, ओठो पर मन्द मुस्कान, शरीरमे चारुता और अन्तरंगमे निश्छल प्रेम हो, तो वह सहजमे ही अन्य व्यक्तियोको आकृष्ट कर लेता है। महावीरके वाह्य और अन्तरग दोनो ही व्यक्तित्व अनुपम थे। उनका शारीरिक गठन, सस्थान और आकार जितना उत्तम था उतना ही वीतरागताका तेज भी दीप्ति युक्त था। वृपभके समान मासल स्कन्ध, चक्रवर्तीके लक्षणो से युक्त पदकमल, लम्वी भुजाएँ, आकर्षक सौम्य चेहरा उनके वाह्य व्यक्तित्वको भव्यता प्रदान करते थे। साथ ही तप साधना, स्वावलम्बनवृत्ति, श्रमणत्वका आचार, तपोपलब्धि, सयम, सहिष्णुता, अद्भुत साहस, आत्मविश्वास आदि अन्तरग गुण उनके आभ्यन्तर व्यक्तित्वको आलोकित करते थे। महावीर धर्मनेता, तीर्थंकर, उपदेशक एव ससारके मार्ग-दर्शक थे। जो भी उनकी शरण या छत्रच्छायामे पहुँचा, उसे ही आत्मिक शान्ति उपलब्ध हुई।

निस्सन्देह वे विश्वके अद्वितीय क्रान्तिकारी, तत्वोपदेशक और जननेता थे। उनकी क्रान्ति एक क्षेत्र तक सीमित नही थी। उन्होने सर्वतोमुखी क्रान्तिका शखनाद किया, आध्यात्मिक, दर्शन, समाजव्यवस्था, धर्मानुष्ठान, तपश्चरण यहाँ तककी भापाके क्षेत्रमे भी अपूर्व क्रान्तिकी। तत्कालीन तापसोकी तपस्याके वाह्यरूपके स्थानमे आभ्यन्तररूप प्रदान किया। पारस्परिक खण्डन-मण्डनमे निरत दार्शनिकोको अनेकान्तवादका महामन्त्र प्रदान किया। सद्गुणो की अवमानना करने वाले जन्मगत जातिवादपर कठोर प्रहारकर गुणकर्माधारपर जातिव्यवस्थाका निरूपण किया। इन्हो ने नारियोकी खोयी हुई स्वतन्त्रता उन्हे प्रदान की। इस प्रकार महावीरका व्यक्तित्व आद्यन्त क्रान्ति, त्याग, तपस्या, सयम, अहिंसा आदिसे अनुप्राणित है।



छिपाव नही रह सकता है। वस्तुत मैत्री-भावना समाजकी परिधिको विकसित करती है, जिससे आत्मामे समभाव उत्पन्न होता है।

प्रमोद-भावना

गुणीजनोको देखकर अन्त करणका उल्लसित होना प्रमोद-भावना है। किसीकी अच्छी वातको देखकर उसकी विशेषता और गुणोका अनुभव कर हमारे मनमे एक अज्ञात ललक और हर्षानुभूति उत्पन्न होती है। यही आनन्दकी लहर परिवार और समाजको एकताके सूत्रमे आवद्ध करती है। प्राय देखा जाता हे कि मनुष्य अपनेसे आगे बढे हुए व्यक्तिको देखकर ईर्ष्या करता है और इस ईर्ष्यासे प्रेरित होकर उसे गिरानेका भी प्रयत्न करता है। जब तक इस प्रवृत्तिका नाश न हो जाय, तबतक अहिंसा और सत्य टिक नही पाते। प्रमोद-भावना परिवार और समाजमे एकता उत्पन्न करती है। ईर्ष्या और विद्वेष पर इसी भावनाके द्वारा विजय प्राप्त की जा सकती है। ईर्ष्याकी अग्नि इतना विकराळ रूप धारण कर लेती है कि मनुष्य अपने भाई और पुत्रके भी उत्कर्ष-को फूटी आँखो नहीं देख पाता। यही ईर्ष्याकी परिणति एव प्रवृत्ति ही परिवार और समाजमे खाई उत्पन्न करती है। समाज और परिवारकी छिन्न-भिन्नता ईर्ष्या, घृर्णा और द्वेषके कारण ही होती है। प्रतिस्पर्धावश समाज विनाशके कगारकी ओर बढता है। अत 'प्रमोद-भावना'का अभ्यास कर गुणोके पारखी बनना और सही मूल्याकन करना समाजगठनका सिद्धान्त है। जो स्वय आदर-सम्मान प्राप्त करना चाहता है, उसे पहले अन्य व्यक्तियोका आदर-सम्मान करना चाहिए। अपने गुणोके साथ अन्य व्यक्तियोके गुणोकी भी प्रशसा करनी चाहिए। यह प्रमोदकी भावना मनमे प्रसन्नता, निर्भयता एव आनन्दका सचार करती हे और समाज तथा परिवारको आत्मनिर्भर, स्वस्थ और सुगठित बनाती है।

करुणा-भावना

करुणा मनकी कोमल वृत्ति है, दु खी और पीडित प्राणीके प्रति सहज अनु-कम्पा और मानवीय सवेदना जाग उठती है। दु खीके दु खनिवारणार्थ हाथ बढते हैं और यथाशक्ति उसके दु खका निराकरण किया जाता है।

करुणा मनुष्यकी सामाजिकताका मूलाधार हे। इसके सेवा, अहिंसा, दया, सहयोग, विनम्रता आदि सहस्रो रूप सभव हैं। परिवार और समाजका आलम्बन यह करुणा-भावना ही है।

मात्राके तारतम्यके कारण करुणाके प्रमुख तीन भेद हैं—१ महाकरुणा, २ अतिकरुणा और, ३ लघुकरुणा। महाकरुणा नि स्वार्थभावसे प्रेरित

३. द्रव्यनिक्षेप

जो वस्तु भाविपर्यायके प्रति अभिमुख है उसे द्रव्यनिक्षेप कहते हैं। इसके दो भेद हैं :—(१) आगम द्रव्यनिक्षेप और (२) नोआगम द्रव्यनिक्षेप। जीव-विषयक शास्त्रका ज्ञाता किन्तु उसमे अनुपयुक्त जीव आगम द्रव्यजीव है। नोआगमके तीन भेद हैं :—(१) ज्ञायकशरीर, (२) भावि और (३) तद्व्यतिरिक्त। उस ज्ञाताके भूत, भावि ओर वर्तमान शरीरको ज्ञायकशरीर कहते हैं। भाविपर्यायको भावि नोआगम द्रव्यनिक्षेप कहा जाता है। यथा भविष्यमे होनेवालेको अभी राजा कहना। तद्व्यतिरिक्तके दो भेद हैं —कर्म और नोकर्म। कर्मके ज्ञानावरणादि अनेक भेद हैं और शरीरके पोषक आहारादिरूप पुद्गल द्रव्य नोकर्म है।

४. भावनिक्षेप

वस्तुकी वर्तमान पर्यायको भावनिक्षेप कहते हैं। वस्तुके पर्याय-स्वरूपको भाव कहा जाता है। यथा स्वर्गके अधिपति साक्षात् इन्द्रको इन्द्र कहना भाव-निक्षेप है।

अतीत और अनागत पर्याय भी स्वकालकी अपेक्षा वर्तमान होनेसे भाव-रूप है। जो पर्याय पूर्वोत्तरकी पर्यायोमे अनुगमन नही करती उसे वर्तमान कहते है। यही भावनिक्षेपका विषय है। द्रव्यनिक्षेपके समान भावनिक्षपके भी दो भेद है:—(१) आगम भावनिक्षेप और (२) नोआगम भावनिक्षेप। जीवादिविषयक शास्त्रका ज्ञाता जब उसमे उपयुक्त होता है तो उसे आगमभाव कहते हैं। और जीवादि पर्यायसे युक्त जीवको नोआगमभाव कहते हैं।

निक्षेपोसे बोध्य अर्थका सम्यक् बोध होता है। आरम्भके तीन निक्षेप द्रव्यार्थिकनयके निक्षेप है और भाव पर्यायार्थिकनयका निक्षेप है।

प्रमाण, नय ओर निक्षेप तीनो ही ज्ञानसाधन हैं। इन तीनोके द्वारा द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तुकी पूर्ण जानकारी प्राप्त होती है।



दशम परिच्छेद

धर्म और आचार-मीमांसा

जीवन और धर्म

जीवन जड़ नही, गतिमान है। अत. आवश्यक है कि उस गतिको उचित ढंगसे इस भाँति नियमित और नियन्त्रित किया जाय कि जीवनका अन्तिम लक्ष्य प्राप्त हो सके। जीवनका उद्देश्य केवल जीना नही है, बल्कि इस रूपमे जीवन-यापन करना है कि इस जीवनके पश्चात् जन्म और मरणके चक्रसे छुटकारा मिल सके। आज सुविचारित क्रमबद्ध और व्यवस्थित जीवन-यापनकी अत्यन्त आवश्यकता है। धर्माचरण व्यक्तिको लौकिक और पारलौकिक सुख-प्राप्तिके साथ आकुलता और व्याकुलतासे मुक्त करता है। वह जीवन कदापि उपादेय नही, जिसमे भोगके लिए भौतिक वस्तुओकी प्रचुरता समवेत की जाय। जिस व्यक्तिके जीवनमे भोगोका बाहुल्य रहता है और त्यागवृत्तिकी कमी रहती है, वह व्यक्ति अपने जीवनमें सुखका अनुभव नही कर सकता। भोग जीवनका

स्वार्थपूर्ण और सकीर्ण दृष्टिकोण है। ऐसा जीवन उच्चतर आदर्शका प्रतिनिधित्व नही कर सकता, क्योकि सर्वोच्च ऐश्वर्य भी शनै. शनै. नष्ट होते-होते एक दिन बिलकुल नष्ट हो जाता है और अभावजन्य आकुलताएँ व्यक्तिके जीवनको अशान्त, अतृप्त और व्याकुल बना देती है।

मनुष्य जन्म लेता है, समस्त सुखोपर अपना एकाधिकार करनेका प्रयत्न भी करता है। परिवार सहित सर्वोच्च ऐश्वर्य एव सुखोका भोग भी करता है, पर एक दिन ऐसा आता है जब वह सब कुछ यहांका यही छोड मृत्युको प्राप्त होता है। अत यह सदैव स्मरणीय है कि सासारिक सुख ऐश्वर्य और भोग क्षणभगुर है। इनका यथार्थ उपयोग त्यागवृत्तिवाला व्यक्ति ही कर सकता है। जिसने शाश्वत, चिरन्तन आत्म-सुखकी अनुभूति प्राप्त की है, वही व्यक्ति ससारके विलास-वैभवोके मध्य निर्लिप्त रहता हुआ उनका उपभोग करता है।

शाश्वत सुख अथवा परमशक्ति तक पहुँचनेका मार्ग ससारके मध्यसे ही है। चिरन्तन आत्म-सुख और अशाश्वत भौतिक सुख परस्परमे अविच्छिन्नरूपसे सम्बद्ध दिखलाई पडते है, पर जिन्होने अपनी अन्तरात्मामे प्रकाशको प्राप्त कर लिया है, वे व्यक्ति मोहको जडोमे बद्ध नही रह पाते। वस्तुत मानव-जीवनका मुख्य उद्देश्य आत्मसुख प्राप्त करना है। पर इस सुखकी उपलब्धि इस शरीरके द्वारा हो करनो हे। अत सयम, अहिंसा, त। और सात्रनारूप धर्मका आश्रय लेना परम आवश्यक है।

मानव-जीवनके प्रमुख चार उद्देश्य है.—(१) धर्म, (२) अर्थ, (३) काम और (४) मोक्ष। मोक्ष परमलक्ष्य है। इस लक्ष्य तक पहुँचनेका साधन धर्म है। काम लौकिक जीवनका उपादेय तत्त्व है और इसका साधन अर्थ है। अर्थ मानवको स्वाभाविक प्रवृत्तियोकी ओर प्रेरित करता है। वह धनार्जनको इच्छापूर्तिके लिए उपयोगी मानते हुए भी अन्याय, अत्याचार एव पर-पीडनको स्थान नही देता। यह मनुष्यकी पाशविक प्रवृत्तियोका नियत्रण कर उसे मनुष्य बननेके लिए अनुप्रेरित करता है।

सामाजिक व्यवस्थामे धर्म अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एव प्रभावशाली अवधारणा है। धर्म मानवके समस्त नैतिक जीवनको नियन्त्रित करता है। मनुष्यकी अनेक प्रकारकी इच्छाएँ एव अनेक सघर्षात्मक आवश्यकताएँ होती हैं। धर्मका उद्देश्य इन समस्त इच्छाओ तथा आवश्यकतोको नियमित एव व्यवस्थित करना है। अतएव धर्म वह है जो मानव-जीवनकी विविधताओ, भिन्नताओ, अभिलाषाओ, लालसाओ, भोग, त्याग, मानवोय आदर्श एव मूल्योको नियमबद्ध

कर एकता और नियमितता प्रदान करे। वास्तवमे धर्म जीवनका एक ऐसा तरीका है जो कार्यों और क्रियाओंको सयोजित और नियन्त्रित करता है। धर्मके अभावमे मानवका जीवन मनुष्य-जीवन नही रह जाता है, अपितु वह पशुजीवनकी कोटिमे सम्मिलित हो जाता है।

मानव-जीवनमे चरित्रका अपना स्थान है। जीवनकी ऊँचाई केवल ज्ञान या विश्वाससे नही आंकी जा सकती। दिव्यताकी ओर होनेवाली यात्राका मुख्य मापदण्ड आचार ही है। दैनिक जीवनमे यह सभीको दिखलाई पडता है कि विश्वास और ज्ञान तबतक जीवनमे साकार नही हो पाते, जबतक मनुष्य अपने आचार-व्यवहारको मानवोचित रूप प्रदान नही करता। सन्तोष, क्षमा, आत्म-संयम, इन्द्रिय-निग्रह, दया, अहिंसा और सत्य ऐसे मार्ग हैं, जिनका अनुसरण करनेसे व्यक्ति और समाज सुख-शान्ति प्राप्त करता है।

मनुष्यकी विविध रुचियो, इच्छाओं, संघर्षात्मक आवश्यकताओ एव उत्तरदायित्वोके बीच सामञ्जस्य उत्पन्न करनेका कार्य आचारात्मक धर्म ही करता है। व्यक्ति या समाजके विभिन्न सदस्य जब धर्मके निर्देशानुसार अपने करणीय कर्त्तव्यको निश्चित ढगसे तथा निष्ठापूर्वक करते हैं, तो समाजमे सुव्यवस्था, शान्ति और समृद्धि सरल हो जाती है। अर्थ और कामका नियन्त्रक भी धर्म है। केवल अर्थ और केवल काम जीवनमे भोग तो उत्पन्न कर सकते हैं, पर जीवनको उदात्त नही बना सकते। अतएव मानव-जीवनका साफल्य नियन्त्रण, निग्रह, त्याग और सन्तोषपर ही निर्भर है।

ससार एक अनन्त अविराम प्रवाह है और नाना जीव इस प्रवाहमे अनादि कालसे अनन्तकाल तक धर्मविमुख हो लुढकते और टक्करें खाते रहते हैं। जीवनकी गति कही भी विश्रान्ति प्राप्त नही करती। सदाचार, विश्वास और तत्त्वज्ञान ही मानव-जीवनमे व्यवस्था, शान्ति और बन्धनोसे मुक्ति कराते हैं। क्षणिक जीवनके बदले शाश्वत जीवनका लाभ होता है और ससारके निस्सार सुख-दु खोसे ऊपर उठकर आत्मा अनन्त सुखमयमुक्तिका लाभ करती है। अत सक्षेपमे जीवनको सुव्यवस्थित और नियन्त्रित करनेके लिए धर्मकी परम आवश्यकता है।

धर्म : व्युत्पत्ति एवं स्वरूप

धर्मशब्द धृ + मन्मे निष्पन्न है। "ध्रीयते लोकोऽनेन, धरति लोक वा धर्म अथवा इष्टे स्थाने धत्ते इति धर्म" अर्थात् जो इष्ट स्थान—मुक्तिमे धारण कराता है अथवा जिसके द्वारा लोक श्रेष्ठ स्थानमे धारण किया जाता है अथवा जो लोकको श्रेष्ठ स्थानमे धारण करता है, वह धर्म है। धर्म सुखका कारण है।

धर्म और सुखमे कार्य-कारणभाव या दीपक और प्रकाशके समान सहभावी-भाव है, अर्थात् जहाँ दीपक है वहाँ प्रकाश अवश्य रहता है और जहाँ दीपक नही, वहाँ प्रकाश भी नही रहता। इसी प्रकार जहाँ धर्म होगा वहाँ सुख अवश्य रहेगा और जहाँ धर्म नही होगा वहाँ सुख भी नही रहेगा।

जो धारण किया जाय या पालन किया जाय, वह धर्म है। धर्मका एक अर्थ वस्तुस्वभाव भी है। जिस प्रकार अग्निका धर्म जलाना, जलका शीतलता, वायुका बहना धर्म है, उसी प्रकार आत्माका चैतन्य धर्म है। वस्तुस्वभावरूप धर्म है तो यथार्थ; पर इसकी उपलब्धि आचारके बिना सम्भव नही। जिस आचार द्वारा अभ्युदय और नि.श्रेयस—मुक्तिकी प्राप्ति हो, वह धर्म कहलाता है। अभ्युदयका अर्थ लोक-कल्याण है और नि.श्रेयसका अर्थ कर्म-बन्धनसे मुक्त हो स्वस्वरूपकी प्राप्ति है।

स्वभावरूप धर्म जड और चेतन सभी पदार्थोमे समाविष्ट है, क्योकि इस विश्वमे कोई ऐसी वस्तु नही है, जिसका कोई न कोई स्वभाव न हो, पर आचार-रूप धर्म केवल चेतन आत्मामे पाया जाता है। अत· धर्मका संबंध आत्मासे है। वस्तु स्वभावका विवेचन चिन्तनात्मक होनेसे दर्शन-कोटिमें भी प्रविष्ट हो जाता है और आत्मा, लोक-परलोक, विश्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व प्रभृति प्रश्नोका उससे समाधान अपेक्षित होता है। वस्तुत. धर्म आत्माको परमात्मा बननेका मार्ग बतलाता है। इस मार्गके निरूपणक्रममे द्रव्य, गुण, पर्याय, तत्त्व आदिके स्व-भावकी जानकारी भी आवश्यक है। ज्ञाता व्यक्ति ही सम्यक् आचार द्वारा आत्मासे परमात्मा बननेके मार्गको प्राप्त करता है। जिस प्रकार कुशल स्वर्णकार-को स्वर्णके स्वभाव और गुणकी भली-भाँति पहचान होती है, तथा स्वर्ण-शोधनकी प्रक्रिया भी जानता है, वही स्वर्णकार स्वर्णको शुद्ध कर सकता है। इसी प्रकार जिस आत्म-शोधकको आत्मा और कर्मोके स्वरूप तथा विभाव-परिणतिजन्य उनके सयोगकी जानकारी है वही आत्मा परमात्मा बननेमे सफल होती है। मनुष्यके विचार भी आचारसे निर्मित होते है और विचारोंसे निष्ठा या श्रद्धा उत्पन्न होती है।

धर्मकी उपयोगिता कर्मनाश और प्राणियोको ससारके दु खसे छुडाकर सुख प्राप्तिके लिए है। इस सुखकी प्राप्ति तबतक सम्भव नही है जबतक कर्म-बन्धनसे छुटकारा प्राप्त न हो। अत. जो कर्म-बन्धका नाशक है वह धर्म है। संसारमे जो सुख है जिसे हम ऐन्द्रयिक सुख कहते हैं वह भी यथार्थमे सुख नही है। सुखकी प्राप्ति और दु खसे छुटकारा कर्म-बन्धनका नाश किये बिना सम्भव नही

है। सच्चा धर्म वही है जो कर्मबन्धनका नाश करा सके। सभी आत्म-अस्तित्ववादी विचारक आत्मा, परलोक और पुनर्जन्म स्वीकार करते है। शरीर जड है, जो मृत्युके पश्चात् भी रहता है, पर आत्माके निकलते ही उसमे निष्क्रियता आ जाती है और इन्द्रियो द्वारा जानने-देखनेका कार्य बन्द हो जाता है। इसका प्रधान कारण यह है कि शरीरमेसे चैतन्य धर्मका विलयन हो गया है। यह आत्मा ही ज्ञाता, द्रष्टा, कर्ता, भोक्ता आदि गुणोसे सम्पन्न है। इसी कारण इन्द्रियोके माध्यमसे जानने-देखनेकी क्रिया सम्पन्न होती है। ये विभिन्न क्रियाएँ शरीर या इन्द्रियोका धर्म नही है। ये तो आत्माकी क्रियाएँ है। आत्माके शरीरसे पृथक् होते ही चेतनाकी क्रियाएँ अवरुद्ध हो जाती हैं। अतः शाश्वत तत्त्व आत्मा है और उसके गुण धर्म है।

जिस सुखकी चाहमे ससारके प्राणी भटकते हैं, वह सुख भी जडका धर्म नही, चेतनका ही धर्म है। यत. मैं सुखी हूँ इस प्रकारकी प्रतीति आत्माके ज्ञान-गुणके बिना सम्भव नही। इसलिए सुख ज्ञानका ही सहभावी धर्म है। स्पष्टीकरणके लिए यो कहा जा सकता है कि घट पट आदि पदार्थोंको देखकर जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान घट-पट आदि पदार्थोंका धर्म नही है। हाँ, ज्ञानके साथ उनका ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध आवश्यक है। इसी प्रकार हमे अपने अनुकूल वस्तुकी प्राप्तिसे सुख और प्रतिकूल वस्तुकी प्राप्तिसे दु खका जो अनुभव होता है, वह सुख या दु ख अनुकूल या प्रतिकूल वस्तुका धर्म नही है। ये वस्तुएँ हमारे सुख या दु खमें निमित्तमात्र अवश्य हैं, पर सुख या दु खका अस्तित्व स्वय हमारे भीतर विद्यमान है। सुखका खजाना कही दूसरी जगहसे लाना नही है। यह तो हमारे भीतर ही छिपा हुआ है। जो सुखकी खोजमे इधर-उधर भटकते हैं वे ही दु खका कारण बनते हैं।

प्राय यह देखा जाता है कि जो जिसे प्राप्त है, वह उसमे सुखी नही है। सुखकी प्राप्तिका इच्छुक व्यक्ति प्राप्तसे सन्तुष्ट न होकर अप्राप्तके लिए प्रयत्नशील है। केवल प्राप्तिका यत्न करनेसे ही इष्ट और अभिलषित वस्तुएँ उपलब्ध नही होती, तथा जो प्राप्त होती है उनसे भी उसकी तृष्णा वृद्धिगत होती जाती है, जैसे जलती हुई अग्निमे इन्धन डालनेसे अग्नि बढती है। जिस विषय-सेवनको सुख माना है, उसके अतिसेवनसे व्यक्तिकी शक्ति क्षीण होती है और अनेक रोगोका ग्रास बनता है। भोगोके समान ही भोग-सामग्रीका साधन अर्थ भी सुखके स्थानपर दु खका ही कारण बनता है और जीवनभर मनुष्यसे दुष्कर्म कराता है। अत. ससारमे दु ख है।

बिना कारणके कार्यकी उत्पत्ति नही होती। उपादान और निमित्त कारण मिलकर ही कार्यके निष्पादक हैं। अतएव ससारमे दु खके अस्तित्त्वका भी

कोई हेतु अवश्य है। जीवके ज्ञान और सुख धर्म है, पर इन दोनोकी जीवमे कमी देखी जाती है। विचार करनेपर दुःखका हेतु जीवका अज्ञान, अश्रद्धा और मिथ्याचरण हैं। अनादिकालसे यह प्राणी अज्ञानके वशीभूत होकर इतना बहिर्दृष्टि बन गया है और अन्तर्दृष्टिसे विमुख हो गया है कि इसे अपने स्वरूपको जाननेकी इच्छा नही होती। जिस शरीरके साथ उसका जन्म और मरण होता है, उसे ही अपना समझकर उसीकी चिन्ता और सवर्द्धनमे अपना समस्त जीवन व्यतीत करता है। इस प्राणीने कभी इस बातपर गम्भीरतासे विचार नही किया कि मै शरीरसे भिन्न स्वतन्त्र आत्म तत्त्व हूँ। ज्ञान और सुखके निमित्तोको ही ज्ञात कर उन्हे ही परमार्थ समझ लिया गया और ज्ञान एव सुखके परमार्थ-स्वरूपको जाननेकी चेष्टा नही की तथा न इन्हे प्राप्त करनेका प्रयत्न ही किया।

जीवको परपदार्थावलोकनकी यह दृष्टि निमित्ताधीन दृष्टि है। निमित्तको ही उसने अपना सर्वस्व समझा और उपादानकी ओर लक्ष्य नही दिया। उपादानकी ओर यदि कभी दृष्टि गई तो उसे भी निमित्तोके अधीन समझा। फलत यह सदा बाहरकी ओर ही देखता रहा, भीतरकी ओर नही। इसने कर्मजन्य अवस्था या पर्यायको ही सब कुछ समझा है। यह इस बातको भूले हुए है कि द्रव्यकर्म उसकी भूलके परिणाम है। राग, द्वेष और मोहरूप परिणाम यह जीव उत्पन्न न करता तो द्रव्यकर्मोका बन्ध ही नही होता। यदि प्राणी स्वभाव और विभावपरिणत्तिको पूर्णरूपसे समझ जाय और अपनी परिणतिके प्रति सावधान हो जाय, तो पूर्वबद्ध द्रव्यकर्मोका उदय प्राणीकी परिणतिको विकृत नहीं कर सकता। राग, द्वेष और मोहकी त्रिपुटीसे विकृति उत्पन्न होती है और विकृतिसे बन्ध होता है। तथ्य यह है कि जीवके द्वारा किये गये रागादि परिणामोका निमित्त प्राप्तकर अन्य पुद्गल-स्कन्ध स्वय ही ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन करते है तथा चैतन्यस्वरूप अपने रागादिपरिणामरूपसे परिणत पूर्वोक्त आत्माको भी पौद्गलिक ज्ञानावरणादिकर्म निमित्तमात्र होते है।[1]

अज्ञानी जीव राग-द्वेष, मोहादि रूपसे स्वय परिणमन करता है और इन रागादिभावोका निमित्त पाकर शुभ और अशुभ, पुण्य और पापरूप कर्म-

१. जीवकृत परिणाम निमित्तमात्र प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गला कर्मभावेन॥
परिणममानस्य चितश्चिदात्मकै स्वयमपि स्वकैर्भावै।
भवति हि निमित्तमात्र पौद्गलिकं कर्म तस्यापि॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य १२-१३

प्रकृतियोका बन्ध होता है। जीव और पुद्गलमे निमित्त-नैमित्तिक-सम्बन्ध है। आत्माके प्रदेशोमे रागादिके निमित्तसे बन्धे हुए पौद्गलिक कर्मोके कारण यह आत्मा अपनेको भूलकर अनेक प्रकारसे रागादिरूप परिणमन करती है। इसके वैभाविक भावोके निमित्तसे पुद्गलोमे ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है जो आत्माके विपरीत परिणमनमे कारण बनती है। इस प्रकार भावकर्मसे द्रव्य-कर्म और द्रव्यकर्मसे भावकर्मका बन्ध होता है और यही ससार है।

कर्मोके निमित्तसे रागादिरूपसे परिणमन करनेवाली आत्माके रागादि निजभाव नही है, क्योकि जो निजभाव होता है वह उसके स्वरूपमे प्रविष्ट रहता है, पर रागादि तो आत्माके स्वरूपमे प्रविष्ट हुए बिना ऊपर ही ऊपर प्रतिफलित होते है। ज्ञानी आत्मा इस रहस्यको जानता है इसलिए वह धर्मविद् है, किन्तु अज्ञानी तो आत्माको रागादिस्वरूप ही मानता है। यही मान्यता अधर्म है।

धर्मका स्वरूप-निर्धारण कई दृष्टियोसे किया गया है। जो मोक्षका मार्ग है, वह धर्म है और मोक्षका मार्ग रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र है। सक्षेपमे धर्म उसीको कहा जा सकता है जो मुक्तिकी प्राप्तिका हेतु है या मुक्तिकी ओर ले जानेवाला है और जो इससे विपरीत है वह ससार-का कारण होनेसे अधर्म है। धर्मकी निम्नलिखित परिभाषाएँ सभव है[1]

१ वस्तुस्वभाव।

२ रत्नत्रय—सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप।

३ उत्तमक्षमादि दशलक्षणरूप।

४ दया—जीवका रागभाव या शुभोपयोगरूप परिणति—आचार-धर्मके विघातक मोह और योग है। मोहके उपशम, क्षय एव क्षयोपशमके होनेपर जो आत्मामे विशुद्धि उत्पन्न होती है, वही वास्तविक एव भावरूप अन्तरग धर्म है। बाह्य रूपमे जीव असयमवाली प्रवृत्तियोका त्याग करता है, उसे बहिरग द्रव्यरूप धर्म कहते है। इन्द्रियो तथा मनके विषयसे निवृत्ति, हिंसा आदि पापोका त्याग एव द्यूत आदि महाव्यसनोसे उपरति बहिरग धर्म है। यह बहिरग धर्म मोहनीय कर्मके उपशम, क्षय और क्षयोपशमके बिना मन्द, मन्दतर और मन्दतम उदयकी स्थितिमे होता है। बहिरग धर्म अनेक अभ्युदयोके कारणभूत पुण्यबन्धका हेतु होनेके अतिरिक्त अन्तरग धर्मकी सिद्धिमे भी

१. चारित्तं खलु धम्मो-धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह-विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥

—प्रवचनसार गाथा—७.

कारण होता है। अन्तरंग धर्मके साथ बहिरंग धर्मकी व्याप्ति है। जहाँ जिस-जिस प्रमाणमे अन्तरंग धर्म पाया जाता है वहाँ उसके प्रतिपक्ष बाह्य असंयत प्रवृत्तिका अभाव भी अवश्य रहता है। अनन्तानुबन्धीकषाय तथा दर्शनमोहनीय-कर्मके उपशमादिसे सम्यग्दर्शनरूप धर्म उत्पन्न होता है। इस धर्मके उत्पन्न होते ही बहिरगमे भी निर्मलता आ जाती है और यह अन्तरग निश्चयरूपधर्म व्यवहारधर्मकी सिद्धिका सहायक होता है।

कर्मबन्धके कारण मोह और योग हैं। मोहके तीन भेद है:—(१) दर्शन-मोहनीय, (२) कषायवेदनीय और (३) नोकषायवेदनीय। कषायवेदनीयका भेद अनन्तानुबन्धीका उदय सम्यग्दर्शनरूप धर्मका प्रतिपक्षी है। जब इसका उपशम, क्षय, क्षयोपशम होता है, तब अन्तरगमे धर्मकी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और आत्मा अपने स्वरूपकी अनुभूति करती है।

सम्यग्दर्शन : स्वरूपविवेचन

वस्तु अनन्तगुणधर्मोंका अखण्ड पिण्ड है'। इसके स्वरूपका परिज्ञान अनेकान्तात्मक वस्तुके स्वरूपज्ञानसे होता है। चारित्ररूप धर्म रत्नत्रयका ही रूपान्तर है। इस धर्मका मूल स्तम्भ सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शनके अभावमे न तो ज्ञान ही सम्यक् होता है और न चारित्र ही। सम्यग्दर्शन आत्मसत्ताकी आस्था है और है स्वस्वरूपविपयक दृढ़निश्चय। मै कौन हूँ, क्या हूँ, कैसा हूँ, इसका निर्णय सम्यग्दर्शन द्वारा ही होता है। जड़-चेतनकी भेदप्रतीति भी सम्यग्दर्शनसे ही होती है। स्व और पर, आत्मा और अनात्मा, चैतन्य एवं जडकी स्वस्वरूपोपलब्धिका साधन भी सम्यग्दर्शन ही होती है। सम्यग्दर्शनके आलोकमे ही आत्मा यह निश्चय करती है कि अनन्त अतीतमे जब पुद्गलका एक कण भी मेरा अपना नही हो सका है, तब अनन्त अनागतमे वह मेरा कैसे हो सकेगा। वर्तमान क्षणमे तो उसे अपना मानना नितान्त भ्रम मैं 'मै' हूँ और पुद्गल 'पुद्गल' है। आत्मा कभी पुद्गल नही हो सकती और पुद्गल कभी आत्मा नही।

यह सत्य है कि पुद्गलोकी सत्ता सर्वत्र विद्यमान है और उस सत्ताको कभी भी नष्ट नही किया जा सकता। इस विश्वके कण-कणमे अनन्तकालसे पुद्गलोंकी सत्ता रही है और अनन्त भविष्यमे भी सत्ता रहेगी। अतएव पुद्गलोंके रहते हुए भी आत्माके स्वरूपकी आस्था करना ही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शनकी निम्नलिखित परिभाषाएँ उपलब्ध होती है —

१ तत्त्वार्थश्रद्धा—सप्ततत्त्व और नौ पदार्थो की प्रतीति।

२ स्वपरश्रद्धा—'स्व' और परकी रुचि।

३. परमार्थ देवशास्त्रगुरुकी प्रतीति ।

४ आत्मश्रद्धान—श्रद्धागुणकी निर्मल परिणति ।

५ अनन्तानुबन्धीकी चार प्रकृतियाँ तथा दर्शनमोहनीयकी तीन इन सात प्रकृतियोके उपशम-क्षयोपशम अथवा क्षयसे प्रादुर्भूत श्रद्धागुणकी निर्मल परिणति ।

सात तत्त्व, पुण्य पाप, एवं द्रव्य गुण पर्याय, का यथार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन है। मूलत दो तत्त्व हैं —जीव और अजीव। चेतनालक्षण जीव है और उससे भिन्न अजीव। जीवके साथ नोकर्म, द्रव्यकर्म और भावकर्मका सयोग है। अनादि कालसे इन तीनोका सयोग चला आ रहा है। आत्म-कल्याणके लिये सात तत्त्व या नव पदार्थ प्रयोजनीय हैं। इनके स्वरूपका वास्तविक निर्णय कर प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है। इन सात तत्त्वोमे जीव-अजीवका सयोग संसार है और इसके कारण आस्रव एव वन्ध हैं। जीव और अजीवका जो वियोग—पृथक्भाव है उसके कारण सवर एव निर्जरा हैं। जिस प्रकार रोगी मनुष्यको रोग, उसके कारण; रोग-मुक्ति; और उसके कारण इन चारोका ज्ञान आवश्यक है, उसी प्रकार जीवको ससार, ससारके कारण, मुक्ति और मुक्तिके कारण इन चारोका परिज्ञान अपेक्षित है। सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति अत्यन्त आवश्यक है क्योकि जिसका मन मिथ्यात्वसे ग्रस्त है वह मनुष्य होते हुए भी पशुतुल्य है और जिसकी आत्मामे सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ है वह पशु होकर भी मनुष्यके समान है।

सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिये कतिपय योग्यताओकी आवश्यकता है। पहली योग्यता तो उस जीवका भव्य होना है। भव्यको ही सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है, अभव्यको नही। यह योग्यता स्वाभाविक है, प्रयत्नसाध्य नही। इस योग्यताके साथ सज्ञीपर्याप्तक तथा पाँच लब्धियोसे युक्त होना अपेक्षित है। इन लब्धियोमे देशनालब्धि अत्यावश्यक है। यत सम्यक्त्वप्राप्तिके पूर्व तत्त्वोपदेशका लाभ होना आवश्यक है। साराश यह है कि सम्यग्दर्शन सज्ञी पचेन्द्रिय, पर्याप्तक, भव्यजीवको ही होता है, अन्यको नही। भव्योमे भी यह उन्हीको प्राप्त होगा, जिनका ससार-परिभ्रमणका काल अर्द्धपुद्गलपरावर्तनके कालसे अधिक अवशिष्ट नही है। लेश्याओके विपयमे यह कथन है कि मनुष्य और तिर्यञ्चोके तीन शुभ लेश्याओमेसे कोई भी लेश्या रह सकती है। देव और नारकियोमे जहाँ जो लेश्या है उसीमे औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। कर्म-स्थितिके विपयमे कहा जाता है कि जिसके वध्यमान कर्मोकी स्थिति अन्त कोडा-कोडी-प्रमाण हो तथा सत्तामे स्थित कर्मोकी स्थिति सख्यातहजार सागर कम अन्त कोडा-

कोडी प्रमाण रह गई हो वही सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। इससे अधिक स्थितिबन्ध पडनेपर सम्यग्दर्शन प्राप्त नही हो सकता है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेकी योग्यता चारो गतिवाले भव्यजीवोको होती है। क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण ये पाँच लब्धियाँ भव्यको प्राप्त होती हैं। इनमे चार लब्धियाँ तो सामान्य है, क्योकि वे भव्य और अभव्य दोनोको प्राप्त होती हैं, पर करणलब्धिविशेष है[1]। यह भव्यको ही प्राप्त होती है और इसके प्राप्त होनेपर नियमत सम्यग्दर्शन होता है। क्षायोपशमिक लब्धिमे जीवके परिणाम उत्तरोत्तर निर्मल होते जाते हैं। विशुद्धिलब्धि प्रशस्त प्रकृतियोके बन्धमे कारणभूत परिणामोको प्राप्ति स्वरूप है। देशनालब्धिमे तत्त्वोपदेश और प्रायोग्यलब्धिमे अशुभकर्मोमेसे घातियाकर्मो के अनुभागको लता और दारूरूप तथा अघातिया कर्मो के अनुभागको नीम और काञ्जीरूप कर देना है। करणलब्धिमे भावोको उत्तरोत्तर विशुद्धि प्राप्त को जाती है। भाव तीन प्रकारके होते हैं —(१) अध.करण, (२) अपूर्वकरण और (३) अनिवृत्तिकरण। जिसमे आगमी समयमे रहनेवाले जीवोके परिणाम समान और असमान दोनो प्रकारके होते हैं वह अध करण है। इस कोटिके परिणामोमे समानता पायी जाती है तथा नाना जीवोकी अपेक्षा समानता और असमानता दोनो ही घटित होती है।

जिसमे प्रत्येक समय अपूर्व-अपूर्व-नये-नये परिणाम उत्पन्न हो, उसे अपूर्वकरण कहते हैं। अपूर्वकरणमे समसमयवर्ती जीवोके परिणाम समान एव असमान दोनो ही प्रकारके होते हैं। परन्तु भिन्नसमयवर्ती जीवोंके परिणाम असमान ही होते हैं। अपूर्वकरणका काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होता है।[2]

जहाँ एक समयमे एक ही परिणाम उत्पन्न होता है उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। इस करणमे समसमयवर्ती जीवोंके परिणाम समान ही होते हैं और विषमसमयवर्ती जीवोके परिणाम विषम ही होते है। इसका कारण यह है कि यहाँ एक समयमे एक ही परिणाम होता है। इसलिये उसे समयमे जितने जीव होंगे उन सबके परिणाम समान ही होगे और भिन्न समयोमे जो जीव होगे, उनके परिणाम भिन्न ही होगे। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त है पर अपूर्वकरणकी अपेक्षा कम है।

---

१ गोम्मट्टसार जीवकाण्ड, गाथा ६५१, ६५२.

२. ,, ,, गाथा ५१,५२,५३, ४९, ५०.

तीदो करणोका उपयोग—अध करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणका उपयोग मिथ्यात्वकर्मोके निषेकोको घटाना है। अध करणमे परिणामोकी अनन्तगुणी विशुद्धिके साथ नवीन बन्धकी स्थितिका घटना, प्रशस्तप्रकृतियोके अनुभागमे अनन्तगुणी वृद्धिका होना, एव अप्रशस्तप्रकृतियोके अनुभागका अनन्तवाँ भाग घटना-रूप क्रियाएँ होती है। अपूर्वकरणमे सत्तामें स्थित पूर्व-कर्मो की स्थिति प्रत्येक अन्तर्मुहूर्तमे उत्तरोत्तर क्षीण होती हे। अत स्थिति-काण्डकका घात होता है तथा प्रत्येक अन्तर्मूहूर्तमे उत्तरात्तर पूर्वकर्मो का अनुभाग घटनेसे अनुभागकाण्डक भी क्षीण होता है। गुणश्रेणीके कालमे क्रमश असख्यातगुणित कर्म निर्जराके योग्य होते हैं। अत गुणश्रेणि निर्जरा होती है। अपूर्वकरणके पश्चात् अनिवृत्तिकरण आता हे। उसका काल अपूर्वकरणके कालसे सख्यातवे भाग होता हैं। अनन्तर अनिवृत्तिकरणकालके पीछे उदय आने योग्य मिथ्यात्वकर्मो के निषेकोका अन्तर्मुहूतके लिये अभाव होता है। मिथ्यात्वके जो निषेक उदयमे आनेवाले थे उन्हे उदयके अयोग्य किया जाता है।

सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके कारण--कारण दो प्रकारके होते है—(१) उपादानकारण और (२) निमित्तकारण। जो स्वय कार्यरूपमे परिणत होता है, वह उपादान कारण है और जो स्वय कार्यकी सिद्धिमे कारण होता है वह निमित्तकारण है। अन्तरग और बहिरगके भेदसे निमित्तके भी दो भेद है। सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका उपादानकारण आसन्नभव्यता, कर्महानि, सज्ञित्व, शुद्धपरिणाम और देशना आदि विशेषताओसे युक्त आत्मा है। अन्तरग निमित्त-कारण सम्यक्त्वकी प्रतिबन्धक अनन्तानुबन्धि क्रोध-मान-मायादि, सात प्रकृतियो-का उपशम, क्षय तथा क्षयोपशम है। बहिरग निमित्तकारण सद्गुरु आदि है। अन्तरग निमित्तकारणके मिलनेपर सम्यग्दर्शननियमत होता है परन्तु वहिरग निमित्तके मिलनेपर सम्यग्दर्शन होता भी है और नही भी।

नरकगतिमे तीसरे नरक तक जातिस्मरण, धर्मश्रवण, और तीव्रवेदना अनुभव ये तीन, चतुर्थसे सप्तम नरक तक जातिस्मरण और तीव्रवेदनानुभव ये दो, तिर्यञ्चगति और मनुष्यगतिमे जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनबिम्ब-दर्शन ये तीन, देवगतिमे बारहवें स्वर्ग तक जातिस्मरण, धर्मश्रवण, जिन-कल्याणकदर्शन और देवऋद्धिदर्शन, ये चार, त्रयोदश स्वर्गसे षोडश स्वर्ग तक देवऋद्धिदर्शनको छोडकर शेष तीन एवं उसके आगे नवम ग्रैवेयक तक जाति-स्मरण तथा धर्मश्रवण ये दो वहिरग निमित्त है। ग्रैवेयकसे ऊपर सम्यग्दृष्टि

ही उत्पन्न होते हैं अत. वहाँ बहिरंग निमित्तकी आवश्यकता नही है।[1]

वस्तुत. सम्यग्दृष्टि जीवको विपरीत अभिनिवेश रहित आत्माका श्रद्धान होता है तथा साथमे देवगुरु आदिका भी श्रद्धान रहता है। इनमेंसे प्रथमको निश्चय-सम्यग्दर्शन और द्वितीयको व्यवहार-सम्यग्दर्शन कहा जाता है। जो अपना कल्याण करना चाहता है उसे सर्वप्रथम ऐसे व्यक्तियोसे परिचित होना चाहिये, जिन्होने अपने पुरुषार्थसे पूर्ण आत्मकल्याण किया है। दूसरे शब्दोमे वितराग-सर्वज्ञ और हितोपदेशीकी पहचान करना चाहिये। पश्चात् इनके द्वारा प्रतिपादित श्रुतके ज्ञानका अवलम्बन लेकर अपने आत्म-स्वरूपका निर्णय करना एव सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्र ही उसमे निमित्त बनते हैं और उनकी श्रद्धाके बिना आगे नही बढा जा सकता है। जिनकी स्त्री, पुत्र, धन, गृह आदि ससारके निमित्तोमे तीव्र रुचि रहती है उन्हे धर्ममे निमित्त देव शास्त्र-गुरुके प्रति रुचि उत्पन्न नही होती है। अतएव सर्वज्ञ, वीतराग और हितोप-देशीके वचनोका अवलम्बन लेकर आत्म-स्वरूपकी प्रतीतिका होना अशक्य है।

धर्म आत्माका स्वभाव है और यह किसी दूसरेके अधीन नही है और न दूसरेके अवलम्बनसे प्राप्त होता है। यह तो अपनेको जानने-देखनेसे अपनेमे ही प्रादुर्भूत होता है। इसी कारण ऐसे महापुरुषो और उनकी वाणीका आश्रय ग्रहण करना पडता है जिन्होने अपनेमे पूर्ण धर्म प्रकट किया है।

सम्यग्दर्शनके भेद

उत्पत्तिकी अपेक्षासे सम्यग्दर्शनके दो भेद हैं :—(१) निसर्गज और (२) अधिगमज। जो पूर्वसस्कारकी प्रवलतासे परोपदेशके बिना ही उत्पन्न होता है वह निसर्गज सम्यग्दर्शन कहलाता है। जो परके उपदेशपूर्वक होता है वह अधिगमज है। इन दोनो प्रकारके सम्यग्दर्शनोकी उत्पत्तिका अन्तरग कारण सात प्रकृतियोका उपशम, क्षय या क्षयोपशम ही है। बाह्य कारणकी अपेक्षा उक्त दो भेद हैं।

सम्यग्दर्शनके सामान्यत तीन भेद हैं :—औपशमिक, क्षायिक और क्षायो-पशमिक।

---

१. बाह्य नारकाणा प्राक्चतुर्थ्या सम्यग्दर्शनस्य साधन केषाचिज्जातिस्मरण, केषाचि-द्धर्मश्रवण, केषाचिद्वेदनाभिभव। चतुर्थीमारभ्य आ सप्तम्यया नारकाणा जातिस्मरण वेदनाभिभवश्च। तिरश्चा केपाचिज्जातिस्मरण, केषाचिद्धर्मश्रव.., केषाचिज्जिन-बिम्बदर्शनम्। मनुष्याणामपि तथैव। देवाना केषाचिज्जातिस्मरण, केषाचिज्जिन-महिमदर्शन, केषाचिद्देवर्द्धिदर्शन.... ....

अनुदिशानुत्तरविमानवासनामिय कल्पना न सम्भवति।

औपशमिक सम्यक्त्व

अनन्तानुबन्धीकी चार और दर्शनमोहनीयकी तीन इन सात प्रकृतियोंके उपशमसे औपशमिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। इसके दो भेद हैं—प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन और द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन।

अध करण आदि परिणाम-विशुद्धिके द्वारा मिथ्यात्वके जो निषेक उदयमें आनेवाले थे, उन्हें उदय अयोग्यकर अनन्तानुबन्धीचतुष्कको भी उदयके अयोग्य किया जाता है। इस प्रकार उदय अयोग्य प्रकृतियोंका अभाव होनेसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। इस सम्यक्त्वके प्रथम समयमें मिथ्यात्व प्रकृतिके तीन भेद हो जाते हैं—(१) सम्यक्त्व, (२) मिथ्यात्व और (३) सम्यग्मिथ्यात्व। इन तीन प्रकृतियों तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार प्रकृतियोंका उदयाभाव होनेपर प्रथमोपशम सम्यक्त्व होता है। इस सम्यक्त्वका अस्तित्व चतुर्थगुणस्थानसे सप्तम गुणस्थान तक पाया जाता है।

अनन्तानुबन्धी-चतुष्ककी विसंयोजना और दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियोंका उपशम होनेसे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व होता है। इस सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाला जीव उपशमश्रेणीका आरोहण कर ग्यारहवें गुणस्थान तक जाता है और वहाँसे पतनकर नीचे आता है। पतनकी अपेक्षा चतुर्थ, पंचम और षष्ठ गुणस्थानमें भी इसका सद्भाव रहता है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व

इस सम्यक्त्वका दूसरा नाम वेदकसम्यक्त्व भी है। मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन छह सर्वघाती प्रकृतियोंके वर्तमान कालमें उदय आनेवाले निषेकोंका उदयाभावी क्षय तथा आगामी कालमें उदय आनेवाले निषेकोंका सदवस्थारूप उपशम और सम्यक्त्व-प्रकृतिनामक देशघाती प्रकृतिका उदय रहनेपर जो सम्यक्त्व होता है, उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। इस सम्यक्त्वमें सम्यक्त्वप्रकृतिका उदय रहनेसे चल, मलिन और अगाढ़ दोष उत्पन्न होते रहते हैं। छह सर्वघाती प्रकृतियोंके उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशमकी प्रधानताके कारण क्षायोपशमिक तथा सम्यक्त्वप्रकृतिके उदयकी अपेक्षा वेदकसम्यग्दर्शन कहलाता है। इसकी उत्पत्ति सादिमिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनोंके होती है। यह सम्यग्दर्शन चारों गतियोंमें उत्पन्न होता है। वस्तुतः सर्वघाती छह प्रकृतियोंके उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशम तथा सम्यक्त्वप्रकृति नामक देशघाती प्रकृतिका उदय अपेक्षित होता है।

क्षायिक सम्यग्दर्शन

मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात प्रकृतियोके क्षयसे जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, वह क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है। दर्शनमोहनीयकर्मके क्षयका प्रारम्भ कर्मभूमिमे उत्पन्न हुआ मनुष्य केवली या श्रुतकेवलीके पादमूलमें आरम्भ करता है।[1] इसकी पूर्णता चारो गतियोमे सम्भव है। यह सम्यग्दर्शन छूटता नही है। जिसे क्षायिकसम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है, वह उसी भवसे मोक्ष प्राप्त कर लेता है, अथवा तृतीय, चतुर्थ भवसे। चतुर्थ भवका अतिक्रमण नही कर सकता है। जिस क्षायिक सम्यग्दृष्टिने आयुका बन्ध कर लिया है, वह नरक या देवगतिमे उत्पन्न होता है और वहाँसे मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त करता है। चारो गति-सम्बन्धी आयुका बन्ध होनेपर सम्यक्त्व हो सकता है। अत बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि-का चारो गतियोमे जाना सम्भव है। यह नियम है कि सम्यक्त्वके कालमे यदि मनुष्य या तिर्यंचके आयुका बन्ध होता है, तो नियमत देवायु ही बंधती है। और नारकी तथा देवके नियमसे मनुष्य आयुका ही बध होता है।[2]

सम्यग्दर्शनके अन्य भेद

सम्यग्दर्शनके निश्चयसम्यग्दर्शन और व्यवहारसम्यग्दर्शन ये दो भेद भी किये जाते हैं। शुद्धात्मकी श्रद्धा करना निश्चय सम्यग्दर्शन है और विपरीताभि-निवेश रहित परमार्थ देव, शास्त्र, गुरुकी पच्चीस दोषरहित अष्टागसहित श्रद्धा करना व्यवहारसम्यग्दर्शन है। अथवा जीवादि सात तत्त्वोके विकल्पसे रहित शुद्ध आत्माके श्रद्धानको निश्चयसम्यग्दर्शन और सात तत्त्वोके विकल्पोसे सहित श्रद्धान करना व्यवहारसम्यग्दर्शन है। अध्यात्म-दृष्टिसे सम्यग्दर्शनके सराग और वीतराग ये दो भेद सम्भव है। आत्म-विशुद्धिमात्रको वीतराग सम्यग्दर्शन और प्रशम, सवेग, अनुकम्पा एव आस्तिक्य इन चार गुणोकी अभिव्यक्तिको सराग-सम्यग्दर्शन कहते है।

---

१ दंसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो हु।
मणुसो केवलिमूले णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ ॥
—गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ६४७

२. चत्तारि वि खेत्ताइ आउगबधेण होदि सम्मत्तं।
अणुवदमहव्वदाइ ण लहइ देवाउग मोत्तु ॥
—वही, गाथा ६५२.

प्रशम

प्रशमगुण आत्माके कषाय या विकारोके उपशम होनेपर उत्पन्न होता है। राग या द्वेष जो आत्माके सबसे बडे शत्रु है, जिनके कारण इस जीवको नाना प्रकारकी इष्टानिष्ट कल्पनाएँ होती रहती है, जिनसे ससारके पदार्थोको सुखमय समझा जाता है, वे सब समाप्त हो जाते है। प्रशमगुण आत्माको निर्मल बनाता है, चित्तके विकारोको दूर करता है और मनको विकल्पोसे रहित बनाता है। प्रशमगुण द्वारा जीवकी विकृत अवस्था दूर होती है और आत्माकी निर्मल प्रवृत्ति जागृत होती है।

संवेग

ससारसे भीतरूप परिणामोका होना संवेग है। इस गुणके उत्पन्न होनेसे आत्मामे शुद्धि उत्पन्न होती है। जो व्यक्ति इस ससारमे रहता हुआ यह विचार करता है कि आयुके समाप्त होनेपर मुझे अन्य गतिको प्राप्त करना है और यह ससारका चक्र निरन्तर चलता रहेगा, यह आत्मा अकेला ही राग-द्वेष, मोहके कारण उत्पन्न होनेवाली कर्म-पर्यायोका भोक्ता है। अतएव आत्मोत्थानके लिये सदैव सचेष्ट रहना अत्यावश्यक है। जब तक संसारसे सवेग उत्पन्न नही होगा, तब तक अहकार और ममकारकी परिणति दूर नही हो सकती है। ज्ञान-दर्शनमय और संसारके समस्त विकारोंसे रहित आध्यात्मिक सुखका भण्डार यह आत्मतत्त्व ही है और इसकी उपलब्धि सम्यक्त्वके द्वारा होती है।

अनुकम्पा

समस्त जीवोमे दयाभाव रखना अनुकम्पा गुण है। व्यवहारमे धर्मका लक्षण जीवरक्षा है। जीवरक्षासे सभी प्रकारके पापोका निरोध होता है। दयाके समान कोई भी धर्म नही है। अत पहले आत्म-स्वरूपको अवगत करना और तत्पश्चात् जीव-दयामे प्रवृत्त होना धर्म है। जिस प्रकार हमे अपनी आत्मा प्रिय है उसी प्रकार अन्य प्राणियोको भी प्रिय है। जो व्यवहार हमे अरुचिकर प्रतीत होता है, वह दूसरे प्राणियोको भी अरुचिकर प्रतीत होता होगा। अत· समस्त परिस्थितियोमे अपनेको देखनेसे पापोका निरोध तो होता ही है, साथ ही अनुकम्पाकी भी प्रवृत्ति जागृत होती है। अनुकम्पा या दयाके आठ भेद है—

१. द्रव्यदया—अपने समान अन्य प्राणियोका भी पूरा ध्यान रखना और उनके साथ अहिंसक व्यवहार करना।

२ भावदया—अन्य प्राणियोको अशुभ कार्य करते हुए देखकर अनुकम्पा बुद्धिसे उपदेश देना।

३. स्वदया—आत्मालोचन करना एवं सम्यग्दर्शन धारण करनेके लिये प्रयासशील रहना और अपने भीतर रागादिक विकार उत्पन्न न होने देना।

४. परदया—षट्कायके जीवोंकी रक्षा करना।

५ स्वरूपदया—सूक्ष्म विवेक द्वारा अपने स्वरूपका विचार करना, आत्मा के ऊपर कर्मोंका जो आवरण आ गया है, उसके दूर करनेका उपाय विचारना।

६. अनुबन्धदया—मित्रो, शिष्यों या अन्य प्राणियोंको हितकी प्रेरणासे उपदेश देना तथा कुमार्गसे सुमार्गपर लाना।

७. व्यवहारदया—उपयोगपूर्वक और विधिपूर्वक अन्य प्राणियोंकी सुख सुविधाओंका पूरा-पूरा ध्यान रखना।

८. निश्चयदया—शुद्धोपयोगमे एकताभाव और अभेद उपयोगका होना। समस्त पर-पदार्थोसे उपयोगको हटाकर आत्म-परिणतिमें लीन होना निश्चय दया है।

आस्तिक्य

जीवादि पदार्थोके अस्तित्वको स्वीकार करने रूप बुद्धिका होना आस्तिक्य भाव है। आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है, अनन्त है, अमूर्त है, ज्ञान-दर्शनयुक्त है, चेतन है और है ज्ञानादिपर्यायोका कर्त्ता। इस आत्म-स्वरूपके साथ अजीवादि छह तत्त्वोंके सम्बन्धको स्वीकार करते हुए आत्माकी विकृत परिणतिको दूर करनेके हेतु सात तत्त्वोंके स्वरूपपर दृढ़ आस्था रखना आस्तिक्यभाव है। आत्माके अस्तित्वरूपमे विश्वास करनेसे ही सम्यक्त्वकी उपलब्धि होती है।

ज्ञानप्रधान निमित्तादिककी अपेक्षासे सम्यक्त्वके दश भेद हैं:—

१. आज्ञासम्यक्त्व[1]—जिनाज्ञाकी प्रधानतासे सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थो की उत्पन्न श्रद्धा।

२. मार्गसम्यक्त्व—निर्ग्रन्थ मार्गका अवलोकनसे उत्पन्न।

३. उपदेशसम्यक्त्व—आगमवेत्ता पुरुषोंके उपदेशके श्रवणसे उत्पन्न।

---

१. आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात्।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढं च॥
आज्ञासम्यक्त्वमुक्तं यदुत विरुचितं वीतरागाज्ञयैव
त्यक्तग्रन्थप्रपञ्चं शिवममृतपथं श्रद्दधन्मोहशान्तेः।
मार्गश्रद्धानमाहु पुरुषवरपुराणोपदेशोपजाता
या संज्ञानागमाब्धिप्रसृतिभिरुपदेशादिरादेशि दृष्टि॥

४. सूत्रसम्यक्त्व—मुनि आचरणके प्रतिपादक आचारसूत्रोके श्रवणसे उत्पन्न।

५ बीजसम्यक्त्व—गणितज्ञानके कारण बीजसमूहोके श्रद्धानसे उत्पन्न।

६. सक्षेपसम्यक्त्व—पदार्थोंकि संक्षिप्त विवेचनको सुनकर श्रद्धाका उत्पन्न होना।

७. विस्तारसम्यक्त्व—विस्तारपूर्वक आगमके सुननेसे उत्पन्न श्रद्धान।

८ अर्थसम्यक्त्व—शास्त्रके वचन विना किसी अर्थके निमित्तसे उत्पन्न श्रद्धान।

९. अवगाढ़सम्यक्त्व—श्रुतकेवलीका तत्त्वश्रद्धान।

१० परमावगाढसम्यक्त्व—केवलीका तत्त्वश्रद्धान।

सम्यग्दर्शनका स्थितिकाल

औपशमिक सम्यग्दर्शनकी स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है। क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट छियासठ सागर प्रमाण है। क्षायिकसम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर नष्ट नही होता, इसलिये इस अपेक्षासे उसकी स्थिति सादि अनन्त है,पर ससारमे रहनेकी अपेक्षा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त सहित आठ वर्ष कम, दो करोड़ वर्ष पूर्व तथा तैतीस सागर है।

सम्यग्दर्शनके अंग

जिस प्रकार मानवशरीरमे दो पैर, दो हाथ, नितम्ब, पृष्ठ, उरस्थल और मस्तक ये आठ अग होते हैं और इन आठ अगोसे परिपूर्ण रहनेपर ही मनुष्य काम करनेमे समर्थ होता है, इसी प्रकार सम्यग्दर्शनके भी नि शकितत्व, नि काक्षितत्व, निर्विचिकित्सत्व, अमूढदृष्टित्व, उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ अग हैं। इन अष्टाङ्गयुक्त सम्यग्दर्शनका पालन करनेसे ही ससार-सततिका

आकर्ण्याचारसूत्रं मुनिचरणविधे. सूचनं श्रद्दधानः
सूक्तासौ सूत्रदृष्टिर्दुरधिगमगतेरर्थसार्थस्य बीजैः।
कैश्चिज्जातोपलब्धेरसमशमवशाद्बीजदृष्टि पदार्थान्
सक्षेपेणैव बुद्ध्वा रुचिमुपगतवान् साधु सक्षेपदृष्टि ॥
यः श्रुत्वा द्वादशाङ्गीं कृतरुचिरथ त विद्धि विस्तारदृष्टि
सजातार्थात्कुतश्चित्प्रवचनवचनान्यन्तरेणार्थदृष्टि ।
दृष्टि साङ्गाङ्गबाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता यावगाढा
कैवल्यालोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढेति रूढा ॥

—आत्मानुशासन, गाथा ११-१४.

उन्मूलन होता है। इन आठ अंगोमे वैयक्तिक उन्नतिके लिए प्रारम्भिक चार अंग और समाज-सम्बन्धी उन्नतिके लिए उपगूहनादि चार अग आवश्यक है।

निःशङ्कित-अंग

वीतराग, हितोपदेशी और सर्वज्ञ परमात्माके वचन कदापि मिथ्या नही हो सकते। कषाय अथवा अज्ञानके कारण ही मिथ्याभाषण होता है। जो राग-द्वेष-मोहसे रहित, निष्कषाय, सर्वज्ञ है, उसके वचन मिथ्या नही हो सकते। इसप्रकार वीतराग-वचनपर दृढ आस्था रखना नि शङ्कित अग है।

सम्यग्दृष्टि जिनोदित सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोंके विषयमे भी शकित नही होता। सम्यग्दर्शनके आप्त, आगम, गुरु और तत्त्व ये चार विषय हैं। इनके सम्बन्धमे ये तत्त्व ये ही है, और इसी प्रकासे हैं, अन्य या अन्य प्रकार-से नही, इस प्रकारका श्रद्धान करना नि शङ्कित अग है। नि शंकतामे अकम्पता-का रहना भी आवश्यक है। श्रद्धा या प्रतीतिमे चलिताचलित वृत्तिका पाया जाना वर्जित है।

नि शङ्कसम्यग्दर्शन ही ससार और उसके कारणोका उच्छेदक है। यदि श्रद्धामे कुछ भी शका बनी रहती है, तो तत्त्वज्ञानके रहनेपर भी अभीष्ट प्रयोजनकी सिद्धि नही होती।

शका मुख्यतया दो प्रकारसे उत्पन्न होती है —(१) अज्ञानमूलक और (२) दौर्बल्यमूलक। दुर्वलताका कारण इहलोकभय, परलोकभय, वेदनाभय, अत्राण-भय, अगुप्तिभय, मरणभय और, आकस्मिकभय ये सात भय वतलाये गये हैं। जो इन भयोसे मुक्त हो जाता है, वही नि.शक हो सकता है।

नि·कांक्षित-अंग

किसी प्रकारके प्रलोभनमे पडकर परमतकी अथवा सासारिक सुखोकी अभिलाषा करना कांक्षा है, इस काक्षाका न होना नि काक्षितधर्म है। सासारिक सुखकी किसी प्रकारकी आकाक्षा न करना निःकाक्षित अग है। वस्तुत. सासा-रिक सुख व्यक्तिके अधीन न होकर कर्मोंके अधीन है। कर्मोके तीव्र, मन्द उदयके समय यह घटता-बढता रहता है। यह सांसारिक सुख सान्त है और है आकुलता उत्पन्न करनेवाला। यह सुख अनेक प्रकारके दु खोंसे मिश्रित है और है बाधा उत्पन्न करनेवाला[1]।

पूर्ण शुद्ध सम्यग्दृष्टि अपने शुद्ध आत्मपदके सिवाय अन्य किसी भी पदको

१ सपर बाधासहियं विच्छिण्ण बधकारणं विसम।
जं इंदियेहि लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तथा ॥—प्रवचनसार गाथा ७६.

अपना स्वतन्त्र, स्वाधीन, शाश्वतिक, सर्वथा निराकुल और उपादेय नही मानता। आत्मामे पर-पुद्गलके सम्बन्धसे विकार हैं अथवा होते हैं, वे वास्तवमे आत्माके नही हैं। शुद्ध आत्माका स्वरूप तत्त्वत. उन सभी विकारोसे रहित है। इस प्रकारकी नि शक और निश्चल आत्मा सभी प्रकारकी आकाक्षाओसे रहित होती है। अतएव सम्यग्दृष्टि सासारिक सुखको या भोगोकी आकाक्षा नही करता।

निर्विचिकित्सा-अंग

मुनिजन देहमे स्थित होकर भी देह-सम्बन्धी वासनासे अतीत होते है। अत वे शरीरका संस्कार नही करते। उनके मलिन शरीरको देखकर ग्लानि न करना निर्विचिकित्सा-अग है[1]। वस्तुत मनुष्यका अपवित्र देह भी रत्नत्रयके द्वारा पूज्यताको प्राप्त हो जाता है। अतएव मलिन शरीरकी ओर ध्यान न देकर रत्नत्रयपूत आत्माकी ओर दृष्टि रखना और बाह्य मलिनतासे जुगुप्सा या ग्लानि न करना निर्विचिकित्सा-अग है। यो तो विचिकित्साके अनेक कारण हो सकते हैं, पर सामान्यतया इन कारणोको तीन भागोमे विभक्त किया जा सकता है'—(१) जन्मजन्य, (२) जराजन्य और (३) रोगजन्य।

अमूढदृष्टि-अग

सम्यग्दृष्टिकी प्रत्येक प्रवृत्ति विवेकपूर्ण होती है। वह किसीका अन्धानुकरण नही करता। वह सोच-विचारकर प्रत्येक कार्यको करता है। उसकी प्रत्येक क्रिया आत्माको उज्ज्वल बनानेमे निमित्त होती है। वह किसी मिथ्यामार्गी जीवको अभ्युदय प्राप्त करते हुए देखकर भी ऐसा विचार करता है कि उसका वह वैभव पूर्वोपार्जित शुभ कर्मों का फल है, मिथ्यामार्गके सेवनका नही। अत. वह मिथ्यामार्गको न तो प्रशसा करता है और न उसे उपादेय ही मानता है। यह श्रद्धालु तो होता है, पर अन्धश्रद्धालु नही। अमूढदृष्टि अन्धश्रद्धाका पूर्ण त्याग करता है।

उपगूहन-अंग

रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग स्वाभावत· निर्मल है। यदि कदाचित् अज्ञानी अथवा शिथिलाचारियो द्वारा उसमे कोई दोष उत्पन्न हो जाय—लोकापवादका अवसर आ जाय तो सम्यग्दृष्टि जीव उसका निराकरण करता हैं, उस दोषको छिपाता है। यह क्रिया उपगूहन कहलाती है। अज्ञानी और अशक्त व्यक्तियो द्वारा रत्नत्रय और रत्नत्रयके धारक व्यक्तियोमे आये हुए दोषोका प्रच्छादन करना उपगूहन-अग है।

---

१. स्वभावतोऽशुची काये—रत्नकरण्डश्रावकाचार, पद्य १३.

सम्यग्यदृष्टि गुणी, संयमी, ज्ञानी और धर्मात्मा व्यक्तियोंकी समुचित प्रशंसा करता है उनके उत्साहकी वृद्धि करता है और यथाशक्ति धर्माराधनके लिए सहयोग प्रदान करता है। इस अगका अन्य नाम उपबृहण भी है, जिसका अर्थ आत्मगुणोकी वृद्धि करना है।

स्थितीकरण-अंग

सासारिक कष्टोंमे पडकर, प्रलोभनोके वशीभूत होकर या अन्य किसी प्रकारसे बाधित होकर जो धर्मात्मा व्यक्ति अपने धर्मसे च्युत होनेवाला है अथवा चारित्रसे भ्रष्ट होने जा रहा है, उसका कष्ट निवारण करना अथवा भ्रष्ट होनेके निमित्तको हटाकर उसे स्थिर करना स्थितीकरण-अग है।

साधर्मी बन्धुको धर्मश्रद्धा और आचरणसे विचलित न होने देना तथा विचलित होते हुओको धर्ममे स्थित करना भी स्थितीकरण है।

वात्सल्य-अंग

धर्मका सम्बन्ध अन्य सासारिक सम्बन्धोसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह अप्रशस्त रागका कारण नही, किन्तु प्रकाशकी ओर ले जाने वाला है। साधर्मी बन्धुओके प्रति उसी प्रकारका आन्तरिक स्नेह करना, जिस प्रकार गाय अपने बछड़ेसे करती है।

वस्तुत. साधर्मी बन्धुओके प्रति निश्छल और आन्तरिक स्नेह करना वात्सल्य है। इस गुणके कारण साधर्मी भाई निकट सम्पर्कमे आते हैं और उनका संगठन दृढ होता है। धूर्तता मायाचार, वचकता आदिको छोड़कर सद्भावनापूर्वक साधर्मियोका आदर, सत्कार, पुरस्कार, विनय, वैयावृत्य, भक्ति, सम्मान, प्रशसा आदि करना वात्सल्य है।

प्रभावना-अंग

जगतमे वीतराग-मार्गका विस्तार करना, धर्म-सम्बन्धी भ्रमको दूर करना और धर्मकी महत्ता स्थापित करना प्रभावना है।

जिनधर्म-विषयक अज्ञानको दूरकर धर्मका वास्तविक ज्ञान कराना प्रभावना है। देव, शास्त्र और गुरुके स्वरूपको लेकर जनसाधारणमे जो अज्ञान वर्तमान है, उसे दूर करना प्रभावनाके अन्तर्गत है।

सम्यग्दृष्टि रत्नत्रयके तेजसे आत्माको प्रभावित करते हुए दान, तप, विद्या, जिनपूजा, मन्त्रशक्ति आदिके द्वारा लोकमे जिनशासनका महत्त्व प्रकट करता हैं। जिनशासनकी महिमा जिन जिन कार्योंसे अभिव्यक्त होती है, उन उन कार्योंका आचरण सम्यग्दृष्टि करता है।

उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य और प्रभावना इन चारोंका पालन 'स्व' और 'पर' दोनोंमें ही हुआ करता है। अन्य व्यक्तियोंके समान अपनेको भी सभालना, गिरनेका प्रसग आनेपर सावधान हो जाना और कदाचित् गिरजानेपर पुन पदमे अपनेको प्रतिष्ठित करना आवश्यक है।

सम्यग्दर्शन अथवा मोक्षमार्गसे विचलित होनेके दो कारण है —(१) आगम ज्ञानका अभाव या अल्पता और (२) सहननकी कमी। इन दोनो कारणोसे जीव परीषह और उपसर्ग सहन करनेसे विचलित हो सकता है।

सम्यग्दर्शनके पच्चीस दोष या न्यूनताएँ

सम्यग्दर्शनके आठ मद, आठ मल, छ अनायतन और तीन मूढताएँ इस प्रकार पच्चीस दोष होते है। मिथ्यादृष्टि इन दोषोंके अधीन होकर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पचपरावर्तन निरन्तर करता रहता है। ऐसी कोई पर्याय नही, जो इसने धारण न की हो, ऐसा कोई स्थान नही, जहाँ यह उत्पन्न न हुआ हो तथा जहाँ इसका मरण न हुआ हो, ऐसा कोई समय नही, जिसमे इसने जन्म न ग्रहण किया हो, ऐसा कोई भव नही, जो इसने न पाया हो। अत मिथ्यात्वका त्यागकर पच्चीस दोषरहित सम्यग्दर्शन धारण करना मनुष्य-पर्यायका फल है।

मद या अहकार सम्यग्दर्शनका दोष है। ज्ञान आदि आठ वस्तुओका आश्रय लेकर अपना बडप्पन प्रकट करना मद है। मद आठ प्रकारके होते है—

१. ज्ञानमद[1]—क्षायोपशमिक ज्ञानका अहकार करना कि मुझसे बडा कोई ज्ञानी नही। मैं सकलशास्त्रोका ज्ञाता हूँ।

२. प्रतिष्ठा या पूजामद—अपनी पूजा-प्रतिष्ठा या लौकिक सम्मानका गर्व करना प्रतिष्ठा या पूजामद है।

३ कुलमद—मेरा पितृपक्ष अतीव उज्ज्वल है, मेरे इस वशमे आजतक कोई दोष नही लगा है। इस प्रकार पितृवशका गर्व करना कुलमद है।

४ जातिमद—मेरा मातृपक्ष बहुत उन्नत है। यह शीलमे सुलोचना, सीता, अनन्तमती और चन्दनाके तुल्य है। इस प्रकार माताके वशका अभिमान करना जातिमद है।

१ अह ज्ञानवान् सकलशास्त्रज्ञो वर्ते' अह मान्यो महामण्डलेश्वरा मत्पादसेवका। कुलमपि मम पितृपक्षोऽतीवोज्ज्वल '। मम माता सघस्य पत्युर्दुहिता शीलेन सुलोचना-सीता-अनन्तमती-चन्दनादिका वर्तते।''' मम रूपाग्रे कामदेवोऽपि दासत्व करोतीत्यष्टमदा.। —मोक्षपाहुड-टीका गा० २७

५. बलमद—शारीरिक शक्तिकी दृष्टिसे गर्व करना बलमद है।

६. ऋद्धिमद—बुद्धि आदि ऋद्धियो अथवा गृहस्थकी अपेक्षा धनादि वैभवका गर्व करना ऋद्धिमद है।

७ तपमद—अनशनादि तपोका गर्व करना तपमद है।

८. शरीरमद—अपने स्वस्थ एव सुन्दर शरीरका गर्व करना शरीरमद है।

वस्तुत सम्यग्दृष्टि विचार करता है कि क्षयोपशमजन्य ज्ञान, पूजा आदि वस्तुएँ मेरे अधीन नही है, किन्तु कर्माधीन हैं और कर्मोदय प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है, अतएव शरीर, ज्ञान, ऐश्वर्य आदिका मद करना निरर्थक है। रत्नत्रयरूप धर्म ही जोवात्माके स्वाधीन है, कालानवच्छिन्न है, पवित्र-निर्मल और स्वय कल्याणस्वरूप है। ससारके अन्य सब पदार्थ 'पर' हैं और आत्मोत्थानमे सहायक नही हैं। अत· सम्यग्दृष्टि यदि अपने अन्य सधर्मिओके साथ ज्ञान, पूजा, कुल, जाति आदि आठ विषयोमेसे किसीका भी आश्रय लेकर तिरस्कारभाव रखता है, तो वह उसका 'स्मय' नामक दोष कहलाता है। इससे उसकी विशुद्धि नष्ट होती है और कदाचित् वह अपने स्वरूपसे च्युत भी हो सकता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि ज्ञानादि हेय नही हैं, अपितु ज्ञानादिके मद हेय हैं।

आस्था सम्बन्धी अन्धविश्वास

अन्धश्रद्धालु बनकर आत्महितका विचार किये बिना ही लोक, देव, एव धर्म-सम्बन्धी मूढतायुक्त क्रियाओमे प्रवृत्त होना अन्धश्रद्धा या मूढता है। ये मूढताएँ तीन हैं·—१ लोकमूढता, २ देवमूढता और ३ पाषण्डमूढता।

ऐहिकफलकी इच्छासे धर्म समझकर नदी, समुद्र एवं पुष्कर आदिमे स्नान करना, बालुका एव पत्थरके ढेर लगाना—पर्वतसे गिरना, एव अग्निमे कूदकर प्राण देना मूढता या अन्धश्रद्धामे समाविष्ट है। जो आत्मधर्मसे विमुख होकर लौकिक क्रिया-काण्डोको ही धर्म समझता है और धर्म-साधनाके रूपमे प्रवृत्ति करता है वह लोकमूढ कहा जाता है।

लौकिक अभ्युदय एव वरदान प्राप्तिकी इच्छासे आशायुक्त हो राग-द्वेषसे मलिन देवोकी आराधना करना देवमूढता है। वस्तुत देवसम्बन्धी अन्धविश्वास एव उस विश्वासकी पूर्तिके साधन देवमूढतामे समाविष्ट हैं। देव सर्वज्ञ, वीतराग और हितोपदेशी होता है। इसके विपरीत जो रागद्वेषसे मलिन है वह कुदेव है और ऐसे कुदेवोकी आराधना करनेसे धर्माचरण नही होता है। यदि सम्यग्दृष्टि सासारिक फलकी इच्छासे वीतरागदेवकी उपासना भी करता है तो भी सम्यक्त्वमे दोष आता है। जो मिथ्या आशावश सराग देवोको आराधनासे लौकिक फल प्राप्त करना चाहता है उसकी आस्था पङ्गु और अन्ध है।

रत्नत्रय मोक्षका मार्ग है और इस मार्गके लिये आरम्भ-परिग्रहके त्यागी गुरुके अवलम्बनकी आवश्यकता है। जो आरम्भ, परिग्रह और हिंसासे सहित, ससारपरिभ्रमणके कारणभूत कार्योंमे लीन हैं वे कुगुरु है। ऐसे कुगुरुओकी भक्ति, वन्दना करना पाषण्ड या गुरुमूढता है।

षड् अनायतन या मिथ्या आस्थाएँ

भय, आशा एवं स्नेहवश कुगुरु, कुदेव, कुधर्म और इन तीनोके आराधकोकी भक्ति-प्रशसा करना षड् अनायतन है।

शंकादि दोष

सम्यग्दर्शनके अष्टागोके विपरीत शकादि आठ दोष भी श्रद्धाको मलिन बनाते है। वे हैं शका, आकाक्षा, विचिकित्सा, मूढदृष्टि, दोषव्यक्तीकरण, अस्थितीकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना।

वस्तुत सम्यग्दर्शन आत्माके श्रद्धागुणकी निर्मल पर्याय है। इसे धारण कर नीचकुलोत्पन्न चाण्डाल भी महान् बन जाता है और श्वान जैसा निन्द्यप्राणी भी देवोद्वारा पूज्य बन जाता है।

सम्यग्ज्ञान

नय और प्रमाण द्वारा जीवादि पदार्थोका यथार्थ ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। दृढ आत्मविश्वासके अनन्तर ज्ञानमे सम्यक्पना आता है। यो तो ससारके पदार्थोका हीनाधिक रूपमे ज्ञान प्रत्येक व्यक्तिको होता है। पर उस ज्ञानका आत्मविकासके लिये उपयोग करना कम ही व्यक्ति जानते है। सम्यग्दर्शनके पश्चात् उत्पन्न हुआ ज्ञान आत्मविकासका कारण होता है। 'स्व' और 'पर' का भेदविज्ञान यथार्थत सम्यग्ज्ञान है।

निश्चयसम्यग्ज्ञान अपने आत्म-स्वरूपका बोध ही है। जिसने आत्माको जान लिया है, उसने सब कुछ जान लिया है और जो आत्माको नही जानता, वह सब कुछ जानते हुए भी अज्ञानी है। सम्यग्ज्ञानके सम्बन्धमे ज्ञान-मीमासाके अन्तर्गत विचार किया जा चुका है।

सम्यक्चारित्र या सम्यगाचार

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित व्रत, गुप्ति, समिति आदिका अनुष्ठान करना उत्तमक्षमादि दशधर्मोका पालन करना, मूलगुण और उत्तरगुणोका धारण करना सम्यक्चारित्र है। अथवा विषय, कषाय, वासना, हिंसा, झूठ,

चोरी, कुशील और परिग्रहणरूप क्रियाओसे निवृत्ति करना सम्यक्चारित्र है[1]। चारित्र वस्तुत आत्मस्वरूप है। यह कषाय और वासनाओसे सर्वथा रहित है। मोह और क्षोभसे रहित जीवकी जो निर्विकार परिणति होती है, जिससे जीवमे साम्यभावकी उत्पत्ति होती है, चारित्र है[2]। प्रत्येक व्यक्ति अपने चारित्रके बलसे ही अपना सुधार या बिगाड करता है। अत मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिको सर्वदा शुभ रूपमे रखना आवश्यक है। मनसे किसीका अनिष्ट नही सोचना, वचनसे किसीको बुरा नही कहना तथा शरीरसे कोई निन्द्य कार्य नही करना सदाचार है।

विषय-तृष्णा और अहकारकी भावना मनुष्यको सम्यक् आचरणसे रोकती है। विषयतृष्णाकी पूर्तिहेतु ही व्यक्ति प्रतिदिन अन्याय, अत्याचार, वलात्कार, चोरी, बेईमानी हिंसा आदि पापोको करता है। तृष्णाको शान्त करनेके लिये स्वय अशान्त हो जाता है तथा भयकर-से-भयकर पाप कर बैठता है। अत विषय-निवृत्तिरूप चारित्रको धारण करना परमावश्यक है।

मनुष्यके सामने दो मार्ग विद्यमान है—शुभ और अशुभ। जो राग-द्वेष-मोहको घटाकर शुभोपयोगरूप परिणति करता है वह शुभमार्गका अनुगामी माना जाता है और जो रागद्वेष-कषायरूप परिणतिमे सलग्न रहता है वह अशुभमार्गका अनुसरणकर्त्ता है। अज्ञान एव तीव्र रागद्वेषके अधीन होकर व्यक्ति कर्त्तव्य-च्युत होता है। जीव अपनी सत्प्रवृत्तिके कारण शुभका अर्जन करता है और असत्प्रवृत्तिके कारण अशुभका। एक ही कर्म शुभ और अशुभ प्रवृत्तियोके कारण दो रूपोमे परिणत हो जाता है। शुभ और अशुभ एक ही पुद्गलद्रव्यके स्वभावभेद है। शुभ कर्म सातावेदनीय, शुभायु, शुभ नाम, शुभगोत्र एव अशुभ कर्म, घाति या असाता वेदनीय अशुभायु, अशुभ नाम, अशुभगोत्र है। यह जीव शुद्धनिश्चयसे वीतराग, सच्चिदानन्दस्वभाव है और व्यवहारनयसे रागादिरूप परिणमन करता हुआ शुभोपयोग और अशुभोपयोगरूप है। यो तो आत्माकी परिणति शुद्धोपयोग, शुभोपयोग और अशुभोपयोगरूप है। चैतन्य, अखण्ड आत्मस्वभावका अनुभव करना शुद्धोपयोग, कषायोकी मन्दतावश शुभरागरूप परिणति होना शुभोपयोग एव तीव्र कषायोदयरूप परिणामोका होना अशुभोपयोग है। शुद्धोपयोगका नाम

१ असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्त।
वदसमिदिगुत्तिरूव ववहारणया दु जिणभणिय॥ —द्रव्यसग्रह ४५

२ साम्य तु दर्शनचारित्रमोहनीयोदयापादितसमस्तमोहक्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणाम। —प्रवचनसार, गाथा ७ की अमृतचन्द्र-टीका

वीतराग चारित्र, शुभोपयोगका नाम सदाचार एवं अशुभोपयोगका नाम कदाचार है।

परमपद-प्राप्तिहेतु : आचारके भेद

परमपद-प्राप्तिके मार्गविवेचनकी दृष्टिसे आचारके दो भेद हैं—(१) निवृत्तिमूलक आचार और (२) प्रवृत्तिमूलक आचार। निवृत्तिमूलक आचारको त्यागमार्ग या श्रमणमार्ग कहा जाता है। यह मार्ग कठिन है, पर जल्द पहुँचानेवाला है। समस्त पदार्थोंसे मोह-ममत्व त्यागकर वीतराग आत्म-तत्त्वकी उपलब्धिके हेतु अरण्यवास स्वीकार करना और इन्द्रिय तथा अपने मनको अधीनकर आत्मस्वरूपमे रमण करना निवृत्ति या त्यागमार्ग है। यह आचारका मार्ग सर्वसाधारणके लिये सुलभ नही। पर है निर्वाणको प्राप्त करानेवाला। यह कण्टकाकीर्ण मार्ग है। इसकी साधना विरले जितेन्द्रिय ही कर पाते हैं। इसमे सन्देह नही कि इस निवृत्तिमार्गका अनुसरण करनेसे रागद्वेष-मोहादिसे रहित निर्मल आत्मतत्त्वकी उपलब्धि शीघ्र ही होती है। इस आचारमार्गका नाम सकलचारित्र या मुनिधर्म है।

द्वितीय मार्ग प्रवृत्ति मार्ग है। यह सरल है, पर है दूरवर्ती। इस मार्ग द्वारा आत्मतत्त्वकी प्राप्तिमे बहुत समय लगता है। इस आचारमार्गमे किसीका भय नही है। अत इसे पुष्पाकीर्ण मार्ग कहा जाता है। प्रवृत्तिके दो रूप हैं—(१) शुभ और (२) अशुभ। अशुभ प्रवृत्तिका त्यागकर शुभ प्रवृत्तिका अनुसरण करना विकलाचरण है। संक्षेपमे आचारको दो भागोमे विभक्त किया जा सकता है। मुनि या साधुका आचार और गृहस्थ या श्रावकका आचार।

श्रावकाचार

श्रावकशब्द तीन वर्णोंके सयोगसे बना है और इन तीनो वर्णोंके क्रमशः तीन अर्थ हैं—(१) श्रद्धालु, (२) विवेकी और (३) क्रियावान। जिसमे इन तीनो गुणोका समावेश पाया जाता है वह श्रावक है। व्रतधारी गृहस्थको श्रावक, उपासक और सागार आदि नामोसे अभिहित किया जाता है। यह श्रद्धापूर्वक अपने गुरुजनो—निर्ग्रन्थमुनियोके प्रवचनका श्रवण करता है, अत यह श्राद्ध या श्रावक कहलाता है। श्रावकके आचारका वर्गीकरण कई दृष्टियोसे किया जाता है। पर इस आचारके वर्गीकरणके तीन आधार प्रमुख हैं—

१. द्वादशव्रत, २ एकादशप्रतिमाएँ, ३ पक्ष, चर्या और साधन।

सावद्यक्रिया—हिंसाकी शुद्धिके तीन प्रकार है—(१) पक्ष, (२) चर्या या

निष्ठा और (३) साधन। वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी देव, निर्ग्रन्थ गुरु और निर्ग्रन्थ धर्मको मानना पक्ष है। ऐसे पक्षको रखनेवाला श्रावक पाक्षिक कहलाता है। इस श्रेणीके श्रावककी आत्मामे समस्त प्राणियोंके प्रति मैत्री, गुणी जीवोके प्रति प्रमोद, दीन-दुखियोके प्रति करुणा एव विपरीतवृत्तिवालोके प्रति माध्यस्थ्यभाव रहता है। यह न्यायपूर्वक आजीविकाका उपार्जन करते हुए जीवहिंसासे विरत रहनेकी चेष्टा करता है। पाक्षिकश्रावकके लिये निम्नलिखित क्रियाओका पालन करना आवश्यक है।

१ **न्यायपूर्वक धनोपार्जन** – गार्हस्थिक कार्योंको सम्पादित करनेके लिये आजीविका अर्जित करना आवश्यक है। पर विश्वासघात, छल-कपट, धूर्त्तता और अन्यायपूर्वक धनार्जन करना त्याज्य है। जिसे धर्मका पक्ष है, देव, शास्त्र और गुरुके प्रति निष्ठा या श्रद्धा है ऐसा श्रावक धनार्जनमे अन्याय और अनीतिका प्रयोग नही करता। सन्तोष, शान्ति और नियन्त्रित इच्छाओके आलोकमे शुभप्रवृत्तियो द्वारा आजीविकोपार्जनका प्रयास करता है। आजीविकाके साधनोमे हिंसा और आरम्भका उपयोग कम-से-कम किया जाय, इस बातका पूरा ध्यान रखता है। तृष्णा और विषय-कषायोको सीमित और नियन्त्रित कर परिवारके भरण-पोषणके हेतु आजीविकोपार्जन करता है।

२ **गुणपूजा**—आत्मामे मार्दवधर्मके विकासहेतु गुणो व्यक्ति और ज्ञान, दर्शन, चैतन्यादि गुणोका वहुमान, श्लाघा एव प्रशसा करना गुणपूजा है। गुण, गुरु और गुणयुक्त गुरुओका पूजन एव सम्मान करना गुणविकासका कारण है। अपने भीतर सदाचार, सज्जनता, उदारता, दानशीलता और हित-मित-प्रिय-वचनशीलताका प्रयोग स्व और परका उपकारक है। जिस पाक्षिकश्रावकको धर्मके प्रति निष्ठा है वह अपने आचरणमे वैय्यावृत्ति एव गुण-गुरु-पूजाको उपयोगी समझता है, अत पाक्षिकश्रावककी पात्रता प्राप्त करनेके लिये गुण-पूजा आवश्यक है। इससे आत्माके अहकार और ममकार भी क्षीण होते है।

३ **प्रशस्त वचन**—निर्दोष वाणीका प्रयोग करना प्रशस्त वचन है। परनिंदा और कठोरता आदि दोषोमे रहित प्रशस्त तथा उत्कृष्ट वचनोका व्यवहार जीवनके लिये हितकर और उपयोगी है।

४ **निर्बाध त्रिवर्गका सेवन**—धर्म, अर्थ और काम इन तीनो पुरुषार्थोका विरोध रहित सेवन करना निर्बाध त्रिवर्गसेवन है। इन तीन पुरुषार्थोमेसे कामका कारण अर्थ है, क्योकि अर्थके विना इन्द्रिय-विषयोकी सामग्री उपलब्ध नही हो सकती है और अर्थका कारण धर्म है, क्योकि पुण्योदय अथवा प्रामाणि-

कताके बिना धनकी प्राप्ति नही होती। प्रामाणिकता सदाचारपर निर्भर है। पाक्षिक श्रावकको अविरोधभावसे उक्त तीनो पुरुषार्थोंका सेवन करना चाहिये।

५ **त्रिवर्गयोग्य स्त्री, ग्राम, भवन**—त्रिवर्गके साधनमे सहायक स्त्री या भार्या है। सुयोग्य भार्याके रहनेसे परिवारमे शान्ति, सुख और सहयोग विद्यमान रहते हैं। सयम, अतिथि-सेवा एव शिष्टाचारकी वृद्धि होती है। भार्याके समान ही त्रिवर्गमे साधक भवन और ग्रामका होना भी आवश्यक है।

६. **उचित लज्जा**—लज्जा मानवजीवनका भूषण है। लज्जाशील व्यक्ति स्वाभिमानकी रक्षाके हेतु अपयशके भयसे कदाचारमे प्रवृत्त नही होता है। विरुद्ध परिस्थितिके आनेपर भी लज्जाशील व्यक्ति कुकर्म नही करता। वह शिष्ट और सयमित व्यवहारका आचरण करता है।

७ **योग्य आहार-विहार**—अभक्ष्य, अनुपसेव्य और चलितरसके सेवनका त्याग करना तथा स्वास्थ्यप्रद और निर्दोष भोजन ग्रहण करना योग्य आहार है। जिह्वालोलुपी और विषयलम्पटी भक्ष्य-अभक्ष्यका विवेक नही रख सकता है। अतएव विवेक और सयमपूर्वक आहार-विहारपर नियन्त्रण रखना योग्य आहार-विहार है।

८ **आर्यसमिति**—जिनके सहवाससे आत्मगुणोमे विकास हो, संयमकी प्रवृत्ति जागृत हो और आत्मप्रतिष्ठा बढे, ऐसे सदाचारी व्यक्तियोकी सगति करना आर्यसमिति कहलाती है। व्यक्ति शुभाचरणवाले पुरुषोके सम्पर्कसे आचारवान् बनता है। नीच और दुराचारी व्यक्तियोकी सगतिका त्याग अत्यावश्यक है।

९ **विवेक**—कर्त्तव्याकर्त्तव्यका तर्क-वितर्कपूर्वक निर्धारण करना विवेक है। विवेक द्वारा लौकिक और पारलौकिक सभी प्रकारके करणीय और अक-रणीय कार्योका निर्धारण किया जाता है।

१० **उपकार-स्मृति या कृतज्ञता**—कृतज्ञता मनुष्यका एक गुण है। जो व्यक्ति अपने ऊपर किये गये दूसरोके उपकारोका स्मरण रखता है और उप-कारके बदलेमे प्रत्युपकार करनेकी भावना रखता है वह कृतज्ञ कहलाता है। कृतज्ञता जीवन-विकासके लिये आवश्यक है। इस गुणके सद्भावसे धर्मधारणकी योग्यता उत्पन्न होती है।

११ **जितेन्द्रियता**—इन्द्रियोंके विषयोको नियन्त्रित करना तथा अनाचार और दुराचाररूप प्रवृत्तिको रोकना जितेन्द्रियता है। जो व्यक्ति इन्द्रियोंके अधीन है और विषय-सुखोको ही जिसने अपना सर्वस्व मान लिया है वह कषाय

(३) अदत्तादान—वस्तुके स्वामीकी इच्छाके विना किसी वस्तुको ग्रहण करना, या अपने अधिकारमे करना अदत्तादान है। मार्गमे पडी हुई या भूली हुई वस्तुको हडप जाना भी अदत्तादान है। नीति-अनीतिके विवेकको तिलाजलि देकर अनधिकृत वस्तुपर भी अधिकार करनेका प्रयत्न करना चोरी हे।

(४) मैथुन—स्त्री और पुरुषके कामोद्वेगजनित पारस्परिक सम्बन्धकी लालसा एव क्रिया मैथुन है और है यह अब्रह्म। यह आत्माके सद्गुणोका विनाश करनेवाला है। इस दोषाचरणसे समाजकी नैतिक मर्यादाओका उल्लघन होता है।

(५) परिग्रह—किसी भी परपदार्थको ममत्वभावसे ग्रहण करना परिग्रह है। ममत्व, मूर्च्छा या लोलुपताको वास्तवमे परिग्रह कहा जाता है। समारके अधिकाश दु ख इस परिग्रहके कारण ही उत्पन्न होते हैं। आत्मा अपने स्वरूपसे विमुख होकर और राग-द्वेषके वशीभूत होकर परिग्रहमे आसक्त होती है।

इन दोषोंके शमनसे आत्मामे स्वहितकी क्षमता और योग्यता उत्पन्न होती है। जो श्रावकके द्वादश व्रतोका पालन करना चाहता है, उसे सप्तव्यसनका त्याग आवश्यक है। द्यूतक्रीडा, मासाहार, मदिरा-पान, वेश्यागमन, आखेट, चोरी और परस्त्रीगमन ये सातो ही व्यसन जीवनको अध पतनकी ओर ले जानेवाले हैं। व्यसनोका सेवन करनेवाला व्यक्ति श्रावकके द्वादश व्रतोंके ग्रहण करनेका अधिकारी नही है। इसीप्रकार मद्य, मास, मधु और पच क्षीरफलोके भक्षणका त्याग कर अष्ट मूलगुणोका निर्वाह करना भी आवश्यक है। वास्तवमे मद्यत्याग, मासत्याग, मधुत्याग, रात्रिभोजनत्याग, पचोदुम्बरफलत्याग, देववन्दना, जीवदया और जलगालन ये आठ मूलगुण श्रावकके लिये आवश्यक[1] हैं।

इसप्रकार जो सामान्यतया विरुद्ध आचरणका त्याग कर इन्द्रिय और मनको नियन्त्रित करनेका प्रयास करता है, वही श्रावक धर्मको ग्रहण करता है।

श्रावकके द्वादश व्रतोमे पॉच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोकी गणना की गयी है। वस्तुत इन व्रतोका मूलाधार अहिंसा है। अहिंसासे ही मानवताका विकास ओर उत्थान होता है, यही सस्कृतिकी आत्मा है और है आध्यात्मिक जीवनकी नीव।

---

१. मद्यपलमधुनिशाशनपञ्चफलीविरतिपञ्चकाप्तनुती।
जीवदयाजलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणा ॥ —सागारधर्मामृत, २।१८

अणुव्रत

हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और मूर्च्छा—परिग्रह इन पाँच दोष या पापोसे स्थूलरूप या एक देशरूपसे विरत होना अणुव्रत है। अणुशब्दका अर्थ लघु या छोटा है। जो स्थूलरूपसे पच पापोका त्याग करता है, वही अणुव्रतका धारी माना जाता है। अणुव्रत पाँच हैं—

(१) अहिंसाणुव्रत—स्थूलप्राणातिपातविरमण—जीवोकी हिंसासे विरत होना अहिंसाणुव्रत है। प्रमत्तयोगसे प्राणोके विनाशको हिंसा कहा जाता है। प्रमत्तयोगका अभिप्राय राग-द्वेषरूप प्रवृत्तिसे है। यहाँ प्रमत्तयोग कारण है और प्राणोका विनाश कार्य। प्राण दो प्रकारके होते हैं—(१) द्रव्यप्राण और (२) भावप्राण। प्रमत्तयोगके होनेपर द्रव्यप्राणोके विनाशका होना नियमित नही है। हिंसाके अन्य भी निमित्त हो सकते हैं। पर प्रमत्तयोगसे भावप्राणोका विनाश होता है और भावप्राणोका विनाश ही यथार्थमे हिंसा है। राग-द्वेषकी प्रवृत्ति हिंसा है और निवृत्ति अहिंसा। वस्तुत ससारमे न कोई इष्ट होता है, न कोई अनिष्ट, न कोई भोग्य होता है और न कोई अभोग्य। मनुष्यका राग-द्वेष ही ससारको इष्ट और अनिष्ट रूपमे दिखलाता है[१]। इष्टसे राग और अनिष्टसे द्वेष होता है। अत राग-द्वेषके अवलम्बनरूप बाह्य पदार्थोका त्याग आवश्यक है। हिंसाका कारण राग-द्वेषरूप परिणति ही है। अतएव अहिंसाका पालन आवश्यक है। इसीके द्वारा मनुष्यताकी प्रतिष्ठा सम्भव है। अत्याचारीकी इच्छाके विरुद्ध अपने समस्त आत्मबलको लगा देना ही सघर्षका अन्त करना है और यही अहिंसा है। अहिंसा ही अन्याय और अत्याचारसे दीन-दुर्बलोकी रक्षा कर सकती है। यही विश्वके लिये सुखदायक है।

हिंसा विश्वमे शान्ति और सुखकी स्थापना नही कर सकती। प्रत्येक प्राणीको यह जन्मसिद्ध अधिकार प्राप्त है कि वह स्वय सुखपूर्वक जिये और अन्य प्राणियोको भी जीवित रहने दे। आजका मनुष्य स्वार्थ और अधिकारके वशीभूत हो स्वय तो सुखपूर्वक रहना चाहता है, पर दूसरोको चैन और शान्तिसे नही रहने देता है। अतएव अहिंसाणुव्रतका जीवनमे धारण करना आवश्यक है। अहिंसाका अर्थ मनसा, वाचा और कर्मणा प्राणीमात्रके प्रति सद्भावना और प्रेम रखना है। दम्भ, पाखण्ड, ऊँच-नीचकी भावना, अभिमान, स्वार्थबुद्धि, छल-कपट प्रभृति भावनाएँ हिंसा हैं। अहिंसामे त्याग है, भोग नही।

---

१ रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम्।
तौ च बाह्यार्थसबद्धौ तस्मात्तान् सुपरित्यजेत्॥ —आत्मानुशासन, श्लोक २३७

जहाँ राग-द्वेष है, वहाँ हिंसा अवश्य है। अत. राग-द्वेषकी प्रवृत्तिका नियंत्रण आवश्यक है।

हिंसा चार प्रकारकी होती है —(१) सकल्पी, (२) उद्योगी, (३) आरभी और (४) विरोधी। निर्दोष जीवका जानबूझकर बध करना संकल्पी; जीविका-सम्पादनके लिये कृषि, व्यापार, नौकरी आदि कार्यो द्वारा होनेवाली हिंसा उद्योगी, सावधानीपूर्वक भोजन बनाने, जल भरने आदि कार्यो मे होनेवाली हिंसा आरम्भी एव अपनी या दूसरोकी रक्षाके लिये की जानेवाली हिंसा विरोधी हिंसा कहलाती है। प्रत्येक गृहस्थको सकल्पपूर्वक किसी भी जीवकी हिंसा नही करनी चाहिये। अहिंसाणुव्रतका धारी गृहस्थ सकल्पी हिंसाका नियमत त्यागी होता है। इस हिसाके त्याग द्वारा श्रावक अपनी कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्तियोको शुद्ध करता है। अहिंसक यतनाचारका धारी होता है।

अहिंसाणुव्रतका धारी जीव त्रसहिंसाका त्याग तो करता ही है, साथ ही स्थावर-प्राणियोकी हिसाका भी यथाशक्ति त्याग करता है। इस व्रतकी शुद्धिके लिये निम्नलिखित दोषोका त्याग भी अपेक्षित है—

(१) बन्ध—त्रसप्राणियोको कठिन बन्धनसे बाँधना अथवा उन्हे अपने इष्ट स्थानपर जानेसे रोकना। अधीनस्थ व्यक्तियोंको निश्चित समयसे अधिक काल तक रोकना, उनसे निर्दिष्ट समयके पश्चात् भी काम लेना, उन्हे अपने इष्ट स्थानपर जानेमे अन्तराय पहुँचाना आदि बन्धके अन्तर्गत है।

(१) वध—त्रसप्राणीको मारना, पीटना या त्रास देना, वध है। प्रत्यक्ष या परोक्षरूपसे किसी भी प्राणीकी हत्या करना, कराना, किसीको मारना, पीटना या पिटवाना, सन्ताप पहुँचाना, शोषण करना आदि वधके विविध रूप हैं। स्वार्थवश वधके विविध रूपोमे व्यक्ति प्रवृत्त होता है। जिसके हृदयमे सर्वहितकी भावना समाहित रहती है, वह वध नही करता है।

(३) छविच्छेद—किसीका अग भंग करना, अपग बनाना या विरूप करना छविच्छेद है।

(४) अतिभार—अश्व, वृषभ, ऊँट आदि पशुओ पर, अथवा मजदूर आदि नौकरोपर उनकी शक्तिसे अधिक वोझ लादना अतिभार है। शक्ति एव समय होनेपर भी अपना काम स्वय न कर दूसरोसे करवाना अथवा किसीसे शक्तिसे अधिक काम लेना भी अतिभार है।

(५) अन्न-पाननिरोध—अपने आश्रित प्राणियोको समयपर भोजन-पानी न देना अधीनस्थ सेवकोको उचित वेतन न देना अन्न-पाननिरोध है।

अहिंसाणुव्रतकी रक्षाके लिये निम्नलिखित पाँच भावनाओका पालन करना भी आवश्यक है—

(१) वचनगुप्ति—वचनकी प्रवृत्तिको रोकना,

(२) मनोगुप्ति—मनकी प्रवृत्तिको रोकना,

(३) ईर्यासमिति—सावधानीपूर्वक देखकर चलना,

(४) आदान-निक्षेपणसमिति—सावधानीपूर्वक देखकर वस्तुको उठाना और रखना।

(५) आलोकितपानभोजन—दिनमे अच्छी तरह देख-भालकर आहार-पानीका ग्रहण करना।

२ सत्याणुव्रत—अहिंसा और सत्यका परस्परमे घनिष्ट सम्बन्ध है। एकके अभावमे दूसरेकी साधना शक्य नही। ये दोनो परस्पर पूरक तथा अन्योन्याश्रित है। अहिंसा सत्यको स्वरूप प्रदान करती है और सत्य अहिंसाकी सुरक्षा करता है। अहिंसाके बिना सत्य नग्न एव कुरूप है। अत मृषावादका त्याग अपेक्षित है। स्थूल झूठका त्याग किये बिना प्राणी अहिंसक नही हो सकता है। यत सत्ता और धोखा इन दोनोका जन्म झूठसे होता है। झूठा व्यक्ति आत्मवचना भी करता है। मिथ्याभाषणमे प्रमुख कारण स्वार्थकी भावना है। स्वच्छन्दता, घृणा, प्रतिशोध जैसी भावनाएँ, असत्य या मिथ्याभाषणसे उत्पन्न होती है। मानवसमाजका समस्त व्यवहार वचनोसे सचालित होता है। वचनके दोषसे व्यक्ति और समाज दोनोमे दोष उत्पन्न होता है। अतएव मृषावादका त्याग आवश्यक है।

असत्य वचनके तीन भेद है—१. गर्हित २ सावद्य और ३. अप्रिय। निन्दा करना, चुगली करना, कठोर वचन बोलना एव अश्लील वचनोका प्रयोग करना गर्हित असत्यमे परिगणित हैं। छेदन, भेदन, मारन. शोषण, अपहरण एव ताड़न सम्बन्धी वचन भी हिंसक होनेके कारण सावद्य असत्य कहलाते हैं। इन दोनो प्रकारके वचनोके अतिरिक्त अविश्वास, भयकारक, खेदजनक, वैर-शोक उत्पादक, सन्तापकारक आदि अप्रिय वचनोका त्याग करना आवश्यक है।

झूठी साक्षी देना, झूठा दस्तावेज या लेख लिखना, किसीकी गुप्त बात प्रकट करना, चुगली करना, सच्ची झूठी कहकर किसीको गलत रास्ते पर ले जाना, आत्मप्रशसा और परनिन्दा करना आदि स्थूल मृषावादमे सम्मिलित हैं।

सावधानीपूर्वक सत्याणुव्रतका पालन करनेके लिए निम्नलिखित अति-चारोका त्याग आवश्यक है।

१ मिथ्योपदेश—सन्मार्ग पर लगे हुए व्यक्तिको भ्रमवश अन्य मार्ग पर ले जानेका उपदेश करना ।मथ्योपदेश है। असत्य साक्षी देना और दूसरे पर अपवाद लगाना भी मिथ्योपदेशके अन्तर्गत है।

२ रहोभ्याख्यान—गुप्त बात प्रकट करना रहोभ्याख्यान है। विश्वासघात करना भी इसीमे सम्मिलित है।

३ कूटलेखक्रिया—झूठे लेख लिखना, झूठे दस्तावेज तैयार करना, झूठे हस्ताक्षर करना, गलत बही, खाते तैयार कराना, नकली सिक्के तैयार करना अथवा नकली सिक्के चलाना कूटलेखक्रिया है।

४. न्यासापहार—कोई धरोहर रखकर उसके कुछ अशको भूल गया, तो उसकी इस भूलका लाभ उठाकर धरोहरके भूले हुए अशको पचानेकी दृष्टिसे कहना कि जितनी धरोहर तुम कह रहे हो उतनी ही रखी थी, न्यासापहार है।

५. साकारमन्त्रभेद—चेष्टा आदि द्वारा दूसरेके अभिप्रायको ज्ञात कर ईर्ष्यावश उसे प्रकट कर देना साकारमन्त्रभेद है। इस व्रतका सम्यक्तया पालन करनेके लिए क्रोध, लोभ, भय और हास्यका त्याग करना तथा निर्दोष वाणीका व्यवहार करना आवश्यक है।

अचौर्याणुव्रत

मन, वाणी और शरीरसे किसीकी सम्पत्तिको बिना आज्ञा न लेना अचौर्याणुव्रत है। स्तेय या चोरीके दो भेद है—(१) स्थूल चोरी और (२) सूक्ष्म चोरी। जिस चोरीके कारण मनुष्य चोर कहलाता है, न्यायालयसे दडित होता है और जो चोरी लोकमे चोरी कही जाती है, वह स्थूल चोरी है। मार्ग चलते-चलते तिनका या ककड़ उठा लेना सूक्ष्म चोरीके अन्तर्गत है।

किसीके घरमे सेंध लगाना, किसीके पॉकेट काटना, ताला तोडना, लूटना, ठगना आदि चोरी है। आवश्यकतासे अधिक सग्रह करना या किसी वस्तुका अनुचित उपयोग करना भी एक प्रकारसे चोरी है। अचौर्याणुव्रतके धारी गृहस्थको एकाधिकारपर भी नियन्त्रण करना चाहिए। समस्त सुविधाए अपने लिए सञ्चित करना तथा आवश्यकताओको अधिक-से-अधिक बढाते जाना भी स्तेयके अन्तर्गत है। ससारमें धनादिककी जितनी चोरी होती है, उससे कही अधिक विचार एव भावोकी भी चोरी होती है। अतएव अचौर्य भावना द्वारा भौतिक आवश्यकताओको नियन्त्रित करना चाहिए। वस्तुत. जीवनकी किसी भी प्रकारकी

कमजोरीको छिपाना कमजोरी है। जीवनमे अगणित कमजोरियाँ है और होती रहेगी, पर उनपर न तो पर्दा डालना और न उनके अनुसार प्रवृत्ति करना ही उचित है।

अचौर्याणुव्रतके पालनके लिए निम्नलिखित अतिचारोका त्याग भी अपेक्षित है—

१ स्तेनप्रयोग—चोरी करनेके लिए किसीको स्वय प्रेरित करना, दूसरेसे प्रेरणा कराना या ऐसे कार्यमे सम्मति देना स्तेनप्रयोग है।

२ स्तेनाहृत—अपनी प्रेरणा या सम्मतिके विना किसीके द्वारा चोरी करके लाये हुए द्रव्यको ले लेना स्तेनाहृत है।

३ विरुद्धराज्यातिक्रम—राज्यमे विप्लव होनेपर हीनाधिक मानसे वस्तुओका आदान-प्रदान करना विरुद्धराज्यातिक्रम है। राज्यके नियमोका अतिक्रमण कर जो अनुचित लाभ उठाया जाता है, वह भी विरुद्धराज्यातिक्रम है।

४ हीनाधिकमानोन्मान—मापने या तौलनेके न्यूनाधिक बाँटोसे देन-लेन करना हीनाधिकमानोन्मान है।

५. प्रतिरूपकव्यवहार असली वस्तुके बदलेमे नकली वस्तु चलाना या असलीमे नकली वस्तु मिलाकर उसे वेचना या चालू करना प्रतिरूपकव्यवहार है।

वास्तवमे इन अतिचारोका उद्देश्य विश्वासघात, वेईमानी, अनुचित लाभ आदिका त्याग करना है।

अचौर्याणुव्रतकी शून्यागारावास—निर्जन स्थानमे निवास, विमोचितावास—दूसरेके द्वारा त्यक्त आवास, परोपरोधाकरण—अपने द्वारा निवास किये गये स्थानमे अन्यका अनवरोध, भैक्ष्यशुद्धि—भिक्षाके नियमोका उचित पालन करना एव सधर्माविसवाद ये पाँच भावनाएँ है।

स्वदारसन्तोष—मन, वचन और कायपूर्वक अपनी भार्याके अतिरिक्त शेप समस्त स्त्रियोके साथ विषयसेवनका त्याग करना स्वदारसन्तोषव्रत है। जिस प्रकार श्रावकके लिए स्वदारसन्तोषव्रतका विधान है उसी प्रकार श्राविकाके लिए स्वपतिसन्तोषका नियम है। काम एक प्रकारका मानसिक रोग है। इसका प्रतिकार भोग नही, त्याग है। रोगके प्रतिकारके लिए नियन्त्रित रूपमे विषयका सेवन करना और परस्त्रीगमनका त्याग करना ब्रह्मचर्याणुव्रत या स्वदारसन्तोषमे परिगणित है। यह अणुव्रत जीवनको मर्यादित करता है और मैथुनसेवनको नियन्त्रित करता है। इस व्रतके निम्नलिखित पाँच अतिचार है।

१. परविवाहकरण—जिनका विवाह करना अपने दायित्वके अन्तर्गत नही है उनका विवाह सम्पादित कराना, परविवाहकरण है।

२. इत्वरिकापरिगृहीतागमन—जो स्त्रियाँ परदारकोटिमे नही आती, ऐसी स्त्रियोको धनादिका लालच देकर अपनी बना लेना अथवा जिनका पति जीवित है, किन्तु पुश्चली हैं उनका सेवन करना इत्वरिकापरिगृहीतागमन है। वस्तुत· यह अतिचार उसी समय अतिचारके रूपमे आता है जब व्रतका एकदेश भग होता है, अन्यथा व्रतभग माना जाता है।

३. इत्वरिकाअपरिग्रहीतागमन—जो स्त्री अपरिग्रहीता—अस्वीकृतपतिका है, उसके साथ अल्प कालके लिए कामभोगका सम्बन्ध स्थापित करना इत्वरिका-अपरिग्रहीतागमन है। वेश्या या अनाथ पुश्चली स्त्रीका नियत काल सेवन करनेमे यह अतिचार है।

४ अनङ्गक्रीडा—कामसेवनके अतिरिक्त अन्य अङ्गोसे क्रीड़ा करना अनङ्गक्रीडा है।

४ कामतीव्राभिनिवेश—काम एव भोगरूप विषयोमें अत्यन्त आसक्ति रखना कामतीव्राभिनिवेश है।

ब्रह्मचर्याणुव्रतके धारीको स्त्रीरागकथाश्रवणत्याग, स्त्रीमनोहराङ्ग-निरीक्षणत्याग, पूर्वरतानुस्मरणत्याग, वृष्य-इष्टरसत्याग और स्वशरीर-सस्कार-त्याग करना भी आवश्यक है।

परिग्रहपरिमाण-अणुव्रत

परिग्रह ससारका सबसे बडा पाप है। ससारके समक्ष जो जटिल समस्याएँ आज उपस्थित है, सर्वव्यापी वर्गसघर्षकी जो दावाग्नि प्रज्वलित हो रही है, वह सब परिग्रह—मूर्च्छाकी देन है। जब तक मनुष्यके जीवनमे अमर्यादित लोभ, लालच, तृष्णा, ममता या गृद्धि विद्यमान है, तब तक वह शान्तिलाभ नही कर सकता। श्रावक अपनी इच्छाओको नियन्त्रित कर परिग्रहका परिमाण ग्रहण करता है। ससारके धन, ऐश्वर्य आदिका नियमन कर लेना परिग्रह-परिमाणव्रत है। अपने योग-क्षेमके लायक भरणपोषणकी वस्तुओको ग्रहण करना तथा परिश्रम कर जीवन यापन करना न्याय और अत्याचार द्वारा धनका सचय न करना परिग्रहपरिमाण है। धन, धान्य, रुपया, पैसा, सोना, चाँदी, स्त्री, पुत्र, गृह प्रभृति पदार्थोंमे ये मेरे है। इस प्रकारके ममत्वपरिणामको परिग्रह कहते है। इस ममत्व या लालसाको घटाकर उन वस्तुओको नियमित या कम करना परिग्रहपरिमाणव्रत है। इस व्रतका लक्ष्य समाजकी आर्थिक विषमताको दूर करना है। इस व्रतके निम्नलिखित पाँच अतिचार हैं—

१. खेत और मकानके प्रमाणका अतिक्रमण।
२. हिरण्य और स्वर्णके प्रमाणका अतिक्रमण।
३. धन और धान्यके प्रमाणका अतिक्रमण।
४ दास और दासीके प्रमाणका अतिक्रमण।
५ कुप्य-भाण्ड (बर्तन) आदिके प्रमाणका अतिक्रमण।

इस व्रतकी इन्द्रियोंके मनोज्ञ विषयोंमें राग नहीं करना और अमनोज्ञ विषयोंमें द्वेष नहीं करना रूप पांच भावनाएँ हैं।

गुणव्रत और शिक्षाव्रत

अणुव्रतोंकी सम्पुष्टि, वृद्धि और रक्षाके लिए तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंका पालन करना आवश्यक है। इन व्रतोंके पालनसे मुनिव्रतके ग्रहण करनेकी शिक्षा प्राप्त होती है। गुणव्रत तीन हैं—

१. दिग्व्रत।
२ देशव्रत या देशावकाशिकव्रत।
३ अनर्थदण्डव्रत।

दिग्व्रत—मनुष्यकी अभिलाषा आकाशके समान असीम और अग्निके समान समग्र भूमण्डलपर अपना एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित करनेका मधुर स्वप्न ही नहीं देखती, अपितु उस स्वप्नको साकार करनेके लिए समस्त दिशाओंमें विजय करना चाहती है। अर्थलोलुपी मानव तृष्णाके वश होकर विभिन्न देशोंमें परिभ्रमण करता है और विदेशोंमें व्यापारसंस्थान स्थापित करता है। मनुष्यको इस निरंकुश तृष्णाको नियन्त्रित करनेके लिए दिग्व्रतका विधान किया गया है।

पूर्वादि दिशाओंमें नदी, ग्राम, नगर आदि प्रसिद्ध स्थानोंकी मर्यादा बांधकर जन्मपर्यन्त उससे बाहर न जाना और उसके भीतर लेन-देन करना दिग्व्रत है। इस व्रतके पालन करनेसे क्षेत्रमर्यादाके बाहर हिंसादि पापोंका त्याग हो जाता है और उस क्षेत्रमें वह महाव्रतीतुल्य बन जाता है। दिग्व्रतके निम्नलिखित पांच अतिचार हैं—

१ ऊर्ध्वव्यतिक्रम—लोभादिवश ऊर्ध्वप्रमाणका अतिक्रम।
२ अधोव्यतिक्रम—वापी, कूप, खदान आदिकी अधःमर्यादाका अतिक्रम।
३ तिर्यग्व्यतिक्रम—तिरछे रूपमें क्षेत्रका अतिक्रम।
४. क्षेत्रवृद्धि—एक दिशासे क्षेत्र घटाकर दूसरी दिशामें क्षेत्रप्रमाणकी वृद्धि।
५ स्मृत्यन्तराधान—निश्चित की गई क्षेत्रकी मर्यादाका विस्मरण।

देशावकाशिक व्रत

दिग्व्रतमे जीवन पर्यन्तके लिए दिशाओका परिमाण किया जाता है। इसमे किये गये परिमाणमे कुछ समयके लिए किसी निश्चित देश पर्यन्त आनेजानेका नियम ग्रहण करना देशावकाशिकव्रत है। इस व्रतके पाँच अतिचार है—

१ आनयन—मर्यादासे बाहरकी वस्तुका बुलाना।

२ प्रेष्यप्रयोग—मर्यादासे बाहर स्वय न जाना किन्तु सेवक आदिको आज्ञा देकर वहाँ बैठे हुए ही काम करा लेना प्रेष्यप्रयोग है।

३ शब्दानुपात—मर्यादाके बाहर स्थित किसी व्यक्तिको शब्दद्वारा बुलाना।

४ रूपानुपात—मर्यादित क्षेत्रके बाहरसे आकृति दिखाकर सकेतद्वारा बुलाना।

५ पुद्गलक्षेप—मर्यादाके बाहर स्थित व्यक्तिको अपने पास बुलानेके लिए पत्र, तार आदिका प्रयोग करना।

अनर्थदण्डव्रत

बिना प्रयोजनके कार्योंका त्याग करना अनर्थदण्डव्रत कहलाता है। जिनसे अपना कुछ भी लाभ न हो और व्यर्थ ही पापका सचय होता हो, ऐसे कार्योंको अनर्थदण्ड कहते है और उनके त्यागको अनर्थदण्डव्रत कहा जाता है। अनर्थदण्डके निम्न पाँच भेद है—

१ अपध्यान—दूसरोका बुरा विचारना।

२ पापोपदेश—पापजनक कार्योंका उपदेश देना।

३. प्रमादाचरित—आवश्यकताके बिना वन कटवाना, पृथ्वी खुदवाना, पानी गिराना, दोष देना, विकथा या निन्दा आदिमे प्रवृत्त होना।

४. हिंसादान—हिंसाके साधन अस्त्र, शस्त्र, विष, विषैली गैस आदि सामग्रीका देना अथवा सहारक अस्त्रोका आविष्कार करना।

५. अशुभश्रुति—हिंसा और राग आदिको बढ़ानेवाली कथाओका सुनना, सुनाना अशुभश्रुति है।

शिक्षाव्रतके चार भेद हैं—१ सामायिक, २. प्रोषधोपोवास, ३. भोगोपभोगपरिमाण और ४. अतिथिसविभाग।

सामायिक—तीनो सन्ध्याओमे समस्त पापके कर्मोंसे विरत होकर नियत स्थानपर नियत समयके लिए मन, वचन और कायके एकाग्र करनेको सामायिक-

व्रत कहते हैं। जितने समय तक व्रती सामायिक करता है, उतने समय तक वह महाव्रतीके समान हो जाता है। समभाव या शान्तिकी प्राप्तिके लिए सामायिक किया जाता है। सामायिकव्रतके निम्नलिखित पांच अतिचार हैं—

१ कायदुष्प्रणिधान—सामायिक करते समय हाथ, पैर आदि शरीरके अवयवोको निश्चल न रखना, नींदका झोका लेना।

२. वचनदुष्प्रणिधान—सामायिक करते समय गुनगुनाने लगना।

३. मनोदुष्प्रणिधान—मनमें संकल्प-विकल्प उत्पन्न करना एव मनको गृहस्थीके कार्यमें फँसाना।

४. अनादर—सामायिकमें उत्साह न करना।

५ स्मृत्यनुपस्थान—एकाग्रता न होनेसे सामायिककी स्मृति न रहना।

प्रोषधोपवास

पाँचो इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयसे निवृत्त होकर उपवासी—नियन्त्रित रहे, उसे उपवास कहते है। प्रोषध अर्थात् पर्वके दिन उपवास करना प्रोषधोपवास है। साधारणत चारों प्रकारके आहारका त्याग करना उपवास है, पर सभी इन्द्रियोके विषयभोगोंसे निवृत्त रहना ही यथार्थमे उपवास है। प्रोषधोपवाससे ध्यान, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य और तत्त्वचिन्तन आदिकी सिद्धि होती है। प्रोषधोपवासके निम्नलिखित अतिचार हैं—

१ अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग—जीव-जन्तुको देखे विना और कोमल उपकरण द्वारा विना प्रमार्जनके ही मल मूत्र और श्लेष्मका त्याग करना।

२ अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान—विना देखे और विना प्रमार्जन किये ही पूजाके उपकरण आदिको ग्रहण करना।

३. अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमण—विना देखे और विना प्रमार्जन किये ही भूमिपर चटाई आदि बिछाना।

४ अनादर—प्रोषधोपवास करनेमे उत्साह न दिखलाना।

५ स्मृत्यनुपस्थान—प्रोषधोपवास करनेके समय चित्तका चञ्चल रहना।

भोगोपभोगपरिमाण

आहार-पान, गन्ध-माला आदिको भोग कहते हैं। जो वस्तु एकवार भोगने योग्य है, वह भोग है और जिन वस्तुओको पुन.-पुन भोगा जा सके वे उपभोग हैं। इन भोग और उपभोगकी वस्तुओका कुछ समयके लिये अथवा जीवन पर्यन्तके लिए परिमाण करना भोगोपभोगपरिमाणव्रत है। इस व्रतके पालन

करनेसे लोलुपता एव विषयवाँछा घटती है। इस व्रतके निम्नलिखित अति-चार हैं—

१. सचित्ताहार—अमर्यादित वस्तुओका उपयोग करना और सचित्त पदार्थों-का भक्षण करना।

२. सचित्तसम्बन्धाहार—जिस अचित्त वस्तुका सचित्त वस्तुसे सबध हो गया हो, उसका उपयोग करना।

३ सचित्तसम्मिश्राहार—चीटी आदि क्षुद्र जन्तुओसे मिश्रित भोजनका आहार अथवा सचित्तसे मिश्रित वस्तुका व्यवहार।

४. अभिषवाहार—इन्द्रियोको मद उत्पन्न करनेवाली वस्तुका सेवन।

५. दुष्पक्वाहार—अधपके, अधिकपके, ठोक तरहसे नही पके हुए या जले भुने हुए भोजनका सेवन।

अतिथिसंविभाग

जो सयमरक्षा करते हुए विहार करता है अथवा जिसके आनेकी कोई निश्चित तिथि नही है, वह अतिथि है। इस प्रकारके अतिथिको शुद्धचित्तसे निर्दोष विधिपूर्वक आहार देना अतिथिसविभागव्रत है। इस प्रकारके अति-थियाको योग्य औषध, धर्मोपकरण, शास्त्र आदि देना इसी व्रतमे सम्मिलित है। अतिथिसविभागव्रतके निम्नलिखित अतिचार है—

१ सचित्तनिक्षेप—सचित्त कमलपत्र आदिपर रखकर आहारदान देना।

२ सचित्तापिधान—आहारको सचित्त कमलपत्र आदिसे ढकना।

३ परव्यपदेश—स्वय दान न देकर दूसरेसे दिलवाना अथवा दूसरेका द्रव्य उठाकर स्वय दे देना।

४ मात्सर्य—आदरपूर्वक दान न देना अथवा अन्य दाताओसे ईर्ष्या करना।

५. कालातिक्रम—भिक्षाके समयको टालकर अयोग्य कालमे भोजन कराना।

सल्लेखनाव्रत

सम्यक् रीतिसे काय और कषायको क्षीण करनेका नाम सल्लेखना है। जब मरणसमय निकट आ जाय तो गृहस्थको समस्त पदार्थोंसे मोह-ममता छोड़कर शनैं शनै. आहारपान भी छोड देना चाहिए। इस प्रकार शरीरको कृश करनेके साथ ही कषायोको भी कृश करना तथा धर्मध्यानपूर्वक मृत्युका स्वागत करना सल्लेखनाव्रतके अन्तर्गत है।

शरीरका उद्देश्य धर्मसाधन है। धार्मिक विधि-विधानका अनुष्ठान इस शरीरके द्वारा ही सम्भव होता है। अत जब तक यह शरीर स्वस्थ है और धर्मसाधनकी क्षमता है तबतक धर्मसाधनमे प्रवृत्त रहना चाहिए, पर जब शरीरके विनाशके कारण उपस्थित हो जायें और प्रयत्न करनेपर भी शरीरकी रक्षा सम्भव न हो, तब आहार, पानको त्याग करते हुए गृहस्थ राग, द्वेष और मोहसे आत्माकी रक्षा करता है। वस्तुत श्रावकके लिए आत्मशुद्धिका अन्तिम अस्त्र सल्लेखना है। सल्लेखनाद्वारा ही जीवनपर्यन्त किये गये व्रताचरणको सफल किया जाता है। यह आत्मघात नही है, क्योकि आत्मघातमे कषायका सद्भाव रहता है, पर सल्लेखनामे कषायका अभाव है। सल्लेखनाव्रतके निम्नलिखित अतिचार हैं—

१ जीविताशसा—जीवित रहनेकी इच्छा।
२. मरणाशसा—सेवा-शुश्रूषाके अभावमे शीघ्र मरनेकी इच्छा।
३ मित्रानुराग—मित्रोके प्रति अनुराग जागृत करना।
४. सुखानुबन्ध—भोगे हुए सुखोका पुन पुन' स्मरण करना।
५ निदान—तपश्चर्याका फल भोगरूपमे चाहना।

श्रावकके दैनिक षट् कर्म

श्रावक अपना सर्वांगीण विकास निर्लिप्तभावसे स्वकर्त्तव्यका सम्पादन करते हुए घरमे रहकर भी कर सकता है। दैनिक कृत्योमे षट्कर्मोंको गणना की गई है।

१ देवपूजा—देवपूजा शुभोपयोगका साधन है। पूज्य या अर्च्य गुणोंके प्रति आत्मसमर्पणकी भावना ही पूजा है। पूजा करनेसे शुभरागकी वृद्धि होती है, पर यह शुभराग अपने 'स्व'को पहचाननेमे उपयोगी सिद्ध होता है। पूजाके दो भेद हैं—द्रव्यपूजा और भावपूजा। अष्टद्रव्योंसे वीतराग और सर्वज्ञदेवकी पूजा करना द्रव्यपूजा है। और बिना द्रव्यके केवल गुणोका चिन्तन और मनन करना भावपूजा है। भावपूजामे आत्माके गुण ही आधार रहते है, अत' पूजकको आत्मानुभूतिकी प्राप्ति होती है। सराग वृत्ति होनेपर भी पूजन द्वारा रागद्वेषके विनाशकी क्षमता उत्पन्न होती है।

पूजा सम्यग्दर्शनगुणको तो विशुद्ध करती ही है, पर वीतराग आदर्शको प्राप्त करनेके लिये भी प्रेरित करती है। यह आत्मोत्थानकी भूमिका है।

२ गुरुभक्ति—गुरुका अर्थ अज्ञान-अन्धकारको नष्ट करने वाला है। यह निर्ग्रन्थ, तपस्वी और आरम्भपरिग्रहरहित होता है। जीवनमे सस्कारोका

प्रारम्भ गुरुचरणोकी उपासनासे ही सम्भव है। इसी कारण गृहस्थके दैनिक षट्कर्मो मे गुरूपास्तिको आवश्यक माना है। यत गुरुके पास सतत निवास करनेसे मन, वचन, कायकी विशुद्धि स्वत होने लगती है और वाक्सयम, इन्द्रियसंयम तथा आहारसंयम भी प्राप्त होने लगते हैं। गुरु-उपासनासे प्राणी-को स्वपरप्रत्ययकी उपलब्धि होती है। अतएव गृहस्थको प्रतिदिन गुरु-उपासना एवं गुरुभक्ति करना आवश्यक है।

स्वाध्याय—स्वाध्यायका अर्थ स्व–आत्माका अध्ययन–चिन्तन–मनन है। प्रतिदिन ज्ञानार्जन करनेसे रागके त्यागकी शक्ति उपलब्ध होती है। स्वाध्याय समस्त पापोका निराकरणकर रत्नत्रयकी उपलब्धिमे सहायक होता है। बुद्धिबल और आत्मबलका विकास स्वाध्याय द्वारा होता है। स्वाध्याय द्वारा सस्कारोमे परिणामविशुद्धि होती है और परिणामविशुद्धि ही महाफलदायक है। मनको स्थिर करनेकी दिव्यौषधि स्वाध्याय ही है। हेय-उपादेय और ज्ञेयकी जानकारोका साधन स्वाध्याय है। स्वाध्याय वह पीयूष है जिससे ससाररूपी व्याधि दूर हो जाती है। अतएव प्रत्येक श्रावकको आत्मतन्मयता, आत्मनिष्ठा, प्रतिभा, मेधा आदिके विकासके लिये स्वाध्याय करना आवश्यक है।

संयम—इन्द्रिय और मनका नियमनकर सयममे प्रवृत्त होना अत्यावश्यक है। कषाय और विकारोका दमन किये बिना आनन्दकी उपलब्धि नही हो सकती है। सयम ही ऐसी ओषधि है, जो रागद्वेषरूप परिणामोको नियन्त्रित करता है। सयमके दो भेद हैं—१ इन्द्रियसयम और २ प्राणिसयम। इन दोनो सयमोमे पहले इन्द्रियसयमका धारण करना आवश्यक है क्योकि इन्द्रियोके वश हो जानेपर ही प्राणियोकी रक्षा सम्भव होती है। इन्द्रिय-सम्बन्धी अभिलाषाओ, लालसाओ और इच्छाओका निरोध करना इन्द्रिय-सयमके अन्तर्गत है। विषय-कषायाओको नियन्त्रित करनेका एकमात्र साधन संयम है। जिसने इन्द्रियसयमका पालन आरम्भ कर दिया है वह जीवन-निर्वाहके लिये कम-से-कम सामग्रीका उपयोग करता है, जिससे शेष सामग्री समाजके अन्य सदस्योके काम आती है, सघर्ष कम होता है और विषमता दूर होती है। यदि एक मनुष्य अधिक सामग्रीका उपभोग करे तो दूसरोके लिये सामग्री कम पडेगी, जिससे शोषण आरम्भ हो जायगा। अतएव इन्द्रिय-सयमका अभ्यास करना आवश्यक है।

प्राणिसयममे षट्कायके जोवोकी रक्षा अपेक्षित है। प्राणिसयमके धारण करनेसे अहिंसाकी साधना सिद्ध होती है और आत्मविकासका आरम्भ होता है।

तप—इच्छानिरोधको तप कहते है। जो व्यक्ति अपनी महत्त्वाकाक्षाओ और इच्छाओका नियन्त्रण करता है, वह तपका अभ्यासी है। वास्तवमे अनशन, ऊनोदर आदि तपोके अभ्याससे आत्मामे निर्मलता उत्पन्न होती है। अहकार और ममकारका त्याग भी तपके द्वारा ही सम्भव है। रत्नत्रयके अभ्यासी श्रावकको अपनी शक्तिके अनुसार प्रतिदिन तपका अभ्यास करना चाहिए।

दान—शक्त्यनुसार प्रतिदिन दान देना चाहिए। सम्पत्तिकी सार्थकता दानमे ही है। दान सुपात्रको देनेसे अधिक फलवान् होता है। यदि दानमे अहकारका भाव आ जाय तो दान निष्फल हो जाता है। श्रावक मुनि, आर्यिका, क्षुल्लिका, क्षुल्लक, ब्रह्मचारी, व्रती आदिको दान देकर शुभभावोका अर्जन करता है।

श्रावकाचारके विकासकी सीढियाँ

श्रावक अपने आचारके विकासके हेतु मूलभूत व्रतोका पालन करता हुआ सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिके साथ चारित्रमे प्रवृत्त होता है। उसके इस चारित्रिक विकास या आध्यात्मिक उन्नतिके कुछ सोपान हैं जो शास्त्रीय भाषामे प्रतिमा या अभिग्रहविशेष कहे जाते हैं। वस्तुत ये प्रतिमाएँ श्रमणजीवनकी उपलब्धिका द्वार हैं। जो इन सोपानोका आरोहणकर उत्तरोत्तर अपने आचारका विकास करता जाता है वह श्रमणजीवनके निकट पहुँचनेका अधिकारी बन जाता है। ये सोपान या प्रतिमाएँ ग्यारह हैं।

१ **दर्शनप्रतिमा**—देव, शास्त्र और गुरुकी भक्ति द्वारा जिसने अपने श्रद्धानको दृढ और विशुद्ध कर लिया है और जो ससार-विषय एव भोगोसे विरक्त हो चला है वह निर्दोष अष्टमूलगुणोका पालन करता हुआ दर्शनप्रतिमाका धारी श्रावक कहलाता है। दार्शनिक श्रावक मद्य, मास, मधुका न तो स्वय सेवन करता है और न इन वस्तुओका व्यापार करता है, न दूसरोसे कराता है, न सम्मति ही देता है। मद्य-मासके सेवन करनेवाले व्यक्तियोसे अपना सम्पर्क भी नही रखता है। चर्मपात्रमे रखे हुए घृत, तैल या जलका भी उपभोग नही करता। रात्रिभोजनका त्याग करनेके साथ जल छानकर पीता है और सप्तव्यसनोका त्यागी होता है। यह श्रावक नियन्त्रित रूपमे ही विषयभोगोका सेवन करता है।

२ **व्रतप्रतिमा**—माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीन शल्योसे रहित होकर निरतिचार पञ्चाणुव्रत और सप्तशीलोका धारण करनेवाला श्रावक व्रतिक या व्रती कहलाता है। राग-द्वेष और मोहपर विजय प्राप्त करनेके

लिये साम्यभाव रखना व्रतिकके लिये आवश्यक है। पूर्वमे प्रतिपादित श्रावकके द्वादश व्रतोका पालन करना व्रतिकके लिये विधेय है।

३ सामायिकप्रतिमा—व्रतप्रतिमाका अभ्यासी श्रावक तीनो संध्याओमे सामायिक करता है और कठिन-से-कठिन कष्ट आ पडनेपर भी ध्यानसे विचलित नही होता है। वह मन, वचन और कायको एकाग्रताको स्थिर बनाये रखता है। सामायिक करनेवाला व्यक्ति एक-एक कायोत्सर्गके पश्चात् चार बार तीन-तीन आवर्त करता है। अर्थात् प्रत्येक दिशामे "णमो अरहृताणं" इस आद्य सामायिकदण्डक और "थोस्सामि हृ" इस अन्तिम स्तविकदण्डकके तीन-तीन आवर्त और एक-एक प्रणाम इस तरह बारह आवर्त और चार प्रणाम करता है। श्रावक इन आवर्त आदिकी क्रियाओको खडे होकर सम्पन्न करता है। सामायिकका उद्देश्य आत्माकी शक्तिका केन्द्रीकरण करना है। सामायिक-प्रतिमाका धारण करनेवाला सामायिकी कहलाता है। दूसरी प्रतिमामे जो सामायिकशिक्षाव्रत है वह अभ्यासरूप है और इस तीसरी प्रतिमामे किया जानेवाला सामायिक व्रतरूप है।

४ प्रोषधप्रतिमा—प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशीको उपवास करना प्रोषध प्रतिमा है। पूर्वमे द्वितीय प्रतिमाके अन्तर्गत जिस प्रोषधोपवासका वर्णन किया गया है, वह अभ्यासरूपमे है। पर यहा यह प्रतिमा व्रतरूपमे ग्रहीत है।

५ सचित्तविरत-प्रतिमा—पूर्वको चार प्रतिमाओका पालन करनेवाले दयालु श्रावक द्वारा हरे साग, सब्जी, फल, पुष्प आदिके भक्षणका त्याग करना सचित्तविरत-प्रतिमा है। वस्तुत इस प्रतिमामे किये गये सचित्तत्यागका उद्देश्य सयम पालन करना है। सयमके दो रूप हैं—१ प्राणिसयम और २. इन्द्रियसयम। प्राणियोकी रक्षा करना प्राणिसयम और इन्द्रियोको वशमे करना इन्द्रियसयम है।

वस्तुत वनस्पतिके दो भेद हैं —(१) सप्रतिष्ठित और (२) अप्रतिष्ठित। सप्रतिष्ठित दशामे प्रत्येक वनस्पतिमे अगणित जीवोका वास रहता है, अतएव उसे अनन्तकाय कहते हैं और अप्रतिष्ठत दशामे उसमे एक ही जीवका निवास रहता है। सप्रतिष्ठित या अनन्तकाय वनस्पतिके भक्षणका त्याग अपेक्षित है। जब वही वनस्पति अप्रतिष्ठित—अनन्तकायके जीवोका वास नही रहनेके कारण अचित्त हो जाती है तो उसका भक्षण किया जाता है। सुखाकर, अग्निमे पकाकर, चाकूसे काटकर सचित्तको अचित्त बनाया जा सकता है। इन्द्रियसयमका पालन करनेके लिये सचित्त वनस्पतिका त्याग आवश्यक है।

६ दिवामैथुन या रात्रिभुक्तित्याग—पूर्वोक्त पाँच प्रतिमाओके आचरणका

पालन करते हुए श्रावक जब दिनमे मन, वचन और कायसे स्त्रीमात्रका त्याग करता है तब उसके दिवामैथुनत्याग-प्रतिमा कहलाती है। पूर्वोक्त पांचवं प्रतिमामे इन्द्रियमदकारक वस्तुओके खानपानका त्यागकर इन्द्रियोको सयत करनेकी चेष्टा की गई है। इस छठी प्रतिमामे दिनमे कामभोगका त्याग कराकर मनुष्यकी कामभोगको लालसाको रात्रिके लिये ही सीमित कर दिय गया है।

इस प्रतिमाको रात्रिभुक्तिविरति भी कहा जाता है। दयालुचित्त श्रावक रात्रिमे खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय इन चारो ही प्रकारके भोजनोको मन वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनासे त्याग करता है।

७. ब्रह्मचर्यप्रतिमा—पूर्वोक्त छह प्रतिमाओमे विहित सयमके अभ्यासरे मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति द्वारा स्त्रीमात्रके सेवनका त्याग करना सप्तम ब्रह्मचर्यप्रतिमा है। छठी प्रतिमामे दिवामैथुनका त्याग कराया गया है और इस सप्तम प्रतिमामे रात्रिमे भी मैथुनका त्याग विहित है।

आत्मशक्तिको केन्द्रित करनेके लिये ब्रह्मचर्य एक अपूर्व वस्तु है। यह ब्रह्मचर्यका अर्थ शारीरिक कामभोगोसे निवृत्ति करना ही नही है अपितु पञ्चेन्द्रियोके विषयभोगोका त्याग करना है।

८ आरम्भत्यागप्रतिमा—पूर्वकी सात प्रतिमाओका पालन करनेवाला श्रावक जब आजीविकाके साधन कृषि, व्यापार एव नौकरी आदिके करने-कराने का त्याग कर देता है तो वह आरम्भत्यागप्रतिमावाला कहलाता है। ब्रह्मचर्य प्रतिमामे कौटुम्बिक जीवनको मर्यादित कर दिया जाता है और इस प्रतिमामे सुयोग्य सतानको दायित्व सौंपकर उससे विरत हो जाता है।

९ परिग्रहत्यागप्रतिमा—पूर्वोक्त आठ प्रतिमाओके आचारका पालन करनेके साथ-साथ भूमि, गृह आदिसे अपना स्वत्व छोडना परिग्रहत्याग प्रतिमा है। अष्टम प्रतिमामे अपना उद्योग-धन्धा पुत्रोको सुपुर्दकर सम्पत्ति अपने ही अधिकारमे रखता है। पर इस प्रतिमामे उसका भी त्याग कर देता है।

१० अनुमतित्यागप्रतिमा—पूर्वकी नौ प्रतिमाओके आचारका अभ्यास हो जानेके पश्चात् घरके किसी भी कारोबारमे किसी भी प्रकारकी अनुमति न देना अनुमतित्यागप्रतिमा है। इस प्रतिमाका धारी श्रावक घरमे न रहकर मन्दिर या चैत्यालयमे निवास करने लगता है और अपना समय स्वाध्यायमे

व्यतीत करता है। मध्यान्ह कालमे आमन्त्रण मिलनेपर अपने या दूसरेके घर भोजन कर आता है। भोजनमें उसकी अपनी कोई भी रुचि नही रहती।

११. उद्दिष्टत्यागप्रतिमा—अपने उद्देश्यसे बनाये गये आहारका ग्रहण न करना उद्दिष्टत्यागप्रतिमा है। इस प्रतिमाके दो भेद हैं :—(१) ऐलक और (२) क्षुल्लक। क्षुल्लक लगोटीके साथ चादर भी रखता है और कैंची या छुरेसे अपने केशोको बनवाता है। जिस स्थान पर क्षुल्लक बैठता या उठता है उस स्थानको कोमल वस्त्र आदिसे स्वच्छ कर लेता है, जिससे किसी जीवको पीडा नही होती है।

ऐलक केवल एक लगोटी ही रखता है तथा केशलुञ्च करता है।

मुन्याचार या साध्वाचार

श्रमण-सस्था आत्मकल्याण और समाजोत्थान दोनो ही दृष्टियोसे उपयोगी है। मुनि-आचार, पुरुषार्थमार्गका द्योतक है। मुनि परम पुरुषार्थके हेतु ही निर्ग्रन्थपद धारण करते है। वे विमल स्वभावकी प्राप्ति हेतु अन्तरग और बहिरग दोनो प्रकारके परिग्रहका त्याग करते हैं। वास्तवमे दिगम्बर वेश आकिंचन्यकी पराकाष्ठा है और है अहिंसाकी आधारशिला। कषाय और वासनासे हिंसक परिणत्ति होती है तथा आकिंचनत्व न स्वीकार करने पर अहकारका उदय होकर अहिंसा धर्मकी उच्चकोटिकी परिपालनामे विक्षेप उत्पन्न हो सकता है। अतएव मुनिके लिये दिगम्बर वेश परमावश्यक है। निर्ग्रन्थत्वके कारण ही मुनि कचन और कामिनी इन दोनों ही परवस्तुओका त्याग कर मोह-रात्रिका उपशमन करता है। अतएव यहाँ संक्षेपमे मुनिके आचारका विचार प्रस्तुत किया जा रहा है—

मुनिके अट्ठाईस मूलगुण होते हैं। इन मूलगुणोका भली प्रकार पालन करता हुआ मुनि आत्मोत्थानमे प्रवृत्त होता है।

पंच महाव्रत—अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत और अपरिग्रह महाव्रत। श्रावक जिन व्रतोका एकदेशरूपसे अणु-रूपमे पालन करता था, मुनि उन्ही व्रतोका पूर्णतया पालन करता है। षट्कायके जीवोका घात नही करते हुए राग-द्वेष, काम, क्रोधादि विकारोको उत्पन्न नही होने देता। प्राणोपर सकट आनेपर भी न असत्य भाषण करता है, न किसीकी बिना दी हुई वस्तुको ग्रहण करता है। पूर्ण शीलका पालन करते हुए अन्तरग और बहिरग सभी प्रकारके परिग्रहोका त्यागी होता है। शुद्धिके हेतु कमण्डलु और प्राणिरक्षाके लिये मयूरपखकी पिच्छि ग्रहण करता है।

६-१० पांच समितियाँ—मुनि दिनमे सूर्यालोकके रहने पर चार हाथ आगे भूमि देखकर गमन करते हैं। हित, मित और प्रिय वचन बोलते हैं। श्रद्धा और भक्तिपूर्वक दिये गये निर्दोष आहारको एक बार ग्रहण करते है। पिच्छि-कमण्डलु आदिको सावधानीपूर्वक रखते और उठाते है। जीव-जन्तु रहित भूमि पर मल-मूत्रका त्याग करते हैं। प्रमादत्यागकी हेतुभूत ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और व्युत्सर्ग ये पाँच समितियाँ हैं।

११-१५ पंचेन्द्रियनिग्रह—जो विषय इन्द्रियोको लुभावने लगते हैं, उनसे मुनि राग नही करते और जो विषय इन्द्रियोको बुरे लगते हैं, उनसे द्वेष नही करते।

१६-२१ षडावश्यक—सामायिक, स्तुति, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन षडावश्यकोका मुनिपालन करते हैं। सामायिकके साथ तीर्थंकरोकी स्तुति, उन्हे नमस्कार, प्रमादसे लगे हुए दोषोका शोधन, भविष्यमे लग सकनेवाले दोषोंसे वचनेके लिए अयोग्य वस्तुओका मन-वचन-कायसे त्याग, तप-वृद्धि अथवा कर्मनिर्जराके लिये कायोत्सर्ग करना अपेक्षित है। खडे होकर दोनो भुजाओको नीचेकी ओर लटकाकर, पैरके दोनो पजोको एक सीधमे चार अगुल-के अन्तरालसे रखकर आत्मध्यानमे लीन होना कायोत्सर्ग है।

२२-२८ शेष ७ गुण—स्नान नही करना, दन्तधावन नही करना, पृथ्वीपर शयन करना, खडे होकर भोजन करना, दिनमे एक बार भोजन करना, नग्न रहना और केशलुञ्च करना।

मुनि क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दश-मशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, आलाभ, रोग, तृण-स्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन इन बाईस परीषहोको सहन करता है। मुनि कष्ट आनेपर सभी प्रकारके उपसर्गोंको भी शान्तिपूर्वक सहता है। उसके लिये शत्रु-मित्र, महल-श्मशान, कचन-काच, निन्दा-स्तुति सब समान हैं। यदि कोई उसकी पूजा करता है, तो उसे भी वह अशीर्वाद देता है और यदि कोई उसपर तलवारसे वार करता है, तो उसे भी आशीर्वाद देता है। उसे न किसीसे राग होता है और न किसीसे द्वेष। वह राग-द्वेषको दूर करनेके लिये ही साधु-आचरण करता है। साधु या मुनिकी आवश्यकताएँ अत्यन्त परिमित होती हैं। नग्न रहनेके कारण उसकी निर्विकारता स्पष्ट प्रतीत होती है। वह विकार छिपानेके लिये न तो लगोटी ग्रहण करता है और न किसी प्रकारका संकोच ही करता है।

साधुका जोवन अकृत्रिम और स्वाभाविक रहता है, किसी भी प्रकारका

आडम्बर उसके पास नही रहता। सिर, दाढ़ी, मूछोके केशोको द्वितीय, चतुर्थ और छठे महीनोमे वह अपने हाथसे उखाड डालता[1] है।

साधुका अन्य आचार

मुनि-आचार या साधु-आचारका पालन करनेके लिये गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्रका पालन करना भी आवश्यक है। योगोका सम्यक् प्रकारसे निग्रह करना गुप्ति है। गुप्तिका जीवनके निर्माणमे बड़ा हाथ है, क्योकि भावबन्धनसे मुक्ति गुप्तियोके द्वारा ही प्राप्त होती है। गुप्ति प्रवृत्ति-मात्रका निषेध कहलाती है। शारीरिक क्रियाका नियमन, मौन धारण और सकल्प-विकल्पसे जीवनका संरक्षण क्रमश काय, वचन और मनोगुप्ति है।

जब-तक शरीरका सयोग है, तब-तक क्रियाका होना आवश्यक है। मुनि गमनागमन भी करता है। आचार्य, उपाध्याय, साधु या अन्य जनोसे सम्भाषण भी करता है, भोजन भी लेता है। सयम और ज्ञानके साधनभूत पिच्छि, कमण्डलु और शास्त्रका भी व्यवहार करता है और मल-मूत्र आदिका भी त्याग करता है। यह नही हो सकता कि मुनि होनेके बाद वह एक साथ समस्त क्रियाओका त्याग कर दे। अत वह पाँच प्रकारकी समितियोंका पालन करता है। जीवनमे पूर्णतया सावधानी रखता है।

मुनि कर्मो के उन्मूलन और आत्मस्वभावकी प्राप्तिके हेतु, उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम सयम, उत्तम तप उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्यंका पालन करता है। उत्तम क्षमाका अर्थ है—क्रोधके कारण मिलनेपर भी क्रोध न कर सहनशीलता बनाये रखना। भीतर और बाहर नम्रता धारण करना एव अहकारपर विजय पाना मार्दव है। मन-वचन और कायकी प्रवृत्तिको सरल रखना आर्जव है। सभी प्रकारके लोभका त्यागकर शरीरमे आसक्ति न रखना शौच है। साधु पुरुषोके लिये हितकारी वचन बोलना सत्य है। षट्कायके जीवोकी रक्षा करना और इन्द्रियोको विषयोमे प्रवृत्त नही होने देना सयम है। शुभोद्देश्यसे त्यागके आधारभूत नियमोको अपने जीवनमे उतारना तप है। सयतका ज्ञानादि

---

१. जधजादरूवजाद उप्पाडिदकेसमसुगं सुद्ध ।
रहिद हिंसादीदो अप्पडिकम्म हवदि लिंगं ॥
मुच्छारभविजुत्त जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं ।
लिंग ण परावेक्ख अपुणब्भवकारण जेण्हं ॥
—प्रवचनसार, गाथा २०५–२०६.

गुणोंका प्रदान करना त्याग है। शरीर और परवस्तुओसे ममत्व न रखना आकिंचन्य है। स्त्री-विषयक सहवास, स्मरण और कथा आदिका सर्वथा त्याग करना ब्रह्मचर्य है।

ससार एव ससारके कारणोके प्रति विरक्त होकर धर्मके प्रति गहरी आस्था उत्पन्न करना अनुप्रेक्षा है। अनुप्रेक्षाका अर्थ है, पुन. पुन चिन्तन करना। साधु या अन्य आत्मसाधक व्यक्ति ससार और ससारको अनित्यता आदिके विषयमे और साथ ही आत्मशुद्धिके कारणभूत भिन्न-भिन्न साधनोके विषयमे पुन पुन चिन्तन करता है, जिससे ससार और ससारके कारणोके प्रति विरक्ति उत्पन्न होती है और धर्मके प्रति आस्था उत्पन्न होती है। अनुप्रेक्षाएँ निम्नलिखित बारह हैं—

(१) अनित्य—शरीर, इन्द्रिय, विषय और भोगोपभोगको जलके बुलबुलेके समान अनवस्थित और अनित्य चिन्तन करना। मोहवश इस प्राणीने पर-पदार्थोको नित्य मान लिया हे, पर वस्तुत. आत्माका ज्ञान-दर्शन और चैतन्य स्वभाव ही नित्य है और यही उपयोगी है।

(२) अशरण—यह प्राणी जन्म, जरा, मृत्यु और व्याधियोसे घिरा हुआ है। यहाँ इसका कोई भी शरण नही है। कष्ट या विपत्तिके समय धर्मके अतिरिक्त अन्य कोई भी रक्षक नही हे। इसप्रकार ससारको अशरणभूत विचार करना अशरणानुप्रेक्षा है।

(३) ससारानुप्रेक्षा—ससारके स्वरूपका चिन्तन करना तथा जन्म-मरण-रूप इस परिभ्रमणमे स्वजन और परिजनकी कल्पना करना व्यर्थ है। जो साधक ससारके स्वरूपका चिन्तनकर वैराग्य उत्पन्न करता है, वह ससारानुप्रेक्षाका चिन्तक होता है।

(४) एकत्वानुप्रेक्षा—मै अकेला ही जन्मता हूँ और अकेला ही मरण प्राप्त करता हूँ। स्वजन या परिजन ऐसा कोई नही जो मेरे दु खोको दूर कर सकते है, इस प्रकार चिन्तन करना एकत्वानुप्रेक्षा है।

(५) अन्यत्वानुप्रेक्षा—शरीर जड है, मै चेतन हूँ। शरीर अनित्य है, मै नित्य हूँ। ससारमे परिभ्रमण करते हुए, मैने अगणित शरीर धारण किये, पर मै जहाँ-का-तहाँ हूँ। जब मै शरीरसे पृथक् हूँ, तब अन्य पदार्थो से अविभक्त कैसे हो सकता हूँ ? इस प्रकार शरीर और बाह्य पदार्थोसे अपनेको भिन्न चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है।

(६) अशुचित्वानुप्रेक्षा—शरीर अत्यन्त अपवित्र है। यह शुक्र, शोणित

आदि सप्त धातुओ और मल-मूत्रसे भरा हुआ है। इससे निरन्तर मल झरता है। इस प्रकार शरीरकी अशुचिताका चिन्तन करना अशुचि-अनुप्रेक्षा है।

(७) आस्रवानुप्रेक्षा—इन्द्रिय, कपाय और अव्रत आदि उभय लोकमे दु खदायी है। इन्द्रियविपयोकी विनाशकारी लोला तो सर्वत्र प्रसिद्ध है। जो इन्द्रियविषयो और कपायोके अधीन है, उसके निरन्तर आस्रव होता रहता है और यह आस्रव ही आत्मकल्याणमे बाधक है। इस प्रकार आस्रवस्वरूपका चिन्तन करना आस्रवानुप्रेक्षा है।

(८) संवरानुप्रेक्षा—सवर आस्रवका विरोधी है। उत्तम क्षमादि सवरके साधन हैं। सवरके विना आत्मशुद्धिका होना असम्भव है। इस प्रकार सवरस्वरूपका चिन्तन करना सवरानुप्रेक्षा है।

(९) निर्जरानुप्रेक्षा—फल देकर कर्मोंका झड जाना निर्जरा है। यह दो प्रकार की है—(१) सविपाक और (२) अविपाक। जो विविध गतियोमे फलकालके प्राप्त होनेपर निर्जरा होती है, वह सविपाक है। यह अबुद्धिपूर्वक सभी प्राणियोमे पायी जाती है। किन्तु अविपाक निर्जरा तपश्चर्याके निमित्तसे सम्यग्दृष्टिके होती है। निर्जराका यही भेद कार्यकारी है। इस प्रकार निर्जराके दोप-गुणका विचार करना निर्जरानुप्रेक्षा है।

(१०) लोकानुप्रेक्षा—अनादि, अनिधन और अकृत्रिम लोकके स्वभावका चिन्तन करना तथा इस लोकमे स्थित दु ख उठानेवाले प्राणीके दु खोका विचार करना लोकानुप्रेक्षा है।

(११) बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा—जिस प्रकार समुद्रमे पडे हुए हीरकरत्नका प्राप्त करना दुर्लभ है, उसी प्रकार एकेन्द्रियसे त्रसपर्यायका मिलना दुर्लभ है। त्रसपर्यायमे पचेन्द्रिय, सज्ञी, पर्याप्त, मनुष्य एव सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिके योग्य साधनोका मिलना कठिन है। कदाचित् ये साधन भी मिल जायें, तो रत्नत्रयकी प्राप्तिके योग्य बोधिका मिलना दुर्लभ है। इसप्रकार चिन्तन करना बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है।

(१२) धर्मस्वाख्याततत्त्वानुप्रेक्षा—तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट धर्म अहिंसामय है और इसकी पुष्टि सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, विनय, क्षमा, विवेक आदि धर्मों और गुणोसे होती है। जो अहिंसा धर्मको धारण नही करता। उसे संसारमे परिभ्रमण करना पडता है, इस प्रकार चिन्तन करना धर्मस्वाख्याततत्वानुप्रेक्षा है।

इन अनुप्रेक्षाओके चिन्तनसे वैराग्यकी वृद्धि होती है। ये अनुप्रेक्षाएँ माताके समान हितकारिणी और आत्म-आस्थाको उद्बुद्ध करनेवाली हैं।

चारित्र

संयमी व्यक्तिकी कर्मोंके निवारणार्थ जो अन्तरंग और बहिरंग प्रवृत्ति होती है वह चारित्र है। परिणामोंकी विशुद्धिके तारतम्यकी अपेक्षा और निमित्तभेदसे चारित्रके पांच भेद हैं। मुनि इन पाँचो प्रकारके चारित्रोका पालन करता है।

१ **सामायिक चारित्र**—सम्यक्त्व, ज्ञान, संयम और तप इनके साथ ऐक्य स्थापित करना और राग एव द्वेषका विरोध करके आवश्यक कर्त्तव्योमे समताभाव बनाये रखना सामायिक चारित्र है। इसके दो भेद हैं—(१) नियत काल और (२) अनियत काल। जिनका समय निश्चित है ऐसे स्वाध्याय आदि नियत काल सामायिक हैं और जिनका समय निश्चत नही है ऐसे ईर्यापथ आदि अनियतकाल है। सक्षेपतः समस्त सावद्ययोगका एकदेश त्याग करना सामायिक चारित्र है।

२ **छेदोपस्थापना चारित्र**—सामायिक चारित्रसे विचलित होनेपर प्रायश्चित्तके द्वारा सावद्य व्यापारमे लगे दोषोंको छेदकर पुन सयम धारण करना छेदोपस्थापना चारित्र है। वस्तुत समस्त सावद्ययागका भेदरूपसे त्याग करना छेदोपस्थापना चारित्र है। यथा—मैंने समस्त पापकार्योका त्याग किया, यह सामायिक है और मैंने हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहका त्याग किया, यह छेदोपस्थापना है।

३ **परिहारविशुद्धि**—जिस चारित्रमे प्राणिहिंसाकी पूर्ण निवृत्ति होनेसे विशिष्ट विशुद्धि पायी जाती है उसे परिहारविशुद्धि कहते हैं। जिस व्यक्तिने अपने जन्मसे तीस वर्षकी अवस्थातक सुखपूर्वक जीवन व्यतीत किया, पश्चात् दिगम्बर दीक्षा लेकर आठ वर्ष तक तीर्थंकरके निकट प्रत्याख्याननामक नवम पूर्वका अध्ययन किया हो तथा तीनो सन्ध्याकालको छोड़कर दो कोष विहार करनेका जिसका नियम हो उस दुर्धरचर्याके पालक महामुनिको ही परिहारविशुद्धि चारित्र होता है। इस चारित्रवालेके शरीरसे जीवोका घात नही होता है। इसीसे इसका नाम परिहारविशुद्धि है।

४ **सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र**—जिसमे क्रोध, मान, माया इन तीन कषायोका उदय नही होता, किन्तु सूक्ष्म लोभका उदय होता है वह सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र है। यह दशमगुणस्थानमे होता है।

५. **यथाख्यात चारित्र**—समस्त मोहनीयकर्मके उपशम अथवा क्षयसे जैसा आत्माका निर्विकार स्वभाव है वैसा ही स्वभाव हो जाना यथाख्यात चारित्र है।

तप—विषयोंसे मनको दूर करनेके हेतु एव राग-द्वेषपर विजय प्राप्त करनेके हेतु जिन-जिन उपायो द्वारा शरीर, इन्द्रिय और मनको तपाया जाता है अर्थात् इनपर विजय प्राप्त की जाती है वे सभी उपाय तप हैं। तपके दो भेद है—(१) बाह्य एव (२) आभ्यन्तर। बाह्य द्रव्यकी अपेक्षा होनेके कारण जो दूसरोको दिखाई पडते है, वे बाह्यतप है। बाह्यतप आभ्यन्तर तपकी पुष्टिमे कारण है। जिन तपोमे मानसिक क्रियाओकी प्रधानता हो, जो अन्यको दिखलाई न पडें वे आभ्यन्तर तप हैं।

बाह्यतप

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छह् बाह्य तप हैं।

१ **अनशन**—सयमकी पुष्टि, रागका उच्छेद, कर्मनाश और ध्यानसिद्धिके लिये भोजनका त्याग करना अनशन तप है। इसमे ख्याति, पूजा आदि फल-प्राप्तिकी आकाक्षा नही रहती।

२ **अवमौदर्य**—सयमको जागृत रखने, दोषोके प्रशम करने, सन्तोष एव स्वाध्यायको सिद्ध करनेके लिये भूखसे कम खाना अवमौदर्य तप है। मुनिका उत्कृष्ट ग्रास बत्तीस ग्रास है, अत' इससे अल्प आहार करना अवमौदर्य है।

३ **वृत्तिपरिसख्यान**—आहारके लिये जाते समय घर, गली आदिका नियम ग्रहण करना वृत्तिपरिसख्यान तप है। यह चित्तवृत्तिपर विजय प्राप्त करने और आसक्तिको घटानेके लिये धारण किया जाता है।

४. **रसपरित्याग**—इन्द्रियो और निद्रा पर विजयप्राप्तार्थ घी, दुग्ध, दधि, तैल, मीठा और नमकका यथायोग्य त्याग करना रसपरित्याग तप है।

५. **विविक्तशय्यासन**—ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, ध्यान आदिकी सिद्धि हेतु एकान्त स्थानमे शयन करना तथा आसन लगाना विविक्तशय्यासन तप है।

६ **कायक्लेश**—कष्ट सहन करनेके अभ्यासके हेतु विलासभावनाको दूर करने तथा धर्मकी प्रभावनाके लिये ग्रीष्म ऋतुमे पर्वतशिलापर, शीत ऋतुमे खुले मैदानमे और वर्षा ऋतुमे वृक्षके नीचे ध्यान लगाना कायक्लेश है।

आभ्यन्तर तप—आभ्यन्तर तपके प्रायश्चित्त, विनय, वैय्यावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह् भेद है।

१. **प्रायश्चित्त**—प्रमादसे लगे हुए दोषोको दूर करना प्रायश्चित्त तप है।

इसके आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार, और उपस्थापना ये नौ भेद हैं। गुरुसे अपने प्रमादको निवेदन करना आलोचना; किये गये अपराधके प्रति मेरा दोष मिथ्या हो ऐसा निवेदन प्रतिक्रमण; आलोचना और प्रतिक्रमण दोनोंका एक साथ करना तदुभय, अन्य पात्र और उपकरण आदिके मिल जाने पर उनका त्याग करना विवेक, मनमे अशुभ या अशुद्ध विचारोंके आनेपर नियत समय तक कायोत्सर्ग करना व्युत्सर्ग है, दोषविशेषके हो जानेपर उसके परिहारके लिये अनशन आदि करना तप है। किसी विशेष दोषके होनेपर उस दोषके परिहारार्थ दीक्षाका छेद करना छेद है; विशिष्ट अपराधके होनेपर संघसे पृथक् करना परिहार हैं, और बडे दोषके लगने पर उस दोषके परिहारहेतु पूर्ण दीक्षाका छेद करके पुन दीक्षा देना उपस्थापना है।

२. विनय—पूज्य पुरुषोके प्रति आदरभाव प्रकट करना विनयतप है। इसके चार भेद हैं। मोक्षोपयोगी ज्ञान प्राप्त करना, उसका अभ्यास रखना और किये गये अभ्यासका स्मरण रखना ज्ञानविनय है, सम्यग्दर्शनका शंकादि दोषोंसे रहित पालन करना दर्शनविनय, सामायिक आदि यथायोग्य चारित्रके पालन करनेमें चित्तका समाधान रखना चारित्रविनय है। और आचार्य आदिके प्रति "नमोस्तु" आदि प्रकट करना उपचारविनय है।

३. वैय्यावृत्त्य—शरीर आदिके द्वारा सेवा-शुश्रूषा करना वैय्यावृत्त्य है। जिनकी वैय्यावृत्ति की जाती है, वे दश प्रकारके है।

१ आचार्य—जिनके पास जाकर मुनि व्रताचरण करते हैं।

२ उपाध्याय—जिनके पास मुनि-गण शास्त्राभ्यास करते हैं।

३ तपस्वी—जो बहुत व्रत-उपवास करते है।

४. शैक्ष्य—जो श्रुतका अभ्यास करते है।

५ ग्लान—रोग आदिसे जिनका शरीर क्लान्त हो।

६ गण—स्थविरोकी संतति।

७ कुल—दीक्षा देने वाले आचार्यकी शिष्यपरम्परा।

८ संघ—ऋषि, यति, मुनि और अनगारके भेदसे चार प्रकारके साधुका समूह।

९. साधु—बहुत समयसे दीक्षित मुनि।

१० मनोज्ञ—जिनका उपदेश लोकमान्य हो अथवा लोकमें पूज्य हो।

४ स्वाध्याय—आलस्यको त्यागकर ज्ञानका अध्ययन करना स्वाध्याय है। स्वाध्यायके पांच भेद हैं।

१ वाचना—ग्रन्थ, अर्थ तथा दोनोका निर्दोषरीतिसे पाठ करना।

२. पृच्छना—शकाको दूर करने या विशेष निर्णयकी पृच्छा करना।

३ अनुप्रेक्षा—अधीत शास्त्रका अभ्यास करना, पुन. पुन विचार करना।

४ आम्नाय—जो पाठ पढा है उसका शुद्धतापूर्वक पुनः पुन उच्चारण करना।

५. धर्मोपदेश—धर्मकथा या धर्मचर्चा करना।

५. व्युत्सर्ग—शरीर आदिमें अहकार और ममकार आदिका त्याग करना व्युत्सर्ग है। इसके दो भेद हैं—(१) वाह्यव्युत्सर्ग और (२) आभ्यान्यर व्युत्सर्ग। भवन, खेत, धन, धान्य आदि पृथक्भूत पदार्थोके प्रति ममताका त्याग करना वाह्यव्युत्सर्ग और आत्माके क्रोधादि परिणामोंका त्याग करना आभ्यन्तर व्युत्सर्ग है।

६ ध्यान—चञ्चल मनको एकाग्र करनेके लिए किसी एक विषयमे स्थित करना ध्यान है। उत्तम ध्यान तो उत्तम सहननके धारक मनुष्यको प्राप्त होता है। यह अपनी चित्तवृत्तिको सभी ओरसे रोककर आत्मस्वरूपमे अवस्थित करता है। जब आत्मा समस्त शुभाशुभ सकल्प-विकल्पोको छोड, निर्विकल्प समाधिमे लीन हो जाती है, तो समस्त कर्मो की शृङ्खला टूट जाती है। ध्यान-का अर्थ भी यही है कि समस्त चिन्ताओ, सकल्प-विकल्पोको रोककर मनको स्थिर करना, आत्मस्वरूपका चिन्तन करते हुए पुद्गल द्रव्यसे आत्माको भिन्न विचारना और आत्मस्वरूपमे स्थिर होना।

ध्यान करनेसे मन, वचन और शरीरकी शुद्धि होती है। मनशुद्धिके विना शरीरको कष्ट देना व्यर्थ है, जिसका मन स्थिर होकर आत्मामे लीन हो जाता है वह परमात्मपदको अवश्य प्राप्त कर लेता है। मनको स्थिर करनेके लिए ध्यान ही एक साधन है।

ध्यानके भेद

ध्यानके चार भेद है—१. आर्त्तध्यान, २. रौद्रध्यान ३. धर्म ध्यान और ४ शुक्ल ध्यान। इनमेसे प्रथम दो ध्यान पापास्रवका कारण होनेसे अप्रशस्त हैं और उत्तरवर्ती दो ध्यान कर्म नष्ट करनेमे समर्थ होनेके कारण प्रशस्त है।

आर्त्तध्यान : स्वरूप और भेद

ऋतका अर्थ दुख है। जिसके होनेमे दुःखका उद्वेग या तीव्रता निमित्त है, वह आर्त्तध्यान है। आर्त्तध्यानके चार भेद हैं—१ अनिष्टसयोगजन्य आर्त्तध्यान, २. इष्टवियोगजन्य आर्त्तध्यान, ३. वेदनाजन्य आर्त्तध्यान और ४ निदानज

आर्त्तध्यान। अनिष्ट पदार्थोके सयोग हो जानेपर उस अनिष्टको दूर करनेके लिए बार-बार चिन्तन करना अनिष्टसयोगजन्य आर्त्तध्यान है। स्त्री, पुत्र, धन, धान्य आदि इष्ट पदार्थोके वियुक्त हो जानेपर उनकी प्राप्तिके लिए बार-बार चिन्तन करना इष्टवियोगजन्य आर्तध्यान है। रोगके होने पर अधीर हो जाना, यह रोग मुझे बहुत कष्ट दे रहा है, कब दूर होगा, इस प्रकार सदा रोगजन्य दु खका विचार करते रहना तीसरा आर्त्तध्यान है। भविष्यत्कालमे भोगोकी प्राप्तिकी आकाक्षाको मनमे बार-बार लाना निदानज आर्त्तध्यान है।

रौद्रध्यान : स्वरूप और भेद

रुद्रका अर्थ क्रूर परिणाम है। जो क्रूर परिणामोके निमित्तसे होता है, वह रौद्रध्यान है। रौद्रध्यानके निमित्तकी अपेक्षा चार भेद है—१. हिंसानन्द रौद्रध्यान, २ मृषानन्द रौद्रध्यान, ३. चौर्यानन्द रौद्रध्यान और ४. विषयसरक्षण रौद्रध्यान। जीवोके समूहको अपने तथा अन्य द्वारा मारे जानेपर, पीडित किये जानेपर एव कष्ट पहुँचाये जानेपर जो चिन्तन किया जाता है या हर्ष मनाया जाता है उसे हिंसानन्द रौद्रध्यान कहा जाता है। यह ध्यान निर्दयी, क्रोधी मानी, कुशीलसेवो नास्तिक एव उद्दीप्तकषायवालेको होता है। शत्रुसे बदला लेनेका चिन्तन करना, युद्धमे प्राणघात किये गये दृश्यका चिन्तन करना एवं किसीको मारने-पीटने कष्ट पहुँचाने आदिके उपायोका चिन्तन करना भी हिंसानन्द रौद्रध्यानके अन्तर्गत है। झूठी कल्पनाओ के समूहसे पापरूपी मैलसे मलिनचित्त होकर जो कुछ चिन्तन किया जाता है, वह मृषानन्द रौद्रध्यान है। इस ध्यानको करनेवाला व्यक्ति नाना प्रकारके झूठे सकल्प-विकल्पकर आनन्दानुभूति प्राप्त करता रहता है। चोरी करनेकी युक्तियाँ सोचते रहना, परधन या सुन्दर वस्तुको हड़पनेकी दिन-रात चिन्ता करते रहना चौर्यानन्द नामक रौद्रध्यान है। सासारिक विषय भोगनेके हेतु चिन्तन करना, विषयभोगकी सामग्री एकत्र करनेके लिए विचार करना एव धन-सम्पत्ति आदि प्राप्त करनेके साधनोका चिन्तन करना विषयसरक्षणनामक रौद्रध्यान है।

आर्त्त और रौद्र दोनो ही ध्यान आत्मकल्याणमे बाधक है। इनसे आत्मस्वरूप आच्छादित हो जाता है तथा स्वपरिणति लुप्त होकर परपरिणतिकी प्राप्ति हो जाती है। ये दोनो ध्यान दुर्ध्यान कहलाते हैं और दुर्गतिके कारण हैं। इनका आत्मकल्याणसे कुछ भी सम्बन्ध नही है।

धर्मध्यान : स्वरूप और भेद

शुभ राग और सदाचार सम्बन्धी चिन्तन करना धर्मध्यान है। धर्मध्यान

आत्माकी निर्मलताका साधन है। इस ध्यानके समग्र भेदोका साधन करनेसे रत्नत्रयगुण निर्मल होता है और कर्मोंकी निर्जरा होती है। धर्मध्यानके चार भेद है—१ आज्ञा, २. अपाय, ३. विपाक और ४. सस्थान। आगमानुसार तत्त्वोका विचार करना आज्ञाविचय, अपने तथा दूसरोके राग-द्वेष-मोह आदि विकारोको नाश करनेका चिन्तन करना अपायविचय, अपने तथा दूसरोके सुख-दु खको देखकर कर्मप्रकृतियोके स्वरूपका चिन्तन करना विपाकविचय एव लोकके स्वरूपका विचार करना सस्थानविचयनामक धर्मध्यान है। इस धर्मध्यानके अन्य प्रकारसे भी चार भेद है—१. पिडस्थ, २. पदस्थ, ३. रूपस्थ और ४. रूपातीत। यह धर्मध्यान अविरत, देशविरत, प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयत जीवोके सम्भव है। श्रेणि-आरोहणके पूर्व धर्मध्यान और श्रेणि-आरोहणके समयसे शुक्लध्यान होता है।

पिण्डस्थ ध्यान

शरीर स्थित आत्माका चिन्तन करना पिण्डस्थ ध्यान है। यह आत्मा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धसे रागद्वेषयुक्त है और निश्चयनयकी अपेक्षा यह बिलकुल शुद्ध ज्ञान-दर्शन चैतन्यरूप है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध अनादि-कालीन है और इसी सम्बन्धके कारण यह आत्मा अनादिकालसे इस शरीरमे आबद्ध है। यो तो यह शरीरसे भिन्न अमूर्तिक, सूक्ष्म और चैतन्यगुणधारी है, पर इस सम्बन्धके कारण यह अमूर्तिक होते हुए भी कथञ्चित् मूर्तिक है। इस प्रकार शरीस्थ आत्माका चिन्तन पिण्डस्थ ध्यानमे सम्मिलित है। इस ध्यानको सम्पादित करनेके लिए पाँच धारणाएँ वर्णित हैं—१ पार्थिवी, २. आग्नेय, ३ वायवी ४ जलीय और ४. तत्त्वरूपवती।

पार्थिवी धारणा

इस धारणामे एक मध्यलोकके समान निर्मल जलका बडा समुद्र चिन्तन करे, उसके मध्यमे जम्बूद्वीपके तुल्य एक लाख योजन चौडा और एक सहस्र पत्रवाले तपे हुए स्वर्णके समान वर्णके कमलका चिन्तन करे। कर्णिकाके बीचमे सुमेरु पर्वत सोचे। उस सुमेरु पर्वतके ऊपर पाण्डुकवनमे पाण्डुक शिलाका चिन्तन करे। उसपर स्फटिक मणिका आसन विचारे। उस आसनपर पद्मासन लगाकर अपनेको ध्यान करते हुए कर्म नष्ट करनेके हेतु विचार करे। इतना चिन्तन बार-बार करना पार्थिवी धारणा है।

आग्नेयी धारणा

उसी सिंहासनपर बैठे हुए यह विचार करे कि मेरे नाभिकमलके स्थानपर

भीतर ऊपरको उठा हुआ सोलह पत्तोका एक श्वेत रंगका कमल है। उसपर पीतवर्णके सोलह स्वर लिखे हैं। अ आ, इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ, ऌ ॡ, ए ऐ, ओ औ, अं अः, इन स्वरो के बीचमे 'र्हं' लिखा है। दूसरा कमल हृदयस्थानपर नाभिकमलके ऊपर आठ पत्तोका औधा विचार करना चाहिए। इस कमलको ज्ञानावरणादि आठ पत्तोका कमल माना जायगा।

पश्चात् नाभि-कमलके बीचमे जहाँ 'र्हं' लिखा है, उसके रेफसे धुँआ निकलता हुआ सोचे, पुन: अग्निकी शिखा उठती हुई विचार करे। यह लौ ऊपर उठकर आठ कर्मोके कमलको जलाने लगी। कमलके बीचसे फूटकर अग्निकी लौ मस्तकपर आ गई। इसका आधा भाग शरीरके एक ओर और आधा भाग शरीरके दूसरी ओर निकलकर दोनोके कोने मिल गये। अग्निमय त्रिकोण सब प्रकारसे शरीरको वेष्टित किये हुए है। इस त्रिकोणमे र र र र र र र अक्षरोको अग्निमय फैले हुए विचारे अर्थात् इस त्रिकोणके तीनो कोण अग्निमय र र र अक्षरोके बने हुए हैं। इसके बाहरी तीनो कोणोपर अग्निमय साँथिया तथा भीतरी तीनो कोणोपर अग्निमय 'ओम् र्हं' लिखा सोचे। पश्चात् विचार करे कि भीतरी अग्निकी ज्वाला कर्मोको और बाहरी अग्निकी ज्वाला शरीरको जला रही है। जलते-जलते कर्म और शरीर दोनों ही जलकर राख हो गये हैं तथा अग्निकी ज्वाला शान्त हो गई है अथवा पहलेके रेफमे समाविष्ट हो गई है, जहाँसे उठी थी। इतना अभ्यास करना 'अग्निधारणा' है।

वायु धारणा

तदनन्तर साधक चिन्तन करे कि मेरे चारो ओर बडी प्रचण्ड वायु चल रही है। इस वायुका एक गोला मण्डलाकार बनकर मुझे चारो ओरसे घेरे हुए है। इस मण्डलमे आठ जगह 'स्वॉय स्वॉय' लिखा हुआ है। यह वायु-मण्डल कर्म तथा शरीरके रजको उडा रहा है। आत्मा स्वच्छ और निर्मल होती जा रही है। इस प्रकारका चिन्तन करना वायु-धारणा है।

जल-धारणा

तत्पश्चात् चिन्तन करे कि आकाशमे मेघोकी घटाएँ आच्छादित है। विद्युत् चमक रही है। बादल गरज रहे हैं और घनघोर वृष्टि हो रही है। पानीका अपने ऊपर एक अर्ध चन्द्राकार मण्डल बन गया है। जिसपर प प प प कई स्थानोपर लिखा है। जल-धाराएँ आत्माके ऊपर लगी हुई है और कर्मरज प्रक्षालित हो रहा है, इस प्रकार चिन्तन करना जल धारणा है।

तत्वरूपवती-धारणा

इसके आगे साधक चिन्तन करे कि अब मैं सिद्ध, बुद्ध, सर्वज्ञ, निर्मल, कर्म

और शरीरसे रहित चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ। पुरुषाकार चैतन्यधातुकी बनी शुद्ध मूर्तिके समान हूँ। पूर्ण चन्द्रमाके तुल्य ज्योतिस्वरूप हूँ।

क्रमश इन पांच धारणाओ द्वारा पिंडस्थ ध्यानका अभ्यास किया जाता है। यह ध्यान आत्माके कर्मकलङ्कपङ्कको दूरकर ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य गुणोका विकास करता है।

पदस्थ ध्यान

मन्त्रपदोंके द्वारा अर्हन्त. सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु तथा आत्माका स्वरूप चिन्तन करना पदस्थ ध्यान है। किसी नियत स्थान—नासिकाग्र या भृकुटिके मध्यमे मन्त्रको अकित कर उसको देखते हुए चित्तको एकाग्र करना पदस्थ ध्यानके अन्तर्गत है। इस ध्यानमे इस बातका चिन्तन करना भी आवश्यक है कि शुद्ध होनेके लिए जो शुद्ध आत्माओका चिन्तन किया जा रहा है वह कर्मरजको दूर करनेवाला है। इस ध्यानका सरल और साध्य रूप यह है कि हृदयमे आठ पत्राकार कमलका चिन्तन करे और इन आठ पत्रोमेसे पांच पत्रोपर "णमो अरहंताण णमो सिद्धाण, णमो आइरियाण, णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्वसाहूण," लिखा चिन्तन करे तथा शेष तीन पत्रोपर क्रमशः "सम्यग्दर्शनाय नम , सम्यग्ज्ञानाय नम. और सम्यक्चारित्राय नम" लिखा हुआ विचारे। इस प्रकार एक-एक पत्तेपर लिखे हुए मत्रका ध्यान जितने समय तक कर सके, करे।

रूपस्थ ध्यान

अर्हन्त परमेष्ठीके स्वरूपका-विचार करे कि वे समवशरणमे द्वादश सभाओंके मध्यमे ध्यानस्थ विराजमान है। वे अनन्तचतुष्टय सहित परम वीतरागी हैं अथवा ध्यानस्थ जिनेन्द्रकी मूर्तिका एकाग्रचित्तसे ध्यान करना रूपस्थ ध्यान है।

रूपातीत

सिद्धोके गुणोका विचार करे कि सिद्ध, अमूर्तिक, चैतन्यपुरुषाकार, कृतकृत्य, परमशान्त, निष्कलक, अष्टकर्म रहित, सम्यक्त्वादि अष्टगुण सहित, निर्लेप, निर्विकार एव लोकाग्रमे विराजमान हैं। पश्चात् अपने आपको सिद्धस्वरूप समझकर ध्यान करे कि मै ही परमात्मा हूँ, सर्वज्ञ हूँ, सिद्ध हूँ, कृतकृत्य हूँ, निरञ्जन हूँ, कर्मरहित हूँ, शिव हूँ, इस प्रकार अपने स्वरूपमे लीन हो जाय।

शुक्ल ध्यान

मनकी अत्यन्त निर्मलताके होनेपर जो एकाग्रता होती है वह शुक्ल ध्यान

है। शुक्ल ध्यानके चार भेद हैं--१ पृथक्त्ववितर्कविचार, २. एकत्ववितर्क-अविचार, ३ सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और ४. व्युपरतक्रियानिर्वति।

पृथक्त्ववितर्कविचार

उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणीका आरोहण करनेवाला कोई पूर्वज्ञानधारी इस ध्यानमे वितर्क—श्रुतज्ञानका आलम्बन लेकर विविध दृष्टियोसे विचार। करता है और इसमे अर्थ, व्यञ्जन तथा योगका सक्रमण होता रहता है। इस तरह इस ध्यानका नाम पृथक्त्ववितर्कविचार है। इस ध्यान द्वारा साधक मुख्य रूपसे चारित्रमोहनीयका उपशम या क्षपण करता है।

एकत्ववितर्क-अविचार

क्षीणमोहगुणस्थानको प्राप्त होकर श्रुतके आधारसे किसी एक द्रव्य या पर्यायका चिन्तन करता है और ऐसा करते हुए वह जिस द्रव्य, पर्याय, शब्द या योगका अवलम्बन लिये रहता है, उसे नही बदलता है, तब यह ध्यान एकत्ववितर्क-अविचार कहलाता है। इस ध्यान द्वारा साधक घातिकर्मकी शेष प्रकृतियोका क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त करता है।

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति

सर्वज्ञदेव योगनिरोध करने लिए स्थूल योगोका अभाव कर सूक्ष्मकाय-योगको प्राप्त होते हैं, तब सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाति ध्यान होता है। कायवर्गणा-के निमित्तसे आत्मप्रदेशोका अतिसूक्ष्म परिस्पन्द शेष रहता है। अत इसे सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाति कहते हैं।

व्युपरतक्रियानिर्वर्ति

कायवर्गणाके निमित्तसे होनेवाले आत्मप्रदेशोका अतिसूक्ष्म परिस्पन्दनके भी शेष नही रहनेपर और आत्माके सर्वथा निष्प्रकम्प होनेपर व्युपरतक्रियानिर्वर्ति ध्यान होता है। किसी भी प्रकारके योगका शेष न रहनेके कारण इस ध्यानका उक्त नाम पडा है। इस ध्यानके होते ही सातावेदनीयकर्मका आस्रव रुक जाता है और अन्तमे शेष रहे सभी कर्म क्षीण हो जानेसे मोक्ष प्राप्त होता है। ध्यान-मे स्थिरता मुख्य है। इस स्थिरताके बिना ध्यान सम्भव नही हो पाता।

आध्यात्मिक उत्क्रान्ति

आत्मिक गुणोके विकासकी क्रमिक अवस्थाओको गुणस्थान कहते है। आत्मा स्वभावत' ज्ञान-दर्शन-सुखमय है। इस स्वरूपको विकृत अथवा आवृत करनेका कार्य कर्मों द्वारा होता है। कर्मावरणकी घटा जैसे-जैसे घनी होती जाती है,

वैसे वैसे आत्मिक शक्तिका प्रकाश मन्द होता जाता है। इसके विपरीत जैसे-जैसे कर्मावरण हटता जाता है, वैसे-वैसे आत्माकी शक्ति प्रादुर्भूत होती जाती है। आत्मिक उत्कान्तिकी यह प्रक्रिया ही गुणस्थान है। गुणस्थानका शाब्दिक अर्थ गुणोका स्थान है। जीवके कर्मनिमित्त सापेक्ष परिणाम गुण है। इन गुणोके कारण ससारी जीव विविध अवस्थाओमे विभक्त होते है और ये विविध अवस्थाएँ ही गुणस्थान है।

मोह और योग—मोह और मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिके कारण जीवके अन्तरग-परिणामोमे प्रतिक्षण होनेवाले उतार-चढावका नाम गुणस्थान है। परिणाम अनन्त है; पर उत्कृष्ट, मलिन परिणामोको लेकर उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामो तक तथा उसके ऊपर जघन्य वीतराग परिणामसे लेकर उत्कृष्ट वीतराग परिणाम-तक की अनन्तवृद्धियोके क्रमको वक्तव्य बनानेके लिए चौदह श्रेणियोमे विभाजित किया गया है। ये श्रेणियाँ ही गुणस्थान कहलाती हैं—

(१) मिथ्यादृष्टि

मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात प्रकृतियोके उदयसे जिसकी आत्मामे अतत्वश्रद्धान होता है, वह मिथ्यादृष्टि है। मिथ्यात्वगुणस्थानमे जीवको 'स्व' और 'पर' का भेदज्ञान नही रहता है। न तत्त्वका श्रद्धान होता है और न आप्त, आगम, निर्ग्रन्थ गुरु पर विश्वास ही। सक्षेपमे यह आत्माकी ऐसी स्थिति है जहाँ यथार्थ विश्वास और यथार्थ बोधके स्थानपर अयथार्थ श्रद्धा और अयथार्थ बोध रहता है। आत्मोत्क्रातिकी यह प्राथमिक भूमिका है। यहीसे आत्मा मिथ्यात्वका क्षय, उपशम या क्षयोपशम कर चतुर्थ गुणस्थानपर पहुँचती है। यह है तो आत्माके ह्रासकी स्थिति, पर उत्क्राति यहीसे आरम्भ होती है।

(२) सासादन

जिस आत्माने मिथ्यात्वका क्षय नही किया है, पर मिथ्यात्वको शान्त करके सम्यक्त्वकी भूमिका प्राप्त की थी, किन्तु थोडे कालके पश्चात् ही मिथ्यात्वके उभर आनेसे आत्मा सम्यक्त्वसे च्युत हो जाती है। जब तक वह सम्यक्त्वसे गिरकर मिथ्यात्वकी भूमिपर नही पहुँच पाती, बीचकी यह स्थिति ही सासादान गुणस्थान है। इस गुणस्थानवर्ती आत्माका सम्यग्दर्शन अनन्तानुबन्धीका उदय आ जानेके कारण असादन—विराधनासे सहित होता हैं। आत्माकी यह स्थिति अत्यल्प काल तक रहती है।

(३) मिश्रगुणस्थान

सम्यग्दर्शनके कालमें यदि सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृतिका उदय आ जाता है तो आत्मा चतुर्थ गुणस्थानसे च्युत हो तृतीय गुणस्थानमे आजाती है। जिसप्रकार मिले हुए दही और गुड़का स्वाद मिश्रित होता है उसी प्रकार इस गुणस्थान-वर्ती जीवके परिणाम भी सम्यक्त्व और मिथ्यात्वसे मिश्रित रहते है। अनादि मिथ्यादृष्टि चतुर्थ गुणस्थानसे पतित हो तृतीय गुणस्थानमे आता है परन्तु सादि मिथ्यादृष्टि जीव प्रथम गुणस्थानसे भी तृतीय स्थानको प्राप्त करता है। यह गुणस्थान मिथ्यात्वसे ऊँचा है पर मिश्रपरिणामोके कारण यथार्थ प्रतीति नही रहती है।

(४) अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान

अनादिमिथ्यादृष्टि जीवके मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धीचतुष्टय इन पाँच प्रकृतियोंके और सादिमिथ्यादृष्टि जीवके दर्शनमोहनीयकी तीन और अनन्तानुबन्धीचतुष्क इन सात प्रकृतियोके उपशमादि होनेपर तत्त्वश्रद्धान उत्पन्न होता है। पर अप्रत्याख्यानावरणादि कषायोंका उदय रहनेसे सयम-भाव जागृत नही होते, अत यह असयत या अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान कहलाता है।

अविरतसम्यग्दृष्टि जीव श्रद्धानके सद्भावके कारण सयमका आचरण नही करनेपर भी आत्म-अनात्मके विवेकसे सम्पन्न रहता है। भोग भोगते हुए भी उनमे लिप्त नही रहता। वह अपने विचारोपर पूर्ण नियन्त्रण रखता है। आर्त्त जीवोकी पीडा देखकर उसके हृदयमे करुणाका निर्मल स्रोत प्रवाहित होने लगता है। उसका लक्ष्य और बोध शुद्ध हो जाता है और वह सयमके पथपर चलनेके लिए उत्कण्ठित रहता है।

(५) संयतासंयतगुणस्थान

अप्रत्याख्यानावरणकषायका क्षयोपशम होनेपर जिसके एकदेश चारित्र प्रकट हो जाता है उसे सयतासंयत गुणस्थान कहते हैं। त्रसहिंसासे विरत रहनेके कारण यह सयत और स्थावरहिंसासे अविरत रहनेके कारण असयत कहलाता है। अप्रत्याख्यानावरणकषायके क्षयोपशम और प्रत्याख्या-नावरणकषायके उदयमें तारतम्य होनेसे दार्शनिक आदि अवान्तर ग्यारह भेद होते हैं। इस गुणस्थानसे आत्माकी यथार्थ उत्क्रान्ति आरम्भ होती है। चतुर्थ-गुणस्थानमे श्रद्धा और विवेक उपलब्ध होते हैं और इस पञ्चम गुणस्थानसे चारित्रिक विकास आरम्भ होता है।

(६) प्रमत्तसंयतगुणस्थान

आत्माको अपनी हीनतापर विजय पानेका विश्वास हो जाता है तो वह अपनी अपूर्णताओको समाप्तकर महाव्रती बन जाता है और नग्न मुद्राको धारण कर लेता है। प्रत्याख्यानावरणकषायका क्षयोपशम और सज्वलनका तीव्र उदय रहनेपर प्रमाद सहित सयमका होना प्रमत्तसयतगुणस्थान है। हिंसादि पापोका सर्वदेश त्याग करनेपर भी संज्वलनचतुष्कके तीव्र उदयसे चार विकथा, चार कषाय, पाँच इन्द्रिय, निद्रा और स्नेह इन पन्द्रह प्रमादोके कारण आचरण किञ्चित् दूषित बना रहता है।

(७) अप्रमत्तसंयतगुणस्थान

आत्मार्थी साधककी परमपवित्र भावनाके बलपर कभी-कभी ऐसी स्थिति प्राप्त होती है कि अन्त करणमें उठनेवाले विचार नितान्त शुद्ध और उज्ज्वल हो जाते हैं और प्रमाद नष्ट हो जाता है। सज्वलन कषायका तीव्र उदय रहनेसे साधक आत्मचिन्तनमे सावधान रहता है। इस गुणस्थानके दो भेद है :— स्वस्थानाप्रमत्त और सातिशय अप्रमत्त। स्वस्थानाप्रमत्त साधक छठे गुणस्थान से सातवेंमे और सातवेसे छठे गुणस्थानमे चढता उतरता रहता है। पर जब भावोका रूप अत्यन्त शुद्ध हो जाता है तो साधक सातिशय अप्रमत्त होकर अस्खलितगत्तिसे उत्क्रांति करता है। सातिशय अप्रमत्तके अध करण आदि विशुद्ध परिणाम उत्पन्न होते है। जिसमे समसमय अथवा भिन्नसमयवर्ती जीवोके परिणाम सदृश तथा विसदृश दोनो ही प्रकारके होते है वह अध.करण है।

(८) अपूर्वकरणगुणस्थान

करणका अर्थ अध्यवसाय, परिणाम या विचार है। अभूतपूर्व अध्यवसायो या परिणामोका उत्पन्न होना अपूर्वकरण गुणस्थान है। इस गुणस्थानमे चारित्र मोहनीयकर्मका विशिष्ट क्षय या उपशम करनेसे साधकको विशिष्ट भावोत्कर्ष प्राप्त होता है।

(९) अनिवृत्तिकरणगुणस्थान

इस गुणस्थानमे भावोत्कर्षकी निर्मल विचारधारा और तीव्र हो जाती है। फलत. समसमयवर्ती जीवोके परिणाम सदृश और भिन्नसमयवर्ती जीवोंके परिणाम विसदृश हो होते है। इस गुणस्थानमे सज्वलनचतुष्कके उदयकी मन्दताके कारण निर्मल हुई परिणतिसे क्रोध, मान, माया एव वेदका समूल नाश हो जाता है।

(१०) सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान

मोहनीयकर्मका क्षय या उपशम करके आत्मार्थी साधक जब समस्त

कषायको नष्ट कर देता है। सूक्ष्म लोभका उदय ही शेष रह जाता है, तो आत्मा-की इस उत्कर्ष स्थितिका नाम सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान है।

अष्टम गुणस्थानसे श्रेणी आरोहण प्रारम्भ होता है। श्रेणियाँ दो प्रकारकी है:—(१) उपशमश्रेणी और (२) क्षपकश्रेणी। जो चारित्रमोहका उपशम करनेके लिये प्रयत्नशील हैं वे उपशमश्रेणीका आरोहण करते हैं और जो चारित्रमोहका क्षय करनेके लिये प्रयत्नशील है वे क्षपकश्रेणीका। क्षायिक सम्यग्दृष्टि क्षपकश्रेणी और औपशमिक एव क्षायिक दोनो ही सम्यग्दृष्टि क्षपक-श्रेणीपर आरोहण कर सकते हैं।

(११) उपशान्तमोहगुणस्थान

उपशमश्रेणीकी स्थितिमे दशम गुणस्थानमे चारित्रमोहका पूर्ण उपशम करनेसे उपशान्तमोहगुणस्थान होता है। मोह पूर्ण शान्त हो जाता है पर अन्तर्मुहूर्तके पश्चात् मोहोदय आजानेसे नियमत इस गुणस्थानसे पतन होता है।

(१२) क्षीणमोह

मोहकर्मका क्षय सपादित करते हुए दशम गुणस्थानमे अवशिष्ट लोभाशका भी क्षय होनेसे स्फटिकमणिके पात्रमे रखे हुए जलके स्वच्छ रूपके समान परि-णामोको निर्मलता क्षीणमोहगुणस्थान है। समस्त कर्मोमे मोहकी प्रधानता है और यही समस्त कर्मो का आश्रय है, अत. क्षीणमोहगुणस्थानमे मोहके सर्वथा क्षीण हो जानेसे निर्मल आत्मपरिणति हो जाती है।

(१३) सयोगकेवलीगुणस्थान

शुक्लध्यानके द्वितीयपादके प्रभावसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तरायके क्षयसे केवलज्ञान उत्पन्न होता है और आत्मा सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन जाती है। केवलज्ञानके साथ योगप्रवृत्ति रहनेसे यह सयोगकेवली गुणस्थान कहलाता है।

(१४) अयोगकेवली

योगप्रवृत्तिके अवरुद्ध हो जानेसे अयोगकेवलीगुणस्थान होता है। इस गुणस्थानका काल अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पाँच लघु अक्षरोके उच्चारण काल तुल्य है। व्युपरतक्रियानिवर्ति शुक्लध्यानके प्रभावसे सत्तामे स्थित पचासी प्रकृतियोका क्षय भी इसी गुणस्थानमे होता है।

निष्कर्ष—मानवजीवनके उत्थानके हेतु धर्म और आचार अनिवार्य तत्त्व हैं। आचार और विचार परस्परमे सम्बद्ध है। विचारो तथा आदर्शो का व्यव-हारिक रूप आचार है। आचारकी आधारशिला नैतिकता है। वैयक्तिक और

सामाजिक जीवनमें धर्मकी प्रतिष्ठा भी नैतिकताके आधारपर होती है। धर्म और आचार भौतिक और शारीरिक मूल्यों तक ही सीमित नहीं है, अपितु इनका क्षेत्र आध्यात्मिक और मानसिक मूल्य भी है। ये दोनो ही आध्यात्मिक अनुभूति उत्पन्न करते हैं। आचार वही ग्राह्य है, जो धर्ममूलक है तथा आध्यात्मिकताका विकास करता है। दर्शनका सम्बन्ध विचार, तर्क अथवा हेतुवादके साथ है। जबकि धर्मका सम्बन्ध आचार और व्यवहारके साथ है। धर्म श्रद्धापर अवलम्बित है और दर्शन हेतुवादपर। श्रद्धाशील व्यक्ति आचार और धर्मका अनुष्ठान करता हुआ विचारको उत्कृष्ट बनाता है। अतएव आत्मविकासकी दृष्टिसे धर्म और आचारका अध्ययन परमावश्यक है।



एकादश परिच्छेद

समाज-व्यवस्था

लौकिक जीवनकी उन्नति और समृद्धिके लिए समाजका विशिष्ट महत्त्व है। व्यक्ति समाजकी इकाई अवश्य है, पर वह समाज या सघके बिना रह नही सकता है। यत व्यक्तिके जीवनकी अगणित समस्याएँ समाजके द्वारा ही सही रूपमें सुलझती हैं और सामाजिक जीवनमें ही उसकी निष्ठा वृद्धिगत होती है।

जीवनमे जब सामाजिकताका विकास होता है, तो निजी स्वार्थ और व्यक्तिगत हितोका बलिदान करना पडता है। अपने हित, अपने स्वार्थ और अपने सुखसे ऊपर समाजके स्वार्थ एवं सामूहिक हितको प्रधानता दी जाती है। मानव एकदूसरेके हितोको समझकर अपने व्यवहारपर नियन्त्रण रखता है। परस्पर एकदूसरेके कार्योंमे सहयोगी बन, अन्यके दु ख और पीडाओमे यथोचित साहस-धैर्य बँधाकर उनमें भाग लेनेसे सामाजिक जीवनकी प्रथम भूमिकाका निर्वाह किया जाता है। जीवनमें जब अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित हो जाते हैं और व्यक्ति अकेला उनका समाधान नही कर पाता, तो उस स्थितिमे

दूसरा साथी उसके अन्तर्द्वन्द्वोंको सस्नेह सहयोगी बन प्रकाश दिखलाता है और पराभवके क्षणोंमे उसे विजयमार्गकी ओर ले जाता है। अतएव वैयक्तिक जीवनको सुखी, शान्त और समृद्ध बनानेके लिए समाजकी आवश्यकता रहती है। व्यक्ति समाजके सहयोगके बिना एक कदम भी आगे नही बढ सकता है।

समाज : व्युत्पत्ति एवं अर्थविस्तार

समाजशब्द सम् + अज् + घञ्से निष्पन्न है। अज् धातु भ्वादिगणी है और इसका अर्थ गति और क्षेपण है। चुरादिगणी मानने पर 'दीप्ति' अर्थ है। पर यहाँ "समीयतेऽत्रेति" अर्थात् एकत्रीकरण अभिप्रेत है। अमरकोषके अनुसार "पशुभिन्नाना सघ" पशु-पक्षीसे भिन्न मानवोका समुदाय या सघ समाज है। समाजशब्द व्यापक है। एक प्रकारके व्यक्तियोके विश्वास एव स्वीकृतियाँ समाजमे विद्यमान रहती है।

समाज सम्बन्धोका एक निश्चित रूप है। मानवजीवन सृष्टिका सबसे बडा विकसित रूप है। कर्त्तव्यकर्मोका निर्वाह जीवनके विकासका सर्वोत्तम रूप है। समाजका गठन जीवन्त मानवके अनुरूप होता है। समाजके लिए कुछ मान्य नियम या स्वय सिद्धियाँ होती हैं, जिनका पालन उस समुदाय-विशेषके व्यक्तियोको करना पडता है। जिस समुदायमे एक-सा धर्म, सस्कृति, सभ्यता, परम्परा, रीति-रिवाज समान धरातलपर विकसित और वृद्धिगत होते है, वह समुदाय एक समाजका रूप धारण करता है। विश्वबन्धुत्वकी भावना जितनी अधिक बढती जाती हे, समाजका क्षेत्र भी उतना ही अधिक विस्तृत होता जाता है। भावनात्मक एकता ही समाज-विस्तारका घटक है। मनुष्यताका विकास क्षुद्रसे विराट्की ओर होता है। सुख-दु.खकी धारणाओ-को समत्व रूपमे जितना अधिक बढनेका अवसर मिलता है, समाजकी परिधि उतनी ही बढती जाती है। अत: समाजका विकास प्रतिदिन होता जा-रहा है।

व्यक्तिकेन्द्रित चेतना जब समष्टिकी ओर मुड जाती है, कर्त्तव्य और उत्तरदायित्वका संकल्प जागृत हो जाता है, पारस्परिक सुख-दु.खात्मक अनुभूतिकी सवेदनशीलता बढती जाती है, तो सामाजिकताका विकास होता जाता है। चिन्तन, मनन और अनुभवसे यह देखा जाता है कि मनुष्य अपने पिण्डकी क्षुद्र इकाईमे बद्ध रहकर अच्छे जीनेके ढगसे जी नही सकता; अपना पर्याप्त भौतिक और बौद्धिक विकास नही कर सकता। जीवनकी सुख-समृद्धि-का द्वार नही खोल सकता और न अध्यात्मकी श्रेष्ठ भूमिका तक पहुँच सकता है। अकेला रहनेमे मनुष्यका दैहिक विकास भी सम्यक्तया नही हो पाता। अतएव

व्यक्तिको सामाजिक जीवन यापन करनेकी परम आवश्यकता रहती है। समाज एक व्यक्तिके व्यवहार पर निर्भर नही रहता, किन्तु बहुसंख्यक मनुष्यों-के व्यवहारोंके पूर्ण चित्रके आधार पर ही उसका गठन होता है। दूसरे शब्दोंमें यह माना जा सकता है कि समाज मनुष्योंकी सामुदायिक क्रियाओं, सामूहिक हितों, आदर्शों, एवं एक ही प्रकारकी आचारप्रथाओपर अवलम्बित है। अनेक व्यक्ति जब एक ही प्रकारकी जनरीतियों (folk ways) और रूढियों (Mores) के अनुसार अपनी प्रवृत्ति करने लगते हैं, तो विभिन्न प्रकारके सामाजिक संगठन जन्म ग्रहण करते हैं। प्रत्येक सामाजिक सस्था समूहका एक ढाँचा (structure) होता है, जिसमे कर्त्तव्याकर्त्तव्यो, उत्सवो, सस्कारों एवं सामाजिक सम्बन्धोंका समावेश रहता है। साराश यह है कि अधिक समय तक एक ही रूपमें कतिपय मनुष्योके व्यवहार और विश्वासो का प्रचलन सामाजिक संस्थाओं या समूहोंको उत्पन्न करता है।

समाजकी उत्पत्तिके कारण

समाजकी उत्पत्ति व्यक्तिकी सुख-सुविधाओके हेतु होती है। जब व्यक्तिके जीवनकी प्रत्येक दिशामें अशान्तिका भीषण ताण्डव बढ जाता है। भोजन, वस्त्र और आवासकी समस्याएँ विकट हो जाती है। भौतिक आवश्यकताएँ इतनी अधिक बढ जाती है, जिनकी पूर्ति व्यक्ति अकेला रहकर नही कर सकता। उस समय वह सामाजिक संगठन आरम्भ करता है। असन्तोष और अधिकार-लिप्सा वैयक्तिक जीवनकी अशान्तिके प्रमुख कारण हैं। भोग और लोभकी कामना विश्वके समस्त पदार्थोंको जीवनयज्ञके लिए विष बनाती है। तथा प्रभुताकी पिपासा विवेकको तिलाजलि देकर कामनाओंकी और अधिक वृद्धि करती है।

'अहं' भावना व्यक्तिमें इतनी अधिक समाविष्ट है, जिससे वह अन्यके अधिकारोंकी पूर्ण अवहेलना करता है। अहंवादी होनेके कारण उसकी दृष्टि अपने अधिकारो एवं दूसरो के कर्त्तव्यो तक ही सीमित रहती है। फलतः व्यक्तिको अपने अहंकारकी तुष्टिके लिए समाजका आश्रय लेना पड़ता है। यही प्रवृत्ति समाजके घटक परिवारको जन्म देती है।

भोगभूमिके प्रारम्भमें ही युगलरूपमें मनुष्य जन्म ग्रहण करता था। इसी यौगलिक परम्परासे परिवारका विकास हुआ है। मनुष्य अकेला नही है, वह स्वय पुरुष है और एक स्त्री भी उसके साथ है। वे दोनो साथ घूमते है और साथ साथ रहते हैं। उन दोनोका केवल दैहिक सम्बन्ध है, पति-पत्नीके रूपमे पवित्र पारिवारिक सबंधका परिस्फुरण नही है। वे साथी तो अवश्य

हैं पर सुख-दु:खमे भागीदार नही। उन्हे एकदूसरेके हितोंकी चिन्ता नही थी। जब पुरुषको भूख लगती थी, तो वह इधर उधर चला जाता था और तत्कालीन कल्पवृक्षो से अपनी क्षुधाको शान्त कर लेता था। नारीको जब भूख सताती, तो वह भी निकल पडती और पुरुषके ही समान कल्पवृक्षों द्वारा अपनी क्षुधाको शान्त कर लेती। न तो पुरुषको भोजनादिके लिए अर्थ-व्यवस्था ही करनी पड़ती थी और न नारीको पुरुषके लिए भोजनादि ही सम्पन्न करने पडते थे। पिपासा शान्त करनेके लिए भी कूप, सरोवर आदिके प्रवन्धकी आवश्यकता नही थी। उसका भी शमन प्रकृतिप्रदत्त कल्पवृक्षो द्वारा हो जाता था। इस प्रकार लाखों वर्षों तक नर और नारी साथ-साथ रहकर भी पृथक् पृथक् रहे, वे एकदूसरेके सुख-दु:खमे भागीदार नही बन सके और न उनमे पारस्परिक समर्पणकी कल्पना ही आ सकी। वे एक दूसरेकी समस्यामे भी रस नही लेते थे।

जब कर्मभूमिका प्रारम्भ हुआ, तो परिवार-सस्था प्रादुर्भूत हुई। नर नारी परस्पर सहयोगके विना रह नही सकते थे। उनकी शारीरिक आवश्यकताएँ भी प्रकृतिद्वारा सम्पन्न नही होती थी। पुरुषको अर्थार्जनके लिए प्रयास करना पडता और नारीको भोजनादि सामग्रियाँ तैयार करनी पड़ती। अब वे पूर्णतया पति-पत्नी थे, उनमे समर्पणकी भावना थी और वे एक दूसरेके प्रति उत्तरदायी थे। इस प्रकार परिवार-सस्थाको उत्पत्ति हुई। वस्तुत सस्कृति और सामाजिकताका विकास परिवारसे ही होता है।

समाजघटक परिवार

समाजका आधारभूत परिवार है। चतुर्विध सघमे श्रावक और श्राविका सघकी अवस्थिति परिवार पर ही अवलम्बित है। यह कामकी स्वाभाविक वृत्तिको लक्ष्यमे रखकर यौनसम्बन्ध एव सन्तानोत्पत्तिकी क्रियाओको नियन्त्रित करता है। भावनात्मक घनिष्ठताका वातावरण तैयार कर बालकोंके समुचित पोषण और विकासके लिए आवश्यक पृष्ठभूमिका निर्माण करता है। इस-प्रकार व्यक्तिके सामाजीकरण और सास्कृतिकरणकी प्रक्रियामें परिवारका महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। परिवारके निम्नि लिखित कार्य हैं—

१ स्त्री-पुरुष'के यौनसबधको विहित और नियन्त्रित करना।

२. वशवर्धनके हेतु सन्तानकी उत्पत्ति, संरक्षण और पालन करना, मानव-जातिके क्रमको आगे बढ़ाना।

३ गृह और गार्हस्थ्यमे स्त्री-पुरुषका सहवास और नियोजन।

४. जीवनको सहयोग और सहकारिताके आधार पर सुखी एवं समृद्ध बनाना।

५. व्यावसायिक ज्ञान, औद्योगिक कौशलके हस्तान्तरणका नियमन एवं वृद्ध, असहाय और बच्चोकी रक्षाका प्रबन्धसम्पादन।

६ मानसिक विकास, सकेत (Suggestion) अनुकरण (Imitalton) एव सहानुभूति (Sympathy) द्वारा बच्चोके मानसिक विकासका वातावरण वस्तुत करना।

७ भोगेच्छाओको नियन्त्रित करते हुए सयमित और आध्यात्मिक जीवनकी उन्नति करना।

८ जातीय जीवनके सातत्यको दृड रखते हुए धर्मकार्य सम्पन्न करना।

९ प्रेम, सेवा, सहयोग, सहिष्णुता, शिक्षा, अनुशासन आदि मानवके महत्त्वपूर्ण नागरिक एव सामाजिक गुणोका विकास करना।

१०. आर्थिक स्थायित्वके हेतु उचित आयका सम्पादन करना।

११ विकास और दृढताके लिए आमोद-प्रमाद एव मनोरजनसे सम्बद्ध कार्योका प्रबन्ध करना।

१२ मुनि-सस्थाकी सुदृढताके लिए वैयावृत्तिका सम्पादन करना।

१३. पारिवारिक बन्धनोको स्वीकार करना।

१४ पारिवारिक दायित्व-निर्वाहोके साथ आचार और धर्मका यथावत् पालन करना।

१५ अधिकारो और कर्त्तव्योमे सन्तुलन स्थापित करना।

वस्तुत परिवार-गठनका आधार मातृ-स्नेह, पितृ-प्रेम, दाम्पत्य-आसक्ति, अपत्य-प्रीति, अतिथि-सत्कार, सेवा-वैयावृत्ति और सहकारिता है। इन आधारो पर ही परिवारका प्रासाद निर्मित है। यदि ये आधार कमजोर या क्षीण हो जायँ, तो परिवार-सस्थाका विघटन होने लगता है। यो तो परिवारके उद्देश्योमे स्त्री-पुरुषके यौनसम्बन्धकी प्रमुखता है, पर विषयभोगोका सेवन कटु औषधके समान अल्परूपमे ही करना हितकर है। मनोहर विषयोका सेवन करनेसे तृष्णाकी जागृति होती है और यह तृष्णारूपी ज्वाला अहर्निश वृद्धिगत होती जाती है। अतएव विषयभोगोका सेवन बहुत ही सीमित और नियन्त्रित रूपमे करना चाहिए। जिस प्रकार अधिक मिठाई खानेसे स्वस्थ रहनेकी अपेक्षा मनुष्य बीमार पड जाता हे। उसी प्रकार जो अधिक कामभोगोका सेवन करता है, वह भी मानसिक और शारीरिक रोगोसे आक्रान्त हो जाता है। वासनाकी शान्तिके लिए सीमित रूपमे ही विषयोका सेवन परिवारके लिए हितकर होता

है। ज्ञान, शान्ति, सुख और सन्तोषके हेतु संयमका पालन परिवारमें भी आवश्यक है। वही परिवार सुखी रह सकता है, जिस परिवारके सदस्योने अपनी आशाओ और तृष्णाओको नियंत्रित कर लिया है। ये आशाएँ विषयसामग्रीके द्वारा कभी शान्त नही होती हैं। जिस प्रकार जलती हुई अग्निमे जितना अधिक ईंधन डालते जाये, अग्नि उत्तरोत्तर बढती ही जायगी। यही स्थिति विषय-भोगोकी अभिलाषाकी है।

समस्याएँ परिस्थिति, काल एव वातावरणके अनुसार उत्पन्न होती है और इन समस्याओके समाधान या निराकरण भी प्राप्त किये जा सकते है, पर इच्छाओकी उत्पत्ति तो अमर्यादित रूपमे होती है। फलत उन इच्छाओको भोग द्वारा तो कभी भी पूर्ण नही किया जा सकता है, पर सयम या नियत्रण द्वारा उन्हे सीमित किया जा सकता है। परिवारके कर्त्तव्य दया, दान और दमन—इन्द्रियसयमकी त्रिवेणी रूपमे स्वीकृत हैं। यही सस्कृतिका स्थूल रूप है। प्रत्येक प्राणीके प्रति दया करना, शक्ति अनुसार दान देना एव यथासामर्थ्य नियत्रित भोगोका भोग करना परिवारकी आदर्श मर्यादामे सम्मिलित है। क्रूरतासे मनुष्य सुख नही प्राप्त कर सकता और न सग्रहवृत्तिके द्वारा उसे शान्ति ही मिल सकती है। भोगमे मनुष्यको चैन नही। अत' दमन या सयमकी आवश्यकता है। परिवारको सुख-शान्तिके लिए भोग और त्याग दोनोकी आवश्यकता है। शरीरके लिए भोग अपेक्षित है तो आत्मकल्याणके लिए त्याग। भोग और योगका सतुलन ही स्वस्थ परिवारका धरातल है। परिवारको सुखी करनेके लिए दया, ममता, दान और सयम परम आवश्यक है। परिवारको सुगठित करनेवाले सात गुण है '—१ प्रेम, २. पारस्परिक विश्वास, ३ सेवा-भावना, ४. श्रम, ५ कर्त्तव्यनिष्ठा, ७ सहिष्णुता, ७ और अनुशासनप्रवृत्ति।

प्रेम

प्रेम समाजका मानवीय तत्त्व है। इसके द्वारा जीवन-मन्दिरका निर्माण होता है। प्रेमके द्वारा हम आध्यात्मिक वास्तविकताका सृजन करते हैं और व्यक्तियोके रूपमे अपनी भवितव्यताका विकास करते है। शारीरिक आनन्दके साथ मनकी प्रसन्नता और आत्मिक आनन्दका सृजन भी प्रेमसे ही होता है। प्रेम आत्माकी पुकार हे। प्रेममे आत्मसमर्पणका भाव रहता है और वह प्रति-दानमे कुछ नही चाहता। इसमे किसी भी प्रकारका दुराव या प्रतिबन्ध नही रहता। यह भारी कामको हल्का कर देता है। प्रेमवश व्यक्ति बडे-बडे बोझको बिना भारका अनुभव किये ढोता है और श्रम या थकावटका अनुभव नही करता है।

प्रेम आत्माकी गहराइयोंमे विद्यमान रहता है। यह ऐसा रत्न-दीपक है जो परिस्थितियोके झंझावातोसे बुझता नही और न स्वार्थपूर्ण प्रवृत्तियोके प्रभाव ही इसपर पडते है। यह ऐसी शक्ति है जो पृथ्वीको स्वर्ग बनाती है। शरीरके साथ मन और आत्माको सबल करती है। प्रेम पवित्रतम सम्बन्ध है और है जीवनकी अमूल्य निधि।

परिवारके समस्त गुणोका विकास प्रेमके द्वारा ही होता है। समस्त सदस्यो-को एकताके सूत्रमे यही आवद्ध करता है। सच्चा प्रेम आत्मा और शरीरका मिलन है। पत्नी निस्वार्थभावसे पतिको प्रेम करती है और पति पत्नीको। प्रेममे कुछ पानेकी भावना नही रहती। यही एक ऐसा गुण है, जो सहस्र प्रकारके कष्टो-को सहन करनेके लिए व्यक्तिको प्रेरित करता है। दो व्यक्तियोके बीचके ऐकान्तिक सम्बन्धको प्रेम स्थायित्व प्रदान करता है। अत विवाहका उद्देश्य प्रेमके द्वारा स्थायित्व और पूर्णताको प्राप्त होता है। विवाहित जीवनका लक्ष्य प्राकृतिक वासनाको पूर्ण करना ही नही है, अपितु आत्माके लिए त्यागका मार्ग प्रस्तुत करना है। प्रेमकी भावनाके कारण मनुष्यका उत्सुक चित्त नये उत्साहके साथ अनुभवोको ग्रहण करता है। सभी इन्द्रिया तीव्रतर आनन्दसे पुलकित हो जाती हैं। मानो किसी अदृश्य आत्माने ससारके सब रगोको नया कर दिया हो और प्रत्येक जीवित वस्तुमे नवजीवन भर दिया हो।

प्रेम ही पशु और मनुष्यके भेदको स्थापित करता है। यही जीवनमे चारुता, सुन्दरता और लालित्यको उत्पन्न करता है। एक मानवका दूसरे मानवके प्रति प्रेमसे वढकर आनन्दका अन्य कोई सुनिश्चित और सच्चा साधन नही है। प्रेम ही टूटने हुए हृदयोको जोडता है और उत्पन्न हुए तनावोको कम करता है। मानवीय गुणोका विकास प्रेम द्वारा ही होता है। अतएव परिवारको आदर्श, प्रतिष्ठित और समाजोपयोगी बनानेके लिए निस्वार्थ प्रेमकी आवश्यकता है। यह जिस प्रकार एक परिवारके सदस्योमे एकता उत्पन्न करता है उसी प्रकार समाजके घटक विभिन्न परिवारोमे भी एकत्वकी स्थापना करता है। परिवारके सदस्य साथ-साथ रहते है, भोजन-पान करते हैं, मनोरञ्जन करते हैं और अपने-अपने कार्योका सुचारु रूपसे सचालन करते है, इन समस्त कार्यो के मूलमे प्रेम ही बन्धनसूत्र है।

पारस्परिक विश्वास

परिवारके प्रति ममता, स्नेह, भक्ति और दायित्वका विकास पारस्परिक विश्वास द्वारा ही होता है। यदि परिवारके सभी सदस्य परस्परमे आशकित और भयभीत रहे, तो योग-क्षेमका निर्बाह सभव नही। कर्त्तव्यकी प्रेरणाका

जागरण भी आत्मविश्वाससे होता है । आत्मस्वार्थसे किया गया कार्य अभ्युदयका साधक नही हो सकता ।

वस्तुत: पति-पत्नी, पिता-पुत्रका निकटतम सूत्र विश्वासके धागोसे जुडा हुआ है। जब परिवारके बीच सशय उत्पन्न हो जाता है, मनमे अविश्वास जग जाता है तो वे एक दूसरेकी जानके ग्राहक बन जाते हैं। यदि साथमे रहते भी है, तो शत्रुतुल्य। घर, परिवार, समाज राष्ट्रका हराभरा उपवन अविश्वासके कारण धूलिसात् हो जाता है। अविश्वासका वातावरण पारिवारिक जीवनको दिशाहीन और गतिहीन बना देता है। जीवन अस्त-व्यस्त-सा हो जाता है ।

जब तक परिवार और समाजमे अविश्वास या सशयका भाव बना रहेगा, तब तक इनकी प्रगति नही हो सकती है। जीवन, भविष्य, परिवार एव समाजके यथार्थ विकास पारस्परिक विश्वास द्वारा ही सभव हैं। मानव-जीवन कीट-पतगके समान अविश्वासकी भूमिपर रेंगनेके लिए नही है। अत. आस्थाके अनन्त गगनमे विचरण करनेका प्रयास करना चाहिए।

परिवारकी पतवारका आधार समस्त सदस्योका पारस्परिक विश्वास ही है। उदारताके अभावमे सकीर्णता जन्म लेती है और इसीसे अविश्वास उत्पन्न होता है। परिवारकी आर्थिक सुदृढता, धार्मिक क्रियाकलाप और सामाजिक चेतना आस्था एव विश्वाससे ही सम्बद्ध हैं। जीवनकी उपामे मनोविनोदके रग, उत्सवोके विलास और लालित्यकी कलियाँ विश्वासके बलपर खिलती है।

विश्वासकी भावना दो भागोमे विभाजित है—(१) आत्मस्थ और (२) परस्थ। आत्मस्थ भावनामे आत्माभिव्यक्तिका प्रबल वेग है। वह भावना अभिलाषाओ और इच्छाओमे उमडकर गन्तव्य दिशामे अपने आदर्शकी पूर्ति कर लेती है। भावनाका यह प्रवाह उदारता उत्पन्न करता है तथा आस्थावश स्वकथन या स्वव्यवहारको सबल बनाता हैं। परस्थ भावना अधिक सामाजिक है, यह विश्वासकी दैवी सम्पत्ति है और कार्यकारणकी श्रृखलासे निबद्ध रहती है। परिवार या समाजकी नीव परस्थ विश्वासभावनापर ही अवलम्बित है। समाज और परिवारकी विविध परिस्थितियोमें पारस्परिक विश्वास चिन्तन और व्यवहारको परिष्कृत करता है, जिसके फलस्वरूप समाज एव परिवारमे कल्याणका सृजन होता हैं।

सेवा-भावना

सेवाशब्द √सेव – सेवने + टाप्से निष्पन्न है। दु खी, रोगी, वृद्ध, अशक्त एव गुणियोको सान्त्वना देना, शरीर, वचन और मनसे परिचर्या करना तथा उनके प्रति आदरभाव रखना सेवा है। सेवाभावसे ही व्यक्तिका व्यावहारिक

जीवन श्रेष्ठ हो सकता है तथा परिवार और समाजमे वात्सल्यको स्थायित्व प्राप्त हो सकता है। एकता और शान्तिका विकास भी सेवाभावनाद्वारा किया जा सकता है। यह प्राय देखा जाता है कि गुणग्राही होना ससारमे कठिन है। गुणग्राहिता ही सेवाभावनाको उत्पन्न करती है। देखा जाता है कि गुणीजन एक-दूसरेसे आपसमे ही द्वेप करते है, फलस्वरूप कपायभाव उत्पन्न होते है।

दीन-दु खियोकी सेवा करना, किसीसे घृणा न करना, परस्पर उपकारकी भावना रखना ही मानवता है और इसीसे परिवार एव समाजकी स्थिति सुदृढ होती है। अहिसक भावना ही सेवाभाव है, इसे किसी पाठशालामे सीखा नही जाता है, यह तो प्रत्येक आत्मामे वर्त्तमान है।

समस्त सफलताओके मूलमे सेवा ही कार्यकारी है। इसके स्पर्शसे निर्जीव कोयला अग्निका रूप धारण करता है और अवरुद्ध जल वेगवान निर्झर वन जाता है। साधारण-से-साधारण प्रतिभा सेवाभावनाके वलसे सक्रियता प्राप्त कर लेती है। सेवावृत्ति कदाचित् किसी मन्द व्यक्तिको भी प्राप्त हो जाय, तो उसकी भी सुषुप्त शक्ति जागृत हो उठती है और वह अग्निपुंज वन जाता है। सेवाकी उपलब्धि एक सद्गुणके रूपमे होती है।

सेवा या वैयावृत्ति सफलताका आधारभूत उपादान है, यह कर्मके सभी रूपोमे मौलिकतत्त्व है। सेवा और सहयोगके विना परिवार और समाजकी कल्पना ही सभव नही है।

"व्यापृते यत्क्रियते तद्वैयावृत्त्यम्"—रोगादिसे व्याकुल साधुके विषयमे जो कुछ किया जाता है, वह वैयावृत्य है। यह तप है, यत सेवा या वैयावृत्ति साधारण वात नही है। इसके लिए अहकारका त्याग, नि स्वार्थ प्रेम, दया और करुणा वृत्तिका सद्भाव आवश्यक है। सोने-वैठनेके लिए स्थान देना, उपकरण शोधन करना, निर्दोष आहार-औषध देना, व्याख्यान करना, अशक्त मुनि, सामाजिक या पारिवारिक सदस्यका मल-मूत्र उठाना, उसकी रोगीकी स्थितिमे सेवा करना, हाथ-पैर-सिर दवाना एवं विपत्तिमे पडे हुओका उद्धार करना आदि वैयावृत्ति—सेवामे परिगणित है।

सेवा या वैयावृत्तिके समय परिणामोको कलुषित न होने देना, स्वार्थभाव या प्रत्युपकारबुद्धिका त्याग करना, परिणामोमे कोमलता और आर्द्रता रखना तथा सेवा करते हुए प्रसन्नताका अनुभव करना आवश्यक है। निःस्वार्थभाव-से की गयी सेवा आत्मशुद्धिका कारण बनती है। यह वासनाओंके क्लेशसे

छुटकारा दिलाती है। अन्त' शोधनके लिए भी यह आवश्यक है। परिवार और समाजका कार्य सेवाभावके अभावमे नही चल सकता है। लूटमार, धोखाधडी, बेईमानी, घूसखोरी, छीना-झपटी सेवाभावके अभावमे स्वार्थवृत्तिसे उत्पन्न होती है।

सेवा करनेसे व्यक्ति नीच या छोटा नही बनता, उसकी आत्मशक्ति प्रबल हो जाती है और वह अपनी असफलताओ, बुराइयो एवं कमजोरियो पर विजय प्राप्त करता है। सेवनीयसे सेवककी भावभूमि उन्नत मानी जाती है। जीवनके प्रत्येक विभागमे सेवाभावकी आवश्यकता है। सेवा या सहयोगसे जीवनमे सामर्थ्य, क्षमता और प्रगतिका सद्भाव आता है। यह सबसे मूल्यवान् वस्तु है। इसके द्वारा व्यक्ति जागरूक, कर्मरत एव अहिंसक बनता है। परिवारके मध्य सम्पन्न होनेवाले अगणित कार्य इसीके द्वारा सम्पन्न होते हैं।

कर्त्तव्यनिष्ठा

परिवार और समाजका विकास कर्त्तव्यनिष्ठा द्वारा होता है। जीवनका एक क्षण या एक पल भी कर्त्तव्यरहित नही होना चाहिए। जागरण और शयनमे भी कर्त्तव्यनिष्ठाका भाव समाहित रहता है। यहाँ अप्रमाद या सावधानी हो कर्त्तव्यनिष्ठा है। मानव जबसे जीवनयात्रा आरम्भ करता है, तभीसे उसमे कर्त्तव्यभावना समाहित हो जाती है।

कर्त्तव्य प्राप्तकार्यों को श्रद्धा और सतर्कतापूर्वक करनेकी क्रिया है। यह ऐसी शक्ति है, जो प्रत्येक कार्यमे हमारे साथ है, इसे सहव्यापिनी कहा जा सकता है। करणीय कार्यको ईमानदारी, भक्ति, निष्ठा, औचित्य और नियमित रूपमे पूर्ण करना कर्त्तव्यनिष्ठा है। जिनका जीवनक्रम व्यवस्थित होता है, वे ही अपने कर्त्तव्यको निष्ठाके साथ सम्पादित करते हैं। कर्त्तव्यनिष्ठा मानवका अनिवार्य गुण हे।

वस्तुत मानवता और कर्त्तव्यपरायणता एक दूसरेके पूरक है। मानवमे बुद्धितत्त्वकी प्रधानता है और वह उसका प्रयोग करके यह समझानेकी शक्ति रखता है कि उसे कर्त्तव्य करना है, यह भाव अन्य प्राणियोमे नही पाया जाता। अत, जीवनमे सफलता प्राप्त करनेका साधन कर्त्तव्यनिष्ठा है। यह एक ऐसा गुण है जिसकी सम्पूर्ति ही वास्तविक आनन्द और सफलता है। कर्त्तव्यनिष्ठा के बाधकतत्त्व निम्नलिखित है—

१. कार्यके प्रति रुचिका अभाव।
२. स्वार्थवृत्ति—स्वार्थवश मनुष्य कर्त्तव्यका निर्वाह नही कर पाता।
३ प्रमाद या शिथिलता।

४ जीवनके प्रति निराशा।

५ श्रमके प्रति अनास्था।

व्यवस्था और अनुशासनके योगका नाम कर्त्तव्यनिष्ठा है। व्यवस्थाकी सहायतासे कार्यमें क्षमता प्राप्त होती है और किसी प्रकारका वितण्डावाद उत्पन्न नहीं होता। जिनके जीवनमें अनुशासनहीनता और अराजकता है, वे लापरवाह और अपने विचारोंमें अव्यवस्थित होते हैं।

कर्त्तव्यनिष्ठाको जागृत करनेवाले चार तत्त्व हैं—

१ तत्परता—जागरूकता और व्यवस्थाप्रियता।

२. शुद्धता—उच्चस्तरीय नैतिक नियमोंके प्रति आस्था—अहिंसाके आधार पर मूल्योंकी परख।

३. उपयोगिता—छोटे-बड़े सभी कार्योंको समान महत्त्व देकर उनकी उपयोगिताकी अवधारणा।

४ विशदता—संगठन और प्रशासनकी योग्यता, दूसरे शब्दोंमें विचारों और कार्यव्यापारमें व्यवस्थापन और सावधानी। विश्लेषण और संश्लेषणका एकीभूत सामर्थ्य।

वस्तुत मूल्यों या आदर्शोंका निर्धारण ही मनुष्यका कर्त्तव्य है। अतएव ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और भावात्मक त्रिविध व्यवहारकी अभिव्यक्ति कर्त्तव्य-सीमा है। कर्त्तव्य विधि-निषेधात्मक उभय प्रकारके होते हैं। शुभ प्रवृत्तियों-का सम्पादन विध्यात्मक और अशुभ प्रवृत्तियोंका त्याग निषेधात्मक कर्त्तव्य हैं।

कर्त्तव्यके स्वरूपका निर्धारण अहिंसात्मक व्यवहार द्वारा संभव है। माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन और पति-पत्नी आदिके पारस्परिक कर्त्तव्योंका अवधारण भावनात्मक विकासकी प्रक्रिया द्वारा होता है और यह अहिंसाका ही सामाजिक रूप है। मानव हृदयकी आन्तरिक संवेदनाकी व्यापक प्रगति ही तो अहिंसा है और यही परिवार, समाज और राष्ट्रके उद्भव एवं विकासका मूल है। यह सत्य है कि उक्त प्रक्रियामें रागात्मक भावनाका भी एक बहुत बड़ा अंश है, पर यह अंश सामाजिक गतिविधिमें बाधक नहीं होता।

अहिंसा मानवको हिंसासे मुक्त करती है। वैर, वैमनस्य-द्वेष, कलह, घृणा, ईर्ष्या, दुःसंकल्प, दुर्वचन, क्रोध, अहंकार, दंभ, लोभ, शोषण, दमन आदि जितनी भी व्यक्ति और समाजकी ध्वंसात्मक प्रवृत्तियाँ हैं, विकृतियाँ हैं, वे सब हिंसाके रूप हैं। मानव-मन हिंसाके विविध प्रहारोंसे निरन्तर घायल होता रहता है। अत क्रोधको क्रोधसे नहीं, क्षमासे, अहंकारको अहंकारसे नहीं, विनय—नम्रतासे, दम्भको दम्भसे, नहीं, सरलता और निश्छलतासे, लोभको

लोभसे नही, सन्तोष और उदारतासे जीतना चाहिए। वैर, घृणा, दमन, उत्पीडन, अहकार आदि सभीका प्रभाव कर्त्तापर पडता है। जिस प्रकार कुएँमे की गयी ध्वनि प्रतिध्वनिके रूपमे वापस लौटती है, उसी प्रकार हिंसात्मक क्रियाओका प्रतिक्रियात्मक प्रभाव कर्त्तापर ही पडता है।

अहिंसाद्वारा हृदयपरिवर्त्तन सम्भव होता है। यह मारनेका सिद्धान्त नही, सुधारनेका है। यह ससारका नही, उद्धार एव निर्माणका सिद्धान्त है। यह ऐसे प्रयत्नोका पक्षधर है, जिनके द्वारा मानवके अन्तस्मे मनोवैज्ञानिक परिवर्त्तन किया जा सकता है और अपराधकी भावनाओको मिटाया जा सकता है। अपराध एक मानसिक बीमारी है, इसका उपचार प्रेम, स्नेह, सद्भावके माध्यमसे किया जा सकता है।

घृणा या द्वेप पापसे होना चाहिए, पापोसे नही। बुरे व्यक्ति और बुराईके बीच अन्तर स्थापित करना ही कर्त्तव्य है। बुराई सदा बुराई है, वह कभी भलाई नही हो सकती; परन्तु बुरा आदमी यथाप्रसग भला हो सकता है। मूलमे कोई आत्मा बुरी है ही नही। असत्यके बीचमे सत्य, अन्धकारके बीचमे प्रकाश और विषके भीतर अमृत छिपा रहता हैं। अच्छे बुरे सभी व्यक्तियोमे आत्मज्योति जल रही है। अपराधी व्यक्तिमे भी वह ज्योति है किन्तु उसके गुणोका तिरोभाव है। व्यक्तिका प्रयास ऐसा होना चाहिए, जिससे तिरोहित गुण आविर्भूत हो जाये।

इस सन्दर्भमे कर्त्तव्यपालनका अर्थ मन, वचन और कायसे किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना, न किसी हिंसाका समर्थन करना और न किसी दूसरे व्यक्तिके द्वारा किसी प्रकारकी हिंसा करवाना है। यदि मानवमात्र इस कर्त्तव्यको निभानेकी चेष्टा करे, तो अनेक दु खोका अन्त हो सकता है और मानवमात्र सुख एव शान्तिका जीवन व्यतीत कर सकता है। जबतक परिवार या समाजमे स्वार्थोका सघर्ष होता रहेगा, तबतक जीवनके प्रति सम्मानकी भावना उदित नही हो सकेगी। यह अहिंसात्मक कर्त्तव्य देखनेमे सरल और स्पष्ट प्रतीत होता है, किन्तु व्यक्ति यदि इसी कर्त्तव्यका आत्मनिष्ठ होकर पालन करे, तो उसमे नैतिकताके सभी गुण स्वत उपस्थित हो जायँगे।

मूलरूपमे कर्त्तव्योको निम्नलिखित रूपमे विभक्त किया जा सकता है—

१ स्वतन्त्रताका सम्मान।

२ चरित्रके प्रति सम्मान।

३. सम्पत्तिका सम्मान।

४ परिवारके प्रति सम्मान।

५. समाजके प्रति सम्मान।

चरित्रके प्रति सम्मान

प्रत्येक परिवारके सदस्यको अन्य सदस्यके चरित्रका सम्मान करना चरित्रके प्रति सम्मान है। जीवनसम्बन्धी कर्त्तव्य हिंसाका निषेधक है, तो स्वतन्त्रता सम्बन्धी कर्त्तव्य अन्य व्यक्तियोंकी स्वतन्त्रताका दमन न करनेका संकेत करता है। यह कर्त्तव्य अन्य व्यक्तियोंको क्षति पहुँचानेका निषेध तो करता ही है, साथ ही इस बातकी विधि भी करता है कि हमें दूसरोंके व्यक्तित्वके विकासको प्रोत्साहित करना है। यह विधेयात्मक कर्त्तव्य अन्य व्यक्तियोंके चारित्रिक विकासके लिए अनुप्राणित करता है। जो व्यक्ति परिवार और समाजके समस्त सदस्योंको चारित्र-विकासका अवसर देता है, वह परिवारकी उन्नति करता है और सभी प्रकारसे जीवनको सुखी-समृद्ध बनाता है।

सम्पत्तिका सम्मान

सम्पत्तिके सम्मानका अर्थ व्यक्तियोंके सम्पत्तिसम्बन्धी अधिकारको स्वीकृत करना। यह कर्त्तव्य भी एक निषेधात्मक कर्त्तव्य है, क्योंकि यह अन्य व्यक्तियो

के सम्पत्तिसम्बन्धी अपहरणका निषेध करता है। यह 'अस्तेय' के नामसे अभिहित किया जा सकता है। आध्यात्मिक व्यक्तित्वके विकासके लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति शुद्ध अहिंसात्मक जीवन व्यतीत करे। इस कर्त्तव्यका आधार सत्य और अहिंसा है। यदि अहिंसाका अर्थ किसी भी व्यक्तिको मन, वचन और कर्मसे मानसिक और शारीरिक क्षति पहुँचाना है, तो यह स्पष्ट है कि दूसरेकी सम्पत्तिका अपहरण न करना अहिंसाका अंग है। किसीकी सम्पत्तिका अपहरण करनेका अर्थ निस्सन्देह उस व्यक्तिका मानसिक और शारीरिक क्षति पहुँचाना है और उसके व्यक्तित्व-विकासको अवरुद्ध करना है। यह कर्त्तव्य हमें इस बातके लिए प्रेरित करता है कि हम भोगोपभोगकी वस्तुओंका अमर्यादित रूपसे सेवन न करें। अपव्ययको भी यह कर्त्तव्य रोकता है। परिवारके लिए मितव्ययता अत्यावश्यक है। मितव्ययता समस्त वस्तुओंको मध्यम मार्गके रूपमें ग्रहण करनेमें है। सम्पत्तिका अपव्यय या अनुचित अवरोध ये दोनों ही कर्त्तव्यके बाहर हैं, जब भौतिक वस्तुओं या मानसिक शक्तिका अपव्यय किया जाता है, तो कुछ दिनोंमें व्यक्ति शक्तिहीन हो जाता है, जिससे व्यक्ति, परिवार और समाज ये तीनों विनाशको प्राप्त होते हैं। जो सम्पत्तिसम्मानका आचरण करता है, वह निम्नलिखित वस्तुओंमें मध्यम मार्ग या मितव्ययताका प्रयोग करता है—

१ सम्पत्ति।
२ आहार-विहार।
३. वस्त्र और उपस्कर।
४ मनोरञ्जनके साधन।
५ विलास और आरामकी वस्तुएँ।
६ समय।
७. शक्ति।

अर्थका प्रतीक सिक्का परिवर्तनका मानदण्ड है और उससे हमारी क्रय शक्तिका बोध होता है। जो व्यक्ति सम्पत्ति प्राप्त करना चाहता है और ऋणसे बचना चाहता है, वह व्ययको आयके अनुरूप बनाकर अभिवृद्धि प्राप्त कर सकता है। विलास और आरामकी वस्तुओंके क्रय करनेमें अपव्यय होता है।

इस अपव्ययका रोकना परिवारके हितके लिए अत्यावश्यक है। अपव्यय ऐसा मानसिक रोग है जिसके कारण अनुचित लाभ और स्तेयसम्बन्धी क्रिया-प्रतिक्रियाएँ सम्पादित करनी पड़ती है। वह अनुचित रीतिसे किसीकी

सम्पत्ति, क्षेत्र, भवन आदिपर अपना अधिकार करता है। चोरीके अन्तरंग कारणोंपर विचार करनेसे ज्ञात होता है कि जब द्रव्यकी लोलुपता बढ़ जाती है, तो तृष्णा वृद्धिगत होती है, जिससे व्यक्ति येन केन प्रकारेण धनसंचय करनेकी ओर झुकता है। यहाँ विवेक और ईमानदारीके न रहनेसे व्यक्ति अपनी प्रामाणिकता खो बैठता है, जिससे उसे अनैतिकरूपमें धनार्जन करना पड़ता है।

अपव्यय चोरी करना भी सिखलाता है। एक बार हाथके खुल जाने पर फिर अपनेको मर्यादित रखना कठिन हो जाता है। अपव्ययीके पास धन स्थिर नहीं रहता और वह निर्धन होकर चौर्यकर्मकी ओर प्रवृत्त होता है। कुछ व्यक्ति मान-प्रतिष्ठाके हेतु धनव्यय करते हैं और अपनेको बड़ा दिखलानेके प्रयासमें व्यर्थ खर्च करते हैं, परिणामस्वरूप उन्हें अनीति और शोषणको अपनाना पड़ता है। अतएव सम्पत्तिके सम्मान-कर्त्तव्यका आचरण करते हुए चिन्ता, उद्विग्नता निराशा, क्रोध, लोभ, माया आदिसे बचनेका भी प्रयास करना चाहिए।

परिवारके प्रति सम्मान

परिवारके प्रति सम्मानका अर्थ है पारिवारिक समस्याओंके सुलझानेके लिए विवाह आदि कार्योंका सम्पन्न करना। सन्यास या निवृत्तिमार्ग वैयक्तिक जीवनोत्थानके लिए आवश्यक है, पर संसारके बीच निवास करते हुए पारिवारिक दायित्वोंका निर्वाह करना और समाज एवं संघकी उन्नतिके हेतु प्रयत्नशील रहना भी आवश्यक है। वास्तवमें श्रावक-जीवनका लक्ष्य दान देना, देवपूजा करना और मुनिधर्मके संरक्षणमें सहयोग देना है। साधु-मुनियोंको दान देनेकी क्रिया श्रावक-जीवनके बिना सम्पन्न नहीं हो सकती। नारीके बिना पुरुष और पुरुषके बिना अकेली नारी दानादि क्रिया सम्पादित करनेमें असमर्थ है। अत चतुर्विध संघके संरक्षण एव कुलपरम्पराके निर्वाहकी दृष्टिसे पारिवारिक कर्त्तव्योंका निर्वाह अत्यावश्यक है। सातावेदनीय और चारित्रमोहनीयके उदयसे विवहन—कन्यावरण विवाह कहलाता है। यह जीवनमें धर्म, अर्थ, काम आदि पुरुषार्थोंका नियमन करता है। अतएव पारिवारिक कर्त्तव्यों तथा संस्कारोंके प्रति जागरूकता अपेक्षित है।

संस्कारशब्द धार्मिक क्रियाओंके लिए प्रयुक्त है। इसका अभिप्राय बाह्य धार्मिक क्रियाओं, व्यर्थ आडम्बर, कोरा कर्मकाण्ड, राज्य द्वारा निर्दिष्ट नियम एवं औपचारिक व्यवहारोंसे नहीं है; बल्कि आत्मिक और आन्तरिक सौन्दर्यसे

है। सस्कारशब्द व्यक्तिके दैहिक, मानसिक और बौद्धिक परिष्कारके लिए किये जानेवाले अनुष्ठानोसे सम्बद्ध है। सस्कार तीन वर्गोमे विभक्त हैं—

१. गर्भान्वय क्रियाएँ।
२. दीक्षान्वय क्रियाएँ।
३. क्रियान्वय क्रियाएँ।

इन क्रियाओ द्वारा पारिवारिक कर्त्तव्योका सम्पादन किया जाता हैं।

समाजके प्रति सम्मान

सामाजिक व्यवस्थाको सुचारुरूपसे सचालित करनेके लिए समाज और व्यक्ति दोनोके अस्तित्वकी आवश्यकता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसके सभी अधिकार उसे समाजका सदस्य होनेके कारण ही प्राप्त हैं। अत वह समाज, जो कि उसके अधिकारोका जनक और रक्षक है, व्यक्तिसे आशा रखता है कि वह सामाजिक सस्थाके सरक्षणको अपना प्रधान कर्त्तव्य समझे। समाजके प्रति आदर एव सम्मानकी भावना वह भावना है जो व्यक्तिको परम्परागत प्रथाओको भङ्ग करनेसे रोकती है। चाहे वे परम्पराएँ समाजकी इकाई कुटुम्बसे सम्बन्ध रखती हो, चाहे वे सम्प्रदायसे सम्बन्ध रखती हो अथवा राज्य या राष्ट्रसे। समाजमे प्रचलित अन्धविश्वासो और रूढिवादी परम्पराओका निर्वाह कर्त्तव्यके अन्तर्गत नही है। कर्त्तव्य वह विवेकबुद्धि है जो समाजकी बुराइयोको दूर कर उसके विकासके प्रति श्रद्धा या निष्ठा उत्पन्न करे। इसमे सन्देह नही कि व्यक्तिका समाजके प्रति बहुत बडा दायित्व है। उसे समाजको सुगठित, नैतिक और आचारनिष्ठ बनाना है।

सत्यके प्रति सम्मान

सत्यके प्रति सम्मान या सत्यनिष्ठा व्यक्ति और समाजके विकासके लिए आवश्यक है। सत्य और अहिंसाको साथ-साथ लिया जाता है और इनके आचरणसे सामाजिक कल्याण माना जाता है। सत्यके प्रति सम्मान या कर्त्तव्यकी भावना क्रियाशीलताके लिए प्रेरित करती है और सत्यपरायण जीवन व्यतीत करनेका आदेश देती है। इस आदेशका अर्थ यह है कि हमे अपने वचनोके अनुसार ही व्यवहार करना है। जो व्यक्ति अपने जीवनको सत्यके आधार पर चलाता है, उसे व्यावहारिक कठिनाइयोका सामना अवश्य करना पडता है, पर सत्यपरायण व्यक्तिको जीवनमे सफलता प्राप्त होती है। यदि व्यक्ति अपना कर्त्तव्य कर्त्तव्यभावसे सम्पादित करता है, तो उसका यह

कर्त्तव्य-सम्पादन विधायक तत्त्व माना जाता है। सत्यके आधार पर सम्पादित आचार-व्यवहार व्यक्ति और समाज दोनोंके लिए हितकर होते हैं।

मनुष्य जब लोभ-लालचमें फँस जाता है, वासनाके विषसे मूच्छित हो जाता है और अपने जीवनके महत्त्वको भूल जाता है, उस जीवनकी पवित्रता-का स्मरण नही रहता, तब उसका विवेक समाप्त हो जाता है और वह यह सोच नही पाता कि उसका जन्म ससारसे कुछ लेनेके लिए नही हुआ है बल्कि कुछ देनेके लिए हुआ है। जो कुछ प्राप्त हुआ है, वह अधिकार है और जो समाजके प्रति अर्पित किया जाता है वह कर्त्तव्य है। मनुष्यकी इस प्रकारकी मनोवृत्ति ही उसके मनको विशाल एव विराट् बनाती है। जिसके मनमे ऐसी उदारभावना रहती है वही अपने कर्त्तव्य-सम्पादन द्वारा परिवार और समाज-को सुखी, समृद्ध बनाता है। अहकार, क्रोध, लोभ और मायाका विष सत्याचरण द्वारा दूर होता है। जिसका जीवन सत्याचरणमे घुलमिल गया है, वही निश्छल और सच्चे व्यवहारद्वारा क्षुद्रताओको दूर करता है।

सहजभावसे अपने कर्त्तव्यको निभानेवाला व्यक्ति केवल अपने आपको देखता है। उसकी दृष्टि दूसरोंकी ओर नही जाती। वह अपनी निन्दा और स्तुतिकी परवाह नहीं करता, पर भद्रता, सरलता और एकरूपताको छोडता भी नही। वास्तवमे यदि मनुष्य अपने व्यवहारको उदार और परिष्कृत बना ले, तो उसे सघर्ष और तनावोंसे टकराना न पडे। जीवनमे सघर्ष, तनाव और कुण्ठाएँ असत्याचरणके कारण ही उत्पन्न होती हैं।

प्रगतिके प्रति सम्मान

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार प्रत्येक वस्तुमे निरन्तर परिवर्तन होता है। परिवर्तन प्रगतिरूप भी सम्भव है और अप्रगतिरूप भी। जिस व्यक्तिके विचारोंमे उदारता और व्यवहारमे सत्यनिष्ठा समाहित है, वह सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक कर्त्तव्योंका हृदयसे पालन करता है। सकटके समय व्यक्तिको किस प्रकारका आचरण करना चाहिए और परिस्थिति एव वातावरण द्वारा प्रादुर्भूत प्रगतियोको किस रूपमे ग्रहण करना चाहिए, यह भी कर्त्तव्यमार्गके अन्तर्गत है।

एकाकी मनुष्यकी धारणा निसन्देह कल्पनामात्र है। अत कर्त्तव्योका महत्त्व नैतिक और सामाजिक दृष्टिसे कदापि कम नही है। कर्त्तव्योंका सबध अधिकारोंके समान सामाजिक विकाससे भी है। कर्त्तव्योकी विशेषता जीवनके दो मुख्य अगोंसे सम्बद्ध है—

१. जीवनका आर्थिक अंग।

२. जीवनका सामाजिक अग।

आर्थिक दृष्टिसे मनुष्यके सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार और कर्त्तव्यविशेष महत्त्वपूर्ण हैं और सामाजिक दृष्टिसे मनुष्यके परिवार तथा समाज-सम्बन्धी अधिकार और कर्त्तव्य भी कम महत्त्वपूर्ण नही हैं। अधिकारो तथा कर्त्तव्योका आर्थिक दृष्टिसे सतुलित रूपमे प्रयोग अपेक्षित है। पुरुषार्थो के क्रममे अर्थ-पुरुषार्थको इसीलिए द्वितीय स्थान प्राप्त है कि इसके बिना धर्माचरण एव कामपुरुषार्थका सेवन सम्भव नही है। आज आर्थिक प्रगतिके अनेक साधन विकसित है पर कर्त्तव्यपरायण व्यक्तिको अपनी नैतिकता बनाये रखना आवश्यक है। जीवनकी आवश्यकताओके वृद्धिगत होने और आर्थिक समस्याओके जटिल होने पर भी उत्पादन, वितरण और उपयोग सम्बन्धी नैतिक नियम जीवनको मर्यादित रखते है। सुरक्षा और आत्मानुभूति ये दोनो ही नैतिक जीवनके लिए अपेक्षित हे। श्रम-सिद्धान्त भी प्रगतिके नियमोंको अनुशासित करता है। अत सम्पत्तिके प्रति दो मुख्य कर्त्तव्य है—१ सम्पत्ति प्राप्त करनेके लिए कर्म करना और २. उपलब्ध सम्पत्तिका सदुपयोग करना। जो व्यक्ति किसी भी प्रकारका कर्म नही करता, उसका कोई अधिकार नही कि वह निष्क्रिय होते हुए भी सामाजिक सम्पत्तिका भोग करे। इस कर्त्तव्यके आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यके लिए श्रम करना अत्यावश्यक है। श्रम करनेसे ही श्रमणत्वकी प्राप्ति होती है और इसी श्रम द्वारा आश्रमधर्मका निर्वाह होता है। जो व्यक्ति अन्यके श्रम पर जीवित रहता है और स्वय श्रम नही करता ऐसे व्यक्तिको समाजसे कुछ लेनेका अधिकार नही। जो कर्त्तव्यपरायण है वही समाजसे अपना उचित अश प्राप्त करनेका अधिकारी है।

विवेक, साहस, सयम और न्याय ये ऐसे गुण हैं जो सामाजिक कल्याणकी ओर व्यक्तिको प्रेरित करते हैं। इन गुणोके अपनानेसे परिवार और समाजकी विषमता दूर होकर प्रगति होती है तथा समानताका तत्त्व प्रादुर्भूत होता है। समाजके गतिशील होने पर साहस, सयम और विवेकका आचरण करते हुए कर्त्तव्यकर्मो का निर्वाह अपेक्षित होता है। ज्यो-ज्यो समाजिक विकास होता है, अधिकारो और कर्त्तव्योका स्वरूप स्वतः ही परिवर्तित होता चला जाता है। इसी कारण प्रत्येक समाजमे व्यवस्था, विधान और अनुशासनकी आवश्यकता रहती है। यदि अधिकार और कर्त्तव्योमे सतुलन स्थापित हो जाय, तो समाजमे अनुशासन उत्पन्न होते विलम्ब न हो।

सहिष्णुता

पारिवारिक दायित्वोंके निर्वाहके लिए सहिष्णुता अत्यावश्यक है। परिवारमें रहकर व्यक्ति सहिष्णु न बने और छोटी-सी छोटी बातके लिए उतावला हो जाय, तो परिवारमे सुख-शान्ति नही रह सकती। सहिष्णु व्यक्ति शान्तभावसे परिवारके अन्य सदस्योंकी बातो और व्यवहारोको सहन कर लेता है, जिसके फलस्वरूप परिवारमे शान्ति और सुख सर्वदा प्रतिष्ठित रहता है। अभ्युदय और नि श्रेयसकी प्राप्ति सहनशीलता द्वारा ही सम्भव है। जो परिवारमे सभी प्रकारकी समृद्धिका इच्छुक है तथा इस समृद्धिके द्वारा लोकव्यवहारको सफलरूपमे संचालित करना चाहता है ऐसा व्यक्ति समाज और परिवारका हित नही कर सकता है। विकारी मन शरीर और इन्द्रियोंपर अधिकार प्राप्त करनेके स्थान पर उनके वश होकर काम करता है, जिससे सहिष्णुताकी शक्ति घटती है। जिसने आत्मालोचन आरम्भ कर दिया है और जो स्वय अपनी बुराईयोका अवलोकन करता है वह समाजमे शान्तिस्थापनका प्रयास करता है। सहिष्णुताका अर्थ कृत्रिम भावुकता नहीं और न अन्याय और अत्याचारोको प्रश्रय देना ही है, किन्तु अपनी आत्मिक शक्तिका इतना विकास करना है, जिससे व्यक्ति, समाज और परिवार निष्पक्ष जीवन व्यतीत कर सके। पूर्वाग्रहके कारण असहिष्णुता उत्पन्न होती है, जिससे सत्यका निर्णय नही होता। जो शान्तचित्त है, जिसकी वासनाएँ सयमित हो गई है और जिसमे निष्पक्षता जागृत हो गई है वही व्यक्ति सहिष्णु या सहनशील हो सकता है। सहनशील या सहिष्णु होनेके लिए निम्नलिखित गुण अपेक्षित हैं—

१ दृढ़ता।
२. आत्मनिर्भरता।
३ निष्पक्षता।
४. विवेकशीलता।
५ कर्त्तव्यकर्मके प्रति निष्ठा।

अनुशासन

मानवताके भव्य भवनका निर्माण अनुशासनद्वारा ही सम्पन्न किया जा सकता है। वास्तवमे जहाँ अनुशासन है, वही अहिंसा है। और जहाँ अनुशासनहीनता है वहीं हिंसा है। पारिवारिक और सामाजिक जीवनका विनाश हिंसा द्वारा होता है। यदि धर्म मनुष्यके हृदयकी क्रूरताको दूर कर दे और अहिंसा द्वारा उसका अन्त'करण निर्मल हो जाय तो जीवनमे सहिष्णुताकी साधना सरल हो जाती है। वास्तवमे अनुशासित जीवन ही समाजके लिए उपयोगी

है। जिस समाजमे अनुशासनका अभाव रहता है वह समाज कभी भी विकसित नही हो पाता। अनुशासित परिवार ही समाजको गतिशील बनाता है, प्रोत्साहित करता है और आदर्शकी प्रतिष्ठा करता है। संघर्षोंका मूलकारण उच्छृ-खलता या उदण्डता है। जबतक जीवनमे उदण्डता आदि दुर्गुण समाविष्ट रहेंगे, तबतक सुगठित समाजका निर्माण सम्भव नही है। समाज और परिवारकी प्रमुख समस्याओंका समाधान भी अनुशासन द्वारा ही सम्भव है। शासन और शासित सभीका व्यवहार उन्मुक्त या उच्छृङ्खलित हो रहा है। अत अतिचारी और अनियन्त्रित प्रवृत्तियोको अनुशासित करना आवश्यक है।

अनुशासनका सामान्य अर्थ है कतिपय नियमो, सिद्धान्तो आदिका परिपालन करना और किसी भी स्थितिमे उसका उलघन न करना। सक्षेपमे वह विधान, जो व्यक्ति, परिवार और समाजके द्वारा पूर्णत. आचरित होता है, अनुशासन कहा जाता है। जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमे सुव्यवस्थाकी अनिवार्य आवश्यकताको कोई भी अस्वीकार नही कर सकता। इसके बिना मानव-समाज बिलकुल विघटित हो जायगा और उसकी कोई भी व्यवस्था नही बन सकेगी। जो व्यक्ति स्वेच्छासे अनुशासनका निर्वाह करता है, वह परिवार और समाजके लिए एक आदर्श उपस्थित करता है। जीवनके विशाल भवनकी नीव अनुशासनपर ही अवलम्बित है।

पारस्परिक द्वेषभाव, गुटबन्दी, वर्गभेद, जातिभेद आदि अनुशासनहीनताको बढावा देते हैं और सामाजिक सगठनको शिथिल बनाते हैं। अतएव सहज और स्वाभाविक कर्त्तव्यके अन्तर्गगत अनुशासनको प्रमुख स्थान प्राप्त है। अनुशासन जीवनको कलापूर्ण, शान्त और गतिशील बनाता है। इसके द्वारा परिवार और समाजकी अव्यवस्थाएँ दूर होती हैं।

पारिवारिक चेतनाका सम्यक् विकास, अहिंसा, करुणा, समर्पण, सेवा, प्रेम, सहिष्णुता आदिके द्वारा होता है। मनुष्य जन्म लेते ही पारिवारिक एव सामाजिक कर्तव्य एव उत्तरदायित्वसे बध जाता है। प्राणीमात्र एक दूसरेसे उपकृत होता है। उसका आधार और आश्रय प्राप्त करता है। जब हम किसी-का उपकार स्वीकार करते हैं, तो उसे चुकानेका दायित्व भी हमारे ही ऊपर रहता है। यह आदान-प्रदानकी सहजवृत्ति ही मनुष्यकी पारिवारिकता और सामाजिकताका मूलकेन्द्र है। उसके समस्त कर्त्तव्यो एव धर्माचरणोका आधार है। राग और मोह आत्माके लिए त्याज्य हैं, पर परिवार और समाज सचालन-के लिए इनकी उपयोगिता है। जीवन सर्वथा पलायनवादी नही है। जो कर्मठ बनकर श्रावकाचारका अनुष्ठान करना चाहता है उसे अहिंसा, सत्य, करुणा

सेवा समर्पण आदिके द्वारा परिवार और समाजको दृढ करना चाहिए। यह दृढीकरणकी क्रिया ही दायित्वो या कर्त्तव्योकी शृङ्खला है।

समाजगठनकी आधारभूत भावनाएँ

समाज-गठनके लिए कुछ मौलिक सूत्र हैं, जिन सूत्रोके आधारपर समाज एकरूपमे बधता है। कुछ ऐसे सामान्य नियम या सिद्धान्त है, जो सामाजिकताका सहजमे विकास करते है। संवेदनशील मानव समाजके बीच रहकर इन नियमोके आधारपर अपने जीवनको सुन्दर, सरल, नम्र और उत्तरदायी बनाता है। मानव-जीवनका सर्वागीण विकास अपेक्षित है। एकागरूपसे किया गया विकास जीवनको सुन्दर, शिव और सत्य नही बनाता है। कर्मके साथ मनका सुन्दर होना और मनके साथ वाणीका मधुर होना विकासकी सीढो है। जीवनमे धर्म और सत्य ऐसे तत्त्व हैं, जो उसे शाश्वतरूप प्रदान करते है। समाज-सगठनके लिए निम्नलिखित चार भावनाएँ आवश्यक हैं—

१. मैत्री भावना।
२ प्रमोद भावना।
३. कारुण्य भावना।
४. माध्यस्थ्य भावना।

मैत्री भावना मनकी वृत्तियोंको अत्यधिक उदात्त बनाती है। यह प्रत्येक प्राणीके साथ मित्रताकी कल्पना ही नही, अपितु सच्ची अनुभूतिके साथ एकात्मभाव या तादात्मभाव समाजके साथ उत्पन्न करती है। मनुष्यका हृदय जब मैत्रीभावनासे सुसस्कृत हो जाता है, तो अहिंसा और सत्यके बीरुध स्वय उत्पन्न हो जाते हैं। और आत्माका विस्तार होनेसे समाज स्वर्गका नन्दन-कानन बन जाता है। जिस प्रकार मित्रके घरमे हम और मित्र हमारे घरमे निर्भय और नि कोच स्नेह एव सद्भावपूर्ण व्यवहार कर सकता हे उसी प्रकार यह समस्त विश्व भी हमे मित्रके घरके रूपमे दिखलाई पडता हे। कहीं भय, सकोच एव आतकको वृत्ति नही रहतो। कितनी सुखद और उदात्त भावना है यह मैत्रीकी। व्यक्ति, परिवार और समाज तथा राष्ट्रको सुगठित करनेका एकमात्र साधन यह मैत्री-भावना है।

इस भावनाके विकसित होते ही पारस्परिक सौहार्द, विश्वास, प्रेम, श्रद्धा एव निष्ठाकी उत्पत्ति हो जाती है। चोरी, धोखाधडी लूट-खसोट, आदि सभी विभीषिकाएँ समाप्त हो जाती हैं। विश्वके सभी प्राणियोके प्रति मित्रताका भाव जागृत हो जाय तो परिवार और समाजगठनमे किसी भी प्रकारका दुराव-

छिपाव नही रह सकता है। वस्तुत' मैत्री-भावना समाजकी परिधिको विकसित करती है, जिससे आत्मामे समभाव उत्पन्न होता है।

प्रमोद-भावना

गुणीजनोको देखकर अन्त करणका उल्लसित होना प्रमोद-भावना है। किसीकी अच्छी बातको देखकर उसकी विशेषता और गुणोका अनुभव कर हमारे मनमे एक अज्ञात ललक और हर्षानुभूति उत्पन्न होती है। यही आनन्दकी लहर परिवार और समाजको एकताके सूत्रमे आवद्ध करती है। प्राय देखा जाता है कि मनुष्य अपनेसे आगे बढे हुए व्यक्तिको देखकर ईर्ष्या करता है और इस ईर्ष्यासे प्रेरित होकर उसे गिरानेका भी प्रयत्न करता है। जब तक इस प्रवृत्तिका नाश न हो जाय, तबतक अहिंसा और सत्य टिक नही पाते। प्रमोद-भावना परिवार और समाजमे एकता उत्पन्न करती है। ईर्ष्या और विद्वेष पर इसी भावनाके द्वारा विजय प्राप्त की जा सकती है। ईर्ष्याकी अग्नि इतना विकराल रूप धारण कर लेती है कि मनुष्य अपने भाई और पुत्रके भी उत्कर्ष को फूटी आँखो नहीं देख पाता। यही ईर्ष्याकी परिणति एव प्रवृत्ति ही परिवार और समाजमे खाई उत्पन्न करती है। समाज और परिवारकी छिन्न-भिन्नता ईर्ष्या, घृणा और द्वेषके कारण ही होती है। प्रतिस्पर्धावश समाज विनाशके कगारकी ओर बढता है। अत 'प्रमोद-भावना'का अभ्यास कर गुणोके पारखी बनना और सही मूल्याकन करना समाजगठनका सिद्धान्त है। जो स्वय आदर-सम्मान प्राप्त करना चाहता है, उसे पहले अन्य व्यक्तियोका आदर-सम्मान करना चाहिए। अपने गुणोके साथ अन्य व्यक्तियोके गुणोकी भी प्रशसा करनी चाहिए। यह प्रमोदकी भावना मनमे प्रसन्नता, निर्भयता एव आनन्दका संचार करती हे और समाज तथा परिवारको आत्मनिर्भर, स्वस्थ और सुगठित बनाती है।

करुणा-भावना

करुणा मनकी कोमल वृत्ति है, दु खी और पीडित प्राणीके प्रति सहज अनुकम्पा और मानवीय सवेदना जाग उठती है। दु खीके दु खनिवारणार्थ हाथ बढते है और यथाशक्ति उसके दु खका निराकरण किया जाता है।

करुणा मनुष्यकी सामाजिकताका मूलाधार है। इसके सेवा, अहिंसा, दया, सहयोग, विनम्रता आदि सहस्रो रूप सभव है। परिवार और समाजका आलम्बन यह करुणा-भावना ही है।

मात्राके तारतम्यके कारण करुणाके प्रमुख तीन भेद है—१ महाकरुणा, २ अतिकरुणा और, ३ लघुकरुणा। महाकरुणा नि स्वार्थभावसे प्रेरित

होती है और इस करुणाका धारी प्राणिमात्रके कष्ट-निवारणके लिए प्रयास करता है। इस श्रेणीकी करुणा किसी नेता या महान् व्यक्तिमे ही रहती है। इस करुणा द्वारा समस्त मानव-समाजको एकताके सूत्रमे आबद्ध किया जाता है और समाजके समस्त सदस्योको सुखी बनानेका प्रयास किया जाता है।

अतिकरुणा भी जितेन्द्रिय, सयमी और नि स्वार्थ व्यक्तिमे पायी जाती है। इस करुणाका उद्देश्य भी प्राणियोमे पारस्परिक सौहार्द उत्पन्न करना है। दूसरेके प्रति कैसा व्यवहार करना और किस वातावरणमे करना हितप्रद हो सकता है, इसका विवेक भी महाकरुणा और अतिकरुणा द्वारा होता है। प्रतिशोध, सकीर्णता और स्वार्थमूलकता आदि भावनाएँ इसी करुणाके फलस्वरूप समाजसे निष्कासित होती हैं। वास्तवमे करुणा ऐसा कोमल तन्तु है, जो समाजको एकतामे आबद्ध करता है।

लघुकरुणाका क्षेत्र परिवार या किसी आधारविशेषपर गठित सघ तक ही सीमित है। अपने परिवारके सदस्योके कष्टनिवारणार्थ चेष्टा करना और करुणावृत्तिसे प्रेरित होकर उनको सहायता प्रदान करना लघुकरुणाका क्षेत्र है।

मनुष्यमे अध्यात्म-चेतनाकी प्रमुखता है, अतः वह शाश्वत आत्मा एवं अपरिवर्तनीय यथार्थताका स्वरूप सत्य-अहिंसासे सम्बद्ध है। कलह, विषयभोग, घृणा, स्वार्थ, सचयशीलवृत्ति आदिका त्याग भी करुणा-भावना द्वारा सभव है। अतएव सक्षेपमे करुणा-भावना समाज-गठनका ऐसा सिद्धान्त है जो अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषोसे रहित होकर समाजको स्वस्थ रूप प्रदान करता है।

माध्यस्थ्य-भावना

जिनसे विचारोका मेल नही बैठता अथवा जो सर्वथा सस्कारहीन हैं, किसी भी सद्वस्तुको ग्रहण करनेके योग्य नही हैं, जो कुमार्गपर चले जा रहे हैं तथा जिनके सुधारने ओर सही रास्ते पर लानेके सभी यत्न निष्फल सिद्ध हो गये हैं, उनके प्रति उपेक्षाभाव रखना माध्यस्थ्य-भावना है।

मनुष्यमे असहिष्णुताका भाव पाया जाता है। वह अपने विरोधी और विरोधको सह नही पाता। मतभेदके साथ मनोभेद होते विलम्ब नही लगता। अत इस भावना द्वारा मनोभेदको उत्पन्न न होने देना समाज-गठनके लिए आवश्यक है। इन चारों भावनाओका अभ्यास करनेसे आध्यात्मिक गुणोका विकास तो होता ही है, साथ ही परिवार और समाज भी सुगठित होते हैं।

माध्यस्थ्य-भावनाका लक्ष्य है कि असफलताकी स्थितिमे मनुष्यके उत्साहको

भंग न होने देना तथा बड़ी-से-बड़ी विपत्तिके आनेपर भी समाजको सुदृढ बनाये रखनेका प्रयास करना।

जिजीविषा जीवका स्वभाव है और प्रत्येक प्राणी इस स्वभावको साधना कर रहा है। अतएव माध्यस्थ्य-भावनाका अवलम्बन लेकर विपरीत आचरण करनेवालोके प्रति भी द्वेष, घृणा या ईर्ष्या न कर तटस्थवृत्ति रखना आवश्यक है।

सक्षेपमे समाज-गठनका मूलाधार अहिंसात्मक उक्त चार भावनाएँ हैं। समाजके समस्त नियम और विधान अहिंसाके आलोकमे मनुष्यहितके लिए निर्मित होते है। मानवके दु ख और दैन्य भौतिकवाद द्वारा समाप्त न होकर अध्यात्मद्वारा ही नष्ट होते हैं। समाजके मूल्य, विश्वास और मान्यताएँ अहिंसाके धरातल पर ही प्रतिष्ठित होती हैं। मानव-समाजकी समृद्धि पारस्परिक विश्वास, प्रेम, श्रद्धा, जीवनसुविधाओकी समता, विश्वबन्धुत्व, मैत्री, करुणा और माध्यस्थ्य-भावना पर ही आधृत है। अतएव समाजके घटक परिवार, सघ, समाज, गोष्ठी, सभा, परिषद् आदिकी सुदृढ़ता नैतिक मूल्यो और आदर्शों पर प्रतिष्ठित है।

समाजधर्म · पृष्ठभूमि

मानव-समाजको भौतिकवाद और नास्तिकवादने पथभ्रष्ट किया है। इन दोनोने मानवताके सच्चे आदर्शोंसे च्युत करके मानवको पशु बना दिया है। जबतक समाजका प्रत्येक सदस्य यह नही समझ लेता कि मनुष्यमात्रकी समस्या उसकी समस्या है, तबतक समाजमे परस्पर सहानुभूति एव सद्भावना उत्पन्न नही हो सकती है। जातीय अहकार, धर्म, धन, वर्ग, शक्ति, घृणा और राष्ट्रके कृत्रिम बन्धनोने मानव-समाजके बीच खाई उत्पन्न कर दी है, जिसका आत्म-विकासके विना भरना सम्भव नहीं। यत' मानव-समाज और सभ्यताका भविष्य आत्मज्ञान, स्वतन्त्रता, न्याय और प्रेमकी उन गहरी विश्वभावनाओके साथ बधा हुआ है, जो आज भौतिकता, हिंसा, शोषण प्रभृतिसे भाराक्रान्त है।

इसमे सन्देह नही कि समाजकी सकीर्णताएं, धर्मके नामपर की जानेवाली हिंसा, वर्गभेदके नामपर भेद-भाव, ऊच-नीचता आदिसे वर्तमान समाज त्रस्त है। अत. मानवताका जागरण उसी स्थितिमे सम्भव है, जब ज्ञान-विज्ञान, अर्थ, काम, राजनीति-विधान एव समाज-जीवनका समन्वय नैतिकताके साथ स्थापित हो तथा प्राणिमात्रके साथ अहिंसात्मक व्यवहार किया जाय। पशु-पक्षी भी मानवके समान विश्वके लिए उपयोगी एवं उसके सदस्य हैं। अत. उनके साथ

भी प्रेमपूर्ण व्यवहार होना आवश्यक है। विशाल ऐश्वर्य और महान् वैभव प्राप्त करके भी प्रेम और आत्मनियन्त्रणके विना शान्ति सम्भव नही। जबतक समाजके प्रत्येक सदस्यका नैतिक और आध्यात्मिक विकास नही हुआ है, तब-तक वह भौतिकवादके मायाजालसे मुक्त नही हो सकता। व्यक्ति और समाज अपनी दृष्टिको अधिकारकी ओरसे हटाकर कर्त्तव्यकी ओर जबतक नही लायेगा, तबतक स्वार्थबुद्धि दूर नहीं हो सकती है।

वस्तुत समाजका प्रत्येक सदस्य नैतिकतासे अनैतिकता, अहिंसासे हिंसा, प्रेमसे घृणा, क्षमासे क्रोध, उत्सर्गसे सघर्ष एव मानवतासे पशुतापर विजय प्राप्त कर सकता है। दासता, बर्बरता और हिंसासे मुक्ति प्राप्त करनेके लिए अहिंसक साधनोका होना अनिवार्य है। यत अहिंसक साधनो द्वारा ही अहिंसामय शाति प्राप्त की जा सकती है। विना किसी भेद-भावके ससारके समस्त प्राणियोके कष्टोका अन्त अहिंसक आचरण और उदारभावना द्वारा ही सम्भव है। भौतिक उत्कर्षकी सर्वथा अवहेलना नही की जा सकती, पर इसे मानव-जीवनका अन्तिम लक्ष्य मानना भूल है। भौतिक उत्कर्ष समाजके लिए वही तक अभिप्रेत है, जहाँतक सर्वसाधारणके नैतिक उत्कर्षमे बाधक नही है। ऐसे भौतिक उत्कर्षसे कोई लाभ नही, जिससे नैतिकताको ठेस पहुँचती हो।

समाज-धर्मका मूल यही है कि अन्यकी गलती देखनेके पहले अपना निरीक्षण करो, ऐसा करनेसे अन्यकी भूल दिखलायी नही पडेगी और एक महान् सघर्षसे सहज ही मुक्ति मिल जायगी। विश्वप्रेमका प्रचार भी आत्मनिरीक्षणसे हो सकता है। विश्वप्रेमके पवित्र सूत्रमे बध जानेपर सम्प्रदाय, वर्ग, जाति, देश एव समाजकी परस्पर घृणा भी समाप्त हो जाती है और सभी मित्रतापूर्ण व्यवहार करने लगते हैं। हमारा प्रेमका यह व्यवहार केवल मानव-समाजके साथ ही नही रहना चाहिए, किन्तु पशु, पक्षी, कीडे और मकोडेके साथ भी होना चाहिए। ये पशु-पक्षी भी हमारे ही समान जनदार हैं और ये भी अपने साथ किये जानेवाले सहानुभूति, प्रेम, क्रूरता और कठोरताके व्यवहारको समझते हैं। जो इनसे प्रेम करता है, उसके सामने ये अपनी भयकरता भूल जाते हैं और उसके चरणोमे नतमस्तक हो जाते हैं; पर जो इनके साथ कठोरता, क्रूरता और निर्दयताका व्यवहार करता है; उसे देखते ही ये भाग जाते हैं अथवा अपनेको छिपा लेते हैं। अत समाजमे मनुष्यके ही समान अन्य प्राणियो-को भी जानदार समझकर उनके साथ भी सहानुभूति और प्रेमका व्यवहार करना आवश्यक है।

समाजको विकृत या रोगी बनानेवाले तत्त्व हैं—(१) शोषण, (२) अन्याय, (३) अत्याचार, (४) पराधीनता, (५) स्वार्थलोलुपता, (६) अविश्वास और,

(७) अहकार। इन विनाशकारी तत्त्वोका आचरण करनेसे समाजका कल्याण या उन्नति नही हो सकती है। समाज भी एक शरीर है और इस शरीरकी पूर्णता सभी सदस्योके समूह द्वारा निष्पन्न है। यदि एक भी सदस्य माया, धोखा, छल-प्रपच और क्रूरताका आचरण करेगा, तो समाजका समस्त शरीर रोगी बन जायगा और शनै शनै सगठन शिथिल होने लगेगा। अत हिंसा, आक्रमण और अहकारकी नीतिका त्याग आवश्यक है। जिस समाजमे नागरिकता और लोकहितकी भावना पर्याप्तरूपमे पायी जाती है वह समाज शान्ति और सुखका उपभोग करता है।

सहानुभूति

समाज-धर्मोकी सामान्य रूपरेखामे सहानुभूतिकी गणना की जाती है। इसके अभावसे अहकार उत्पन्न होता है। वास्तविक सहानुभूति प्रेमके रूपमे प्रकट होती है। अहकारके मूलमे अज्ञान है। अहकार उन्ही लोगोके हृदयमे पनपता है, जो यह सोचते है कि उनका अस्तित्व अन्य व्यक्तियोसे पृथक् है तथा उनके उद्देश्य और हित भी दूसरे सामाजिक सदस्योसे भिन्न है और उनकी विचारधारा तथा विचारधाराजन्य कार्यव्यवहार भी सही हैं। अत वे समाजमे सर्वोपरि हैं, उनका अस्तित्व और महत्त्व अन्य सदस्योसे श्रेष्ठ है।

सहानुभूति मनुष्यको पृथक् और आत्मकेन्द्रित जीवनसे ऊचा उठाती है और अन्य सदस्योके हृदयमे उसके लिए स्थान बनाती है, तभी वह दूसरोके विचारो और अनुभूतियोमे सम्मिलित होता है। किसी दु खी प्राणीके कष्टके सबधमे पूछ-ताछ करना एक प्रकारका मात्र शिष्टाचार है। पर दु खीके दु खको देखकर द्रवित होना और सहायताके लिए तत्पर होना ही सच्चे सहानुभूतिपूर्ण मनका परिचायक है। सच्ची सहानुभूतिका अहंकार और आत्मश्लाघाके साथ कोई सम्बन्ध नही है। यदि कोई व्यक्ति अपने परोपकारसम्बन्धी कार्योका गुणानुवाद चाहता है और प्रतिदानमे दुर्व्यवहार मिलनेपर शिकायत करता है तो समझ लेना चाहिए कि उसने वह परोपकार नही किया है। विनीत, आत्मनिग्रही और सेवाभावीमे ही सच्ची सहानुभूति रहती है।

यथार्थत सहानुभूति दूसरे व्यक्तियोके प्रयासो और दु खोके साथ एकलयताके भावकी अनुभूति है। इससे मानवके व्यक्तित्वमे पूर्णताका भाव आता है। इसी गुणके द्वारा सहानुभूतिपूर्ण व्यक्ति अपनी निजतामे अनेक आत्माओका प्रतीक बन जाता है। वह समाजको अन्यसदस्योकी दृष्टिसे देखता है, अन्यके कानोसे सुनता है, अन्यके मनसे सोचता है और अन्य लोगोके हृदयके द्वारा ही अनुभूति प्राप्त करता है। अपनी इसी विशेषताके कारण वह अपनेसे भिन्न

व्यक्तियोके मनोभावोको समझ सकता है। अत इसप्रकारके व्यक्तिका जीवन समाजके लिए होता है। वह समाजकी नीद सोता है और समाजकी ही नीद जागता है।

सहानुभूति ऐसा सामाजिक धर्म है, जिसके द्वारा प्रत्येक सदस्य अन्य सामाजिक सदस्योके हृदयतक पहुँचता है और समस्त समाजके सदस्योके साथ एकात्मभाव उत्पन्न हो जाता है। एक सदस्यको होनेवाली पीडा, वेदना अन्य सदस्योकी भी बन जाती हैं और सुख-दु खमे साधारणीकरण हो जाता है। भावात्मक सत्ताका प्रसार हो जाता है और अशेष समाजके साथ उसका रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

सहानुभूति एकात्मकारी तत्त्व है, इसके अपनानेसे कभी दूसरोकी भर्त्सना नही की जाती और सहवर्ती जनसमुदायके प्रति सहृदयताका व्यवहार सम्पादित किया जाता है। इसकी परिपक्वावस्थाको वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है, जिसने जीवनमे सम्पूर्ण हार्दिकतासे प्रेम किया हो, पीडा सही हो और दु खोके गम्भीर सागरका अवगाहन किया हो। जीवनकी आत्यन्तिक अनुभूतियोके ससर्गसे ही उस भावकी निष्पत्ति होती है, जिससे मनुष्यके मनसे अहकार, विचारहीनता, स्वार्थपरता एव पारस्परिक अविश्वासका उन्मूलन हो जाय। जिस व्यक्तिने किसी-न-किसी रूपमे दुःख और पीडा नही सही है, सहानुभूति उसके हृदयमे उत्पन्न नही हो सकती है। दु ख और पीडाके अवसानके बाद एक स्थायी दयालुता और प्रशान्तिका हमारे मनमे वास हो जाता है।

वस्तुत जो सामाजिक सदस्य अनेक दिशाओमे पीडा सहकर परिपक्वताको प्राप्त कर लेता है, वह सन्तोषका केन्द्र बन जाता है और दु खी एव भग्नहृदय लोगोंके लिए प्रेरणा और सबलका स्रोत बन जाता है। सहानुभूतिकी सार्वभौमिक आत्मभाषाको, मनुष्योकी तो बात ही क्या, पशु भी नैसर्गिकरूपसे समझते और पसद करते हैं।

स्वार्थपरता व्यक्तिको दूसरेके हितोका व्याघात करके अपने हितोकी रक्षाकी प्रेरणा करती है, पर सहानुभूति अपने स्वार्थ और हितोका त्यागकर दूसरोके स्वार्थ और हितोकी रक्षा करनेकी प्रेरणा देती है। फलस्वरूप सहानुभूतिको समाज-धर्म माना जाता है और स्वार्थपरताको अधर्म। सहानुभूतिमे निम्नलिखित विशेषताएँ समाविष्ट हैं:—

१ दयालुता—क्षणिक आवेशका त्याग और प्राणियोके प्रति दया—करुणाबुद्धि दयालुतामे अन्तर्हित है। अविश्वसनीय आवेशभावना दयालुतामे परि-

गणित नही है । किसीकी प्रशंसा करना और बादमे उसे गालियाँ देने लगना निर्दयता है। यदि दाता अपने दानका पुरस्कार चाहने लगता है, तो दान निष्फल है, इसीप्रकार कोई व्यक्ति किसी बाहरी प्रेरणासे उदारताका कोई कार्य करता है और कुछ समयके बाद किसी अप्रिय घटनाके कारण बाहरी प्रभावके वशीभूत हो विपरीत आचरण करने लगे, तो इसे भी चरित्रकी दुर्बलता माना जायगा । सच्ची दयालुता अपरिवर्तनीय है और यह बाहरी प्रभावसे अभिव्यक्त नही की जा सकती । प्राणियोके दुःखको देखकर अन्तःकरणका आर्द्र हो जाना दयालुता है । यह जीवका स्वभाव है, इससे चरित्रके सौन्दर्यकी वृद्धि होती है और सौम्यभावकी उपलब्धि होती है। सामाजिक सम्बन्धोकी रक्षामे दयाका प्रधान स्थान है ।

२. उदारता—हृदयकी विशालताके साथ इसका सम्बन्ध है । जिस व्यक्तिके चरित्रमे औदार्य, दया, सहानुभूति आदि गुण पाये जाते हैं, उसका जीवन आकर्षण और प्रभावयुक्त हो जाता है । चरित्रकी नीचता और भोडापन घृणास्पद है । उदारतावश ही व्यक्ति अपने सहवर्त्ती जनोके प्रति आध्यात्मिक और सामाजिक ऐक्यका अनुभव करते हैं और अपनी उपलब्धियोका कुछ अश समाजके मगल हेतु अन्य सदस्योको भी वितरित कर देते हैं ।

३. भद्रता—इस गुणद्वारा व्यक्ति निष्ठुरता और पाशविक स्वार्थपरतासे दूर रहता है । आत्मानुशासनके अभ्याससे इस गुणकी प्राप्ति होती है। अपनी पाशविक वासनाओका दमन और नियन्त्रण करनेसे मनुष्यके हृदयमे भद्रता उत्पन्न होती है । जिस व्यक्तिमे इस भावकी निष्पत्ति हो जायगी, उसके स्वरमे स्पष्टता, दृढता और व्यामोहहीनता आ जाती है । विपरीत और आपत्तिजनक परिस्थितियोमे वह न उद्विग्न होता है और न किसीसे घृणा ही करता है ।

भद्रतामे आत्मसयम, सहिष्णुता, विचारशीलता और परोपकारिता भी सम्मिलित हैं। इन गुणोके सद्भावसे समाजका सम्यक् सचालन होता है तथा समाजके विवाद, कलह और विसवाद समाप्त हो जाते हैं ।

४ अन्तर्दृष्टि—सहानुभूतिके परिणामस्वरूप समाजके पर्यवेक्षणकी क्षमता अन्तर्दृष्टि है। वाद-विवादके द्वारा वस्तुका बाह्य रूप ही ज्ञात हो पाता है, पर सहानुभूति अन्तस्तल तक पहुँच जाती है । निश्छल प्रेम एक ऐसी रहस्यपूर्ण एकात्मीयता है, जिसके द्वारा व्यक्ति एक दूसरेके निकट पहुँचते हैं और एक दूसरेसे सुपरिचित होते हैं ।

अन्तर्दृष्टिप्राप्त व्यक्तिके पूर्वाग्रह छूट जाते हैं, पक्षपातकी भावना मनसे निकल जाती है और समाजके अन्य सदस्योके साथ सहयोगकी भावना प्रस्फुटित

हो जाती है। प्रतिद्वन्द्विता, शत्रुता, तनाव आदि समाप्त हो जाते हैं और समाजके सदस्योमे सहानुभूतिके कारण विश्वास जागृत हो जाता है।

सक्षेपमे महानुभूति ऐसा समाज-धर्म है, जो व्यक्ति और समाज इन दोनोका मगल करता है। इस धर्मके आचरणसे समाज-व्यवस्थामे सुदृढता आती है। अपने समस्त दोषोसे मुक्ति प्राप्तकर मानव-समाज एकताके सूत्रमे वधता है।

अहिंसाका ही रूपान्तर सहानुभूति है और अहिंसा ही सर्वजीव-समभावका आदर्श प्रस्तुत करती है, जिससे समाजमे सगठन सुदृढ होता है। यदि भावनाओमे क्रोध, अभिमान, कपट, स्वार्थ, राग-द्वेष आदि हैं, तो समाजमे मित्रताका आचरण सम्भव नही है। वास्तवमे अहिंसा प्राणीकी सवेदनशील भावना और वृत्तिका रूप है, जो सर्वजीव-समभावसे निर्मित है। समाज-धर्मका समस्त भवन इसी सर्वजीव-समभावकी कोमल भावनापर आधारित है। अहिंसा या सहानुभूति ऐसा गुण है, जो चराचर जगत्मे सम्पूर्ण प्राणियोके साथ मैत्रीभावकी प्रतिष्ठा करता है। किसीके प्रति भी वैर और विरोधकी भावना नही रहती। दु खियोके प्रति हृदयमे करुणा उत्पन्न हो जाती है।

जो किसी दूसरेके द्वारा आतकित हैं, उन्हे भी अहिंसक अपने अन्तरकी कोमल किन्तु सुदृढ भावनाओकी सम्पत्ति द्वारा अभयदान प्रदान करता है। उसके द्वारा ससारके समस्त प्राणियोके प्रति समता, सुरक्षा, विश्वास एव सहकारिताकी भावना उत्पन्न होती हैं। अन्याय, अत्याचार, शोषण, द्वेष, वलात्कार, ईर्ष्या आदिको स्थान प्राप्त नही रहता। यह स्मरणीय है कि हमारे मनके विचार और भावनाओकी तरगें फैलती हैं, इन तरगोमे योग और वल रहता है। यदि मनमे हिंसाकी भावना प्रबल है, तो हिंसक तरगे समाजके अन्य व्यक्तियोंको भी क्रूर, निर्दय और स्वार्थी वनायेंगी। अहिंसाकी भावना रहनेपर समाजके सदस्य सरल, सहयोगी और उदार बनते हैं। अतएव समाजधर्मकी पृष्ठभूमिमे अहिंसा या सहानुभूतिका रहना परमावश्यक है।

सामाजिक नैतिकताका आधार · आत्मनिरीक्षण

समाज एव राष्ट्रकी इकाई व्यक्तिके जीवनको स्वस्थ—सम्पन्न करनेके लिए स्वार्थत्याग एव वैयक्तिक चारित्रकी निर्मलता अपेक्षित है। आज व्यक्तिमे जो असन्तोष और घबडाहटकी वृद्धि हो रही है, जिसका कुफल विषमता और अपराधोकी बहुलताके रूपमे है, नैतिक आचरण द्वारा ही दूर किया जा सकता है, क्योकि आचरणका सुधारना ही व्यक्तिका सुधार और आचरणका बिगडना ही व्यक्तिका बिगाड़ है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्योंको मन, वचन और काय द्वारा सम्पन्न करता है तथा अन्य व्यक्तियोसे अपना सम्पर्क भी इन्हीके द्वारा स्थापित करता है। ये तीनो प्रवृत्तियाँ मनुष्यको मनुष्यका मित्र और ये ही मनुष्यको मनुष्यका शत्रु भी बनाती हैं। इन प्रवृत्तियोके सत्प्रयोगसे व्यक्ति सुख और शान्ति प्राप्त करता है तथा समाजके अन्य सदस्योके लिए सुख-शान्तिका मार्ग प्रस्तुत करता है, किन्तु जब इन्ही प्रवृत्तियोका दुरुपयोग होने लगता है, तो वैयक्तिक एव सामाजिक दोनो ही जीवनोमे अशान्ति आ जाती है। व्यक्तिकी स्वार्थमूलक प्रवृत्तियाँ विषय-तृष्णाको बढानेवाली होती हैं; मनुष्य उचित-अनुचितका विचार किये बिना तृष्णाको शान्त करनेके लिए जो कुछ कर सकता है, करता है। अतएव जीवनमे निषेधात्मक या निवृत्तिमूलक आचारका पालन करना आवश्यक है। यद्यपि निवृत्तिमार्ग आकर्षक और सुकर नही है, तो भी जो इसका एकबार आस्वादन कर लेता है, उसे शाश्वत और चिरन्तन शान्तिकी प्राप्ति होती है। विध्यात्मक चारित्रका सम्बन्ध शुभप्रवृत्तियोसे है और अशुभ-प्रवृत्तियोसे निवृत्तिमूलक भी चारित्र संभव है। जो व्यक्ति समाजको समृद्ध एव पूर्ण सुखी बनाना चाहता है, उसे शुभविधिका ही अनुसरण करना आवश्यक है।

व्यक्तिके नैतिक विकासके लिए आत्मनिरीक्षणपर जोर दिया जाता है। इस प्रवृत्तिके बिना अपने दोषोकी ओर दृष्टिपात करनेका अवसर ही नही मिलता। वस्तुत व्यक्तिकी अधिकाश क्रियाएँ यन्त्रवत् होती हैं, इन क्रियाओमे कुछ क्रियाओका सम्बन्ध शुभके साथ है और कुछका अशुभके साथ। व्यक्ति न करने योग्य कार्य भी कर डालता है और न कहने लायक बात भी कह देता है तथा न निचार योग्य बातोकी उलझनमे पड़कर अपना और परका अहित भी कर बैठता है। पर आत्मनिरीक्षणकी प्रवृत्ति द्वारा अपने दोष तो दूर किये ही जा सकते हैं तथा अपने कर्त्तव्य और अधिकारोका यथार्थत परिज्ञान भी प्राप्त किया जा सकता है।

प्राय देखा जाता है कि हम दूसरोंकी आलोचना करते हैं और इस आलोचना द्वारा ही अपने कर्त्तव्यकी समाप्ति समझ लेते हैं। जिस बुराईके लिए हम दूसरोको कोसते हैं, हममे भी वही बुराई वर्तमान है, किन्तु हम उसकी ओर दृष्टिपात भी नही करते। अत. समाज-धर्मका आरोहण करनेकी पहली सीढी आत्म-निरीक्षण है। इसके द्वारा व्यक्ति घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, मान, मात्सर्य प्रभृति दुर्गुणोसे अपनी रक्षा करता है और समाजको प्रेमके धरातल पर लाकर उसे सुखी और शान्त बनाता है।

आत्मनिरीक्षणके अभावमे व्यक्तिको अपने दोषोका परिज्ञान नही होता

और फलस्वरूप वह इन दोषोको समाजमें भी आरोपित करता है, जिससे समाजमे भेदभाव उत्पन्न हो जाते हैं और शनै. शनै. समाज विघटित होने लगता है।

समाजधर्मकी पहली सीढ़ी : विचारसमन्वय—उदारदृष्टि

"मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना" लोकोक्तिके अनुसार विश्वके मानवोमें विचार-भिन्नताका रहना स्वाभाविक है, क्योकि सबकी विचारशैली एक नही है। विचार-भिन्नता ही मतभेद और विद्वेषोकी जननी है। वैयक्तिक और सामाजिक जीवनमे अशान्तिका प्रमुख कारण विचारोमे भेद होना ही है। विचार-भेदके कारण विद्वेष और घृणा भी उत्पन्न होती है। इस विचार-भिन्नताका शमन उदारदृष्टि द्वारा ही किया जा सकता है। उदारदृष्टिका अन्य नाम स्याद्वाद है। यह दृष्टि ही आपसी मतभेद एवं पक्षपातपूर्ण नीतिका उन्मूलन कर अनेकतामे एकता, विचारोमे उदारता एवं सहिष्णुता उत्पन्न करती है। यह विचार और कथनको सकुचित, हठ एव पक्षपातपूर्ण न बनाकर उदार, निष्पक्ष और विशाल बनाती है। वास्तवमे विचारोकी उदारता ही समाजमे शान्ति, सुख और प्रेमकी स्थापना कर सकती है।

आज एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिसे, एक वर्ग दूसरे वर्गसे और एक जाति दूसरी जातिसे इसीलिए संघर्षरत है कि उसमे भिन्न व्यक्ति, वर्ग और जातिके विचार उनके विचारोंके प्रतिकूल हैं। साम्प्रदायिकता और जातिवादके नशेमे मस्त होकर निर्मम हत्याएँ की जा रही हैं और अपनेसे विपरीत विचारवालोके ऊपर असंख्य अत्याचार किये जा रहे हैं। साम्प्रदायिकताके नामपर परपस्परमे सघर्ष और क्लेश हो रहे हैं। धर्मकी सकीर्णताके कारण सहस्रो मूक व्यक्तियोको तलवारके घाट उतारा जा रहा है। जलते हुए अग्निकुण्डोमे जीवित पशुओको डालकर स्वर्गका प्रमाणपत्र प्राप्त किया जा रहा है। इस प्रकार विचार-भिन्नताका भूत मानवको राक्षस बनाये हुए है।

उदारताका सिद्धान्त कहता है कि विचार-भिन्नता स्वाभाविक है क्योकि प्रत्येक व्यक्तिके विचार अपनी परिस्थिति, समझ एव आवश्यकताके अनुसार बनते हैं। अत विचारोमे एकत्व होना असम्भव है। प्रत्येक व्यक्तिका ज्ञान एव उसके साधन सीमित हैं। अत एकसमान विचारोका होना स्वभाव-विरुद्ध है।

अभिप्राय यह है कि वस्तुमे अनेक गुण और पर्याय—अवस्थाएँ हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति एव योग्यताके अनुसार वस्तुकी अनेक अवस्थाओमेसे

किसी एक अवस्थाको देखता और विचार करता है। अतः उसका ऐकागिक ज्ञान उसीकी दृष्टि तक सत्य है। अन्य व्यक्ति उसी वस्तुका अवलोकन दूसरे पहलूसे करता है। अतः उसका ज्ञान भी किसी दृष्टिसे ठीक है। अपनी-अपनी दृष्टिसे वस्तुका विवेचन, परीक्षण और कथन करनेमे सभीको स्वतन्त्रता हैं; सभी-का ज्ञान वस्तुके एक गुण या अवस्थाको जाननेके कारण अशात्मक है, पूर्ण नही। जैसे एक ही व्यक्ति किसीका पिता, किसीका भाई, किसीका पुत्र और किसीका भागनेय एक समयमे रह सकता है और उसके भ्रातृत्व, पितृत्व, पुत्रत्व एव भागनेयत्वमे कोई बाधा नही आती। उसी प्रकार ससारके प्रत्येक पदार्थमे एक ही कालमे विभिन्न दृष्टियोसे अनेक धर्म रहते हैं। अतएव उदारनीति द्वारा ससारके प्रत्येक प्राणीको अपना मित्र समझकर समाजके सभी सदस्योके साथ उदारता और प्रेमका व्यवहार करना अपेक्षित है। मतभेदमात्रसे किसीको शत्रु समझ लेना मूर्खताके सिवाय और कुछ नही। प्रत्येक बातपर उदारता और निष्पक्ष दृष्टिसे विचार करना ही समाजमे शान्ति स्थापित करनेका प्रमुख साधन है। यदि कोई व्यक्ति भ्रम या अज्ञानतावश किसी भी प्रकारकी भूल कर बैठता है, तो उस भूलका परिमार्जन प्रेमपूर्वक समझाकर करना चाहिए।

अहवादी प्रकृति, जिसने वर्तमानमे व्यक्तिके जीवनमे बडप्पनकी भावना-की पराकाष्ठा कर दी है, उदारनीतिसे ही दूर की जासकती है। व्यक्ति अपनेको बडा और अन्यको छोटा तभी तक समझता है जबतक उसे वस्तुस्वरूपका यथार्थ बोध नही होता। अपनी ही बाते सत्य और अन्यकी बातें झूठी तभी तक प्रतीत होती है जबतक अनेक गुणपर्यायवाली वस्तुका यथार्थ बोध नही होता। उदारता समाजके समस्त झगडाको शान्त करनेके लिए अमोघ अस्त्र है। विधि, निषेध, उभयात्मक और अवक्तव्यरूप पदार्थोका यथार्थ परिज्ञान सघर्ष और द्वन्द्वोका अन्त करनेमे समर्थ है। यद्यपि विचार-समन्वय तर्कके क्षेत्रमे विशेष महत्त्व रखता है, तो भी लोकव्यवहारमे इसकी उपयोगिता कम नही है। समाजका कोई भी व्यावहारिक कार्य विचारोकी उदारताके बिना चलता ही नही है। जो व्यक्ति उदार है, वही तो अन्य व्यक्तियोके साथ मिल-जुल सकता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि सत्य सापेक्ष होता है, निरपेक्ष नही। हमे वस्तुओके अनन्त रूपो या पर्यायोमेसे एक कालमे उसके एक ही रूप या पर्याय-का ज्ञान प्राप्त होता है और कथन भी किसी एक रूप या पार्यायका ही किया जाता है। अतएव कथन करते समय अपने दृष्टिकोणके सत्य होनेपर भी उस कथनको पूर्ण सत्य नही माना जा सकता, क्योकि उसके अतिरिक्त भी सत्य अवशिष्ट रहता है। उन्हे असत्य तो कहा ही नही जा सकता, क्योकि वे वस्तुका

ही वर्णन करते हैं। अत· उन्हे सत्याश कहा जा सकता है। अतएव एक व्यक्ति जो कुछ कहता है वह भी सत्याश है, दूसरा जो कहता है वह भी सत्याश है। तीसरा कहता है वह भी सत्याश है। इस प्रकार अगणित व्यक्तियोके कथन सत्याश ही ठहरते हैं। यदि इन सब सत्याशोको मिला दिया जाय तो पूर्ण सत्य बन सकता है। इस पूर्ण सत्यको प्राप्त करनेके लिए हमें उन सत्याशो अर्थात् दूसरोके दृष्टिकोणोके प्रति उदार, सहिष्णु और समन्वयकारी बनना होगा और यही सत्यका आग्रह है। जबतक हम उन सत्याशो—दूसरोके दृष्टिकोणोके प्रति अनुदार-असहिष्णु बने रहेगे, समन्वय या सामञ्जस्यकी प्रवृत्ति हमारी नही होगी, हम सत्यको नही प्राप्त कर सकेंगे और न हमारा व्यवहार ही समाजके लिए मगलमय होगा। विराट् सत्य असख्य सत्याशोको लेकर बना है। उन सत्याशोकी उपेक्षा करनेसे हम कभी भी उस विराट् सत्यको नही प्राप्त कर सकेंगे। आपेक्षिक सत्यको कहने और दूसरोके दृष्टिकोणमे सत्य ढूँढने एव उनके समन्वय या सामजस्य करनेकी पद्धति या शैली उदारता है। यह उदारता समाजको सुगठित, सुव्यवस्थित और समृद्ध बनानेके लिए आवश्यक है।

उदारता सत्यको ढूँढने तथा अपनेसे भिन्न दृष्टिकोणोके साथ समझौता करनेकी प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया द्वारा मनोभूमि विस्तृत होती है और व्यक्ति सत्याशको उपलब्ध करता है। उदार दृष्टिकोण या समन्वयवृत्ति ही सत्यकी उपलब्धिके लिए एकमात्र मार्ग है। आग्रह, हठ, दम्भ और सघर्षोंका अन्त इसीके द्वारा सम्भव है। हठ, दुराग्रह और पक्षपात ऐसे दुर्गुण है जो एक व्यक्तिको दूसरे व्यक्तिसे समझौता नही करने देते। जब तक विचारोमे उदारता नही, अपने दृष्टिकोणको यथार्थरूपमे समझनेकी शक्ति नही, तब तक पूर्वाग्रह लगे ही रहते हैं। उदारता यह समझनेके लिए प्रेरित करती है कि किसी भी पदार्थमे अनेक रूप और गुण है। हम इन अनेक रूप और गुणोमेसे कुछको ही जान पाते हैं। अत हमारा ज्ञान एक विशेष दृष्टि तक ही सीमित है। जब तक हम दूसरोके विचारोका स्वागत नही करेंगे, उनमे निहित सत्यको नही पहचानेंगे, तबतक हमारी ऐकान्तिक हठ कैसे दूर हो सकेगी। उदारता या विचारसमन्वय वैयक्तिक और सामाजिक गुत्थियोको सुलझाकर समाजमे एकता और वैचारिक अहिंसाकी प्रतिष्ठा करता है।

समाजधर्मकी दूसरी सीढ़ी · विश्वप्रेम और नियन्त्रण

समस्त प्राणियोको उन्नतिके अवसरोमे समानता होना, समाजधर्मकी दूसरी सीढी है और इस समानताप्राप्तिका साधन विश्वप्रेम या आत्मनियन्त्रण है। जिस व्यक्तिके जीवनमे आत्म-नियन्त्रण समाविष्ट हो गया है वह समाजके

सभी सदस्योंके साथ भाईचारेका व्यवहार करता है। उनके दु:ख-दर्दमे सहायक होता है। उन्हे ठीक अपने समान समझता है। हीनाधिककी भावनाका त्याग-कर अन्य अन्य व्यक्तियोकी सुख-सुविधाओका भी ध्यान रखता है। पाखण्ड और धोखेबाजोकी भावनाओका अन्त भी विश्वप्रेम द्वारा सम्भव है। शोषित और शोषकोका जो सघर्ष चल रहा है, उसका अन्त विश्वप्रेम और आत्म-नियन्त्रणके विना सम्भव नही। विश्वप्रेमकी पवित्र अग्निमे दम्भ, पाखण्ड, हिंसा, ऊँच-नीचकी भावना, अभिमान, स्वार्थबुद्धि, छल-कपट प्रभृति समस्त भावनाएँ जलकर छार बन जाती हैं—और कर्त्तव्य, अहिंसा, त्याग और सेवाकी भावनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

यह एक ऐसा सिद्धान्त है जो व्यक्ति और समाजके बीच अधिकार और कर्त्तव्यकी शृङ्खला स्थापित कर सकता है। समाज एव व्यक्तिके उचित सबधोका सतुलन इसीके द्वारा स्थापित हो सकता है। व्यक्ति सामाजिक हित-की रक्षाके लिए अपने स्वार्थका त्यागकर सहयोगकी भावनाका प्रयोग भी प्रेमसे ही कर सकता है। आज व्यक्ति और समाजके बीचकी खाई सघर्ष और शोषणके कारण गहरी हो गई है। इस खाईको इच्छाओके नियन्त्रण और प्रेमा-चरण द्वारा ही भरा जा सकता है। निजी स्वार्थसाधनके कारण अगणित व्यक्ति भूखसे तडप रहे हैं और असख्यात विना वस्त्रके अर्धनग्न घूम रहे हैं। यदि भोगोपभोगकी इच्छाओके नियन्त्रणके साथ आवश्यकताएँ भी सीमित हो जाये और विश्वप्रेमके जादूका प्रयोग किया जाय, तो यह स्थिति तत्काल समाप्त हो सकती है।

मानवका जीना अधिकार है, किन्तु दूसरेको जीवित रहने देना उसका कर्त्तव्य है। अतः अपने अधिकारोकी माँग करनेवालेको कर्त्तव्यपालनकी ओर सजग रहना अत्यावश्यक है। समाजमे व्याप्त विषमता, अशान्ति और शोषणका मूल कारण कर्त्तव्योकी उपेक्षा है।

समाजधर्मकी दूसरी सीढ़ीके लिए सहायक

अहिंसाके आधारपर सहयोग और सहकारिताकी भावना स्थापित करनेसे समाजधर्मकी दूसरी सीढीको बल प्राप्त होता है। समाजका आर्थिक एव राज-नीतिक ढाँचा लोकहितकी भावनापर आश्रित हो तथा उसमे उन्नति और विकासके लिए सभीको समान अवसर दिये जायें। अहिंसाके आधारपर निर्मित समाजमे शोषण और सघर्ष रह नही सकते। अहिंसा ही एक ऐसा शस्त्र है जिसके द्वारा बिना एक बूँन्द रक्त बहाये वर्गहीन समाजकी स्थापना की जा

सकती है। यद्यपि कुछ लोग अहिंसाके द्वारा निर्मित समाजको आदर्श या कल्पनाकी वस्तु मानते हैं, पर यथार्थत यह समाज काल्पनिक नही, प्रत्युत व्यावहारिक होगा। यतः अहिंसाका लक्ष्य यही है कि वर्गभेद या जातिभेदसे ऊपर उठकर समाजका प्रत्येक सदस्य अन्यके साथ शिष्टता और मानवताका व्यवहार करे। छलकपट या इनसे होनेवाली छीनाझपटी अहिंसाके द्वारा ही दूर की जा सकती है। यह सुनिश्चित है कि बलप्रयोग या हिंसाके आधारपर मानवीय सबधोकी दीवार खडी नही की जा सकती है। इसके लिए सहानुभूति, प्रेम, सौहार्द, त्याग, सेवा एव दया आदि अहिंसक भावनाओकी आवश्यकता है। वस्तुत अहिंसामे ऐसी अद्भुत शक्ति है जो आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक समस्याओको सरलतापूर्वक सुलझा सकती है। समाजधर्मकी दूसरी सीढीपर चढनेके लिए लोकहितकी भावना सहायक कारण है।

समाजको जर्जरित करनेवाली काले-गोरे, ऊँच-नीच और छूआ-छूतकी भावनाको प्रश्रय देना समाजधर्मकी उपेक्षा करना है। जन्मसे न कोई ऊँचा होता है और न कोई नीचा। जन्मना जातिव्यवस्था स्वीकृत नही की जा सकती। मनुष्य जैसा आचरण करता है, उसीके अनुकूल उसकी जाति हो जाती है। दुराचार करनेवाले चोर और डकैत जात्या ब्राह्मण होनेपर भी शूद्रसे अधिक नही हैं। जिन व्यक्तियोके हृदयमे करुणा, दया, ममताका अजस्र प्रवाह समाविष्ट है, ऐसे व्यक्ति समाजको उन्नत बनाते हैं, जाति-अहकारका विष मनुष्यको अर्धमूर्च्छित किये हुए हैं। अत इस विषका त्याग अत्यावश्यक है।

जिस व्यक्तिका नैतिक स्तर जितना ही समाजके अनुकूल होगा वह उतना ही समाजमे उन्नत माना जायगा, किन्तु स्थान उसका भी सामाजिक सदस्य होनेके नाते वही होगा, जो अन्य सदस्योका है। दलितवर्गके शोषण, जाति और धर्मवादके दुरभिमानको महत्त्व देना मानवताके लिए अभिशाप है। जो समाजको सुगठित और सुव्यवस्थित बनानेके इच्छुक हैं, उन्हे आत्म-नियन्त्रण कर जातिवाद, धर्मवाद, वर्गवादको प्रश्रय नही देना चाहिए।

समाजधर्मकी तीसरी सीढ़ी : आर्थिक सन्तुलन

समाजकी सारी व्यवस्थाएँ अर्थमूलक है और इस अर्थके लिए ही सघर्ष हो रहा है। व्यक्ति, समाज या राष्ट्रके पास जितनी सम्पत्ति बढ जाती है वह व्यक्ति, समाज या राष्ट्र उतना ही असन्तोषका अनुभव करता रहता है। अत धनाभावजन्य जितनी अशान्ति है, उससे भी कही अधिक धनके सद्भावसे है।

धनके असमान वितरणको अशान्तिका सबल कारण माना जाता है, पर यह असमान वितरणकी समस्या विश्वकी सम्पत्तिको बाँट देनेसे नही सुलझ

सकती है। इसके समाधानके कारण अपरिग्रह और सयमवाद हैं। ये दोनो सविधान समाजमेसे शोषित और शोषक वर्गकी समाप्ति कर आर्थिक दृष्टिसे समाजको उन्नत स्तरपर लाते हैं। जो व्यक्ति समस्त समाजके स्वार्थको ध्यानमे रखकर अपनी प्रवृत्ति करता है वह समाजकी आर्थिक विषमताको दूर करनेमे सहायक होता है। यदि विचारकर देखा जाय तो परिग्रहपरिमाण और भोगोपभोगपरिमाण ऐसे नियम हैं, जिनसे समाजकी आर्थिक समस्या सुलझ सकती है। इसी कारण समाजधर्मकी तीसरी सीढी आर्थिक सन्तुलनको माना गया है। स्वार्थ और भोगलिप्साका त्याग इस तीसरी सीढीपर चढनेका आधार है।

परिग्रहपरिमाण आर्थिक सयमन

अपने योग-क्षमके लायक भरण-पोषणकी वस्तुओंको ग्रहण करना तथा परिश्रम कर जीवन यापन करना, अन्याय और अत्याचार द्वारा धनका सचय न करना परिग्रहपरिमाण या व्यावहारिक अपरिग्रह है। धन, धान्य, रुपया-पैसा, सोना-चादी, स्त्री-पुत्र प्रभृति पदार्थोंमे 'ये मेरे हैं', इस प्रकारके ममत्वपरिणामको परिग्रह कहते हैं। इस ममत्व या लालसाको घटाकर उन वस्तुओके सग्रहको कम करना परिग्रहपरिमाण है। बाह्यवस्तु—रुपये-पैसोकी अपेक्षा अन्तरग तृष्णा या लालसाको विशेष महत्त्व प्राप्त है, क्योकि तृष्णाके रहनेसे धनिक भी आकुल रहता है। वस्तुत धन आकुलताका कारण नही है, आकुलताका कारण है तृष्णा। सचयवृत्तिके रहनेपर व्यक्ति न्याय-अन्याय एव युक्त-अयुक्तका विचार नही करता।

इस समय ससारमे धनसंचयके हेतु व्यर्थ ही इतनी अधिक हाय-हाय मची हुई है कि सतोष और शान्ति नाममात्रको भी नही। विश्वके समझदार विशेषज्ञोने धनसम्पत्तिके बटवारेके लिए अनेक नियम बनाये हैं, पर उनका पालन आजतक नही हो सका। अनियन्त्रित इच्छाओकी तृप्ति विश्वकी समस्त सम्पत्तिके मिल जानेपर भी नही हो सकती है। आशारूपी गड्ढेको भरनेमे ससारका सारा वैभव अणुके समान है। अत इच्छाओके नियन्त्रणके लिए परिग्रहपरिमाणके साथ भोगोपभोगपरिमाणका विधान भी आवश्यक है। समय, परिस्थिति और वातावरणके अनुसार वस्त्र, आभरण, भोजन, ताम्बूल आदि भोगोपभोगकी वस्तुओके सबधमे भी उचित नियम कर लेना आवश्यक है।

उक्त दोनो व्रतो या नियमोके समन्वयका अभिप्राय समस्त मानव-समाजकी आर्थिक व्यवस्थाको उन्नत बनाना है। चन्द व्यक्तियोको इस बातका कोई अधिकार नही कि वे शोषण कर आर्थिक दृष्टिसे समाजमे विषमता उत्पन्न करे।

इतना सुनिश्चित है कि समस्त मनुष्योमे उन्नति करनेकी शक्ति एक-सी न होनेके कारण समाजमे आर्थिक दृष्टिसे समानता स्थापित होना कठिन है,, तो भी समस्त मानव-समाजको लौकिक उन्नतिके समान अवसर एव अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार स्वतन्त्रताका मिलना आवश्यक है, क्योकि परिग्रहपरिमाण और भोगोपभोगपरिमाणका एकमात्र लक्ष्य समाजकी आर्थिक विषमताको दूर कर सुखी बनाना है। यह पूँजीवादका विरोधी सिद्धान्त है और एक स्थान पर धन सचित होनेकी वृत्तिका निरोध करता है। परिग्रहपरिमाणका क्षेत्र व्यक्तितक ही सीमित नही है, प्रत्युत समाज, देश, राष्ट्र एव विश्वके लिए भी उसका उपयोग आवश्यक है। सयमवाद व्यक्तिकी अनियन्त्रित इच्छाओको नियन्त्रित करता है। यह हिंसा झूठ, चोरी, दुराचार आदिको रोकता है।

परिग्रहके दो भेद हैं—बाह्यपरिग्रह और अन्तरगपरिग्रह। बाह्यपरिग्रहमे धन, भूमि, अन्न, वस्त्र आदि वस्तुएँ परिगणित हैं। इनके सचयसे समाजको आर्थिक विषमताजन्य कष्ट भोगना पड़ता है। अत श्रमार्जित योग-क्षेमके योग्य धन ग्रहण करना चाहिये। न्यायपूर्वक भरण-पोषणकी वस्तुओके ग्रहण करनेसे धन सचित नही हो पाता। अतएव समाजको समानरूपसे सुखी, समृद्ध और सुगठित बनानेके हेतु धनका सचय न करना आवश्यक है। यदि समाजका प्रत्येक सदस्य श्रमपूर्वक आजीविकाका अर्जन करे, अन्याय और बेईमानीका त्याग कर दे, तो समाजके अन्य सदस्योको भी आवश्यकताकी वस्तुओकी कभी कमी नही हो सकती है।

आभ्यन्तरपरिग्रहमे काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि भावनाएँ शामिल हैं। वस्तुत सचयशील बुद्धि—तृष्णा अर्थात् असतोष ही अन्तरगपरिग्रह है। यदि बाह्यपरिग्रह छोड़ भी दिया जाय, और ममत्वबुद्धि बनी रहे, तो समाजकी छीना-झपटी दूर नही हो सकती। धनके समान वितरण होनेपर भी, जो बुद्धिमान हैं, वे अपनी योग्यतासे धन एकत्र कर ही लेगे और समाजमे विषमता बनी ही रह जायगी। इसी कारण लोभ, माया, क्रोध आदि मानवीय विकारोके त्यागनेका महत्त्व है। अपरिग्रह वह सिद्धान्त है, जो पूँजी और जीवनोपयोगी अन्य आवश्यक वस्तुओके अनुचित सग्रहको रोक कर शोषणको बन्द करता है और समाजमे आर्थिक समानताका प्रचार करता है। अतएव सचयशील वृत्तिका नियन्त्रण परम आवश्यक है। यह वृत्ति ही पूँजीवादका मूल है।

तीसरी सीढीका पोषक : संयमवाद

ससारमे सम्पत्ति एव भोगपभोगकी सामग्री कम है। भोगनेवाले अधिक हैं और तृष्णा इससे भी ज्यादा है। इसी कारण प्राणियोमे मत्स्यन्याय चलता है,

छीना-झपटी चलती है और चलता है संघर्ष। फलत. नाना प्रकारके अत्याचार और अन्याय होते है, जिनसे अहर्निश अशान्ति बढती है। परस्परमे ईर्ष्या-द्वेष-की मात्रा और भी अधिक बढ जाती है, जिससे एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिको आर्थिक उन्नतिके अवसर ही नही मिलने देता। परिणाम यह होता है कि सघर्ष और अशान्तिकी शाखाएँ बढकर विषमतारूपी हलाहलको उत्पन्न करती हैं।

इस विषको एकमात्र औषध सयमवाद है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छाओ, कषायो और वासनाओ पर नियन्त्रण रखकर छीना-झपटीको दूर कर दे, तो समाजसे आर्थिक विषमता अवश्य दूर हो जाय। और सभी सदस्य शारीरिक आवश्यकताओकी पूर्ति निराकुलरूपसे कर सकते हैं। यह अविस्मरणीय है कि आर्थिक समस्याका समाधान नैतिकताके विना सम्भव नही है। नैतिक मर्यादाओका पालन हो आर्थिक साधनोमे समीकरण स्थापित कर सकता है। जो केवल भौतिकवादका आश्रय लेकर जीवनकी समस्याओको सुलझाना चाहते हैं, वे अन्धकारमे हैं। आध्यात्मिकता और नैतिकताके अभावमे आर्थिक समस्याएँ सुलझ नही सकती हैं।

सयमके भेद और उनका विश्लेषण—सयमके दो भेद हैं—(१) इन्द्रियसयम और (२) प्राणिसयम। सयमका पालनेवाला अपने जीवनके निर्वाहके हेतु कम-से-कम सामग्रीका उपयोग करता है, जिससे अवशिष्ट सामग्री अन्य लोगोके काम आती है और सघर्ष कम होता है। विषमता दूर होती है। यदि एक मनुष्य अधिक सामग्रीका उपभोग करे, तो दूसरोके लिये सामग्री कम पडेगी तथा शोषण-का आरम्भ यहीसे हो जायगा। समाजमे यदि वस्तुओका मनमाना उपभोग लोग करते रहे, सयमका अकुश अपने ऊपर न रखें, तो वर्ग-सघर्ष चलता ही रहेगा। अतएव आर्थिक वैषम्यको दूर करनेके लिये इच्छाओ और लालसाओको नियत्रित करना परम आवश्यक है तभी समाज सुखी और समृद्धिशाली बन सकेगा।

अन्य प्राणियोको किंचित् भी दु.ख न देना प्राणिसयम है। अर्थात् विश्वके समस्त प्राणियोकी सुख-सुविधाओका पूरा-पूरा ध्यान रखकर अपनी प्रवृत्ति करना, समाजके प्रति अपने कर्त्तव्यको सुचारूरूपसे सम्पादित करना एव व्यक्तिगत स्वार्थभावनाको त्याग कर समस्त प्राणियोके कल्याणकी भावनासे अपने प्रत्येक कार्यको करना प्राणिसयम है। इतना ध्रुव सत्य है कि जब-तक समर्थ लोग सयम पालन नही करेंगे, तब तक निर्बलोको पेट भर भोजन नही मिल सकेगा और न समाजका रहन-सहन ही ऊँचा हो सकेगा। आत्मशुद्धिके साथ सामाजिक, आर्थिक व्यवस्थाको सुदृढ करना और शासित एव शासक या शोषित एव शोषक इन वर्गभेदोको समाप्त करना भी प्राणिसंयमका लक्ष्य है।

उत्पादन और वितरणजन्य आर्थिक विषमताका सन्तुलन भी अपरिग्रह-वाद और सयमवादद्वारा दूर किया जा सकता है। आज उत्पादनके ऊपर एक जाति, समाज या व्यक्तिका एकाधिकार होनेसे उसे कच्चे मालका सचय करना पड़ता है तथा तैयार किये गये पक्के मालको खपानेके लिए विश्वके किसी भी कोनेके बाजारपर वह अपना एकाधिकार स्थापित कर शोषण करता है। इस शोषणसे आज समाज कराह रहा है। समाजका हर व्यक्ति त्रस्त है। किसीको भी शान्ति नही। स्वार्थपरताने समाजके घटक व्यक्तियोको इतना सकीर्ण बना दिया है, जिससे वे अपने ही आनन्दमे मग्न हैं। अतएव इच्छाओंको नियन्त्रित कर जीवनमे सयमका आचरण करना परम आवश्यक है।

समाजधर्मकी चौथी सीढी : अहिंसाकी विराट् भावना

समाजमे सघर्षका होना स्वाभाविक है, पर इस सघर्षको कैसे दूर किया जाय, यह अत्यन्त विचारणीय है। जिस प्रकार पशुवर्ग अपने सघर्षका सामना पशुबलसे करता है, क्या उसी प्रकार मनुष्य भी शक्तिके प्रयोग द्वारा सघर्षका प्रतिकार करे? यदि मनुष्य भी पशुबलका प्रयोग करने लगे, तो फिर उसकी मनुष्यता क्या रहेगी? अत. मनुष्यको उचित है कि वह विवेक और शिष्टताके साथ मानवोचित विधिका प्रयोग करे। वस्तुत अत्याचारीकी इच्छाके विरुद्ध अपने सारे आत्मबलको लगा देना ही सघर्षका अन्त करना है, यही अहिंसा है। अहिंसा ही अन्याय और अत्याचारसे दीन-दुर्बलोको बचा सकती है। यही विश्वके लिये सुख-शान्ति प्रदायक है। यही ससारका कल्याण करने वाली है, यही मानवका सच्चा धर्म है और यही है मानवताकी सच्ची कसौटी।

मानवकी यह विकारजन्य प्रवृत्ति है कि वह हिंसाका उत्तर हिंसासे झट दे देता है। यह बलवान-बलवानकी लडाई है। समाजमे सभी तो बलवान नही होते। अत कमजोरोकी रक्षा और उनके अधिकारोकी प्राप्ति अहिंसाद्वारा ही सम्भव है। यह निर्बल, सबल, धनी, निर्धन, राक्षस और मनुष्य सभीका सहारा है। यह वह साधन है, जिसके प्रयोग द्वारा हिंसाके समस्त उपकरण व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं। पशुबलको पराजित कर आत्मबल अपना नया प्रकाश सर्वसाधारण-को प्रदान करता है।

इसमे सन्देह नही कि हिंसा विश्वमे पूर्ण शान्ति स्थापित करनेमे सर्वथा असमर्थ है। प्रत्येक प्राणीका यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह आरामसे खाये और जीवन यापन करे। स्वय 'जीओ और दूसरोको जीने दो', यह सिद्धान्त समाजके लिये सर्वदा उपयोगी है। पर आजका मनुष्य स्वार्थ और अधिकारके वशीभूत हो वह स्वय तो जीवित रहना चाहता है किन्तु दूसरोके

जीवनकी रंचमात्र भी परवाह नही करता है। आजका व्यक्ति चाहता है कि मैं अच्छे-से-अच्छा भोजन करूं, अच्छी सवारी मुझे मिले। रहनेके लिये अच्छा भव्य प्रासाद हो तथा मेरी आलमारीमे सोने-चांदीका ढेर लगा रहे, चाहे अन्य लोगोके लिये खानेको सूखी रोटियाँ भी न मिलें, तन ढकनेको फटे-चिथडे भी न हो। मेरे भोग-विलासके निमित्त सैकड़ोके प्राण जाये, तो मुझे क्या? इसप्रकार हम देखते है कि ये भावनाएँ केवल व्यक्तिकी ही नही, किन्तु समस्त समाजको है। यही कारण है कि समाजका प्रत्येक सदस्य दु खी है।

अविश्वासकी तीव्र भावना अन्य व्यक्तियोका गला घोटनेके लिये प्रेरित किये हुए है। अधिकारापहरण और कर्त्तव्य-अवहेलना समाजमे सर्वत्र व्याप्त हैं। निरकुश और उच्छृंखल भोगवृत्ति मानवकी वुद्धिका अपहरण कर उसका पशुताकी ओर प्रत्यावर्त्तन कर रही है। सुखकी कल्पना स्वार्थ-साधन और वासना पूर्तिमे परिसीमित हो समाजको अशान्त वनाये हुए है। हिंसा-प्रतिहिंसा व्यक्ति और राष्ट्रके जीवनमे अनिवार्य-सी हो गयी है। यही कारण है कि समाजका प्रत्येक सदस्य आज दु खी है।

मनुष्यमे दो प्रकारका वल होता है—(१) आध्यात्मिक और (२) शारीरिक। अहिंसा मनुष्यको आध्यात्मिक वल प्रदान करती है। धैर्य, क्षमा, सयम, तप, दया, विनय प्रभृति आचरण अहिंसाके रूप है। कष्ट या विपत्तिके आ जाने पर उसे समभावसे सहना, हाय हाय नही करना, चित्तवृत्तियोको सयमित करना एव सब प्रकारसे कष्टसहिष्णु वनना अहिंसा है और है यह आत्मवल। यह वह शक्ति है, जिसके प्रकट हो जाने पर व्यक्ति और समाज कष्टोके पहाडोको भी चूर-चूर कर डालते हैं। क्षमाशील वन जाने पर विरोध या प्रतिशोधकी भावना समाजमे रह नही पाती। अतएव अहिंसक आचरणका अर्थ है मनसा, वाचा और कर्मणा प्राणीमात्रमे सद्भावना और प्रेम रखना। अहिंसामे त्याग है, भोग नही। जहाँ राग-द्वेष है, वहाँ हिंसा अवश्य है। अत समाजधर्मकी चौथी सीढी पर चढनेके लिये आत्मशोधन या अहिंसक भावना अत्यावश्यक है। व्यक्तिका अहिंसक आचरण ही समाजको निर्भय, वीर एव सहिष्णु बनाता है।

समाजधर्मकी पाचवीं सीढ़ी सत्य या कूटनीतित्याग

कूटनीति और धोखा ये दोनो ही समाजमें अशान्ति-उत्पादक हैं। सत्यमे वह शक्ति है, जिससे कूटनीतिजन्य अशान्तिकी ज्वाला शान्त हो सकती है। दूसरेको कष्ट पहुँचानेके उद्देश्यसे कटु वचन वोलना या अप्रिय भाषण करना मिथ्या भाषणके अन्तर्गत है।

यह स्मरणीय है कि सत्ता और धोखा ये दोनो ही समाजके अकल्याणकारक हैं। इन दोनोका जन्म झूठमे होता है। झूठा व्यक्ति आत्मवंचना तो करता ही है, किन्तु समाजको भी जर्जरित कर देता है। प्रायः देखा जाता है कि मिथ्या भाषणका आरम्भ स्वार्थकी भावनासे होता है। सर्वात्महितवादकी भावना असत्यभाषणमे बाधक है। स्वच्छन्दता, घृणा, प्रतिशोध जैसी भावनाएँ असत्य-भाषणसे ही उत्पन्न होती हैं, क्योंकि मानव-समाजका समस्त व्यवहार वचनोसे चलता है। वचनोमे दोष आ जानेसे समाजकी अपार क्षति होती है। लोकमे प्रसिद्धि भी है कि इसी जिह्वामे विष और अमृत दोनो हैं। समाजको उन्नत स्तर पर लेजानेवाले अहिंसक वचन अमृत और समाजको हानि पहुँचानेवाले वचन विष हैं। अश्लील भाषण करना, निन्दा या चुगली करना, कठोर वचन बोलना और हँसी-मजाक करना समाज-हितमे बाधक हैं। छेदन, भेदन, मारण, शोषण, अपहरण और ताडन सम्बन्धी वचन भी हिंसक होनेके कारण समाजकी शान्तिमे बाधक हैं। अविश्वास, भयकारक, खेदजनक, सन्तापकारक अप्रिय वचन भी समाजको विघटित करते हैं। अतएव समाजको सुगठित, सम्बद्ध और प्रिय व्यवहार करनेवाला बनानेके हेतु सत्य वचन अत्यावश्यक है। भोगसामग्रीकी बहुलताके हेतु जो वचनोका असयमित व्यवहार किया जाता है, वह भी अधिकार और कर्त्तव्यके सन्तुलनका विघातक है। समाजमे सच्ची शान्ति, सत्य व्यवहार द्वारा ही उत्पन्न की जा सकती है और इसीप्रकारका व्यवहार जीवनमे ईमानदारी और सच्चाई उत्पन्न कर सकता है। साधारण परिस्थितियोके बीच व्यक्तिका विकास अहिंसक वचनव्यवहार द्वारा सम्भव होता है। यह समस्त मनुष्यसमाज एक वृहत् परिवार है और इस वृहत् परिवारका सन्तुलन साधन और साध्यके सामजस्य पर ही प्रतिष्ठित है। जो नैतिकता, अहिंसा और सत्यको जीवन मे अपनाता है, वह समाजको सुखी और शान्त बनाता है। आत्मविकासके साथ समाजविकासका पूरा सम्बन्ध जुडा हुआ है। मिथ्या मान्यताएँ, धर्मके सकल्प-विकल्प, क्रिया-काण्ड एवं धार्मिक सम्प्रदायोके विभिन्न प्रकार आदि सभी सामाजिक जीवनकी गतिविधिमे बाधक हैं। अन्धश्रद्धा और मिथ्या विश्वासोका निराकरण भी समाजधर्मकी इस पाँचवी सीढीपर चढनेसे होता है। अनुकम्पा, करुणा और सहानुभूतिका क्रियात्मक विकास भी सत्यव्यवहार द्वारा सम्भव है। जीवनके तनाव, कुण्ठाएँ, सग्रहवृत्ति, स्वार्थपरता आदिका एकमात्र निदान अहिंसक वचन ही है।

समाजधर्मकी छठी सीढ़ी : अस्तेय-भावना

अस्तेयकी भावना समाजके सदस्योके हृदयमे अन्य व्यक्तियोके अधिकारोके

लिए स्वाभाविक सम्मान जागृत करती है। इसका वास्तविक रहस्य यह है कि दूसरेके अधिकारोपर हस्तक्षेप करना उचित नही, बल्कि प्रत्येक अवस्थामें सामाजिक या राष्ट्रीय हितकी भावनाको ध्यानमें रखकर अपने कर्त्तव्यका पालन करना आवश्यक है। यह भूलना न होगा कि अधिकार वह सामाजिक वातावरण है, जो व्यक्तित्वकी वृद्धिके लिए आवश्यक और सहायक होता है। है। यदि इसका दुरुपयोग किया जाय तो समाजका विनाश अवश्यम्भावी हो जाय। अस्तेय-भावना एकाधिकारका विरोधकर समस्त समाजके अधिकारोंको सुरक्षित रखने पर जोर देती है। यह अविस्मरणीय है कि वैयक्तिक जीवनमे जो अधिकार और कर्त्तव्य एक दूसरेके आश्रित हैं वे एक ही वस्तुके दो रूप है। जब व्यक्ति अन्यकी सुविधाओका ख्यालकर अधिकारका उपयोग करता है, तो वह अधिकार समाजके अनुशासनमे हितकर बन कर्त्तव्य बन जाता है—और जब केवल वैयक्तिक स्वत्व रक्षाके लिए उसका उपयोग किया जाता है, तो उस समय अधिकार अधिकार ही रह जाता है।

यदि कोई व्यक्ति अपने अधिकारोपर जोर दे और अन्यके अधिकारोकी अवहेलना करे, तो उसे किसी भी अधिकारको प्राप्त करनेका हक नही है। अधिकार और कर्त्तव्यके उचित ज्ञानका प्रयोग करना ही सामाजिक जीवनके विकासका मार्ग है। अचौर्यको भावना इस समन्वयकी ओर ही इंगित करती है।

मनुष्यकी आवश्यकताएँ बढती जा रही हैं, जिनके फलस्वरूप शोषण और सचयवृत्ति समाजमे असमानता उत्पन्न कर रही है। व्यक्तिका ध्यान अपनी आवश्यकताओकी पूर्ति तक ही है। वह उचित और अनुचित ढगसे धनसचय कर अपनी कामनाओकी पूर्ति कर रहा है, जिससे विश्वमे अशान्ति है। अस्तेयकी भावना उत्तरोत्तर आवश्यकताओको कम करती है। यदि इस भावनाका प्रचार विश्वमे हो जाय, तो अनुचित ढगसे धनार्जनके साधन समाप्त होकर ससारकी गरीबी मिट सकती है।

समाजमे शारीरिक चोरी जितनी की जा सकती है उससे कही अधिक मानसिक। दूसरोकी अच्छी वस्तुओको देखकर जो हमारा मन ललचा जाता है—या हमारे मनमे उनके पानेकी इच्छा हो जाती है, यह मानसिक चोरी है। द्रव्यचोरीकी अपेक्षा भावचोरीका त्याग अनिवार्य है, क्योकि भावनाएँ ही द्रव्यचोरी करानेमे सहायक होती है। भोजन, वस्त्र और निवास आदि आरम्भिक शारीरिक आवश्यकताओसे अधिक सग्रह करना भी चोरीमे सम्मिलित है। यदि समाजका एक व्यक्ति आवश्यकतासे अधिक रखने लग जाय, तो स्वाभाविक ही है कि दूसरोको वस्तुएँ आवश्यकतापूर्तिके लिए भी नही मिल सकेंगी।

यदि दो जोडी कपडोंके स्थानपर यदि कोई पचास जोडी कपडे रखने लग जाय, तो इससे उसे दूसरे चौवीस व्यक्तियोंको वस्त्रहीन करना पडेगा। अत किसी भी वस्तुका सीमित आवश्यकतासे अधिक सचय समाज-हितकी दृष्टिसे अनुचित है।

सस्ता समझकर चोरोके द्वारा लाई गई वस्तुओको खरीदना, चोरीका मार्ग बतलाना, अनजान व्यक्तियोसे अधिक मूल्य लेना, अधिक मूल्यकी वस्तुओमे कम मूल्यवाली वस्तुओको मिलाकर बेचना चोरी है। प्राय. देखा जाता है कि दूध बेचनेवाले व्यक्ति दूधमे पानी डालकर बेचते हैं। कपडा धोनेके सोडेमे चूना मिलाया जाता है। इसी प्रकार अन्य खाद्यसामग्रियोमे लोभवश अशुद्ध और कम मूल्यके पदार्थ मिलाकर बेचना नितान्त वर्ज्य है।

समाजधर्मकी सातवीं सीढी भोगवासना-नियन्त्रण

यो तो अहिंसक आचरणके अन्तर्गत समाजोपयोगी सभी नियन्त्रण सम्मिलित हो जाते है, पर स्पष्टरूपसे विचार करनेके हेतु वासना-नियन्त्रण या ब्रह्मचर्यभावनाका विश्लेषण आवश्यक है। यह आत्माकी आन्तरिक शक्ति है और इसके द्वारा सामाजिक क्षमताओकी वृद्धि की जाती है। वास्तवमे ब्रह्मचर्यकी साधना वैयक्तिक और सामाजिक दोनो ही जीवनोके लिए एक उपयोगी कला है। यह आचार-विचार और व्यवहारको बदलनेकी साधना है। इसके द्वारा जीवन सुन्दर, सुन्दरतर और सुन्दरतम बनता है। शारीरिक सौन्दर्यकी अपेक्षा आचरणका यह सौन्दर्य सहस्रगुणा श्रेष्ठ है। यह केवल व्यक्तिके जीवनके लिए ही सुखप्रद नही, अपितु समाजके कोटि-कोटि मानवोके लिए उपादेय है।

आचरण व्यक्तिकी श्रेष्ठता और निकृष्टताका मापक यन्त्र है। इसीके द्वारा जीवनकी उच्चता और उसके उच्चतम रहन-सहनके साधन अभिव्यक्त होते हैं। मनुष्यके आचार-विचार और व्यवहारसे बढकर कोई दूसरा प्रमाणपत्र नही, है, जो उसके जीवनकी सच्चाईको प्रमाणित कर सके।

आचरणका पतन जीवनका पतन है और आचरणकी उच्चता जीवनकी उच्चता है। यदि रूढिवादवश किसी व्यक्तिका जन्म नीचकुलमे मान भी लिया जाय, तो इतने मात्रसे वह अपवित्र नही माना जा सकता। पतित वह है जिसका आचार-विचार निकृष्ट है और जो दिन-रात भोग-वासनामे डूबा रहता है। जो कृत्रिम विलासिताके साधनोका उपयोगकर अपने सौन्दर्यकी कृत्रिमरूपमे वृद्धि करना चाहते है उनके जीवनमे विलासिता तो बढती ही है, कामविकार भी उद्दीप्त होते हैं, जिसके फलस्वरूप समाज भीतर-ही-भीतर खोखला होता जाता है।

जो वासनाओके प्रवाहमे वहकर भोगोमे अपनेको डुवा देता है, वह व्यक्ति समाजके लिए भी अभिशाप बन जाता है। भोगाधिक्यसे रोग उत्पन्न होते हैं, कार्य करनेकी क्षमता घटती है और समाजकी नीव खोखली होती है। अतएव सामाजिक विकासके लिए वासनाओको नियन्त्रित कर ब्रह्मचर्य या स्वदारसन्तोष-की भावना अत्यावश्यक है।

ब्रह्मचर्य-साधनाके दो रूप सम्भव हैं—(१) वासनाओपर पूर्ण नियन्त्रण और (२) वासनाओका केन्द्रीकरण। समाजके बीच गार्हस्थिक जीवन व्यतीत करते हुए वासनाओपर पूर्ण नियन्त्रण तो सबके लिए सम्भव नही, पर उनका केन्द्रीकरण सभी सदस्योके लिए आवश्यक है। केन्द्रीकरणका अर्थ विवाहित जीवन व्यतीत करते हुए समाजकी अन्य स्त्रियोको माता, बहिन और पुत्रीके समान समझकर विश्वव्यापी प्रेमका रूप प्रस्तुत करना। यहाँ यह विशेषरूपसे विचारणीय है कि अपनी पत्नीको भी अनियन्त्रित कामाचारका केन्द्र वनाना व्रतसे च्युत होना है। एकपत्नीव्रतका आदर्श इसीलिए प्रस्तुत किया गया है कि जो आध्यात्मिक सन्तोष द्वारा अपनी वासनाको नही जीत सकते, वे स्वपत्नीके ही साथ नियन्त्रितरूपसे काम-रोगको शान्त करें। आध्यात्मिक और शारीरिक स्वास्थ्यकी वृद्धिके लिए इच्छाओपर नियन्त्रण रखना परमावश्यक है। सामाजिक और आत्मिक विकासकी दृष्टिसे ब्रह्मचर्यशब्दका अर्थ ही आत्माका आचरण है। अत केवल जननेन्द्रिय-सबधी विषयविकारोको रोकना पूर्ण ब्रह्मचर्य नही है। जो अन्य इन्द्रियोके विषयोके अधीन होकर केवल जननेन्द्रियसबधी विषयोके रोकनेका प्रयत्न करता है, उसका वह प्रयत्न वायुकी भीत होता है। कानसे विकारकी बातें सुनना, नेत्रोसे विकार उत्पन्न करनेवाली वस्तुएँ देखना, जिह्वासे विकारोत्तेजक पदार्थोंका आस्वादन करना और घ्राणसे विकार उत्पन्न करनेवाले पदार्थोको सूघना ब्रह्मचर्यके लिए तो वाधक है ही, पर समाज-हितकी दृष्टिसे भी हानिकर है। मिथ्या आहार-विहारसे समाजमे विकृति उत्पन्न होती है, जिससे समाज अव्यवस्थित हो जाता है। सामाजिक अशान्तिका एक बहुत बडा कारण इन्द्रियसबधी अनुचित आवश्यकताओकी वृद्धि है। अभक्ष्य-भक्षण भी इसी इन्द्रियकी चपलताके कारण व्यक्ति करता है।

वस्तुत सामाजिक दृष्टिसे ब्रह्मचर्य-भावनाका रहस्य अधिकार और कर्त्तव्यके प्रति आदर-भावना जागृत करना है। नैतिकता और बलप्रयोग ये दोनो विरोधी हैं। ब्रह्मचर्यकी भावना स्वनिरीक्षण पर जोर देती है, जिसके द्वारा नैतिक जीवनका आरम्भ होता है। सामाजिक और राष्ट्रीय जीवनमे सगठन-शक्तिकी जागृति भी इसीके द्वारा होती है। सयमके अभावमे समाजकी व्यवस्था सुचारूरूपसे नही की जा सकती। यत सामाजिक जीवनका आधार नैतिकता है। प्राय.

देखा जाता है कि ससारमे छीना-झपटीकी दो ही वस्तुएँ है—१ कामिनी और २ कञ्चन। जबतक इन दोनोके प्रति आन्तरिक सयमकी भावना उत्पन्न नही होगी, तबतक समाजमे शान्ति स्थापित नही होगी। अभिप्राय यह है कि जीवन निर्वाह—शारीरिक आवश्यकताओकी पूर्तिके हेतु अपने उचित हिस्सेसे अधिक ऐन्द्रियिक सामग्रीका उपयोग न करना सामाजिक ब्रह्मभावना है।

आध्यात्म-समाजवाद

समाजवाद शोषणको रोककर वैयक्तिक सम्पत्तिका नियन्त्रण करता है। यह उत्पादनके साधन और वस्तुओके वितरणपर समाजका अधिकार स्थापित कर समस्त समाजके सदस्योको समता प्रदान करता है। प्रत्येक व्यक्तिको जीवित रहने और खाने-पीनेका अधिकार है तथा समाजको, व्यक्तिको कार्य देकर उससे श्रम करा लेना और आवश्यकतानुसार वस्तुओकी व्यवस्था कर देना अपेक्षित है। सम्पत्ति समाजकी समस्त शक्तियोकी उपज है। उसमे सामाजिक शक्तिकी अपेक्षा, वैयक्तिक श्रमको भी कम महत्त्व प्राप्त नही है। सम्पत्ति सामाजिक रीति-रिवाजोपर आधारित है। अतएव सम्पत्तिके हकोकी भी उत्पत्ति सामाजिक रूपसे होती है। यदि सारा समाज सहयोग न दे, तो किसी भी प्रकारका उत्पादन सम्भव नही है। सामाजिक आवश्यकताएँ व्यक्तिकी आवश्यकताएँ हैं। अतएव व्यक्तिको अपनी-अपनी आवश्यकताओकी पूर्तिके साथ सामाजिक आवश्यकताओ-की पूर्तिके लिए सचेष्ट रहना चाहिए। प्रत्येक व्यक्तिको उस सीमातक वस्तुओ पर अधिकार करनेका हक है, जहाँ तक उसे अपनेको पूर्ण बनानेमे सहायता मिलती है। उसकी भूख, प्यास आदि उन प्राथमिक आवश्यकताओकी पूर्ति अनिवार्य है, जिनकी पूर्तिके अभावमे वह अपने व्यक्तित्वका विकास नही कर पाता।

उस व्यक्तिको जीवनोपयोगी सामग्री प्राप्त करनेका कोई अधिकार नही, जो जीनेके लिए काम नही करता है। दूसरेकी कमाईपर जीवित रहना अनैतिकता है। जिनकी सम्पत्ति दूसरोके श्रमका फल है, वे समाजके श्रमभोगी सदस्य है। उन वस्तुओके उपभोगका उन्हे कोई अधिकार नही, जिन वस्तुओके अर्जनमे उन्होने सीधे या परम्परारूपमे सहयोग नही दिया है। समाजमे वह अपने भीतर ऐसे वर्गको सुरक्षित रखता है जो केवल स्वामित्वके कारण जिन्दा है। अतएव समाजशास्त्रीय दृष्टिसे प्रत्येक व्यक्तिको श्रमकर अपने अधिकारको प्राप्त करना चाहिए। जो समाजके सचित धनको समान वितरण द्वारा समाजमे समत्व स्थापित करना चाहते हैं, वे अधेरेमे हैं। यदि हम यह मान भी ले कि पूँजीके समान वितरणसे समाजमे समत्व स्थापित होना सम्भव है, तो भी यह आशका निरन्तर बनी रहेगी कि प्रत्येक व्यक्तिमे बुद्धि, क्षमता और शक्ति पृथक्-पृथक्

रहनेके कारण यह ममत्व चिरस्थायी नही हो सकता है। जब भी समाजके इन क्षमतापूर्ण व्यक्तियोको अवसर मिलेगा, समाजमे आर्थिक असमता उत्पन्न हो ही जायगी। अतएव इस सम्भावनाको दूर करनेके लिए आध्यात्मिक समाजवाद अपेक्षित है। भौतिक समाजवादसे न तो नैतिक मूल्योकी प्रतिष्ठा ही सम्भव है और न वैयक्तिक स्वार्थका अभाव ही। वैयक्तिक स्वार्थोंका नियन्त्रण आध्यात्मिक आलोकमे ही सम्भव है। रहन-सहनका पद्धतिविशेषमे किसीका स्थान ऊँचा और किसीका स्थान नीचा हो सकता है, पर आध्यात्मिक और नैतिक मूल्योके मानदण्डानुसार समाजके सभी सदस्य समान सिद्ध हो सकते है। परोपजीवी और आक्रामक व्यक्तियोकी समाजमे कभी कमी नही रहती है। कानून या विधिका मार्ग सीमाएँ स्थापित नही कर सकता। जहाँ कानून और विधि है, वहाँ उसके साथ उन्हे तोडने या न माननेकी प्रवृत्ति भी विद्यमान है। अतएव आध्यात्मिक दृष्टिसे नैतिक मूल्योकी प्रतिष्ठा कर समाजमे समत्व स्थापित करना सम्भव है। सभी प्राणियोकी आत्मामे अनन्त शक्ति है, पर वह कर्मावरणके कारण आच्छादित है। कर्मका आवरण इतना विचित्र और विकट है कि आत्माके शुद्ध स्वरूपको प्रकट होने नही देता। जिस प्रकार सूर्यका दिव्य प्रकाश मेघाच्छन्न रहनेसे अप्रकट रहता है उसी प्रकार कर्मोके आवरणके कारण आत्माकी अनन्त शक्ति प्रकट नही होने पाती। जो व्यक्ति जितना पुरुषार्थ कर अहता और ममताको दूर करता हुआ कर्मावरणको हटा देता है उसकी आत्मा उतनी ही शुद्ध होती जाती है। ससारके जितने प्राणी है सभीकी आत्मामे समान शक्ति है। अत विश्वकी समस्त आत्माएँ शक्तिकी अपेक्षा तुल्य हैं और शक्ति-अभिव्यक्तिकी अपेक्षा उनमे असमानता है। आत्मा मूलत समस्त विकार-भावोसे रहित है। जो इस आत्मशक्तिकी निष्ठा कर स्वरूपकी उपलब्धिके लिए प्रयास करता है उसकी आत्मामे निजी गुण और शक्तियाँ प्रादुर्भूत हो जाती है। अतएव सक्षेपमे आत्माके स्वरूप, गुण और उनकी शक्तियोको अवगत कर नैतिक और आध्यात्मिक मूल्योकी प्रतिष्ठा करनी चाहिए। सहानुभूति, आत्मप्रकाशन एव समताकी साधना ऐसे मूल्योके आधार है, जिनके अन्वयनसे समाजवादको प्रतिष्ठा सम्भव है। ये तथ्य सहानुभूति और आत्मप्रकाशनके पूर्वमे बतलाये जा चुके हैं। समताके अनेक रूप सम्भव है। आचारकी समता अहिसा है, विचारो की समता अनेकान्त है, समाजकी समता भोगनियन्त्रण है और भाषाकी समता उदार नीति है। समाजमे समता उत्पन्न करनेके लिए आचार और विचार इन दोनोकी समता अत्यावश्यक है। प्रेम, करुणा, मैत्री, अहिसा, अस्तेय, अब्रह्म, सत्याचरण समताके रूपान्तर हैं। वैर, घृणा, द्वेष, निन्दा, राग, लोभ, क्रोध विषमतामे सम्मिलित हैं।

सामाजिक आचरणके लिए आत्मौपम्य दृष्टि अपेक्षित है। प्रत्येक आत्मा तात्त्विक दृष्टिसे समान है। अत मन, वचन, और कायसे किसीको न स्वय सन्ताप पहुँचाना, न दूसरेसे सन्ताप पहुँचवाना, न सन्ताप पहुँचानेके लिए प्रेरित करना नैतिक मूल्योकी व्यवस्थामे परिगणित है।

हमारे मनमे किसीके प्रति दुर्भावना है, तो मन अशान्त रहेगा, नाना प्रकारके सकल्प-विकल्प मनमे उत्पन्न होते रहेगे और चित्त क्षुब्ध रहेगा। अतएव समाजवादकी प्रतिष्ठाके हेतु प्रत्येक सदस्यका आचरण और कार्य दुर्भावना रहित अत्यन्त सावधानीके साथ होना चाहिए। नैतिक या अहिंसक मूल्योके अभावमे न व्यक्ति जीवित रह सकता है, न परिवार और न समाज ही पनप सकता है। अपने अस्तित्वको सुरक्षित रखनेके लिए ऐसा आचार और व्यवहार अपेक्षित होता है, जो स्वय अपनेको रुचिकर हो। व्यक्ति, समाज और देशके सुख एव शान्तिकी आधारशिला अध्यात्मवाद है। और इसीके साथ अहिसा, मैत्री और समताकी कडी जुडी हुई है। जो अभय देता है वह स्वय भी अभय हो जाता है। जब दूसरोको पर माना जाता है, तब भय उत्पन्न होता है और जब उन्हे आत्मवत् समझ लिया जाता है, तब भय नही रहता। सब उसके बन जाते हैं और वह सबका बन जाता है। अतएव समताकी उपलब्धिके लिए तथा समाजवादको प्रतिष्ठित करनेके लिए निम्नलिखित तीन आधारोपर जीवन-मूल्योकी व्यवस्था स्वीकार करनी चाहिए। मूल्यहीन समाज अत्यन्त अस्थिर और अव्यवस्थित होता है। निश्चयत मूल्योकी व्यवस्था ही समाजवाद-को प्रतिष्ठित कर सकती है।

१. स्वलक्ष्य मूल्य एव अन्तरात्मक मूल्य—शारीरिक, आर्थिक और श्रम सबधी मूल्योके मिश्रण द्वारा जीवनकी मूलभूत प्रवृत्तियोसे ऊपर उठकर तुष्टि, प्रेम, समता और विवेकको दृष्टिमे रखकर मूल्योका निर्धारण।

२. शाश्वत एव स्थायी मूल्य—विवेक, निष्ठा, सद्वृत्ति और विचारसाम-ञ्जस्यकी दृष्टिसे मूल्य निर्धारण। इस श्रेणीमे क्षणिक विषयभोगकी अपेक्षा शाश्वतिक आध्यात्मिक मूल्योका महत्त्व। ज्ञान, कला, धर्म, शिव, सत्य सम्बन्धी मूल्य।

३ सृजनात्मक मूल्य—उत्पादन, श्रम, जीवनोपभोग आदिसे सम्बद्ध मूल्य।

सक्षेपमें समाजवादकी प्रतिष्ठा भौतिक सिद्धान्तोके आधारपर सम्भव न होकर अध्यात्म और नैतिकताके आधारपर ही सम्भव है।

व्यक्ति और समाज : अन्योन्याश्रय सम्बन्ध

व्यक्तियोंके समूह और उनके सम्बन्धोसे समाजका निर्माण होता है। व्यक्ति अनेक सामाजिक समूहोका सदस्य होता है, जो कि उसके बीच पाये जाने वाले सम्बन्धोको प्रतिबिम्बित करते हैं। व्यक्तिके जीवनका प्रभाव समाजपर पडता है। व्यक्ति अपने व्यवहारसे अन्य सदस्योको प्रभावित करता है और अन्य सदस्योके व्यवहारसे स्वय प्रभावित होता है। अत व्यक्तिकी समस्त महत्त्वपूर्ण क्रियाएँ एव चेतनाकी अवस्थाएँ सामाजिक परिस्थितियोमे जन्म लेती हैं और इन्होसे सामाजिक व्यक्तित्वका निर्माण होता है।

व्यक्ति और समाज एक ही वस्तुके दो पहलू हैं। अनेक व्यक्ति मिलकर समाजका गठन करते हैं। उन व्यक्तियोकी विचार-धाराओ, सवेगो, आदतो आदिका पारस्परिक प्रभाव पडता है। अत सक्षेपमे यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति और समाज इन ·दोनोका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। व्यक्तिके बिना समाजका अस्तित्व नही और समाजके अभावमे व्यक्तिके व्यक्तित्वका विकास सम्भव नही। आर्थिक समानता, न्यायिक समानता, मानव समानता, स्वतन्त्रता आदिका सम्बन्ध व्यक्तियोके साथ है। व्यक्तिगत दक्षता समाजको पूर्णतया प्रभावित करती है। समाज-गठनके सिद्धान्तोमे धर्म, सस्कृति, नैतिक सिद्धान्त, कर्त्तव्य-पालन, जीवनके आदर्श, काम्य-भोग आदि परिगणित हैं। अतएव सुखी, सम्पन्न और आदर्श समाजके निर्माण हेतु वैयक्तिक जीवनकी पवित्रता और आचारनिष्ठा भी अपेक्षित है।

सामान्यत धार्मिक सस्कार और नैतिक विधि-विधान व्यक्तिके व्यक्तित्वको परिष्कृत करनेके लिये आवश्यक है। जिस समाजके घटक व्यक्ति सच्चरित्र, ज्ञानी और दृढसकल्पी होगें, उस ससाजका गठन भी उतना ही अधिक सुदृढ होगा। व्यक्तिके समाजमे जन्म लेते ही कुछ दायित्व या ऋण उसके सिरपर आ जाते है, जिन दायित्वों और ऋणोको पूरा करनेके लिये उसे सामाजिक सम्बन्धोके बीच चलना पडता है। शारीरिक, पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धोका निर्वाह करते हुए भी व्यक्ति इन सम्ब्रन्धोमे आसक्त न रहे। जीवनसे सभी प्रकारके कार्य करने पडते है, पर उन कार्योंको कर्त्तव्य समझकर ही किया जाय, आसक्ति मानकर नही। यो तो वैयक्तिक जीवनका लक्ष्य निवृत्तिमूलक है। वह त्यागमार्गके बीच रहकर अपनी आत्माका उत्थान या कल्याण करता है। जीवनको उन्नत और समृद्ध बनानेके लियें आत्मशोधन करता है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारोको आत्मासे पृथक् कर वह निष्काम कर्ममे प्रवृत्त होता है। अत व्यक्ति और समाज इन दोनोका पर-

स्परमें अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है और परस्परमे दोनोंके सहयोगसे ही समाजका विकास और उन्नति होती है।

समाजघटक, सामाजिक संस्थाएँ एवं समाजमें नारीका स्थान

सामाजिक जीवनके अनेक घटक हैं। व्यक्ति मांके उदरसे जन्म लेता है। मां उसका पालन-पोषण करती है। पिता आर्थिक व्यवस्था करता है। भाई-बहन एवं मुहल्लेके अन्य शिशु उसके साथी होते हैं। शिक्षाशालामे वह शिक्षकोंसे विद्याध्ययन करता है। बडा होनेपर उसका विवाह होता है। इस प्रकार एक मनुष्यका दूसरे मनुष्यके साथ अनेक प्रकारका सम्बन्ध स्थापित होता है। इन्ही सम्बन्धोंसे वह बंधा हुआ है। उसका स्वभाव और उसकी आवश्यकताएँ इन सम्बन्धोमे उसे रहनेके लिए बाध्य करती हैं। फलत मनुष्य-को अपनी अस्तित्व-रक्षा और सम्बन्ध-निर्वाहके लिये समाजके बीच रहना पडता है। एकरूपता, सहयोग सहकारिता, सघटन और अन्योन्याश्रितता तो पशुओंके बीच भी पायी जाती है, किन्तु पशुओमे क्रिया-प्रतिक्रियात्मक सम्बन्धो के निर्वाह एव सम्बन्ध-सम्बन्धी प्रतिबोधका अभाव है। सामाजिक सम्बन्धोके घटक अनेक तत्त्व हैं। इनमे निम्नलिखित तत्त्वो की प्रमुखता है—

१ वैयक्तिक लाभके साथ सामूहिक लाभकी ओर दृष्टि
२. न्यायमार्गकी वृत्ति
३. उन्नति और विकासके लिये स्पर्द्धा
४ कलह, प्रेम, एव सघर्षके द्वारा सामाजिक क्रिया-प्रतिक्रिया।
५. मित्रताकी दृष्टि
६ उचित सम्मान-प्रदर्शन
७. परिवारका दायित्व
८. समानता और उदारताकी दृष्टि
९ आत्म-निरीक्षणकी प्रवृत्ति
१०. पाखण्ड-आडम्बरका त्याग
११. अनुशासनके प्रति आस्था
१२ अर्जनके समान त्यागके प्रति अनुराग
१३ कर्त्तव्यके प्रति जागरूकता
१४ एकाधिकारका त्याग और स्वावलम्बनकी प्रवृत्ति
१५ सेवा-भावना

सामाजिक जीवन अर्हाओ और नैतिक नियमोपर अवलम्बित है। रक्षा-विधि और अस्तित्व-निर्वाह समाजके लिये आवश्यक है। सामाजका आर्थिक

एव राजनीतिक ढाँचा लोकहितकी भावनापर आश्रित है, तथा सामाजिक उन्नति और विकासके लिये सभीको समान अवसर प्राप्त हैं। अत अहिंसा, दया, प्रम, सेवा और त्यागके आधारपर सामाजिक सम्बन्धोका निर्वाह कुशलतापूर्वक सम्पन्न होता हे।

अपने योग-क्षेमके लायक भरण-पोषणकी वस्तुओंको ग्रहण करना तथा परिश्रम कर जीवन यापन करना, अन्याय, अत्याचार द्वारा धनार्जन करनेका त्याग करना एव आवश्यकतासे अधिक सचय न करना स्वस्थ समाजके निर्माण-मे उपादेय हैं। अहिंसा और सत्यपर आ॰ृत समाजव्यवस्था मनुष्यको केवल जीवित ही नही रखती, बल्कि उसे अच्छा जीवन यापनके लिये प्रेरित करती हैं। मनुष्यकी शक्तियोका विकास समाजमे ही होता है। कला, साहित्य, दर्शन, संगीत, धर्म आदिकी अभिव्यक्ति मनुष्यकी सामाजिक चेतनाके फलस्वरूप ही होती है। ज्ञानका आदान-प्रदान भी सामाजिक सम्बन्धोके बीच सम्भव होता है। समाजमे ही समुदाय सघ और संस्थाएँ बनती है।

निसन्देह समाज एक समग्रता है और इसका गठन विशिष्ट उपादानोके द्वारा होता है। तथा इसके भौतिक स्वरूपका निर्माण भावनोपेत मनुष्यो-के द्वारा होता है। इसका आध्यात्मिक रूप विज्ञान, कला, धर्म, दर्शन आदिके द्वारा सुसम्पादित किया जाता है। अत समाज एक ऐसी क्रियाशील समग्रता है, जिसके पीछे आध्यात्मिकता, नैतिक भावना और सकल्पात्मक वृत्तियोके सश्लेषोका रहना आवश्यक हे।

सामाजिक संस्था : स्वरूप और प्रकार

समाजके विभिन्न आदर्श और नियन्त्रण जनरीतियो, प्रथाओ और रूढियोके रूपमे पाये जाते हैं। अत नियन्त्रणमे व्यवस्था स्थापित करने एव पारस्परिक निर्भयता बनाये रखनेके हेतु यह आवश्यक है कि उनको एक विशेष कार्यके आधारपर सगठित किया जाय। इस सगठनका नाम ही सामाजिक सस्था है। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आवश्यकताकी पूर्तिके हेतु सामाजिक विरासतमे स्थापित सामूहिक व्यवहारोका एक जटिल तथा घनिष्ठ सघटन है। मानव सामूहिक हितोकी रक्षा एव आदर्शोके पालन करनेके लिये सामाजिक सस्थाओको जन्म देता है। इनका मूलाधार निश्चित आचार-व्यवहार और समान हित-सम्पादन है। अधिक समय तक एक ही रूपमे कतिपय मनुष्योके व्यवहार और विश्वासो-का प्रचलन सामाजिक सस्थाओको उत्पन्न करता है। ये मनुष्योकी सामूहिक क्रियाओ, सामूहिक हितो, आदर्शो एव एक ही प्रकारके रीति-रिवाजोपर अव-

लम्बित हैं। सामाजिक सस्थाओमे निम्नलिखित गुण और विशेषताएँ पायी जाती हैं—

१ सामाजिक सस्थाएँ प्रारम्भिक आवश्यकताओकी पूर्तिका साधन होती हैं।

२ सामाजिक सस्थाओ द्वारा सामाजिक नियन्त्रणका कार्य सम्पन्न होता है।

३ सामाजिक अर्हाओ और प्रजातिक व्यवहारोका सम्पादन सामाजिक सस्थाओ द्वारा सम्भव है।

४ अनुशासन और आदर्शको रक्षा इन्हीके द्वारा होती है।

५. इनका कोई निश्चित उद्देश्य होता है।

६ नैतिक आदर्श और व्यवहारोका सम्पादन इन्हीके द्वारा होता है।

७. सामाजिक सस्थाएँ ऐसे बन्धन हैं, जिनसे समाज मनुष्योको सामूहिक रूपसे अपनी सस्कृतिके अनुरूप व्यवहार करनेके लिये बाध्य कर देता है, अत सामाजिक सस्थाओके आदर्श और धारणाएँ होती हैं, जिन्हे समाज अपनी सस्कृतिकी रक्षाके लिये आवश्यक मानता है।

८ सामाजिक सस्थाओका सचालन आचार-सहिताओके आधारपर होता है।

९. प्रत्येक धर्म सम्प्रदायकी आचार-सहिता भिन्न होती है। अत. सामाजिक सस्थाओका रूपगठन भी भिन्न धरातलपर सम्पन्न होता है।

यो तो सामाजिक सस्थाएँ अनेक हो सकती हैं, पर आध्यात्मिक चेतना और लोक-जीवनके सम्पादनके लिये जिन सामाजिक सस्थाओकी आवश्यकता है, वे निम्नलिखित हैं—

१. चतुर्विध सघ-सस्था
२. आश्रम-सस्था
३ विवाह-सस्था
४. कुल-संस्था
५ सस्कार-सस्था
६ परिवार-सस्था
७ पुरुषार्थ-सस्था
८ चैत्यालय-सस्था
९ गुणकर्माधारपर प्रतिष्ठित वर्णजातिसस्था

इन सस्थाओ के सम्बन्धमे विशेष विवेचन करनेकी आश्यकता नही है। नामसे ही इनका स्वरूप स्पष्ट है।

वर्त्तमानमे समाजमें नारीका स्थान बहुत निम्न श्रेणीका हो रहा है। आज नारी भोगेषणाकी पूर्तिका साधन मात्र रह गयी है। न उसे अध्ययन कर आत्म-विकासके अवसर प्राप्त हैं और न वह धर्म एव समाजके क्षेत्रमे आगे ही आ सकती है। दासीके रूपमे नारीको जीवन यापन करना पडता है, उसके साथ होनेवाले सामाजिक दुर्व्यवहार प्रत्येक विचारशील व्यक्तिको खटकते हैं। नारी-समाजको देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है जैसे युगयुगान्तरसे इनकी आत्मा ही खरीद ली गयी है। अनमेल-विवाहने नारीकी स्थितिको और गिरा दिया है। सामन्तयुगसे प्रभावित रहनेके कारण आज दहेज लेना-देना बड़प्पनका सूचक समझा जाता है। आज नारीका स्वतन्त्र व्यक्तित्व नही रहा है, पुरुषके व्यक्तित्वमे ही उसका व्यक्तित्व मिल गया है। अत इस दयनीय स्थितिको उन्नत बनाना अत्यावश्यक है। यह भूलना न होगा कि नारी भी मनुष्य है और उसको भी अपनी उन्नतिका पूरा अधिकार प्राप्त है।

वर्त्तमान समाजने नारी और शूद्रके लिये वेदाध्ययन वर्जित किया है। यदि कदाचित् ये दोनो वर्ग किसीप्रकार वेदके शब्दोंको सुन ले, तो इनके कानमे शीशा गर्म कर डाल देना चाहिये। ऐसे निर्दयता एव क्रूरतापूर्ण व्यवहार समाजके लिये कभी भी उचित नही है। नारी भी पुरुषके समान धर्मसाधन, कर्त्तव्यपालन आदि समाजके कार्योंको पूर्णतया कर सकती है। अतएव वर्त्तमानमे समाज-गठनके लिये लिंग-भेद, वर्ग-भेद, जाति-भेद, धन-भेदके भावको दूर करना परमावश्यक है। नारीको सभी प्रकारके सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक अधिकार प्राप्त होने चाहिये। भेद-भावकी खाई समाजको सम धरातल-पर प्रतिष्ठित नही कर सकती है। नर-नारी, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी मनुष्य है और सबकी अपनी-अपनी उपयोगिता है। जो इनमे भेद-भाव उत्पन्न करते हैं, वे सामाजिक सिद्धान्तोके प्रतिरोधी हैं। अत समाजमें शान्ति-सुखव्यवस्था स्थापित करनेके लिये मानवमात्रको समानताका अधिकार प्राप्त होना चाहिये।

तीर्थंकर महावीरकी समाजव्यवस्थाकी आधुनिक उपयोगिता

तीर्थंकर महावीर द्वारा प्रतिपादित समाज-व्यवस्था आधुनिक भारतमे भी उपयोगी है। महावीरने नारीको जो उच्च स्थान प्रदान किया, आजके सविधान-ने भी नारीको वही स्थान दिया है। वर्गभेद और जाति-भेदके विषको दूर करने के लिये महावीरने अपनी पीयूष-वाणी द्वारा समाजको उद्‌बोधित किया। उनकी समाज-व्यवस्था भी कर्मकाण्ड, लिंग, जाति, वर्ग आदि भेदोसे मुक्त थी। इनकी

समाज-व्यवस्थाका आधार अध्यात्म, अहिंसा, नैतिक नियम और ऐसे धार्मिक नियम थे, जिनका सम्बन्ध किसी भी जाति, वर्ग या सम्प्रदायसे नही था। महावीरका सिद्धान्त है कि विश्वके समस्त प्राणियोके साथ आत्मीयता, बन्धुता और एकताका अनुभव किया जाय। अहिंसा द्वारा सबके कल्याण और उन्नतिकी भावना उत्पन्न होती है। इसके आचरणसे निर्भीकता, स्पष्टता, स्वतन्त्रता और सत्यता बढती है। अहिंसाकी सीमा किसी देश, काल, और समाज तक सीमित नही है। अपितु इसकी सीमा सर्वदेश और सर्वकाल तक विस्तृत है। अहिंसासे ही विश्वास, आत्मीयता, पारस्परिक प्रेम एव निष्ठा आदि गुण व्यक्त होते हैं। अहकार, दम्भ, मिथ्या विश्वास, असहयोग आदिका अन्त भी अहिंसा द्वारा ही सम्भव है। यह एक ऐसा साधन है जो बड़े-से-बड़े साध्यको सिद्ध कर सकता है।

अहिंसात्मक प्रतिरोध अनेक व्यक्तियोको इसीलिये निर्बल प्रतीत होता है कि उसके अनुयायियोने प्रेमकी उत्पादक शक्तिको पूर्णतया पहचाना नही है। वास्तवमे आत्मीयता और एकताकी भावनासे ही समाजमे स्थायित्व उत्पन्न होता है। यदि भावनाओमे क्रोध, अभिमान, कपट, स्वार्थ. राग-द्वेष आदि हैं, तो ऊपरसे भले ही दया या करुणाका आडम्बर दिखलायी पडे, आन्तरिक विश्वास जागृत नही हो सकता। यदि हृदयमे प्रेम है, रक्षाकी भावना है और है सहानुभूति एव सहयोगकी प्रवृत्ति, तो ऊपरका कठोर व्यवहार भी विश्वासोत्पादक होगा। इसमे सन्देह नही है कि अहिंसाके आधारपर प्रतिष्ठित समाज ही सुख और शान्तिका कारण बन सकता है।

शक्तिप्रयोगसम्बन्धी सिद्धान्तका विश्लेषण इजिनियरिंग कलाके आलोकमे किया जा सकता है। मनुष्यके स्वभाव और समाजमे अपार शक्ति है। इसके क्रोधादिके रूपमे फूट पडनेसे रोकना चाहिये और प्रेमकी प्रणाली द्वारा उपयोगी कार्योंमे लगाना चाहिये। इस सिद्धान्तको यो समझा जा सकता है कि हम भापकी शक्तिको फूट पडनेसे रोक कर बायलर और अन्य वस्तुओकी रक्षा करते हैं और इजिनको शक्तिशाली बनाते हैं। इसीप्रकार हम व्यक्तिके अहकार, काम, क्रोधादि दुर्गुणोको फूट पडनेसे रोक सके और इन गुणोका परिवर्तन अहिंसक शक्तिके रूपमे कर सकें, तो समाजका सचालित करनेके लिये अपार शक्तिशाली व्यक्तिरूपी एजिन प्राप्त होता है।

एकताकी भावना अहिंसाका ही रूप है। कलह, फूट, द्वन्द्व और सघर्ष हिंसा है। ये हिंसक भावनाएँ सामाजिक जीवनमे एकता और पारस्परिक विश्वास उत्पन्न नही कर सकती है।

यदि हम समाजके प्रत्येक सदस्यके साथ समता, सहानुभूति और सहृदयताका व्यवहार करें, तो समाजके विकासमे अवरोध पैदा नही हो सकता है।

तीर्थंकर महावीरने समाज-व्यवस्थाके लिये दया, सहानुभूति, सहिष्णुता और नम्रताको साधनके रूपमे प्रतिपादित किया है। ये चारो ही साधन वर्त्तमान समाज-व्यवस्थाके लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। समाजके कष्टोके प्रति दया एक अच्छा साधन है। इससे समाजमे एकता और बन्धुत्वकी भावना उत्पन्न होती है। तीर्थंकर महावीरका सिद्धान्त है कि दयाका प्रयोग ऐसा होना चाहिये, जिससे मनुष्यमे दयनीयताकी भावना उत्पन्न न हो और दया करनेवालोमे अभिमानकी भावना जागृत न हो। समाज-व्यवस्थाके लिये दया, दान, सयम और शील आवश्यक तत्त्व हैं। इन तत्त्वो या गुणोसे सहयोगकी वृद्धि होती है। समाजकी समस्त विसगतियाँ एव कठिनाईयाँ उक्त साधनो द्वारा दूर हो जाती है।

सहिष्णुताकी भावनाको भी समाज-गठनके लिये आवश्यक माना गया है। मानव-समाज एक शरीरके तुल्य है। शरीरमे जिस प्रकार अंगोपाग, नस, नाड़ियाँ अवस्थित रहती है, पर उन सबका सम्पोषण हृदयके रक्तसचालन द्वारा होता है, इसी प्रकार समाजमें विभिन्न स्वभाव और गुणधारी व्यक्ति निवास करते हैं। इन समस्त व्यक्तियोकी शारीरिक एव मानसिक योग्यताएँ भिन्न-भिन्न रहती हैं, पर इन समस्त सामाजिक सदस्योको एकताके सूत्रमे अहिंसाके रूप प्रेम, सहानुभूति, नम्रता, सत्यता आदि आबद्ध करते है। नम्रता और सहानुभूतिको कमजोरी, कायरता और दुरभिमान नही माना जा सकता। इन गुणोका अर्थ हीनता नही, किन्तु आत्मिक समानता है। भौतिक बडप्पन, वर्गश्रेष्ठता, कुलीनता, धन और पदवियोका महत्त्व आध्यात्मिक दृष्टिसे कुछ भी नही है। अतएव समाजको अहिंसात्मक शक्तियोके द्वारा ही नियन्त्रित किया जा सकता है। अहिंसक आत्मनिग्रही बनकर समाजको एक निश्चित मार्गका प्रदर्शन करता है। वास्तवमे मानव-समाजको यथार्थ आलोककी प्राप्ति राग-द्वेष और मोहको हटानेपर ही हो सकती है। अहिसक विचारोके साथ आचार, आहार-पान भी अहिंसक होना चाहिए।

कर्त्तव्य-कर्मोका सावधानी पूर्वक पालन करना तथा दुर्व्यसन, द्यूत क्रीडा, मासभक्षण, मदिरापान, आखेट, वेश्यागमन, परस्त्री-सेवन एव चौर्यकर्म आदिका त्याग करना सामाजिक सदस्यताके लिये अपेक्षित हैं।

धन एव भोगोंकी आसुरी लालसाने व्यक्तिको तो नष्ट किया ही है, पर अगणित समाजोको भी बर्बाद कर डाला है। आसुरी वासनाओकी तृप्ति एक

काल तो क्या त्रिकालमे भी सम्भव नही है। अतएव न्याय-अन्याय, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, पुण्य-पाप आदिका विचार कर समाजको अहिंसक नीति द्वारा व्यवस्थित करना चाहिये। इसमे सन्देह नही कि महावीरकी समाज-व्यवस्था आजके युगमे भी उतनी ही उपयोगी है, जितनी उपयोगी उनके समयमे थी। महावीरने श्रमको जीवनका आवश्यक मूल्य बताया है। मानवीय मूल्योमे इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। समाज धन या सम्पत्तिसे पूर्ण सुखका अनुभव नही कर सकता है। पर नीति और अध्यात्मके द्वारा तृष्णा, स्वार्थ और द्वेषका अन्त हो सकता है।



उपसंहार

महावीर : व्यक्तित्व-विश्लेषण

काचन काया

सात हाथ उन्नत शरीर, दिव्य काञ्चन आभा, आजानबाहु, समचतुरस्र-सस्थान, वज्रवृषभनाराचसहनन आदिसे युक्त तीर्थंकर महावीर तन और मन दोनोसे ही अद्भुत सुन्दर थे। उनकी लावण्य-छटा मनुष्योको ही नही, देव, पशु-पक्षी एव कीट-पतगको भी सहजमे अपनी ओर आकृष्ट करती थी। देवेन्द्र भी उनके दिव्य तेजसे आकृष्ट हो चरण-वन्दनके लिये आते, अगणित मनुष्य-सामन्तोकी तो बात ही क्या।

उनके व्यक्तित्वको लोक-कल्याणकी भावनाने सजाया था, सँवारा था। वे अपने भीतर विद्यमान शक्तिका स्फोटन कर प्रतिकूल कण्टकाकीर्ण मार्गको पुष्पावकीर्ण बनानेके लिये सचेष्ट थे। महावीर ऐसे नद थे, जो चट्टानोका भेदन

कर स्वयं अपने लिये पथका निर्माण करते हैं। वे निर्झर थे, कुलिका (नहर) नही। उन्होने कठिन-से-कठिन तप कर, कामनाओ और वासनाओपर विजय पा कर लोक-कल्याणका ऐसा उज्ज्वल मार्ग तैयार किया, जो प्राणिमात्रके लिये सहजगम्य और सुलभ था।

कर्मयोगी

महावीरके व्यक्तित्वमे कर्मयोगको साधना कम महत्त्वपूर्ण नही है। वे स्वयबुद्ध थे, स्वय जागरुक थे और बोधप्राप्तिके लिये स्वय प्रयत्नशील थे। न कोई उनका गुरु था और न किसी शास्त्रका आधार ही उन्होने ग्रहण किया था। वे कर्मठ थे और स्वय उन्होने पथका निर्माण किया था। उनका जीवन भय, प्रलोभन, राग-द्वेष सभीसे मुक्त था। वे नील गगनके नीचे हिंस्र-जन्तुओंसे परिपूर्ण निर्जन वनोमे कायोत्सर्ग मुद्रामे ध्यानस्थ हो जाते थे। वे कभी मृत्यु-छायासे आक्रान्त श्मशानभूमिमे, कभी गिरि-कन्दराओमे, कभी गगनचुम्वी उत्तुग पर्वतोके शिखरोपर, कभी कल-कल, छल-छल निनाद करती हुई सरिताओके तटोपर और कभी जनाकीर्ण राजमार्गपर कायोत्सर्ग-मुद्रामे अचल और अडिगरूपसे ध्यानस्थ खडे रहते थे। वे कर्मयोगी शरीरमे रहते हुए शरीरसे पृथक्, शरीरकी अनुभूतिसे भिन्न जीवनकी आशा और मरणके भयसे विप्रमुक्त स्वकी शोधमे सलग्न रहते थे।

कर्मयोगी महावीरने अपने श्रम, साधना और तप द्वारा अगणित प्रकारके उपसर्गोको सहन किया। कही सुन्दरियोने उन्हे साधनासे विचलित करनेका प्रयास किया, तो कही दुष्ट और अज्ञानियोने उन्हे नाना प्रकारकी यातनाएँ दी, पर वे सब मौनरूपसे सहन करते रहे। न कभी मनमे ही विकार उत्पन्न हुआ और न तन ही विकृत हुआ। इस कर्मयोगीके समक्ष शाश्वत विरोधी प्राणी भी अपना वैरभाव छोडकर शान्तिका अनुभव करते थे। धन्य है महावीरका वह व्यक्तित्व, जिसने लौह पुरुषका सामर्थ्य प्राप्त किया और जिस व्यक्तित्वके समक्ष जादू, मणि, मन्त्र-तन्त्र सभी फीके थे।

अद्भुत साहसी

महावीरके व्यक्तित्वमे साहस और सहिष्णुताका अपूर्व समावेश हुआ था। सिह, सर्प जैसे हिंस्र जन्तुओके समक्ष वे निर्भयतापूर्वक उपस्थित हो उन्हे मौन रूपमे उद्‌बोधित कर सन्मार्गपर लाते थे। जरा, रोग और शारीरिक अवस्थाओके उस घेरेको, जिसमे फँस कर प्राणी हाहाकार करता रहता है, महावीर साहसी बन मृत्यु-विजेताके रूपमे उपस्थित रहते थे। महावीरने बडे साहसके

साथ परिवर्तित होते हुए मानवीय मूल्योंको स्थिरता प्रदान की और प्राणियोमे निहित शक्तिका उद्घाटन कर उन्हे निर्भय बनाया। उन जैसा अपूर्व साहसी शताब्दियोमे ही एकाध व्यक्ति पैदा होता है। शूलपाणि जैसे यक्षका आंतक और चण्डकौशिक जैसे सर्पकी विषज्वाला इनके साहसके फलस्वरूप ही शमनको प्राप्त हुई। अनार्य देशमे साधना करते हुए महावीरके स्वरूपसे अनभिज्ञ व्यक्तियोने उन्हे गालियाँ दी, पाषाण बरसाए, दण्डोसे पूजा की, दश-मशक और चीटियोने काटा, पर महावीर अपने साहससे विचलित न हुए। उनकी अपूर्व सहिष्णुता और अनुपम शान्ति विरोधियोका हृदय परिवर्तित कर देती थी। वे प्रत्येक कष्टका साहसके साथ स्वागत करते, शरीरको आराम देनेके लिये न वस्त्र धारण करते, न पृथ्वी पर आसन विछाकर शयन करते, न अपने लिये किसी वस्तुकी कामना ही करते। उनके अनुपम धैर्यको देखकर देवराज इन्द्र भी नतमस्तक था। सगमदेवने महावीरके साहसकी अनेक प्रकारसे परीक्षा की, पर वे अडिग हिमालय ही बने रहे।

लोक-प्रदीप

महावीरके व्यक्तित्वमे अनुपम प्रदीप-प्रकाश उपलब्ध है। उन्होने ससारके घनीभूत अज्ञान-अन्धकारको दूरकर सत्य और अनेकान्तके आलोकद्वारा जन-नेतृत्व किया था। घरका दीपक घरके कोनेमे ही प्रकाश करता है, उसका प्रकाश सीमित और धुधला होता है, पर महावीर तो तीन लोकके दीपक थे। लोकत्रयको प्रकाशित किया था। महावोर ऐसे दीपक थे, जिसकी ज्योतिके स्पर्शने अगणित दीपोको प्रज्वलित किया था। अज्ञानअन्धकारको हटा जनता-को आवरण और बन्धनोको तोड़नेका सन्देश दिया था। उन्होने राग-द्वेष विकल्पोको हटाकर आत्माको अखण्ड ज्ञान-दर्शन चैतन्यरूपमे अनुभव करनेका पथ आलोकित किया था। निश्चयसे देखनेपर आत्मापर बन्धन या आवरण है ही नही। अनन्त चैतन्यपर न कोई आवरण है और न कोई बन्धन। ये सब बन्धन और आवरण आरोपित हैं। जिसके घटमे ज्ञान-दीप प्रज्वलित है, उसके बन्धन और आवरण स्वत क्षीण हैं। सकल्प-विकल्पोका जाल स्वयमेव ही विलीन हो जाता है।

करुणामूर्ति

महावीरका सवेदनशील हृदय करुणासे सदा द्रवित रहता था। वे अन्ध-विश्वास, मिथ्या आडम्बर और धर्मके नामपर होनेवाले हिंसा-ताण्डवसे अत्यन्त द्रवीभूत थे। 'यज्ञीयहिंसा हिंसा न भवति' के नारेको वदलनेका सकल्प

कुलभेद, देश और प्रान्तभेद आदि सभी मानवताके विघातक हैं। तनावका वातावरण और अविश्वासकी खाईंको दूर करनेका एकमात्र साधन जन-सामान्यको पारस्परिक सहयोग और कल्याणके लिये प्रेरित करना है।

स्वर्गके देव विभूतिमे कितने ही बडे क्यो न हो, उनका स्वर्ग कितना ही सुन्दर और सुहावना क्यो न हो, पर वे मनुष्यसे महान नही। मनुष्यके त्याग और इन्द्रियसयमके प्रति उन्हे भी नतमस्तक होना पडता है। मानव-मानवताके कारण सभी मनुष्य समान है, जन्मसे कोई भी व्यक्ति न बडा है, न छोटा। कार्य, गुण, परिश्रम, त्याग, सयम ऐसे गुण हैं, जिनकी उपलब्धिसे कोई भी व्यक्ति महान् बन सकता है। जीवनका यथार्थ लक्ष्य आत्मस्वातन्त्र्यकी प्राप्ति है। कालका प्रवाह अनाहत चला आ रहा है। जीवन क्षण, पल, घडियोमे कण-कण बिखर रहा है। पार्श्ववर्ती स्तब्ध वातावरणमे भी सूक्ष्मरूपसे अतीत और व्यय समाहित है। नव नवीन रूपोमे प्रस्फुटित हो रहा है और वस्तुकी ध्रौव्यता भी यथार्थरूपमे स्थित है। इसप्रकार उत्पादादित्रयात्मकरूप वस्तु आत्मद्रष्टाको तटस्थ वृत्तिकी ओर आकृष्ट करती है और यही उसे जन कल्याणकी ओर ले जाती है।

तीर्थंकर महावीर जन्मजात वीतराग थे। उनके व्यक्तित्वके कण-कणका निर्माण आत्मकल्याण और लोकहितके लिये हुआ था। लोककल्याण ही उनका इष्ट था और यही था उनका लक्ष्य। जीवनके प्रथम चरणसे ही उन्होने जन-कल्याणके लिये सघर्ष आरम्भ किया, पर उनका यह सघर्ष बाह्य शत्रुओसे नही था, अन्तरग काम, क्रोधादि वासनाओंसे था। उन्होने शाश्वत सत्यकी प्राप्तिके लिये राजवैभव, विलास, आमोद-प्रमोद आदिका त्याग किया और जनकल्याणमे सलग्न हो गये।

लोककल्याणके कारण ही तीर्थंकर महावीरने अपूर्व लोकप्रियता प्राप्त की थी। वे जिस नगर या ग्रामसे निकलते थे, जनता उनकी अनुयायिनी बन जाती थी। मनुष्य तो क्या; पशु-पक्षी भी उनसे प्रेम करते थे। हिंसक, क्रूर और पिशाच भी अपनी वृत्तियोका त्यागकर महावीरकी शरण ग्रहण करते थे। वे तत्कालीन समाजकी कायरता, कदाचार और पापाचारको दूर करनेके लिये कटिबद्ध थे। अत लोकप्रियताका प्राप्त होना उन्हे सहज था।

स्वावलम्बी

महावीरके व्यक्तित्वकी अन्य विशेषताओमे स्वावलम्बनकी वृत्ति भी है। 'अपना कार्य स्वय करो' के वे समर्थक थे। जब साधनाकालमे अपरिचयके

कारण कुछ अज्ञ व्यक्ति उनका तिरस्कार करते, अपमान करते, शारीरिक यातनाएँ देते, उस समय महावीर किसीकी सहायताकी अपेक्षा नही करते थे। वे अपने पुरुषार्थ द्वारा ही कर्मोंका नाश करना चाहते थे। जब इन्द्रने उनसे साधनामार्गमे सहायता करनेका अनुरोध किया, तब वे मौन भाषामे हुए कहने लगे—"देवेन्द्र, तुम भूल रहे हो। साधनाका मार्ग अपने-आपपर विजय प्राप्त करनेका मार्ग है। स्वयकृत कर्मका शुभाशुभ फल व्यक्तिको अकेले ही भोगना पडता है। कर्मावरणको छिन्न करनेके लिये किसी अन्यकी सहायता अपेक्षित नही है। यदि किसी व्यक्तिको किसी दूसरेके सुख-दु ख और जीवन-मरणका कर्त्ता माना जाय, तो यह महान् अज्ञान होगा और स्वयंकृत शुभाशुभ फल निष्फल हो जायेंगे। यह सत्य है कि किसी भी द्रव्यमे परका हस्तक्षेप नही चलता है। हस्तक्षेपकी भावना ही आक्रमणको प्रोत्साहित करती है। यदि हम अपने मनसे हस्तक्षेप करनेकी भावनाको दूर कर दे, तो फिर हमारे अन्तस्मे सहजमे ही अनाक्रमणवृत्ति प्रादुर्भूत हो जायगी। आक्रमण प्रत्याक्रमणको जन्म देता है और यह आक्रमण-प्रत्याक्रमणकी परम्परा विश्व-शान्ति और आत्मिक शान्तिमे विघ्न उत्पन्न करती है।" इस प्रकार तीर्थंकर महावीरके व्यक्तित्वमें स्वावलम्बन और स्वतन्त्रताकी भावना पूर्णतया समाहित थी।

अहिंसक

महावीरके व्यक्तित्वका सम्पूर्ण गठन ही अहिंसाके आधारपर हुआ है। मनुष्यको जैसे अपना अस्तित्व प्रिय है, अपना सुख अभीष्ट है, उसी तरह अन्य प्राणियोको भी अपना अस्तित्व और सुख प्रिय है। अहिंसक व्यक्तित्वका प्रथम दृष्टिबिन्दु सहअस्तित्व और सहिष्णुता है। सहिष्णुताके विना सहअस्तित्व सम्भव नही है। ससारमे अनन्त प्राणी है और उन्हे इस लोकमे साथ-साथ रहना है। यदि वे एक दूसरेके अस्तित्वको आशकित दृष्टिसे देखते रहे, तो अस्तित्वका सघर्ष कभी समाप्त नही हो सकता है। सघर्ष अशान्तिका कारण है और यही हिंसा है।

जीवनका वास्तविक विकास अहिंसाके आलोकमे ही होता है। वैर-वैमनस्य द्वेष, कलह, घृणा, ईर्ष्या, क्रोध, अहकार, लोभ-लालच, शोषण-दमन आदि जितनी भी व्यक्ति और समाजको ध्वसात्मक विकृतियाँ है, वे सब हिंसाके ही रूप है। मनुष्यका अन्तस् हिंसाके विवध प्रहारोसे निरन्तर घायल होता रहता है। इन प्रहारो का शमन करनेके लिये अहिंसाकी दृष्टि और अहिंसक जीवन ही आवश्यक है। महावीरने केवल अहिंसाका उपदेश हो नही दिया, अपितु उसे अपने जीवनमे उतारकर शत-प्रतिशत यथार्थता प्रदान की। उन्होने अहिंसा-

के सिद्धान्त और व्यवहारपक्षको एक करके दिखला दिया। विरोधीसे विरोधीके प्रति भी उनके मनमे घृण नही थी, द्वेष नही था वे उत्पीडक एव घातकके प्रति भी मगलकल्याणकी पवित्र भावना रखते थे। सगमदेव और शूलपाणि यक्ष जैसे उपसर्ग देनेवाले व्यक्तियो के प्रति भी उनके नेत्रोमे करुणा थी। तीर्थंकर महावीरका अहिंसक जीवन क्रूर और निर्दय व्यक्तियोके लिये भी आदर्श था।

महावीरका सिद्धान्त था कि अग्निका शमन अग्निसे नही होता, इसके लिये जलकी आवश्यकता होती है। इसीप्रकार हिंसाका प्रतिकार हिंसासे नही, अहिंसासे होना चाहिये। जब तक साधन पवित्र नही, साध्यमे पवित्रता आ नही सकती। हिंसा सूक्ष्मरूपसे व्यक्तिके व्यक्तित्वकी अनन्त पर्तोंमे समाहित है। उसे निकालनेके लिये सभी प्रकारके विकारो, वासनाओका त्याग आवश्यक है। यही कारण है कि महावीरने जगतको बाह्य हिंसासे रोकनेके पूर्व अपने अन्तरमे विद्यमान राग-द्वेषरूप भावहिंसाका त्याग किया और उनके व्यक्तित्वका प्रत्येक अणु अहिंसाकी ज्योतिसे जागृत हो उठा। महावीरने अनुभव किया कि समस्त प्राणी तुल्य शक्तिधारी है, जो उनमे भेद-भाव करता है, उनकी शक्तिको समझने मे भूल या किसी प्रकारका पक्षपात करता है, वह हिंसक है। दूसरो को कष्ट पहुँचानेके पूर्व ही. विकृति आ जानेके कारण अपनी ही हिंसा हो जाती है।

सचमुचमे अहिंसाके साधक महावीरका व्यक्तित्व धन्य था और धन्य थी उनकी सचरणशक्ति। वे बारह वर्षोंतक मौन रहकर मोह-ममताका त्याग कर अहिंसाकी साधनामे सलग्न रहे। महावीरके व्यक्तित्वको प्रमुख विशेषताओमे उनका अहिंसक व्यक्तित्व निर्मल आकाशके समान विशाल और समुद्रके समान अतल स्पर्शी है। उनकी अहिंसामे आग्रह नही था, उद्दण्डता नही थी, पक्षपात नही था और न किसी प्रकारका दुराव या छिपाव ही था। दया, प्रेम और विनम्रताने उनकी अहिंसक साधनाको सुसस्कृत किया था।

क्रांतिद्रष्टा

तीर्थंकर महावीरके व्यक्तित्वमे क्रान्तिकी चिनगारी आरम्भसे ही उपलब्ध होती है। वे व्यवहारकुशल, स्पष्ट वक्ता, निर्भीक साधक, अहिंसक, लोक-कल्याणकारी और जनमानसके अध्येता थे। चाटुकारिताकी नीतिसे वे सदा दूर थे। उनके मनमे आत्मविश्वासका दीपक सदा प्रज्वलित रहता था। धर्मके नामपर होनेवाली हिंसाएँ और समाजके सगठनके नामपर विद्यमान भेद-भाव एव आत्मसाधनाके स्थानपर शरीर-साधनाकी प्रमुखताने महावीरके मनमे किशोरावस्थासे ही क्रान्तिका बीज-वपन किया था। रईसो और अमीरोके यहाँ दास-दासीके रूपमे शोषित नर-नारी महावीरके हृदयका अपूर्व मथन करते

थे। फलतः वे उस युगकी प्रमुख-धर्म-धारणा यज्ञ और क्रिया-काण्डके विरोधी थे। उन दिनोमे नर और नारी नीति और धर्मका आँचल छोड चुके थे। वे दोनो ही कामुकताके पकमें लिप्त थे। नारियोमे पातिव्रत, शील और सकोचकी कमी हो रही थी। वे बन्धनोको तोड और लज्जाके आवरणको फेक स्वच्छन्द बन चुकी थी। पुरुषोमे दानवी वासनाका प्राबल्य था। वे आचार-विचार-शील-सयमका पल्ला छोड़ वासनापूर्तिको ही धर्म समझते थे। चारो ओर बलात्कार और अपहरणका तूफान उठ खडा हुआ था। चन्दना जैसी कितनी नारियोका अपहरण अहर्निश हो रहा था। जनमानसका धरातल आत्माकी धवलतासे हटकर शरीरपर केन्द्रित हो गया था। भोग-विलास और कृत्रिमताका जीवन ही प्रमुख था। मदिरापान, द्यूतक्रीडा, पशुहिंसा, आदि जीवनकी साधारण बातें थी। बलिप्रथाने धर्मके रूपको और भी विकृत कर दिया था।

भौतिकताके जीवनकी पराकाष्ठा थी। धर्म और दर्शनके स्वरूपको औद्धत्य, स्वैराचार, हठ और दुराग्रहने खण्डित कर दिया था। वर्ग-स्वार्थकी दूषित भावनाओने अहिंसा, मैत्री और अपरिग्रहको आत्मसात् कर लिया था। फलत समाजके लिये एक क्रान्तिकारी व्यक्तिकी आवश्यकता थी। महावीरका व्यक्तित्व ऐसा ही क्रान्तिकारी था। उन्होने मानव-जगतमे वास्तविक सुख और शान्तिकी धारा प्रवाहित की और मनुष्यके मनको स्वार्थ एव विकृतियोसे रोककर इसी धरतीको स्वर्ग बनानेका सन्देश दिया। महावीरने शताब्दियोसे चली आ रही समाज-विकृतियो को दूरकर भारतको मिट्टीको चन्दन बनाया। वास्तवमे महावीरके क्रान्तिकारी व्यक्तित्वको प्राप्तकर धरा पुलकित हो उठी, शत-शत वसन्त खिल उठे। श्रद्धा, सुख और शान्तिकी त्रिवेणी प्रवाहित होने लगी। उनके क्रान्तिकारी व्यक्तित्वसे कोटि-कोटि मानव कृतार्थ हो गये। निस्सन्देह पतितो और गिरो को उठाना, उन्हे गलेसे लगाना और करस्पर्श द्वारा उनके व्यक्तित्वको परिष्कृत कर देना यही तो क्रान्तिकारीका लक्षण है। महावीरको क्रान्ति जड नही थी, सचेतन थी और थी गतिशील। जो अनुभव-सिद्ध ज्ञानके शासनमे चल मुक्त चिन्तन द्वारा सत्यान्वेषण करता है, वही समाजमे क्रान्ति ला सकता है।

पुरुषोत्तम

महावीर पुरुषोत्तम थे। उनके बाह्य और आभ्यन्तर दोनो ही प्रकारके व्यक्तित्वोमे अलौकिक गुण समाविष्ट थे। उनका रूप त्रिभुवनमोहक, तेज सूर्य-को भी हतप्रभ बनानेवाला और मुख सुर-नर-नागनयनको मनहर करने वाला था। उनके परमौदारिक दिव्य शरीरकी जैसी छटा और आभा थी,

उससे भी कही अधिक उनकी आत्माका दिव्य तेज था। अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य गुणोके समावेशने उनके आत्मतेजको अलौकिक बना दिया था। निष्कामभावसे जनकल्याण करनेके कारण उनका आत्मबल अनुपम था। वे ससार-सरोवरमे रहते हुए भी कमलपत्रवत् निर्लिप्त थे। उनका यह व्यक्तित्व पुरुषोत्तम विशेषणसे विशिष्ट किया जा सकता है।

यो तो महावीरके व्यक्तित्वमे एक महामानवके सभी गुण प्राप्य थे, पर वे एक सच्चे ज्ञानी, मुक्ति-नेता, कुशल उपदेष्टा और निर्भीक शिक्षक थे। जो भी उनकी वाणी सुनता, वही उनकी ओर आकृष्ट हो जाता। वे ऐसे ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी थे, जिन्हे 'घोरवभचेर' कहा गया है। ब्रह्मचर्यकी उत्कृष्ट साधना और अहिंसक अनुष्ठानने महावीरको पुरुषोत्तम बना दिया था। तप पूत भगवान् महावीर तीर्थंकर पुरुषोत्तम थे। श्रेष्ठ पुरुषोचित सभी गुणोका समवाय उनमे प्राप्त था।

नि:स्वार्थ

महावीरके व्यक्तित्वमे निस्वार्थ साधकके समस्त गुण समवेत है। वे तपश्चरण और उत्कृष्ट शुभ अध्यवसायके कारण निरन्तर जागरूक थे। उन्हे सभी प्रकारकी ऋद्धि-सिद्धियाँ ऊपलब्ध थी, पर वे उनसे थे निर्लिप्त, आत्मकेन्द्रित, शान्त और वीतराग। आत्मापर कठोर सयमकी वृत्ति रखनेके कारण उनमे विश्व बन्धुत्व समाहित था।

महावीर न उपसर्गोसे ही घबराते थे और न परीषह सहन करनेसे ही। वे सभी प्रकारके स्वार्थ और विकारोको जीतकर स्वतन्त्र या मुक्त होना चाहते थे। अनादिकालसे चैतन्य-ज्योति आवरणोसे आच्छादित है। जिसने इन आवरणोको हटाकर बन्धनोको तोडा है, जो सकल्प-विकल्पोसे मुक्त हुआ है और जिसने शरोर और इन्द्रियोपर पडी हुई परतोको हटाया है, वही नि स्वार्थ जीवन यापन कर सकता है। तीर्थंकर महावीरके व्यक्तित्वमे यह निस्वार्थकी प्रवृत्ति पूर्णतया वर्त्तमान थी।

वस्तुत तीर्थंकर महावीरके व्यक्तित्वमे एक महामानवके सभी गुण विद्यमान थे। वे स्वयबुद्ध और निर्भीक साधक थे और अहिंसा ही उनका साधनासूत्र था। उनके मनमे न कुण्ठाओको स्थान प्राप्त था और न तनावोको। प्रथम दर्शनमे ही व्यक्ति उनके व्यक्तित्वसे प्रभावित हो जाता था। यही कारण है कि इन्द्रभूति गौतम जैसे तलस्पर्शी ज्ञानी पण्डित भी महावीरके दर्शनमात्रसे प्रभावित हुए और उनके शिष्य बन गये।

यह सार्वजनीन सत्य है कि यदि व्यक्तिके मुखपर तेज, छविमे सौन्दर्य, आँखो मे आभा, ओठो पर मन्द मुस्कान, शरीरमे चारुता और अन्तरंगमे निश्छल प्रेम हो, तो वह सहजमे ही अन्य व्यक्तियोको आकृष्ट कर लेता है। महावीरके वाह्य और अन्तरग दोनो ही व्यक्तित्व अनुपम थे। उनका शारीरिक गठन, सस्थान और आकार जितना उत्तम था उतना ही वीतरागताका तेज भी दीप्ति युक्त था। वृषभके समान मासल स्कन्ध, चक्रवर्तीके लक्षणो से युक्त पदकमल, लम्वी भुजाएँ, आकर्षक सौम्य चेहरा उनके वाह्य व्यक्तित्वको भव्यता प्रदान करते थे। साथ ही तप साधना, स्वावलम्बनवृत्ति, श्रमणत्वका आचार, तपोपलब्धि, सयम, सहिष्णुता, अद्भुत साहस, आत्मविश्वास आदि अन्तरग गुण उनके आभ्यन्तर व्यक्तित्वको आलोकित करते थे। महावीर धर्मनेता, तीर्थंकर, उपदेशक एव ससारके मार्ग-दर्शक थे। जो भी उनकी शरण या छत्रच्छायामे पहुँचा, उसे ही आत्मिक शान्ति उपलब्ध हुई।

निस्सन्देह वे विश्वके अद्वितीय क्रान्तिकारी, तत्वोपदेशक और जननेता थे। उनकी क्रान्ति एक क्षेत्र तक सीमित नही थी। उन्होने सर्वतोमुखी क्रान्तिका शखनाद किया, आध्यात्मिक, दर्शन, समाजव्यवस्था, धर्मानुष्ठान, तपश्चरण यहाँ तककी भाषाके क्षेत्रमे भी अपूर्व क्रान्तिकी। तत्कालीन तापसोकी तपस्याके वाह्यरूपके स्थानमे आभ्यन्तररूप प्रदान किया। पारस्परिक खण्डन-मण्डनमे निरत दार्शनिकोको अनेकान्तवादका महामन्त्र प्रदान किया। सद्गुणो की अवमानना करने वाले जन्मगत जातिवादपर कठोर प्रहारकर गुणकर्माधारपर जातिव्यवस्थाका निरूपण किया। इन्होने नारियोकी खोयी हुई स्वतन्त्रता उन्हे प्रदान की। इस प्रकार महावीरका व्यक्तित्व आद्यन्त क्रान्ति, त्याग, तपस्या, सयम, अहिंसा आदिसे अनुप्राणित है।



छिपाव नही रह सकता है। वस्तुत मैत्री-भावना समाजकी परिधिको विकसित करती है, जिससे आत्मामे समभाव उत्पन्न होता है।

प्रमोद-भावना

गुणीजनोको देखकर अन्त करणका उल्लसित होना प्रमोद-भावना है। किसीकी अच्छी बातको देखकर उसकी विशेषता और गुणोका अनुभव कर हमारे मनमे एक अज्ञात ललक और हर्षानुभूति उत्पन्न होती है। यही आनन्दकी लहर परिवार और समाजको एकताके सूत्रमे आबद्ध करती है। प्राय देखा जाता हे कि मनुष्य अपनेसे आगे बढे हुए व्यक्तिको देखकर ईर्ष्या करता है और इस ईर्ष्यासे प्रेरित होकर उसे गिरानेका भी प्रयत्न करता है। जब तक इस प्रवृत्तिका नाश न हो जाय, तबतक अहिंसा और सत्य टिक नही पाते। प्रमोद-भावना परिवार और समाजमे एकता उत्पन्न करती है। ईर्ष्या और विद्वेष पर इसी भावनाके द्वारा विजय प्राप्त की जा सकती है। ईर्ष्याकी अग्नि इतना विकराल रूप धारण कर लेती है कि मनुष्य अपने भाई और पुत्रके भी उत्कर्षको फूटी आँखो नहीं देख पाता। यही ईर्ष्याकी परिणति एव प्रवृत्ति ही परिवार और समाजमे खाई उत्पन्न करती है। समाज और परिवारकी छिन्न-भिन्नता ईर्ष्या, घृर्णा और द्वेषके कारण ही होती है। प्रतिस्पर्धावश समाज विनाशके कगारकी ओर बढता है। अत 'प्रमोद-भावना'का अभ्यास कर गुणोके पारखी बनना और सही मूल्याकन करना समाजगठनका सिद्धान्त है। जो स्वय आदर-सम्मान प्राप्त करना चाहता है, उसे पहले अन्य व्यक्तियोका आदर-सम्मान करना चाहिए। अपने गुणोके साथ अन्य व्यक्तियोके गुणोकी भी प्रशसा करनी चाहिए। यह प्रमोदकी भावना मनमे प्रसन्नता, निर्भयता एव आनन्दका सचार करती हे और समाज तथा परिवारको आत्मनिर्भर, स्वस्थ और सुगठित बनाती है।

करुणा-भावना

करुणा मनकी कोमल वृत्ति है, दु खी और पीडित प्राणीके प्रति सहज अनुकम्पा और मानवीय सवेदना जाग उठती है। दु खीके दु खनिवारणार्थ हाथ बढते हैं और यथाशक्ति उसके दु खका निराकरण किया जाता है।

करुणा मनुष्यकी सामाजिकताका मूलाधार हे। इसके सेवा, अहिंसा, दया, सहयोग, विनम्रता आदि सहस्रो रूप सभव हैं। परिवार और समाजका आलम्बन यह करुणा-भावना ही है।

मात्राके तारतम्यके कारण करुणाके प्रमुख तीन भेद हैं—१ महाकरुणा, २ अतिकरुणा और, ३ लघुकरुणा। महाकरुणा नि स्वार्थभावसे प्रेरित

होती है और इस करुणाका धारी प्राणिमात्रके कष्ट-निवारणके लिए प्रयास करता है। इस श्रेणीकी करुणा किसी नेता या महान् व्यक्तिमे ही रहती है। इस करुणा द्वारा समस्त मानव-समाजको एकताके सूत्रमे आबद्ध किया जाता है और समाजके समस्त सदस्योको सुखी बनानेका प्रयास किया जाता है।

अतिकरुणा भी जितेन्द्रिय, सयमी और नि स्वार्थ व्यक्तिमे पायी जाती है। इस करुणाका उद्देश्य भी प्राणियोमे पारस्परिक सौहार्द उत्पन्न करना है। दूसरेके प्रति कैसा व्यवहार करना और किस वातावरणमे करना हितप्रद हो सकता है, इसका विवेक भी महाकरुणा और अतिकरुणा द्वारा होता है। प्रतिशोध, सकीर्णता और स्वार्थमूलकता आदि भावनाएँ इसी करुणाके फलस्वरूप समाज-से निष्कासित होती हैं। वास्तवमे करुणा ऐसा कोमल तन्तु है, जो समाजको एकतामे आबद्ध करता है।

लघुकरुणाका क्षेत्र परिवार या किसी आधारविशेषपर गठित सघ तक ही सीमित है। अपने परिवारके सदस्योके कष्टनिवारणार्थ चेष्टा करना और करुणावृत्तिसे प्रेरित होकर उनको सहायता प्रदान करना लघुकरुणाका क्षेत्र है।

मनुष्यमे अध्यात्म-चेतनाकी प्रमुखता है, अत· वह शाश्वत आत्मा एवं अपरिवर्तनीय यथार्थताका स्वरूप सत्य-अहिंसासे सम्बद्ध है। कलह, विषयभोग, घृणा, स्वार्थ, सचयशीलवृत्ति आदिका त्याग भी करुणा-भावना द्वारा सभव है। अतएव सक्षेपमे करुणा-भावना समाज-गठनका ऐसा सिद्धान्त है जो अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषोसे रहित होकर समाजको स्वस्थ रूप प्रदान करता है।

माध्यस्थ्य-भावना

जिनसे विचारोका मेल नही बैठता अथवा जो सर्वथा सस्कारहीन हैं, किसी भी सद्वस्तुको ग्रहण करनेके योग्य नही हैं, जो कुमार्गपर चले जा रहे हैं तथा जिनके सुधारने ओर सही रास्ते पर लानेके सभी यत्न निष्फल सिद्ध हो गये हैं, उनके प्रति उपेक्षाभाव रखना माध्यस्थ्य-भावना है।

मनुष्यमे असहिष्णुताका भाव पाया जाता है। वह अपने विरोधी और विरोध को सह नही पाता। मतभेदके साथ मनोभेद होते विलम्ब नही लगता। अत इस भावना द्वारा मनोभेदको उत्पन्न न होने देना समाज-गठनके लिए आवश्यक है। इन चारो भावनाओका अभ्यास करनेसे आध्यात्मिक गुणोका विकास तो होता ही है, साथ ही परिवार और समाज भी सुगठित होते है।

माध्यस्थ्य-भावनाका लक्ष्य है कि असफलताकी स्थितिमे मनुष्यके उत्साहको